ॐ

प्रज्ञा पुराण

(प्रथम खण्ड)

परिवर्धित संस्करण

❖

रचयिता :
पं. श्रीराम शर्मा आचार्य

❖

प्रकाशक :
युग निर्माण योजना विस्तार ट्रस्ट
गायत्री तपोभूमि, मथुरा
फोन : (०५६५) २५३०१२८, २५३०३९९
मो. ०९९२७०८६२८७, ०९९२७०८६२८९
फैक्स नं०- २५३०२००

पुनरावृत्ति सन् २०१४।

मूल्य : १०० रुपये

विषयानुक्रम

प्रज्ञा पुराण-प्रथम खण्ड

अनुक्रम	विषय-प्रकरण	पृष्ठाङ्क
१.	प्राक्कथन	३
२.	प्रथम अध्याय-लोक कल्याण-जिज्ञासा प्रकरण	५
३.	द्वितीय अध्याय-अध्यात्म दर्शन प्रकरण	३७
४.	तृतीय अध्याय-अजस्र अनुदान उपलब्धि प्रकरण	७१
५.	चतुर्थ अध्याय-संयमशीलता-कर्तव्यपरायणता प्रकरण	१०७
६.	पंचम अध्याय-उदार भक्ति भावना प्रकरण	१४१
७.	षष्ठ अध्याय-सत्साहस-संघर्ष प्रकरण	१७९
८.	सप्तम अध्याय-युगान्तरीय चेतना-लीला सन्दोह प्रकरण	२११
९.	परिशिष्ट	२२९

प्राक्कथन

भारतीय इतिहास-पुराणों में ऐसे अगणित उपाख्यान हैं, जिनमें मनुष्य के सम्मुख आने वाली अगणित समस्याओं के समाधान विद्यमान हैं । उन्हीं में से सामयिक परिस्थिति एवं आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए कुछ का ऐसा चयन किया गया है, जो युग समस्याओं के समाधान में आज की स्थिति के अनुरूप योगदान दे सकें ।

सर्वविदित है कि दार्शनिक और विवेचनात्मक प्रवचन-प्रतिपादन उन्हीं के गले उतरते हैं, जिनकी सुविकसित मनोभूमि है, परन्तु कथानकों की यह विशेषता है कि बाल, वृद्ध, नर-नारी, शिक्षित-अशिक्षित सभी की समझ में आते हैं और उनके आधार पर ही किसी निष्कर्ष तक पहुँच सकना सम्भव होता है । लोकरंजन के साथ लोकमंगल का यह सर्वसुलभ लाभ है ।

कथा साहित्य की लोकप्रियता के संबंध में कुछ कहना व्यर्थ होगा । प्राचीन काल में १८ पुराण लिखे गए । उनसे भी काम न चला तो १८ उपपुराणों की रचना हुई । इन सब में कुल मिलाकर १०,०००,००० श्लोक हैं, जबकि चारों वेदों में मात्र बीस हजार मंत्र हैं । इसके अतिरिक्त भी संसार भर में इतना कथा साहित्य सृजा गया है कि उन सबको तराजू के एक पलड़े पर रखा जाय और अन्य साहित्य को दूसरे पर तो कथाऐं ही भारी पड़ेंगी । फिल्मों की लोकप्रियता का कारण भी उनके कथानक ही हैं ।

समय परिवर्तनशील है । उसकी परिस्थितियाँ, मान्यताऐं, प्रथाऐं, समस्याऐं एवं आवश्यकताऐं भी बदलती रहती हैं । तदनुरूप ही उनके समाधान खोजने पड़ते हैं । इस शाश्वत सृष्टिक्रम को ध्यान में रखते हुए ऐसे युग साहित्य की आवश्यकता पड़ती रही है जिसमें प्रस्तुत प्रसंगों से उपयुक्त प्रकाश एवं मार्गदर्शन उपलब्ध हो सके । इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए अनेकानेक मनःस्थिति वालों के लिए उनकी परिस्थिति के अनुरूप समाधान ढूँढ़ निकालने में सुविधा दे सकने की दृष्टि से इस ग्रन्थ के सृजन का प्रयास किया गया है ।

प्रथम किस्त में प्रज्ञा पुराण के पाँच खण्ड प्रकाशित किए जा रहे हैं । प्रथम खण्ड का प्रथम संस्करण तो आज से चार वर्ष पूर्व प्रस्तुत किया गया था । तदुपरान्त उसकी अनेकों आवृत्तियाँ प्रकाशित हो चुकीं । अब चार खण्ड एक साथ प्रस्तुत किए जा रहे हैं । इतने सुविस्तृत सृजन के लिए इन दिनों की एकान्त साधना में अवकाश भी मिल गया था । भविष्य का हमारा कार्यक्रम एवं जीवन काल अनिश्चित है । लेखनी तो सतत क्रियाशील रहेगी, चिन्तन हमारा ही सक्रिय रहेगा, हाथ भले ही किन्हीं के भी हों । यदि अवसर मिल सका, तो और भी अनेकों खण्ड प्रकाशित होते चले जायेंगे ।

इन पाँच खण्ड में समग्र मानव धर्म के अन्तर्गत मान्यता प्राप्त इतिहास-पुराणों की कथाऐं हैं । इनमें अन्य धर्मावम्बियों के क्षेत्र में प्रचलित कथाओं का भी समावेश है, पर वह नगण्य सा ही है । बन पड़ा तो अगले दिनों अन्य धर्मों में प्रचलित कथानकों के भी संकलन इसी दृष्टि से चयन किए जायेंगे जैसे कि इस पहली पाँच खण्डों की प्रथम किस्त में किया गया है । कामना तो यह है कि युग पुराण के-प्रज्ञा पुराणों के-भी पुरातन १८ पुराणों की तरह १८ खण्डों का सृजन बन पड़े ।

संस्कृत श्लोकों तथा उसके अर्थों के उपनिषद् पक्ष के साथ उसकी व्याख्या एवं कथानकों के प्रयोजनों का स्पष्टीकरण करने का प्रयास इस पुराण में किया गया है । वस्तुतः इसमें युग दर्शन का मर्म निहित

है । सिद्धांतों एवं तथ्यों को महत्व देने वालों के लिए यह अंग भी समाधानकारक होगा । जो संस्कृत नहीं जानते, उनके लिए अर्थ व उसकी व्याख्या पढ़ लेने से भी काम चल सकता है । इन श्लोकों की रचना नवीन है, पर जिन तथ्यों का समावेश किया गया है, वे शाश्वत हैं ।

प्रस्तुत ग्रन्थ का पठन निजी स्वाध्याय के रूप में भी किया जा सकता है और सामूहिक सत्संग के रूप में भी । रात्रि के समय पारिवारिक लोक शिक्षण की दृष्टि से भी इसका उपयोग हो सकता है । बच्चे कथाऐं सुनने को उत्सुक रहते हैं । बड़ों को धर्म परम्पराऐं समझने की इच्छा रहती है । इनकी पूर्ति भी घर में इस आधार पर कथा क्रम और समय निर्धारित करके की जा सकती है ।

कथा आयोजनों को एक सामूहिक धर्मानुष्ठान के रूप में भी सम्पन्न किए जाने की परम्परा है । उस आधार पर भी इस कथावाचन का प्रयोग हो सकता है । आरम्भ का एक दिन देव पूजन, व्रत धारणा, माहात्म्य आदि के मंगलाचरण में लगाया जा सकता है । पाँच दिन पाँच खण्डों का सार संक्षेप, प्रातः और सायंकाल की दो बैठकों में सुनाया जा सकता है । अन्तिम दिन पूर्णाहुति का सामूहिक समारोह हो । बन पड़े तो अमृताशन (उबले धान्य, खीर, खिचड़ी आदि) की व्यवस्था की जा सकती है और विसर्जन शोभा यात्रा मिशन के बैनरों समेत निकाली जा सकती है । प्रीतिभोजों में प्रज्ञा मिशन की परम्परा अमृताशन की इसलिए रखी गयी है कि वह मात्र उबलने के कारण बनाने में सुगम, लागत में सस्ता तो है ही, साथ ही जाति-पाँति के आधार पर कच्ची-पक्की का जो भेदभाव चलता है, उसे भी निरस्त करते हुए मनुष्य मात्र को एक बिरादरी बनाने के लक्ष्य की ओर क्रमशः कदम बढ़ सकने का पथ-प्रशस्त होता है ।

लोक शिक्षण के लिए गोष्ठियों-समारोहों में प्रवचनों-वक्तृताओं की आवश्यकता पड़ती है । उन्हें दार्शनिक पृष्ठभूमि पर कहना ही नहीं, सुनना-समझना भी कठिन पड़ता है । फिर उनका भण्डार जल्दी ही चुक जाने पर वक्ता को पलायन करना पड़ता है । उनकी कठिनाई का समाधान इस ग्रन्थ से ही हो सकता है । विवेचनों, प्रसंगों के साथ कथानकों का समन्वय करते चलने पर वक्ता के पास इतनी बड़ी निधि हो जाती है कि उसे महीनों कहता रहे । न कहने वाले पर भार पड़े, न सुनने वाले ऊबें । इस दृष्टि से युग सृजेताओं के लिए लोक शिक्षण का एक उपयुक्त आधार उपलब्ध होता है । प्रज्ञा पीठों और प्रज्ञा संस्थानों में तो ऐसे कथा प्रसंग नियमित रूप से चलने ही चाहिए । ऐसे आयोजन एक स्थान पर या मुहल्लों में अदल-बदल के भी किए जा सकते हैं ताकि युग सन्देश को अधिकाधिक निकटवर्ती स्थान पर जाकर सरलतापूर्वक सुन सकें । ऐसे ही विचार इस सृजन के साथ-साथ मन में उठते रहे हैं, जिन्हें पाठकों के सम्मुख प्रस्तुत कर दिया गया है ।

प्रथम खण्ड में युग समस्याओं के कारण उद्भूत आस्था संकट का विवरण है एवं उससे उबर कर प्रज्ञा युग लाने की प्रक्रिया रूपी अवतार सत्ता द्वारा प्रणीत सन्देश है । भ्रष्ट चिन्तन एवं दुष्ट आचरण से जूझने हेतु अध्यात्म दर्शन को किस तरह व्यावहारिक रूप से अपनाया जाना चाहिए, इसकी विस्तृत व्याख्या है एवं अन्त में महाप्रज्ञा के अवलम्बन से संभावित सतयुगी परिस्थितियों की झाँकी है ।

इस समग्र प्रतिपादन में जहाँ कहीं अनुपयुक्तता, लेखन या मुद्रण की भूल दृष्टिगोचर हो, उन्हें विज्ञजन सूचित करने का अनुग्रह करें, ताकि अगले संस्करणों में संशोधन किया जा सके ।

-श्रीराम शर्मा आचार्य

प्रज्ञा पुराण

॥ अथ प्रथमोऽध्यायः ॥

⊙

卐 लोककल्याण-जिज्ञासा प्रकरण 卐

लोककल्याणकृद् धर्मधारणासंप्रसारकः ।
व्रती यायावरो मान्यो देवर्षिर्ऋषिसत्तमः ॥ १॥
अव्याहतगतिं प्राप गन्तुं विष्णुपदं सदा ।
नारदो ज्ञानचर्चार्थं स्थित्वा वैकुण्ठसन्निधौ ॥ २॥
लोककल्याणमेवायमात्मकल्याणवद् यतः ।
मेने परार्थपारीणः सुविधामन्यदुर्लभाम् ॥ ३॥
काले काले गतस्तत्र समस्याः कालिकी मृशन् ।
मतं निश्चित्य स्वीचक्रे भाविनीं कार्यपद्धतिम् ॥ ४॥

टीका—लोक कल्याण के लिए जन-जन तक धर्म धारणा का प्रसार-विस्तार करने का व्रत लेकर निरन्तर विचरण करने वाले नारद ऋषियों में सर्वश्रेष्ठ गिने गये और देवर्षि के मूर्धन्य सम्मान से विभूषित हुए । एक मात्र उन्हीं को यह सुविधा प्राप्त थी कि कभी भी बिना किसी रोक-टोक विष्णुलोक पहुँचें और भगवान् के निकट बैठकर अभीष्ट समय तक प्रत्यक्ष ज्ञानचर्चा करें । यह विशेष सुविधा उन्हें लोक-कल्याण को ही आत्म-कल्याण मानने की परमार्थ परायणता के कारण मिली । वे समय-समय पर भगवान् के समीप पहुँचते और सामयिक समस्याओं पर विचार करके तदनुरूप अपना मत बनाते और भावी कार्यक्रम निर्धारित करते ॥ १-४॥

व्याख्या—परमार्थ में सच्ची लगन यदि किसी में हो तो उसे पुण्य अर्जन के अतिरिक्त आत्मकल्याण का लाभ मिलता है । ऐसे व्यक्ति दूसरों को तारते हैं, स्वयं अपनी नैया भी जीवन सागर में खे ले जाते हैं ।

नारद ऋषि को भगवान् की विशेष अनुकम्पा इसी कारण मिली कि उन्होंने परहित को अपना जीवनोद्देश्य माना । इसके लिए वे निरन्तर भ्रमण करते, जन चेतना जगाते व सत्परामर्श देकर लोगों को सन्मार्ग की राह दिखाते थे । ध्रुव, प्रह्लाद तथा पार्वती को अपने सामयिक मार्गदर्शन द्वारा उन्होंने लक्ष्य प्राप्ति की ओर अग्रसर किया । इसी लोक परायणता ने उन्हें देवर्षि पद से सम्मानित करवाया तथा भगवान् के सामीप्य का लाभ भी उन्हें मिला । चूँकि वे सतत् जन सम्पर्क में रहते थे व लोक-कल्याण में रत रहते थे, इसी कारण सामयिक जन समस्याओं के समाधान हेतु वे परामर्श-मार्गदर्शन हेतु प्रभु के पास पहुँचते थे व मार्गदर्शन प्राप्त कर अपनी भावी नीति का क्रियान्वयन करते थे ऐसे परमार्थ परायण व्यक्ति जहाँ भी होते हैं, सदैव श्रद्धा-सम्मान पाते हैं ।

गङ्गा और ब्रह्म सरोवर

"एक बार ब्रह्म सरोवर ने शिकायत की भगवन् ! आप भगवती गंगा की इतनी सराहना करते हैं, हम भी तो लोगों को शीतलता और सद्गति प्रदान करते हैं वह पुण्य हमें क्यों नहीं मिलता ?" भगवान विष्णु ने गम्भीर होकर उत्तर दिया-'भगवती गंगा स्थान-स्थान, घर-घर जाकर लोगों की प्यास बुझाती और सद्गति प्रदान करती हैं जबकि आप केवल उन्हें देते हैं जो आपके पास आते हैं ।'

ब्रह्म-सरोवर ने अनुभव किया भगवती गंगा सचमुच महान् हैं । उन्हें अपने भीतर कभी-कभी विकार पैदा होने का कारण भी ज्ञात हो गया ।

परमार्थ की यह वृत्ति भारतीय संस्कृति की विशेषता है । इसी प्रयोजन से धर्म-धारणा के विस्तार का व्रत लेकर नैष्ठिक परिव्राजक निरन्तर भ्रमण करते रहते थे एवं जन-मानस के परिष्कार का वह उद्देश्य पूरा करते थे जिसके लिए

वानप्रस्थ परम्परा, परिव्राजक धर्म तथा तीर्थयात्रा का समावेश आर्य कालीन महामानवों द्वारा किया गया था । इस कार्य को लोक-सेवी मनीषियों ने सदैव एक साधना माना है । यह साधना एक कठोर तप होते हुए भी उन्हें आह्लाद एवं आत्म सन्तोष देती है ।

प्रतिमा और पगडण्डी पर्वत शिखर पर बने मन्दिर की प्रतिमा ने एक दिन सामने वाली पगडण्डी से सहानुभूति दिखाते हुए कहा-"भद्रे ! तुम कितना कष्ट सहती हो, यहाँ आने वाले कितने लोगों का बोझ उठाती हो यह देखकर हमारा जी भर आता है ।" पगडण्डी मुस्कराती हुई बोली-"भक्त को भगवान् से मिलाने का अर्थ भगवान् से मिलना ही तो है देवी !"

प्रतिमा पगडण्डी की इस महानता के आगे नतमस्तक हुए बिना न रह सकी ।

देवर्षि नारद की तरह असाधारण और आपत्तिकालीन अधिकार हर किसी को नहीं मिलते । यह प्रमुख व्यक्तियों को मिलते हैं । परमात्म-सत्ता के दरबार में उदार-परमार्थ कीयोग्यता ही यह अधिकार दिलाती है ।

द्वारपाल हट गये एक व्यक्ति राजमुकुट और तलवार उपहार स्वरूप लेकर भगवान् के पास पहुँचा । वह उनसे एकान्त में भेंट करना चाहता था । द्वार पर खड़े देवदूतों ने कहा-"भाई ! भगवान् को राजमुकुट से क्या मतलब वे तो स्वयं ब्रह्माण्डनायक हैं । तलवार की उन्हें आवश्यकता नहीं, वे तो स्वयं वेद रूप हैं । वे ज्ञान से ही बन्धनों के शत्रु काट डालते हैं और कुछ हो तो बताओ ? यह चर्चा चल ही रही थी तभी उसने एक वृद्ध को ठोकर लगकर गिरते देखा । उसकी आँखों में आँसू आ गये । दौड़कर उसे सम्भाला, मन में आया चलकर भगवान् से पूछें आखिर असहाय जन दु:खी क्यों हैं । वह लौटा तो देखा-रोकने वाले द्वारपाल वहाँ से हट गये थे ।

एकदा हृदये तस्य जिज्ञासा समुपस्थिता ।
ब्रह्मविद्यावगाहाय काल उच्चैस्तु प्राप्यते ॥ ५ ॥
सञ्चितैश्च सुसंस्कारैः कठोरं व्रतसाधनम् ।
योगाभ्यासं तपश्चापि कुर्वन्त्येते यथासुखम् ॥ ६ ॥
सामान्यानां जनानां तु मनसः सा स्थितिः सदा ।
चंचलास्ति न ते कर्तुं समर्था अधिकं क्वचित् ॥ ७ ॥
अल्पेऽपि चात्मकल्याणसाधनं सरलं न ते ।
वर्त्म पश्यन्ति पृच्छामि भगवन्तमस्तु तत्स्वयम् ॥ ८ ॥
सुलभं सर्वमर्त्यानां ब्रह्मज्ञानं भवेद् यथा ।
आत्मविज्ञानमेवापि योग-साधनमप्युत ॥ ९ ॥
नातिरिक्तं जीवचर्यां दृष्टिकोणं नियम्य वा ।
सिद्धयेत्प्रयोजनं लक्ष्यपूरकं जीवनस्य यत् ॥ १० ॥

टीका-एक बार उनके मन में जिज्ञासा उठी-'उच्चस्तर के लोग तो ब्रह्मविद्या के गहन-अवगाहन के लिए समय निकाल लेते हैं । संचित सुसंस्कारिता के कारण कठोर व्रत-धारण, योगाभ्यास एवं तपसाधन भी कर लेते हैं । किन्तु सामान्य-जनों की मन:स्थिति-परिस्थिति उथली होती है । ऐसी दशा में वे अधिक कर नहीं पाते । थोड़े में सरलतापूर्वक आत्मकल्याण का साधन बन सके ऐसा मार्गदर्शन उन्हें प्राप्त नहीं होता । अस्तु भगवान् से पूछना चाहिए कि सर्वसाधारण की सुविधा का ऐसा ब्रह्मज्ञान, आत्म-विज्ञान एवं योग साधन क्या हो सकता है जिसके लिए कुछ अतिरिक्त न करना पड़े, मात्र दृष्टिकोण एवं जीवन-चर्या में थोड़ा परिवर्तन करके ही जीवन-लक्ष्य को पूरा करने का प्रयोजन सध जाय' ॥ ५-१० ॥

व्याख्या-जनमानस को स्तर की दृष्टि से दो भागों में विभाजित किया जा सकता है । एक वे जो तत्वदर्शन, साधन तपश्चर्या के मर्म को समझते हैं । कठोर पुरुषार्थ करने योग्य पात्रता भी उन्हें पूर्व जन्म के अर्जित संस्कारों व स्वाध्याय परायणता के कारण मिल जाती है परन्तु देवर्षि नारद ने जन-जन में प्रवेश

करके पाया कि दूसरे स्तर के लोगों की संख्या अधिक है, जो जीवन व्यापार में उलझे रहने के कारण अथवा साधना विज्ञान के विस्तृत उपक्रमों से परिचित होने का सौभाग्य न मिल पाने के कारण अध्यात्मविद्या के सूत्रों को समझ नहीं पाते, व्यवहार में उतार नहीं पाते तथा ऐसी ही उथली स्थिति में जीते हुए किसी तरह अपना जीवन शकट खींचते हैं ।

विशेष लोगों के लिए तो विशेष उपलब्धियाँ हैं। ऐसे असाधारण व्यक्तियों की तो बात ही अलग है । उनके जीवन-उपाख्यान यही बताते हैं कि वे विशिष्ट विभूति सम्पन्न होते हैं ।

असामान्य संस्कारवान् व्यक्ति

शुकदेव जन्म लेते ही घर से चल पड़े । उनके पिता महर्षि व्यास ने कहा भी 'तात ! अपनी माँ का स्तन पान तो कर लें', पर उन्होंने कहा–'एक बार संसार में आसक्त हो जाने पर उससे छूटना कठिन है, अभी तो पूर्व जन्मों का मुझे स्मरण है सो समय क्यों गँवाऊँ,' वे तुरन्त तप के लिए चल पड़े ।

कच ने इसी तरह शुक्राचार्य के पास तथा नचिकेता ने यमाचार्य के पास जाकर संचित सुसंस्कारों की प्रेरणा से ही तप किया । मनु-शतरूपा, भगवती-पार्वती, काकभुशुण्डि, ध्रुव और प्रह्लाद के आख्यान भी ऐसे ही हैं ।

नानक के पिता ने उन्हें कुछ रुपये दिये और सौदा करके कुछ कमाने के लिए भेज दिया । नानक ने सारे रुपये निर्धन-भूखों में बाँट दिये और आप सच्चे सौदे की खोज में लग गये ।

इसके विपरीत सामान्य व्यक्ति ब्रह्मज्ञान-आत्मकल्याण की विद्या से नितान्त अपरिचित होने के कारण अपने लक्ष्य से विमुख ही बने रहते हैं । देवर्षि ने इन्हीं बहुसंख्य व्यक्तियों के कल्याण की बात सोची-यह चिन्तन किया कि भगवान् से ही पूछा जाय कि सुर दुर्लभ योनि प्राप्त परन्तु साधारण व उससे भी हेय जीवन जी रहे लोगों का आध्यात्मिक मार्गदर्शन किस प्रकार किया जाय ।

साधारण व हेय की गति

मनु-शतरूपा भी एक बार इस प्रकार का चिन्तन कर रहे थे । परस्पर चर्चा में मनु से शतरूपा ने पूछा–भगवन् ! मनुष्य को अन्यान्य योनियों में क्यों भटकना पड़ता है ? कई बार मानव-योनि पाकर भी मुक्त होने के स्थान पर फिर पदच्युत कर दिया जाता है । ऐसा क्यों ?

मनु बोले–

शरीरजैः कर्म दोषैर्याति स्थावरतां नरः । वाचिकैः पक्षिमृगतां मानसैरन्यजातिताम् ॥
इह दुश्चरितैः केचित्केचित् पूर्वकृतैस्तथा । प्राप्नुवन्ति दुरात्मानो नरा रूपं विपर्ययम् ॥

-मनु०

"शारीरिक पाप कर्मों से जड़ योनियों में जन्म होता है । वाणी के पाप से पशु-पक्षी बनना पड़ता है । मानसिक दोष करने वाले मनुष्य-योनि से बहिष्कृत हो जाते हैं । इस जन्म के अथवा पूर्व जन्म के किये हुए पापों से मनुष्य अपनी स्वाभाविकता खोकर विद्रूप बनते हैं ।"

साधारण व्यक्ति संसार के माया जाल में फँसे कैसा जीवन जीते हैं इसे समझाते हुए एक संत ने अपने शिष्य को एक कथा सुनाई-

संसारी लोग

"एक बार एक सेठ के घर में आग लग गई । सेठ के कहने से लोग कीमती सामान, धन आदि तो निकालने लगे पर सेठ के बच्चे की ओर किसी का ध्यान न गया । जब सारा सामान निकल आया तब सेठ ने बच्चे की याद की पर तब तक वह जल चुका था । सेठ छाती पीट-पीटकर रोने लगा कि धन का अधिकारी तो मर ही गया ।" सन्त ने कहा कि-"शिष्यो ! इसी तरह संसार के लोग दुनियावी सुखों के फेर में आत्मा को भूल जाते हैं ।"

यह तो लोक सेवी का ही कर्तव्य होता है कि वह संसारी जीवों को व्यावहारिक अध्यात्म विद्या का ज्ञान कराये, उन्हें आत्म तत्व की गरिमा से अवगत कराये । जो कुछ अतिरिक्त तप-पुरुषार्थ करने की स्थिति में हों, उन्हें वैसी प्रेरणा दें तथा जो भगवान् की इच्छानुसार उत्तम ढंग का जीवन जी सकते हैं, उन्हें वैसा संकेत दिया जाय । मनःस्थिति में परिवर्तन लाकर ही तो सभी साधारण व्यक्ति अपने को ऊँचा उठा सके हैं । वैसा ही मार्गदर्शन अभीष्ट होता है जैसा एक महात्मा द्वारा कही इस कथा से प्रकट होता है ।

एक गड़रिया सब भेड़ों को तो हाँकता हुआ ला रहा था, पर एक नन्हें बच्चे को अपने कन्धे पर रखे हुए जंगल

से लौट रहा था । एक जिज्ञासु ने प्रश्न किया–क्यों भाई ? इस भेड़ के बच्चे को भी पैदल क्यों नहीं चलाते । गड़रिया मुस्कराया "तात ! यह अबोध है, जंगल में भटक जाता है, इसलिए इसे गोद में लेकर चल रहा हूँ । सभी पर एक से नियम तो लागू नहीं हो सकते ।"

पिपृच्छां च समाधातुं वैकुण्ठं नारदो गतः ।
नत्वाऽभ्यर्च्य च देवेशं देवेनापि तु पूजितः ॥ ११॥
कुशलक्षेमचर्चान्तेऽभीष्टे चर्चाऽभवद् द्वयोः ।
संसारस्य च कल्याणकामना संयुता च या ॥ १२॥

टीका–इस पूछताछ के लिए देवर्षि नारद बैकुण्ठ लोक पहुँचे, नारद ने नमन–वन्दन किया, भगवान् ने भी उन्हें सम्मानित किया । परस्पर कुशल–क्षेम के उपरान्त अभीष्ट प्रयोजनों पर चर्चा प्रारम्भ हुई जो संसार की कल्याण–कामना से युक्त थी ॥ ११–१२॥

नारद उवाच–

देवर्षिः परमप्रीतः पप्रच्छ विनयान्वितः ।
नेतुं जीवनचर्यां वै साधनामयतां प्रभो ॥ १३॥
प्राप्तुं च परमं लक्ष्यमुपायं सरलं वद ।
समाविष्टो भवेद्यस्तु सामान्ये जनजीवने ॥ १४॥
विहाय स्वगृहं नैव गन्तुं विवशता भवेत् ।
असामान्या जनार्हा च तितीक्षा यत्र नो तपः ॥ १५॥

टीका–प्रसन्नचित्त देवर्षि ने विनय पूर्वक पूछा–"देव ! संसार में जीवनचर्या को ही साधनामय बना लेने और परमलक्ष्य प्राप्त कर सकने का सरल उपाय बतायें, ऐसा सरल जिसे सामान्य जन–जीवन में समाविष्ट करना कठिन न हो । घर छोड़कर कहीं न जाना पड़े और ऐसी तप–तितीक्षा न करनी पड़े जिसे सामान्य स्तर के लोग न कर सकें ॥ १३–१५॥"

व्याख्या–भगवान् से देवर्षि जो प्रश्न पूछ रहे हैं वह सारगर्भित है । सामान्यजन भक्ति, वैराग्य, तप का मोटा अर्थ यही समझते हैं कि इसके लिए एकान्तसाधना करने, उपवन जाने की आवश्यकता पड़ती है पर इस उच्चस्तरीय तपश्चर्या के प्रारम्भिक चरण जीवन साधना के मर्म को नहीं जानते । इसी जीवन-साधना, प्रभु परायण जीवन के विधि-विधानों को जानने, उन्हें व्यवहार में कैसे उतारा जाय इस पक्ष को विस्तार से खोलने की वे भगवान से विनती करते हैं ।

रामायण में काकभुशुण्डि जी ने इसी प्रकार का मार्गदर्शन गरुड़जी को दिया है । जीवन साधना कैसे की जाय इसका प्रत्यक्ष उदाहरण राजा जनक के जीवन में देखने को मिलता है ।

शुकदेव का जनक को प्रणाम

शुकदेव ने राजा जनक को प्रणाम किया । शुकदेव संन्यासी और जनक गृहस्थ । इस प्रतिकूल से लगने वाले आचरण पर सारी सभा विस्मित हो उठी । शुकदेव इस बात को ताड़ गये । सभासदों का समाधान करते हुए उन्होंने कहा–'विद्वानो ! महाराज जनक ने अपने जीवन को ही योग बना लिया है, उनका प्रत्येक कर्म भगवान को, आदर्शों को समर्पित होता है । अतएव वे निःसन्देह सबसे बड़े योगी हैं ।

रैदास के पैसे गंगाजी ने हाथ में लिए

रैदास ने भी जीवन भर यही साधना की एवं इसी के फलस्वरूप वे सन्त-सा सम्मान पा सके । सन्त रैदास मोची का काम करते थे । काम को वे भगवान् की पूजा मानकर पूरी लगन एवं ईमानदारी से पूरा करते थे । एक साधु को सोमवती अमावस्या के दिन गंगा स्नान करने को साथ-साथ चलने के लिए उन्होंने आश्वासन दिया था । साधु सदा जप-तप में तल्लीन रहते थे । अमावस्या के स्नान का दिन निकट था । साधु रैदास के पास पहुँचे । गंगा स्नान की बात याद दिलायी । रैदास लोगों के जूते सीने का काम हाथ में ले चुके थे । समय पर देना था । अपनी असमर्थता व्यक्त करते

हुए रैदास ने कहा 'महात्मन् ! आप मुझे क्षमा करें । मेरे भाग्य में गंगा का स्नान नहीं है । यह एक पैसा लेते जाँय और गंगा माँ को मेरे नाम पर चढ़ा देना ।'

साधु गंगा स्नान के लिए समय पर पहुँचे । स्नान करने के बाद उन्हें रैदास की बात स्मरण हो आयी । मन ही मन गंगा से बोले 'माँ यह पैसा रैदास ने भेजा है–स्वीकार करें ।' इतना कहना था कि गंगा की अथाह जल राशि से दो विशाल हाथ बाहर उभरे और पैसे को हथेली में ले लिया । साधु यह दृश्य देखकर विस्मित रह गये और सोचने लगे मैंने इतना जप-तप किया, गंगा आकर स्नान किया तो भी गंगा माँ की कृपा नहीं प्राप्त हो सकी, जबकि गंगा का बिना स्नान किए ही रैदास को अनुकम्पा प्राप्त हो गयी ।

वे रैदास के पास पहुँचे और पूरी बात बतायी । रैदास बोले–'महात्मन् ! यह सब कर्त्तव्य धर्म के निर्वाह का प्रतिफल है । इसमें मुझ अकिंचन के तप, पुरुषार्थ की कोई भूमिका नहीं ।'

श्री भगवानुवाच–

जिज्ञासां नारदस्याथ ज्ञात्वा संमुमुदे हरिः ।
उवाच च महर्षे त्वमात्थ यन्मे मनीषितम् ॥ १६॥
युगानुरूपं सामर्थ्यं पश्यन्नत्र प्रसङ्गके ।
निर्धारणस्य चर्चाया व्यापकत्वं समीप्सितम् ॥ १७॥

टीका–नारद की जिज्ञासा जानकर भगवान् बहुत प्रसन्न हुए और बोले–"देवर्षि आप तो हमारे मन की बात कह रहे हैं । समय की आवश्यकता को देखते हुए इस प्रसंग पर चर्चा होना और निर्धारण को व्यापक किया जाना आवश्यक भी है ॥ १६-१७॥"

व्याख्या–जो जिज्ञासा भक्त के मन में घुमड़ रही थी वही भगवान् के भी अंतःकरण में विद्यमान थी, भक्त हमेशा भगवान् की आकांक्षा के अनुरूप ही विचारते हैं एवं अपनी गतिविधियों का खाका बनाते हैं । सच्चे भक्त की कसौटी पर देवर्षि खरे उतरते हैं, जभी वे जन-सामान्य की समस्या को लेकर प्रभु से मार्गदर्शन माँगते हैं ।

ऋषिवर नारद से श्रेष्ठ और हो ही कौन सकता था जो सामयिक आवश्यकतानुसार अपने प्रभु के मन की इच्छा जानें व उनकी प्रेरणाओं-समस्याओं के समाधानों को जन-जन के गले उतार सकें ।

अधुनास्ति हि सर्वत्राऽनास्था क्रमपरम्परा ।
अदूरदर्शिताग्रस्ता जना विस्मृत्य गौरवम् ॥ १८॥
अचिन्त्यचिन्तना जाता अयोग्याचरणास्तथा ।
फलतः रोगशोकार्तिकलहक्लेशनाशजम् ॥ १९॥
वातावरणमुत्पन्नं भीषणाश्च विभीषिकाः ।
अस्तित्वं च धरित्र्यास्तु संदिग्धं कुर्वतेऽनिशम् ॥ २०॥

टीका–इन दिनों सर्वत्र अनास्था का दौर है । अदूरदर्शिताग्रस्त हो जाने से लोग मानवी गरिमा को भूल गये हैं । अचिन्त्य-चिन्तन और अनुपयुक्त आचरण में संलग्न हो रहे हैं, फलतः रोग, शोक, कलह, भय और विनाश का वातावरण बन रहा है । भीषण-विभीषिकाएँ निरन्तर धरती के अस्तित्व तक को चुनौती दे रही हैं ॥ १८-२०॥

व्याख्या–यहाँ भगवान आज की परिस्थितियों पर संकेत करते हुए अनास्था की विवेचना करते हैं व वातावरण में संव्याप्त कलुष तथा भयावह परिस्थितियों का कारण भी श्रद्धा तत्व की अवमानना को ही बताते हैं ।

मनुष्य के चिन्तन और व्यवहार से ही आचरण बनता है । वातावरण से परिस्थिति बनती है और वही सुख-दुःख, उत्थान-पतन का निर्धारण करती हैं । जमाना बुरा है, कलयुग का दौर है, परिस्थितियाँ कुछ प्रतिकूल बन गयी हैं, भाग्य चक्र कुछ उल्टा चल रहा है–ऐसा कह कर लोग मन को हल्का करते हैं, पर इससे समाधान कुछ नहीं निकलता । जन समाज में से ही तो अग्रदूत निकलते हैं । प्रतिकूलता का दोषी

मूर्धन्य राजनेताओं को भी ठहराया जा सकता है । पर भूलना नहीं चाहिए कि इन सबका उद्‌गम केन्द्र मानवी अन्तराल ही है । आज की विषम परिस्थितियों को बदलने की जो आवश्यकता समझते हैं, उन्हें कारण की तह तक जाना ही होगा । अन्यथा सूखे पेड़, मुरझाते वृक्ष को हरा बनाने के लिए जड़ की उपेक्षा करके पत्ते सींचने जैसी बिडम्बना ही चलती रहेगी ।

आज अन्तः के उद्‌गम से निकलने तथा व्यक्तित्व व परिस्थितियों का निर्माण करने वाली आस्थाओं का स्तर गिर गया है । मनुष्य ने अपनी गरिमा खो दी है और संकीर्ण स्वार्थपरता का विलासी परिपोषण ही उसका जीवन लक्ष्य बन गया है । वैभव सम्पादन और उद्धत प्रदर्शन, उच्छृंखल दुरुपयोग ही सबको प्रिय है । समृद्धि बढ़ रही है, पर उसके साथ रोग-कलह भी प्रगति पर हैं । प्रतिभाओं की कमी नहीं पर श्रेष्ठता संवर्धन व निकृष्टता उन्मूलन हेतु प्रयास ही नहीं बन पड़ते । लोक मानस पर पशु प्रवृत्तियों का ही आधिपत्य है । आदर्शों के प्रति लोगों का न तो रुझान है, न उमंग ही । दुर्भिक्ष सम्पदा का नहीं, आस्थाओं का है । स्वास्थ्य की गिरावट, मनोरोगों की वृद्धि, अपराध वृत्ति तथा उद्दण्डता सारे वातावरण में संव्याप्त है और ये ही अदृश्य जगत में उस परिस्थिति को विनिर्मित कर रही हैं, जिसके रहते धरती महाविनाश-युद्ध की विभीषिकाओं के बिल्कुल समीप आ खड़ी हुई है ।

भगवान ने यहाँ स्पष्ट संकेत युग की समस्याओं के मूल कारण आस्था संकट की ओर किया है । सड़ी कीचड़ में से मक्खी, मच्छर, कृमि-कीटक, विषाणु के उभार उठते हैं । रक्त की विषाक्तता फुंसियों के रूप में, ज्वर प्रदाह के रूप में प्रकट होती है । ऐसे में प्रयास कहाँ हो ताकि मूल कारण को हटाया जा सके । अंतः की निकृष्टता को मिटाया जा सके इसी तथ्य की विवेचना वे करते हैं ।

प्रस्तुत परिस्थितियों को भगवान शिव-पार्वती सम्बन्धी यह आख्यान स्पष्ट करता है ।

शिवजी कोढ़ी बने

एक बार पार्वती ने शिवजी से पूछा–'भगवन् ! लोग इतना कर्मकाण्ड करते हैं फिर भी इन्हें आस्था का लाभ क्यों नहीं मिलता ?' शिवजी बोले–'धार्मिक कर्मकाण्ड होने पर भी मनुष्य जीवन में जो आडम्बर छाया है, यही अनास्था है । लोग धार्मिकता का दिखावा करते हैं, उनके मन वैसे नहीं हैं ।' परीक्षा लेने दोनों धरती पर आये । माँ पार्वती ने सुन्दरी साध्वी पत्नी का व शिवजी ने कोढ़ी का रूप धारण किया । मन्दिर की सीढ़ियों के समीप वे पति को लेकर बैठ गयीं । दानदाता दर्शनार्थ आते रहे व रुककर कुछ पल पार्वतीजी को देखकर आगे बढ़ जाते । बेचारे शिवजी को गिने चुने कुछ सिक्के मिल पाये । कुछ दानदाताओं ने तो संकेत भी किया कि 'कहाँ इस कोढ़ी पति के साथ बैठी हो । इन्हें छोड़ दो ।' पार्वतीजी सहन नहीं कर पायीं, बोलीं–'प्रभु ! लौट चलिए अब कैलाश पर । सहन नहीं होता इन पाखण्डियों का यह कुत्सित स्वरूप ।' इतने में ही एक दीन-हीन भक्त आया, पार्वतीजी के चरण छुए और बोला–'माँ ! आप धन्य हैं जो पतिपरायण हो इनकी सेवा में लगी हैं । आइये ! मैं इनके घावों को धो दूँ । फिर मेरे पास जो भी कुछ सत्तू आदि है, आप हम साथ-साथ खा लें ।' ब्राह्मण यात्री ने घावों पर पट्टी बाँधी, सत्तू थमा पुनः प्रणाम कर ज्योंही आगे बढ़ा वैसे ही शिवजी ने कहा–'यही है भार्ये एकमात्र भक्त, जिसने मन्दिर में प्रवेश से पूर्व निष्कपट भाव से सेवा धर्म को प्रधानता दी । ऐसे लोग गिने चुने हैं । शेष तो सब आत्म प्रवंचना भर करते हैं व अवगति को प्राप्त होते हैं ।' शिव–पार्वती ने अपने वास्तविक स्वरूप में उस भक्त को दर्शन दिये । परमगति का अनुदान दिया व वापस लौट गये ।

मनुष्य परमात्मा की सर्वोत्कृष्ट संरचना और शक्तिशाली कृति है । अपने आप से विग्रह करके ही उसने सर्वनाश की परिस्थितियाँ पैदा कर ली हैं, अन्यथा भगवान ने उसे जो कुछ देकर पैदा किया उसमें उसके दुःखी रहने का कोई कारण नहीं है ।

ईदृश्यां च दशायां तु स्वप्रतिज्ञानुसारतः ।
जाता नवावतारस्य व्यवस्थायाः स्थितिः स्वयम् ॥ २१॥
प्रज्ञावतारनाम्नां च युगस्यास्यावतारकः ।
भूलोके मानवानां तु सर्वेषां हि मनःस्थितौ ॥ २२॥
परिस्थितौ च विपुलं चेष्टते परिवर्तनम् ।
सृष्टिक्रमे चतुर्विंश एष निर्धार्यतां क्रमः ॥ २३॥

टीका–ऐसी दशा में अपनी प्रतिज्ञानुसार नये अवतार की व्यवस्था बन गई । प्रज्ञावतार नाम से इस युग का अवतरण भूलोक के मनुष्य समुदाय की मनःस्थिति एवं परिस्थिति में भारी परिवर्तन करने जा रहा है । सृष्टि क्रम में इस प्रकार का यह चौबीसवाँ निर्धारण है ॥ २१–२३॥

व्याख्या–आस्था संकट के दौर में भगवान हमेशा अपनी प्रतिज्ञा पूरी करते हैं, ऐसी परिस्थिति में ईश्वरीय सत्ता के अवतरण का उद्देश्य एक ही रहता है । गीता में कहा है–

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत । अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम् ॥
परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् । धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे-युगे ॥

गोस्वामी तुलसीदास के अनुसार–

असुर मारि थापहिं सुरन्ह राखहिं निज श्रुति सेतु ।
जग विस्तारहिं विशद यश राम जनम कर हेतु ॥

भावार्थ यह है कि अधर्म का नाश और धर्म की स्थापना अवतार प्रक्रिया का मूलभूत प्रयोजन है । यह संकल्प विराट् है और अनादिकाल से यथावत् चला आ रहा है ।

सुदूर अतीत के अवतारों में प्रारम्भिक का कार्यक्षेत्र भौतिक परिस्थितियों से जूझना भर था । उसके बाद वालों को अनाचारियों से लड़ना पड़ा । राम को मर्यादा पुरुषोत्तम, कृष्ण को पूर्ण पुरुष और बुद्ध को विवेक का देवता कहा जाता है । प्रज्ञावतार इन सबका उत्तरार्ध माना जा सकता है । उसका कार्य अपेक्षाकृत अधिक कठिन और व्यापक है । उसे मात्र सामयिक समस्याओं एवं व्यक्तिगत उद्दण्डताओं से ही नहीं जूझना है वरन् लोकमानस में ऐसे आदर्शों का बीजारोपण, अभिवर्धन तथा परिपोषण क्रियान्वयन करना है जो सतयुग जैसी भावना और राम राज्य जैसी व्यवस्था के लिए आवश्यक अन्तःप्रेरणा व्यापक क्षेत्र में उत्पन्न कर सकें । लक्ष्य और कार्य की गरिमा एवं व्यापकता को देखते हुए प्रज्ञावतार की कलाएँ चौबीस होना स्वाभाविक है ।

बदलती परिस्थितियों में बदलते आधार भगवान को भी अपनाने पड़े हैं । विश्व विकास की क्रम व्यवस्था के अनुरूप अवतार का स्तर एवं कार्यक्षेत्र भी विस्तृत होता चला गया है । मनुष्य जब तक साधन प्रधान और कार्य प्रधान था तब तक शास्त्र और साधनों के सहारे काम चल गया । आज की परिस्थितियों में बुद्धि तत्व की प्रधानता है । मन ही सर्वत्र छाया हुआ है । महत्वाकांक्षाओं के क्षेत्र में अनात्म-तत्व की भरमार होने से सम्पन्नता और समर्थता का दुरुपयोग ही बन पड़ रहा है । महामारी सीमित क्षेत्र तक नहीं रही, उसने अपने प्रभाव क्षेत्र में समूची मानव जाति को जकड़ लिया है । विज्ञान ने दुनियाँ को बहुत छोटी कर दिया है और गतिशीलता को अत्यधिक द्रुतगामी । ऐसी दशा में भगवान का अवतार युगान्तरीय चेतना के रूप में ही हो सकता है । जन-मानस के सुविस्तृत क्षेत्र में अपने पुण्य प्रवाह का परिचय देना इसी रूप में सम्भव हो सकता है, जिसमें कि 'प्रज्ञावतार' के प्रादुर्भाव की सूचना-सम्भावना सामने है ।

वरिष्ठता नराणां तु श्रद्धाप्रज्ञाऽवलम्बिता ।
निष्ठाश्रिता च व्यक्तित्वं सर्वेषामत्र संस्थितम् ॥ २४॥
न्यूनाधिकता हेतोः क्षीयते वर्धते च तत् ।
उत्थानसुखजं पातदुःखजं जायते वृतिः ॥ २५॥
अधुना मानवैस्त्यक्ता श्रेष्ठताऽऽभ्यन्तर स्थिता ।
फलत आत्मनेऽन्येभ्यः सङ्कटान् भावयन्ति ते ॥ २६॥

टीका–मनुष्य की वरिष्ठता श्रद्धा, प्रज्ञा और निष्ठा पर अवलम्बित है । इन्हीं की न्यूनाधिकता से उसका व्यक्तित्व उठता-गिरता है । इसी (व्यक्तित्व) के उठने-गिरने के कारण उत्थानजन्य सुखों और पतनजन्य दुखों का वातावरण बनता है । इन दिनों मनुष्यों ने आन्तरिक वरिष्ठता गँवा दी है । फलतः अपने तथा सबके लिए संकट उत्पन्न कर रहे हैं ॥ २४–२६॥

व्याख्या–श्रद्धा अर्थात् सद्भाव, प्रज्ञा अर्थात् सद्ज्ञान एवं निष्ठा अर्थात् सत्कर्म । तीनों का समन्वित

स्वरूप ही व्यक्तित्व का निर्माण करता है । श्रद्धा अन्तःकरण से प्रस्फुटित होने वाले आदर्शों के प्रति प्रेम है । इस गंगोत्री से निःसृत होने वाली पवित्र धारा ही सद्ज्ञान और सत्कर्म से मिलकर पतितपावनी गंगा का स्वरूप ले लेती है । इन तीनों का विकास-उत्थान ही मानव को महामानव बनाता है तथा इस क्षेत्र का पतन ही उसे निकृष्ट स्तर का जीवनयापन करने को विवश करता है ।

मनुष्य अपनी वरिष्ठता का कारण अपने वैभव-पुरुषार्थ, बुद्धिबल-धनबल को मानता है, जबकि यह मान्यता नितान्त मिथ्या है । व्यक्तित्व का निर्धारण तो अपना ही स्व–अन्तःकरण करता है । निर्णय, निर्धारण यहाँ से होते हैं । मन और शरीर स्वामिभक्त सेवक की तरह अन्तःकरण की आकांक्षा पूरी करने के लिए तत्परता और स्फूर्ति से लगे रहते हैं । उन्नति-अवनति का भाग्य-विधान यहीं लिखा जाता है ।

अन्तःकरण से सद्भाव न उपजेगा तो सद्ज्ञान व सदाचरण किस प्रकार फलीभूत होगा ? वस्तुतः तीनों ही परस्पर पूरक हैं –

तीनों परस्पर मिलकर सार्थक

ज्ञान, भावना और कर्म तीनों अपने आपको ज्येष्ठ बताया करते थे । इसके लिए झगड़ा हो गया । निपटारे के लिए तीनों ब्रह्माजी के पास गये । ब्रह्माजी बोले–'जो आकाश को छू ले वही बड़ा है । ज्ञान सूर्य तक पहुँचा । आगे उसकी गति न थी । भावना ने छलाँग लगाई तो आकाश के दूसरे छोर में पहुँच गई पर नीचे न उतर पाई, वहीं लटकी रह गई । कर्म ने सीढ़ियाँ बनानी शुरू कीं, पर दोपहर तक ही थक गया । ब्रह्मा ने तीनों को दुबारा बुलाकर समझाया कि तुम्हारी पूर्णता साथ-साथ रहने में ही है, अकेले तीनों अधूरे हैं ।

इनमें से एक भी कम अधिक होने पर व्यक्तित्व के उठने-गिरने का कारण बन जाता है । कई बार प्रारम्भिक जीवन क्रम अच्छा होने पर भी सद्भाव सम्वर्धन का साधन क्रम न बने रहने से आचरण भ्रष्ट होने लगता है और यह पतन का कारण बनता है । आज बहुसंख्य व्यक्ति इसी समूह के अन्तर्गत आते हैं ।

बलि का तेज चला गया

राजा बलि असुर कुल में उत्पन्न हुए थे पर वे बड़े सदाचारी थे और अपनी धर्म परायणता के कारण उनने बहुत वैभव और यश कमाया था । उनका पद इन्द्र के समान हो गया । पर धीरे-धीरे जब धन से उत्पन्न होने वाले अहंकार, आलस्य, दुराचार जैसे दुर्गुण बढ़ने लगे तो उनके भीतर वाली शक्ति खोखली होने लगी ।

एक दिन इन्द्र की बलि से भेंट हुई तो सबने देखा कि बलि के शरीर से एक प्रचण्ड तेज निकलकर इन्द्र के शरीर में चला गया है और बलि श्री विहीन हो गये ।

उस तेज से पूछा गया कि आप कौन हैं ? और क्यों बलि के शरीर से निकलकर इन्द्र की देह में गये ? तो तेज ने उत्तर दिया कि मैं सदाचरण हूँ । मैं जहाँ भी रहता हूँ, वहीं सब विभूतियाँ रहती हैं । बलि ने तब तक मुझे धारण किया जब तक उसका वैभव बढ़ता रहा था । जब इसने मेरी उपेक्षा कर दी तो मैं सौभाग्य को साथ लेकर, सदाचरण में तत्पर इन्द्र के यहाँ चला आया हूँ ।

बलि का सौभाग्य सूर्य अस्त हो गया और इन्द्र का चमकने लगा, उसमें सदाचरण रूपी तेज की समाप्ति ही प्रधान कारण थी ।

ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जो अपने व्यक्तित्व को ऊँचा उठाकर अपने को महामानव स्तर तक पहुँचा देते हैं, जन सम्मान पाते हैं । ऐसे निष्ठावानों से भारतीय-संस्कृति सदा से गौरवान्वित होती रही है ।

नैष्ठिकों की परिपाटी

मानवता के ऋण हेतु तथा जनसाधारण को दीन स्थिति से उबर कर आने हेतु प्रेरणा फूँकने में आद्य शंकराचार्य, समर्थ गुरु रामदास, स्वामी विवेकानन्द, कुमारजीव आदि का नाम हमेशा इतिहास में लिखा जायेगा । आद्य शंकराचार्य अपनी अल्पायु में भ्रमण करते रहे व चारों धाम की स्थापना कर उन्होंने धर्म संस्कृति की अक्षुण्ण सेवा की । समर्थ गुरु रामदास ने स्थान-स्थान पर व्यायामशालाएँ, हनुमान मन्दिर बनाए और अपना संदेश युगानुरूप परिस्थितियों के अनुसार जन-जन तक पहुँचाया । आक्रामक आततायियों के विरुद्ध छत्रपति शिवाजी को तैयार कर उन्होंने धर्ममंच से अनीति के विरुद्ध मोर्चा लड़ा । स्वामी विवेकानन्द ने अपने गुरु का सन्देश भारत से लेकर विश्व भर में पहुँचाया व वेदान्त, मानव-धर्म, भारतीय-संस्कृति का

विस्तार उसी प्रकार अल्पावधि में ही कर दिखाया जिस प्रकार कुमारजीव ने बौद्ध मान्यताओं को विश्व के कोने-कोने में फैला दिया था ।

लेकिन इन दिनों परिस्थितियाँ बड़ी विषम हैं । समृद्धि की दृष्टि से भले ही आज का मानव सौभाग्यशाली स्वयं को समझता हो, स्वास्थ्य, सन्तुलन, स्नेह-सहकार जैसे जीवन के महत्वपूर्ण क्षेत्रों में श्मशान जैसी वीभत्स भयंकरता छाई हुई है । जो क्षमताएँ सृजन और सहयोग में नियोजित होकर संसार में स्वर्गीय वातावरण बना सकती थीं वे ही एक दूसरे को काटने में लगी हैं । यह दुरुपयोग कैसे बन पड़ा ? सृजन ध्वंस में कैसे बदल गया इस विडम्बना का एक ही कारण है-आन्तरिक वरिष्ठता का अवमूल्यन । इसी की प्रतिक्रिया व्यक्ति और समाज के सम्मुख खड़ी अनेकानेक विपत्ति, विभीषिकाओं के रूप में दृष्टिगोचर हो रही है । यदि जड़ें मजबूत होतीं तो यह स्थिति न आती ।

जड़ें कमजोर थीं

एक रात भयंकर तूफान आया । सैकड़ों विशालकाय वृक्ष धराशायी हो गये । अनेक किशोर वृक्ष भी थे जो बच तो गये थे, पर बुरी तरह सकपकाये खड़े थे ।

प्रातःकाल आया, सूर्य ने अपनी रश्मियाँ धरती पर फेंकी । डरे हुए पौधों को देखकर किरणों ने पूछा-'बालको ! तुम इतना सहमे हुए क्यों हो ।' किशोर पौधों ने कहा-'देवियो ! ऊपर देखो हमारे कितने पुरखे धराशायी पड़े हैं । रात के तूफान ने उन्हें उखाड़ फेंका । न जाने कब यही स्थिति हमारी भी आ बने ।'

किरणें हँसी और बच्चों से बोलीं-तात ! आओ इधर देखो-यह वृक्ष तूफान के कारण नहीं जड़ें खोखली हो जाने के कारण गिरे, तुम अपनी जड़ें मजबूत रखना, तूफान तुम्हारा कुछ भी बिगाड़ नहीं पायेंगे ।

मनुष्यों का दीन-हीन होना विचित्र बात है । जब बिना साधनों के जंगल के जानवर स्वस्थ, निरोग और आमोद-प्रमोद का जीवन जी लेते हैं तो मनुष्य दुःखों का रोना क्यों रोये । स्पष्ट है उसकी तृष्णा, वासनायें और अहंता ही उसे श्मशान के भूत की तरह सताती रहती हैं । यदि व्यक्ति अपने दायरे को संकीर्ण न बनाता, इन तृष्णाओं के चंगुल में न फँसता तो दीन-दुःखी जीवन जीने की नौबत ही क्यों आती ?

सात घड़ा धन

मधुवर्त नामक वैश्य महाराज समुद्रदत्त के यहाँ नौकरी करता था । जितना मिलता था उसमें घर का अच्छा गुजर-बसर चलता था, बालक बच्चे सभी सुखी थे । एक दिन मधुवर्त जंगल से गुजर रहा था तो एक पीपल से आवाज आई-'सात घड़ा धन लोगे ।' मधुवर्त लालच में आ गया । उसने हाँ कर दी । अदृश्य आवाज ने कहा-'जाओ तुम्हारे घर पहुँचा दिये जायेंगे ।' मधुवर्त घर लौटा तो पत्नी ने बताया कि सातों घड़े आ गये हैं । उसने सातों देखे । छः तो भरे थे । एक आधा खाली था । मधुवर्त को उसे पूरा करने की चिन्ता सताने लगी । अब उसने अपना, बच्चों का सभी का पेट काटना शुरू कर दिया । फलतः स्वयं हो चला दुर्बल, बच्चे करने लगे उत्पात, पत्नी कभी उसकी तरफ कभी बच्चों की तरफ । घर में हाहाकार मच गया । एक दिन इसी शोक में डूबे मधुवर्त को देखकर महाराज समुद्रदत्त ने पूछा-'कहीं तुम्हें यक्ष के सात घड़े तो नहीं मिल गये ।' मधुवर्त ने कहा-'हाँ महाराज ।' वे हँसकर बोले-'तुम्हारे दुःखों का वही कारण है सुख चाहो तो उन्हें लौटा दो ।' गलती समझ में आई तो मधुवर्त ने घड़े लौटाये और जितना भी कुछ अपने पास था उसी में गुजारा करने लगे ।

जो लोग भले होते हैं, वे तो किसी प्रकार उबर आते हैं पर कुटिल चाल चलने वाले अन्ततः स्वयं गिरते हैं । ऐसे गीदड़ वेशधारी अनेक व्यक्ति समाज में बैठे हैं ।

गड्ढे में बकरी और गीदड़

एक गीदड़ एक दिन गड्ढे में गिर गया । बहुत उछल-कूद की किन्तु बाहर न निकल सका । अन्त में हताश होकर सोचने लगा कि अब इसी गड्ढे में मेरा अन्त हो जाना है । तभी एक बकरी को मिमियाते सुना । तत्काल ही गीदड़ की कुटिलता जाग उठी । वह बकरी से बोला-"बहिन बकरी ! यहाँ अन्दर खूब हरी-हरी घास और मीठा-मीठा पानी है । आओ जी भरकर खाओ और पानी पियो ।" बकरी उसकी लुभावनी बातों में आकर गड्ढे में कूद गयी ।

चालाक गीदड़ बकरी की पीठ पर चढ़कर गड्ढे से बाहर कूद गया और हँसकर बोला-"तुम बड़ी बेवकूफ हो, मेरी जगह खुद मरने गड्ढे में आ गई हो ।" बकरी बड़े सरल भाव से बोली-"गीदड़ भाई, मेरी उपयोगितावश कोई न कोई मुझे निकाल ही लेगा किन्तु तुम अपने ही दुर्गुणों के कारण विनाश के बीज बो लोगे ।

थोड़ी देर में मालिक ढूँढ़ता हुआ बकरी को निकाल ले गया । रास्ते में जा रही बकरी ने देखा वही

गीदड़ किसी के तीर से घायल हुआ झाड़ी में कराह रहा है ।

यदा मनुष्यो नात्मानमात्मनोद्धर्तुमर्हति ।
कृतावतारोऽलं तस्य स्थितोः संशोधयाम्यहम् ॥ २७॥
क्रमेऽस्मिन्सुविधायुक्ताः साधनैः सहिताःनराः ।
विभीषिकायां नाशस्याऽनास्थासंकटपाशिताः ॥ २८॥
तन्निवारणहेतोश्च कालेऽस्मिंश्चलदलोपमे ।
प्रज्ञावतारूपेऽवतराम्यत्र तु पूर्ववत् ॥ २९॥
त्रयोविंशतिवारं यद्भ्रष्टं सन्तुलनं भुवि ।
संस्थापितं मयैवैतद् भ्रष्टं सन्तुलयाम्यहम् ॥ ३०॥

टीका–जब मनुष्य अपने बल–बूते दल–दल से उबर नहीं पाते तो मुझे अवतार लेकर परिस्थितियाँ सुधारनी पड़ती हैं । इस बार सुविधा–साधन रहते हुए भी मनुष्यों को जिस विनाश विभीषिका में फँसना पड़ रहा है उसका मूल कारण आस्था–संकट ही है । उसके निवारण हेतु मुझे इस अस्थिर समय में इस बार प्रज्ञावतार के रूप में अवतरित होना है । पिछले तेईस बार की तरह इस बार भी बिगड़े सन्तुलन को फिर संभालना है ॥ २७–३० ॥

व्याख्या–मानवी पुरुषार्थ की भी अपनी महिमा-महत्ता है । लेकिन जब मनुष्य दुर्बुद्धि जन्य विभीषिकाओं के सामने स्वयं को विवश-असहाय अनुभव करता है, तब परिस्थितियाँ अवतार प्रकटीकरण की बनती हैं । भगवान् ने हर बार मानवता के परित्राण हेतु असंतुलन की स्थिति में अवतार लिया है और सृष्टि की डूबती नैया को पार लगाया है ।

सृष्टा अपनी अद्भुत कलाकृति विश्व-वसुधा को, मानवी सत्ता को, सुरम्य वाटिका को विनाश के गर्त में गिरने से पूर्व ही बचाता और अपनी सक्रियता का परिचय देता है तथा परिस्थितियों को उलटने का चमत्कार उत्पन्न करता है । यही अवतार है । संकट के सामान्य स्तर से तो मनुष्य ही निपट लेते हैं, पर जब असामान्य स्तर की विपन्नता उत्पन्न हो जाती है तो सृष्टा को स्वयं ही अपने आयुध सम्भालने पड़ते हैं । उत्थान के साधन जुटाना भी कठिन है पर पतन के गर्त में द्रुतगति से गिरने वाले लोक मानस को उलट देना अति कठिन है । इस कठिन कार्य को सृष्टा ने समय-समय पर स्वयं ही सम्पन्न किया है । आज की विषम वेला में भी अवतरण की परम्परा का निर्वाह करते हुए अपनी लीला संदोह प्रस्तुत करते कोई भी प्रज्ञावान प्रत्यक्ष देख सकता है ।

अवतार का लीला-संदोह अवतार प्रक्रिया आदिकाल से चली आ रही है और आदिकाल से अब तक मनुष्य जाति ने अनेक प्रकार के उतार-चढ़ाव देखे हैं । स्वाभाविक ही भिन्न-भिन्न कालों में समस्यायें और असन्तुलन भिन्न-भिन्न प्रकार के रहे हैं ।

जब जिस प्रकार की समस्यायें उत्पन्न हुई हैं, तब उसी का समाधान करने के लिए एक दिव्य चेतना, जिसे अवतार कहा गया है प्रादुर्भूत हुई है और उसी क्रम से अवतार, युग प्रवाह को उलटने के लिए अपनी लीलाएँ रचते रहे हैं । सृष्टि के आरम्भ में जल ही जल था । प्राणी जगत में जलचरों की ही प्रधानता थी, तब उस असंतुलन को मत्स्यावतार ने साधा । जब जल और थल पर प्राणियों की हलचलें बढ़ीं तो उनके अनुरूप क्षमता सम्पन्न कच्छप काया ने सन्तुलन बनाया । उन्हीं के नेतृत्व में समुद्र-मन्थन के रूप में प्रकृति दोहन का पुरुषार्थ सम्पन्न हुआ । हिरण्याक्ष ने समुद्र में छिपी सम्पदा को ढूँढ़कर उसे अपने ही एकाधिकार में कर लिया तो भगवान् का वाराह रूप ही उसका दमन करने में समर्थ-सक्षम हो सका । जब मनुष्य अपनी आवश्यकता से अधिक कमाने में समर्थ हो गया तो संकीर्ण स्वार्थपरता से प्रेरित संचय की प्रवृत्ति भी बढ़ी । संचय और उपभोग की पशु प्रवृत्ति को उदारता में परिणत करने के लिए भगवान् वामन के रूप में प्रकट हुए । छोटे, बौने और पिछड़े लोग उठ खड़े हुए और बलि जैसे सम्पन्न व्यक्तियों को स्वेच्छापूर्वक उदारता अपनाने के लिए सहमत कर लिया गया ।

उच्छृंखलता जब उद्धत और उद्दण्ड हो जाती है तब शालीनता से उसका शमन नहीं हो सकता । प्रत्याक्रमण

द्वारा ही उसका दमन करना पड़ता है । ऐसे अवसरों पर नरसिंहों की आवश्यकता पड़ती है और उन्हीं का पराक्रम अग्रणी रहता है । उन आदिम परिस्थितियों में भगवान् ने नर और व्याघ्र का समन्वय आवश्यक समझा तथा नृसिंह अवतार के रूप में दुष्टता के दमन एवं सज्जनता के संरक्षण का आश्वासन पूरा किया ।

इसके बाद परशुराम, राम, कृष्ण, बुद्ध के अवतार आते हैं । इन सभी का अवतरण बढ़ते हुए अनाचरण के प्रतिरोध और सदाचरण के समर्थन-पोषण के उद्देश्य के लिए हुआ । परशुराम ने शस्त्र बल से सामन्तवादी निरंकुश आधिपत्य को समाप्त किया । राम ने मर्यादाओं के पालन पर जोर दिया तो कृष्ण ने अपने समय की धूर्तता और छल-छद्म से घिरी हुई परिस्थितियों का दमन 'विषस्य विषमौषधम्' की नीति अपना कर किया । कृष्ण चरित्र में कूटनीतिक दूरदर्शिता की इसलिए प्रधानता है कि इस समय की परिस्थितियों में सीधी उँगली से घी नहीं निकल पा रहा था । इसलिए काँटे से काँटा निकालने का उपाय अपनाकर अवतार प्रयोजन को पूरा करना पड़ा ।

बुद्ध के बुद्धवाद का स्वरूप 'विचार क्रान्ति' था । पूर्वार्द्ध में धर्म चक्र का प्रवर्तन हुआ था । धर्म धारणा का सम्मान करते हुए लाखों व्यक्तियों ने उसमें भाव भरा योगदान दिया था । आनन्द जैसे मनीषी, हर्षवर्धन जैसे श्रीमन्त, आम्रपाली जैसी कलाकार, अंगुलिमाल जैसे प्रतिभाशाली बड़ी संख्या में उस अभियान के अंग बने थे । इससे पिछले अवतारों का कार्यक्षेत्र सीमित रहा था, क्योंकि समस्यायें छोटी और स्थानीय थीं । बुद्ध-काल तक समाज का विस्तार बड़े क्षेत्र में हो गया था । इसलिए बुद्ध का अभियान भी भारत की सीमाओं तक सीमित नहीं रहा और उन दिनों जितना व्यापक प्रयास सम्भव था, उतना अपनाया गया । धर्मचक्र प्रवर्तन भारत से एशिया भर में फैला और उससे भी आगे बढ़कर उसने अन्य महाद्वीपों तक अपना आलोक बाँटा ।

प्रज्ञावतार-बुद्धावतार का उत्तरार्ध है । बुद्धि प्रधान युग की समस्यायें भी चिन्तन प्रधान होती हैं । मान्यतायें, विचारणायें, इच्छायें ही प्रेरणा केन्द्र होती हैं और उन्हीं के प्रवाह में सारा समाज बहता है । ऐसे समय में अवतार का स्वरूप भी तदनुरूप ही हो सकता है । लोकमानस को अवांछनीयता, अनैतिकता एवं मूढ़मान्यता से विरत करने वाली विचार-क्रान्ति ही अपने समय की समस्याओं का समाधान कर सकती है ।

आज आस्था संकट के कारण मनुष्य सुख-समृद्धि से सम्पन्न होने के बावजूद जिस जंजाल में स्वयं फँसा हुआ है एवं अन्यों के लिए विपत्ति का कारण बना हुआ है, उसका निवारण आस्था, प्रज्ञारूपी अस्त्र द्वारा ही सम्भव है ।

परस्पर सम्वाद में वर्तमान स्थिति का विश्लेषण कर भगवान् इसीलिए प्रज्ञावतार के प्रकटीकरण की परिस्थितियाँ देवर्षि को समझाते हैं और पिछले अवतारों का स्मरण दिलाते हुए इस बार भी विभीषिका निवारण हेतु अपनी शक्तियों को सन्तुलन स्थापना के लिए आवश्यक प्रतिपादित करते हैं ।

निराकारत्वहेतोश्च प्रेरणां कर्तुमीश्वरः ।
शरीरिण्श्च गृह्णामि गतिसञ्चालने ततः ॥ ३१॥
अपेक्ष्यन्ते वरिष्ठाश्च आत्मानः कार्यसिद्धये ।
अग्रदूतानिमान् कर्तुं पुष्याम्यन्विष्य सर्वथा ॥ ३२॥
ततो निजप्रभावेण वर्चस्वेन च ते समम् ।
समुदायं दिशां नेतुं भिन्नां कुर्युर्वृतिं पराम् ॥ ३३॥

टीका-निराकार होने के कारण मैं प्रेरणा ही भर सकता हूँ । गतिविधियों के लिए शरीरधारियों का आश्रय लेना पड़ता है, इसके लिए वरिष्ठ आत्माएँ चाहिए । इन दिनों अग्रदूत बनाने के लिए उन्हीं को खोजना, उभारना और सामर्थ्यवान् बनाना है, जिससे कि अपने प्रभाव, वर्चस्व से वे समूचे समुदाय की दिशा बदल सकें, समूचे वातावरण में परिवर्तन प्रस्तुत कर सकें ॥ ३१-३२॥

व्याख्या-अवतार प्रकटीकरण का हमेशा यही स्वरूप रहा है । भगवान् प्रेरणा देते हैं एवं उस आदर्शवादी प्रेरणा को शरीरधारी क्रिया में परिणत करते हैं । ईश्वरीयसत्ता जब भी अवतरित होती है, उसके साथ लोक-कल्याण की भावनाओं से सम्पन्न देवात्माएँ भी धरती पर अवतरित होती हैं । वरिष्ठ अग्रगामी-अवतारों के पार्षदगण ही इस प्रेरणा संचार को ग्रहण करते हैं ।

चेतना का अवतरण अग्रदूतों में

दसों दिशाओं में रावण का आतंक फैला था । कोई यह सोच भी नहीं सकता था कि उसका विरोध-प्रतिरोध किया जा सकता है । अनीति जब चरम सीमा पर पहुँची, राम जन्म लेने की तैयारी करने लगे । तब भगवान् की सहायता के लिए देवताओं को एकत्र कर ब्रह्माजी ने भिन्न-भिन्न रूपों में धरती पर जन्म लेकर अवतार प्रयोजन की पूर्ति हेतु व्यवस्था की । रीछ, वानर, गिद्ध इन जागृत वरिष्ठ आत्माओं के रूप में उभरे और अपने शौर्य-साहस का परिचय देते हुए धर्म-युद्ध में सहायक हुए ।

जब भी आतंक को चीरते हुए अप्रत्याशित रूप से सत्साहस उभरे, समझना चाहिए कि दैवी चेतना काम कर रही है । चेतना प्रवाह का प्रत्यक्ष प्रमाण होता है-आदर्शवाद को अपनाना और दुस्साहस का परिचय देते हुए घाटे का सौदा स्वीकार करना ।

कृष्ण के साथ ग्वाल-बाल आये और कंस की अनीति के विरुद्ध संघशक्ति के स्वरूप बने । आगे चलकर जब महाभारत रचा गया तो अनीति के प्रतीक, साधन सम्पन्न दुर्योधन से दुर्धर्ष संघर्ष करने के लिए पाण्डव सहित न्याय पक्ष के असंख्यों समर्थक कृष्ण के साथ लड़े । अन्ततः न्याय की जीत हुई और अनीति-अन्याय हारे । अवतार के अतिरिक्त किसी के द्वारा ऐसा नहीं होता जो लोग आदर्शों के लिए घाटा सहते हुए लड़ मरने का साहस बरत सकें । ये वे ही निराकार प्रेरणाएँ हैं जिन्होंने समय-समय पर आदर्शवादिता की, धर्म की प्रतिष्ठापना की है ।

जो लोग भगवान् की प्रेरणाएँ अपने में धारण करते हैं, वे अर्जुन की तरह हैं, जो उन्हें सारथी रूप में स्वीकारते हैं, लड़ते स्वयं ही हैं । जो उन प्रेरणाओं को धारण न करे, वह दुर्योधन की तरह हैं जो कहता था-"जानामि धर्मं न च मे प्रवृत्ति-मैं धर्म को जानता हूँ पर उसमें प्रवृत्त नहीं हो पाता" -इसलिए वह महाभारत में हारा । जीता तो अर्जुन ही ।

अकाल से जूझने वाली कन्या सुप्रिया

प्रश्न सामर्थ्य और क्षमता का नहीं, उच्चस्तरीय भावनाओं का है । भगवान् बुद्ध के समय श्रावस्ती में भयंकर अकाल पड़ा । साधन-सम्पन्न लोग न केवल घरों में छिप गये अपितु अपने पास उपलब्ध अन्न, वस्त्र भी छिपा बैठे । ऐसे समय बुद्ध के समक्ष सुप्रिया नाम की एक कुलीन कन्या ने राज्य के भरण-पोषण की प्रतिज्ञा की । वह घर-घर जाकर अन्न-वस्त्र माँगने लगी । उसकी निष्ठा से जन-भावनाएँ भड़क उठीं और देखते-देखते अकाल से लड़ने वाली शक्ति सामर्थ्य जुटकर खड़ी हो गयी ।

कभी भी परिस्थितियाँ कितनी ही औंधी-सीधी क्यों न हों, यदि प्रारम्भ में कुछ भी निष्ठावान् देवदूत खड़े हो गये तो न केवल लक्ष्य पूर्ण हुआ, अपितु वह इतिहास भी अमर हो गया ।

गुरु गोविन्दसिंह के पाँच प्यारे

गुरु गोविन्दसिंह ने एक ऐसा ही नरमेध यज्ञ किया । उक्त अवसर पर उन्होंने घोषणा की-"भाइयो ! देश की स्वाधीनता पाने और अन्याय से मुक्ति के लिए चण्डी बलिदान चाहती है, तुममें से जो अपना सिर दे सकता हो, वह आगे आये । गुरु गोविन्दसिंह की माँग का सामना करने का किसी में साहस नहीं हो रहा था, तभी दयाराम नामक एक युवक आगे बढ़ा ।" गुरु उसे एक तरफ ले गये और तलवार चला दी, रक्त की धार बह निकली, लोग भयभीत हो उठे । तभी गुरु गोविन्दसिंह फिर सामने आये और पुकार लगाई अब कौन सिर कटाने आता है । एक-एक कर क्रमशः धर्मदास, मोहकमचन्द, हिम्मतराय तथा साहबचन्द आये और उनके शीश भी काट लिए गये । बस अब मैदान साफ था कोई आगे बढ़ने को तैयार न हुआ ।

गुरु गोविन्दसिंह अब उन पाँचों को बाहर निकाल लाये । विस्मित लोगों को बताया यह तो निष्ठा और सामर्थ्य की परीक्षा थी, वस्तुतः सिर तो बकरों के काटे गये । तभी भीड़ में से 'हमारा बलिदान लो-हमारा भी बलिदान लो' की आवाज आने लगी । गुरु ने हँसकर कहा-"यह पाँच ही तुम पाँच हजार के बराबर हैं । जिनमें निष्ठा और संघर्ष की शक्ति न हो उन हजारों से निष्ठावान् पाँच अच्छे ?" इतिहास जानता है इन्हीं पाँच प्यारों ने सिख संगठन को मजबूत बनाया ।

जो अवतार प्रकटीकरण के समय सोये नहीं रहते, परिस्थिति और प्रयोजन को पहचान कर इनके काम में लग जाते है, वे ही श्रेय-सौभाग्य के अधिकारी होते हैं, अग्रगामी कहलाते हैं ।

जागते को दसों सिद्धियाँ

एक सन्त दस शिष्यों समेत सघन वन में रहते थे । एक रात्रि को उनने एक विशेष साधना कराई । शिष्यों को पंक्तिबद्ध होकर ध्यान करने के लिए बिठा दिया । रात्रि के तीसरे प्रहर गुरु ने धीमे से आवाज दी-'राम !' राम उठा, गुरु ने उसे चुपके से दुर्लभ सिद्धि प्रदान की । अब दूसरे की बारी आई । पुकारा-श्याम ! पर श्याम तो सो रहा था । इस बार भी राम ही आया और दूसरी सिद्धि भी लेकर चला गया ।

शेष सभी शिष्य सो रहे थे । गुरु को उस दिन दस सिद्धियाँ देनी थीं । सोते को जगाने का निषेध था । दसों बार राम ही आया और एक-एक करके दसों सिद्धियाँ प्राप्त करके कृत-कृत्य हो गया । सोने वाले दूसरे दिन जागे और अपनी भूल पर पछताने लगे ।

निराकार सत्ता की प्रेरणा इसी प्रकार हम सबको टटोलती है । जो जागृत होते हैं, वे ही उस प्रेरणा को समझ पाते हैं, शक्ति पाकर सामर्थ्यवान् बनते तथा सारे वातावरण को बदल कर रख देते हैं ।

संयुक्तश्च प्रयासोऽयं कर्त्तव्यो नारद शृणु ।
प्रेरयामि तु सम्पर्कं कुरु साधय पोषय ॥ ३४॥
वरिष्ठात्मान एवं च त्यक्त्वा सर्वाः प्रसुप्तिकाः ।
युगमानवकार्यं च साधयिष्यन्ति पोषिताः ॥ ३५॥
अनेनागमनं ते तु ममामन्त्रणमेव च ।
उभयपक्षगतं सिद्धं प्रयोजनमिदं ततः ॥ ३६॥

टीका--हे नारद ! इसके लिए हम लोग संयुक्त प्रयास करें । हम प्रेरणा भरें, आप सम्पर्क साधें और उभारें । इस प्रकार वरिष्ठ आत्माओं की प्रसुप्ति जागेगी और वे युग मानवों की भूमिका निभा सकने में समर्थ हो सकेंगे । इससे आपके आगमन और हमारे आमन्त्रण का उभयपक्षीय प्रयोजन पूरा होगा ॥ ३४-३६ ॥

व्याख्या--संयुक्त प्रयास ही हमेशा फलदायी होते हैं । प्रेरणा निराकार सत्ता की तथा किसी अन्य द्वारा उसका सुनियोजित क्रियान्वयन-दोनों मिलकर प्रयोजन को समग्र-सफल बनाते हैं ।

रामकृष्ण परमहंस तथा विवेकानन्द, समर्थ गुरु रामदास तथा शिवाजी, श्रीकृष्ण और अर्जुन, राम और हनुमान, स्वामी विरजानन्दजी तथा दयानन्द ऐसे संयुक्त प्रयासों के उदाहरण हैं । प्रेरणा हमेशा इसी रूप में आती है और पार्षद उसे क्रियान्वित करते हैं ।

भगवान् की चेतना और जाग्रत आत्माओं का सहयोग इस उदाहरण से समझा जा सकता है जिसमें कम शक्ति-सामर्थ्य होते हुए भी दो व्यक्ति मिलकर परस्पर पूरक बन गये ।

अंधे-पंगे का जोड़ा

एक गाँव में आग लग गई । सभी आदमी तो सुरक्षित भाग निकले पर दो वृद्ध ऐसे थे जो भाग नहीं सकते थे-एक अन्धा, एक पङ्गा । दोनों ने एकता स्थापित की, अन्धे ने पङ्गे को कन्धे पर बैठा लिया, पङ्गा रास्ता बताने लगा और अन्धा तेज दौड़ने लगा । दोनों सकुशल बाहर आ गये । सहयोग का अर्थ ही है-अनेक तरह की सामर्थ्यों से एक परिपूर्ण शक्ति का उद्भव ।

भवन जब बनाया जाता है तो योजना तथा नक्शा वास्तुकला विज्ञ व यांत्रिक बनाते हैं, जबकि श्रमिक मिलकर श्रम करते हैं । दोनों के संयुक्त प्रयास से ही अट्टालिकाएँ बनकर तैयार हो जाती हैं । विशाल बाँध की एक योजना बनती है और उसे मूर्तरूप देने के लिए विशेषज्ञ आते हैं । भले ही अन्तिम कल्पना पूरी हो जाने पर श्रमिक गण मिलकर उसे पूरा करें-महत्व दोनों का अपनी अपनी जगह है ।

भगवान् की प्रेरणा तथा देवर्षि के जागृत आत्माओं को जगाने-उभारने का पुरुषार्थ-दोनों का समन्वय ही युगान्तरीय कार्य सम्पादित कर सकने में समर्थ हो सकता है, इस तथ्य को यहाँ स्पष्ट करते हुए वरिष्ठ आत्माओं की असामान्यता व जागृति की आवश्यकता बतायी गयी है ।

जागृत आत्माएँ--हनुमान, शिवाजी, अर्जुन--जब भगवान राम ने हनुमान को सीता को ढूँढ़ लाने का काम सौंपा तब उन्हें अपने ऊपर आत्मविश्वास नहीं था, न ही अपनी सामर्थ्य की जानकारी थी । जाम्बवन्त के प्रेरक वचन सुनते ही उन्हें अपनी वस्तुस्थिति का ज्ञान हुआ और पवनपुत्र उड़ चले लंका की ओर । एक साधारण वानर अपनी सामर्थ्य को पहचान कर असामान्य पार्षद बन गया ।

समर्थ गुरु रामदास ने शिवाजी को आततायी आक्रमणकारियों से संघर्ष हेतु प्रेरणा दी, योजनाबद्ध शिक्षण दिया और उनके अन्दर की सामर्थ्य को जगाकर उन्हें छत्रपति बना दिया ।

महाभारत की दोनों सेनाओं के बीच खड़ा अर्जुन का रथ देखने में शस्त्रसज्जा से भरा-पूरा व हर दृष्टि से समर्थ-सशक्त प्रतीत होता था, पर उसके भीतर असमंजस का अदृश्य दिग्भ्रम इतना अधिक संव्याप्त था कि सूत्र संचालक का माथा ही ठनकने लगा । सारथी बने भगवान श्रीकृष्ण ने गाण्डीवधारी, महापराक्रमी अर्जुन को अवसादग्रस्त देखकर जो संदेश दिया उसका सार तत्व यही था-"पास की नहीं, दूर की सोच । अब तो जाग ! लाभ को नहीं, श्रेय को चुन ।" भगवान भक्त का भी असमंजस हरते हैं, उसे प्रसुप्ति से जगाते हैं व दिव्य आलोक देते हैं । वही अर्जुन को भी मिला ।

बन्दा बैरागी की साधना

बन्दा वैरागी भी इसी प्रकार समय की पुकार की अवहेलना कर, संघर्ष में न लगकर एकान्त साधना कर रहे थे । उन्हीं दिनों गुरुगोविन्दसिंह की बैरागी से मुलाकात हुई । उन्होंने एकान्त सेवन को आपत्तिकाल में हानिकारक बताते हुए कहा-"बन्धु ! जब देश, धर्म, संस्कृति की मर्यादाएँ नष्ट हो रही हैं और हम गुलामी का जीवन बिता रहे हैं, आताताइयों के अत्याचार हम पर हो रहे हैं उस समय यह भजन, पूजन, ध्यान, समाधि आदि किस काम के हैं ?"

गुरुगोविन्दसिंह की युक्तियुक्त वाणी सुनकर बन्दा वैरागी उनके अनुयायी हो गए और गुरु की तरह उसने भी आजीवन देश को स्वतन्त्र कराने, अधर्मियों को नष्ट करने और संस्कृति की रक्षा करने की प्रतिज्ञा की । इसी उद्देश्य के लिए बन्दा वैरागी आजीवन प्रयत्नशील रहे । मुसलमानों द्वारा वैरागी पकड़े गये, उन्हें एक पिंजरें में बन्द किया गया । मौत या धर्म परिवर्तन की शर्त रखी गई, लेकिन वे तिल मात्र भी विचलित नहीं हुए । अन्ततः आताताइयों ने उनके टुकड़े-टुकड़े कर दिये । बन्दा अन्त तक मुस्कराते ही रहे । भले ही बन्दा मर गये परन्तु अक्षय यश और कीर्ति के अधिकारी बने ।

भगवान् का आमन्त्रण

यह एक प्रमाणित तथ्य है कि जिन्होंने भगवान का आमन्त्रण सुना है वह कभी घाटे में नहीं रहे । बुद्ध ने 'धर्मम् बुद्धम् संघम् शरणम् गच्छामि' का नारा लगाया और संव्याप्त अनीति-अनाचार से जूझने हेतु आमन्त्रण दिया तो असंख्यों व्यक्ति युग की पुकार पर सब कुछ छोड़कर उनके साथ हो लिए । उन्होंने तत्कालीन व्यवस्था को बदलने के लिए उन भिक्षुओं के माध्यम से जो बौद्धिक क्रान्ति सम्पन्न की, उसी का परिणाम था कि कुरीतियुक्त समाज का नव निर्माण सम्भव हो सका ।

इसी तरह का चमत्कार गाँधी युग में भी उत्पन्न हुआ । अंग्रेजों की सामर्थ्य और शक्ति पहाड़ जितनी ऊँची थी । उन दिनों यह कहावत आम प्रचलित थी कि अंग्रेजों के राज्य में सूर्य अस्त नहीं होता था । बुद्धि, कौशल में भी उनका कोई सानी नहीं था । फिर निहत्थे मुट्ठी भर सत्याग्रही उनका क्या बिगाड़ सकते थे । हजार वर्ष से गुलाम रही जनता में भी ऐसा साहस नहीं था कि इतने शक्तिशाली साम्राज्य से लोहा ले सके और त्याग-बलिदान कर सके । ऐसी निराशापूर्ण परिस्थितियों में भी फिर एक अप्रत्याशित उभार उमड़ा और स्वतन्त्रता संग्राम छिड़ा, यही नहीं अन्ततः वह विजयी होकर रहा ।

उस संग्राम में सर्वसाधारण ने जिस पराक्रम का परिचय दिया वह देखते ही बनता था । असमर्थों की समर्थता, साधनहीनों को साधनों की उपलब्धता तथा असहायों को सहायता के लिए न जाने कहाँ से अनुकूलताएँ उपस्थित हुईं और असम्भव लगने वाला लक्ष्य पूरा होकर रहा ।

सोत्सुकं नारदोऽपृच्छद्देवात्र किमपेक्ष्यते ।
कथं ज्ञेया वरिष्ठास्ते किं शिक्ष्याःकारयामि किम् ॥ ३७॥
येन युगसन्धिकाले ते मूर्धन्या यान्तु धन्यताम् ।
समयश्चापि धन्यः स्यात्तात तत्सृज युगविधिम् ॥ ३८॥
पूर्वसंचितसंस्काराः श्रुत्वा युगनिमन्त्रणम् ।
मौनाः स्थातुंन शक्ष्यन्ति चौत्सुक्यात् संगतास्ततः ॥ ३९॥

टीका-तब नारद ने उत्सुकतापूर्वक पूछा-हे देव ! इसके लिए क्या करने की आवश्यकता है ? वरिष्ठों को कैसे ढूँढ़ा जाय ? उन्हें क्या सिखाया जाय और क्या कराया जाय ? जिससे युग-सन्धि की

बेला में अपनी भूमिका से मूर्धन्य आत्माएँ स्वयं धन्य बन सकें और समय को धन्य बना सकें । भगवान् बोले–हे तात् ! युग सृजन का अभियान आरम्भ करना चाहिए । जिनमें पूर्व संचित संस्कार होंगे, वे युग निमन्त्रण सुनकर मौन बैठे न रह सकेंगे, उत्सुकता प्रकट करेंगे, समीप आवेंगे और परस्पर सम्बद्ध होंगे ॥ ३७–३९ ॥

व्याख्या–जागृत आत्माएँ कभी भी चुप बैठी नहीं रह सकतीं । उनके अर्जित संस्कार व सत्साहस युग की पुकार सुनकर उन्हें आगे बढ़ने व अवतार के प्रयोजनों हेतु क्रियाशील होने को बाध्य कर देते हैं ।

जटायु व गिलहरी चुप नहीं बैठे

पंख कटे जटायु को गोद में लेकर भगवान् राम ने उसका अभिषेक आँसुओं से किया । स्नेह से उसके सिर पर हाथ फेरते हुए भगवान् राम ने कहा–तात् ! तुम जानते थे रावण दुर्द्धर्ष और महाबलवान है, फिर उससे तुमने युद्ध क्यों किया ?

अपनी आँखों से मोती ढुलकाते हुए जटायु ने गर्वोन्नत वाणी में कहा–'प्रभो ! मुझे मृत्यु का भय नहीं है, भय तो तब था जब अन्याय के प्रतिकार की शक्ति नहीं जागती ?'

भगवान् राम ने कहा–तात् ! तुम धन्य हो ! तुम्हारी जैसी संस्कारवान् आत्माओं से संसार को कल्याण का मार्गदर्शन मिलेगा ।

गिलहरी पूँछ में धूल लाती और समुद्र में डाल आती । वानरों ने पूछा–देवि ! तुम्हारी पूँछ की मिट्टी से समुद्र का क्या बिगड़ेगा । तभी वहाँ पहुँचे भगवान् राम ने उसे अपनी गोद में उठाकर कहा 'एक–एक कण धूल एक–एक बूँद पानी सुखा देने के मर्म को समझो वानरो । यह गिलहरी चिरकाल तक सत्कर्म में सहयोग के प्रतीक रूप में सुपूजित रहेगी ।'

जो सोये रहते हैं वे तो प्रत्यक्ष सौभाग्य सामने आने पर भी उसका लाभ नहीं उठा पाते । जागृतात्माओं की तुलना में उनका जीवन जीवित–मृतकों के समान ही होता है ।

सोते हो ? नहीं, जीते हो ? नहीं

एक बार भगवान् बुद्ध एक रात्रि प्रवचन कर रहे थे । प्रवचन सुनने के लिए बैठा हुआ व्यक्ति बार–बार नींद के झोंके ले रहा था । तथागत ने उस ऊँघते हुए व्यक्ति से कहा–'वत्स ! सो रहे हो ?'–'नहीं भगवन् !' हड़बड़ा कर ऊँघते हुए व्यक्ति ने कहा । प्रवचन पूर्ववत् चालू हो गया और उक्त श्रोता फिर पहले की तरह ऊँघने लगा । भगवान बुद्ध ने तीन–चार बार उसे जगाया परन्तु वह 'नहीं भगवन्' कहता और फिर सो जाता । अन्तिम बार तथागत ने पूछा–'वत्स जीवित हो,' 'नहीं भगवन्'–सदा की तरह उत्तर दिया श्रोता ने । श्रोताओं में हँसी की लहर दौड़ गयी । भगवान बुद्ध भी मुस्कराये, फिर गम्भीर होकर बोले–'वत्स ! निद्रा में तुमसे सही उत्तर निकल गया । जो निद्रा में है वह मृतक समान है ।'

अवतार के लिए तो महत्व आमन्त्रण सुनकर जग उठने, व्यामोह छोड़कर तत्पर हो जाने वालों का ही होता है ।

दीपक का आश्वासन

सूरज विदा होने को था–अंधकार की तमिस्रा सन्निकट थी । इतने में एक टिमटिमाता दीपक आगे आया और सूरज से बोल उठा–'भगवन् ! आप सहर्ष पधारें । मैं निरन्तर जलते रहने का व्रत नहीं तोडूँगा जैसे आपने चलने का व्रत नहीं तोड़ा है । आपके अभाव में थोड़ा ही सही, पर प्रकाश देकर अंधकार को मिटाने का मैं पूरा–पूरा प्रयास करूँगा ।' छोटे से दीपक का आश्वासन सुनकर सूर्य भगवान ने उसके साहस की सराहना की व सहर्ष विदा हुए ।

प्रयत्न भले ही छोटे हों पर प्रभु के कार्यों में ऐसे ही भावनाशीलों का थोड़ा–थोड़ा अंश मिलकर युगान्तरकारी कार्य कर दिखाता है ।

आदर्शवादी दुस्साहस की ही प्रशंसा होती है । वह सत्साहस के रूप में उत्पन्न होता है और असंख्यों को अनुप्राणित करता है । श्रेय किस व्यक्ति को मिला यह बात नितान्त गौण है । यह तो झण्डा लेकर आगे चलने वाले की फोटो के समान है । जबकि उस सैन्यदल में अनेकों का शौर्य, पुरुषार्थ झण्डाधारी की तुलना में कम नहीं, अधिक होता है ।

सत्पात्रतां गतास्ते च तत्वज्ञानेन बोधिताः ।
कार्याः संक्षिप्तसारेण यदमृतमिति स्मृतम् ॥ ४० ॥
तुलना कल्पवृक्षेण मणिना पारदेन च ।
यस्य जाता सदा तत्त्वज्ञानं तत्ते वदाम्यहम् ॥ ४१ ॥
तत्त्वचिन्तनतः प्रज्ञा जागर्त्यात्मविनिर्मितौ ।
प्राज्ञः प्रसज्जते चात्मविनिर्माणे च सम्भवे ॥ ४२ ॥
तस्यातिसरला विश्वनिर्माणस्यास्ति भूमिका ।
कठिना दृश्यमानापि ज्ञानं कर्म भवेत्ततः ॥ ४३ ॥
प्रयोजनानि सिद्ध्यन्ति कर्मणा नात्र संशयः ।
सद्ज्ञान देव्यास्तस्यास्तु महाप्रज्ञेति या स्मृता ॥ ४४ ॥
आराधनोपासना संसाधनाया उपक्रमः ।
व्यापकस्तु प्रकर्तव्यो विश्वव्यापी यथा भवेत् ॥ ४५ ॥

टीका—ऐसे लोगों को सत्पात्र माना जाय और उन्हें उस तत्व ज्ञान को सार संक्षेप में हृदयंगम कराया जाय, जिसे अमृत कहा गया है । जिसकी तुलना सदा पारसमणि और कल्पवृक्ष से होती रही है, वही तत्वज्ञान तुम्हें बताता हूँ । तत्व-चिन्तन से 'प्रज्ञा' जगती है । प्रज्ञावान आत्मनिर्माण में जुटता है । जिसके लिए आत्मनिर्माण कर पाना सम्भव हो सका है, उसके लिए विश्व निर्माण की भूमिका निभा सकना अति सरल है, भले ही वह बाहर से कठिन दीखती हो । ज्ञान ही कर्म बनता है । कर्म से प्रयोजन पूरे होते हैं, इसमें सन्देह नहीं । उस सद्ज्ञान की देवी 'महाप्रज्ञा' है । जिनकी इन दिनों उपासना-साधना और आराधना का व्यापक उपक्रम बनना चाहिए ॥ ४०-४५ ॥

व्याख्या—सत्पात्रों को गायत्री महाविद्या का अमृत, पारस, कल्पवृक्ष रूपी तत्व ज्ञान दिया जाना इस कारण भगवान ने अनिवार्य समझा ताकि वे अपने प्रसुप्ति को जगा-प्रकाशवान हों—ऐसे अनेक के हृदय को प्रकाश से भर सकें । अमृत अर्थात् ब्रह्मज्ञान-वेदमाता के माध्यम से, पारस अर्थात् भावना-प्रेम-विश्वमाता के माध्यम से एवं कल्पवृक्ष अर्थात् तपोबल-देवत्व की प्राप्ति-देवमाता के माध्यम से । ये तीनों ही धाराएँ एक ही महाप्रज्ञा के तीन दिव्य प्रवाह हैं । अज्ञान, अभाव एवं अशक्ति का निवारण प्रत्यक्ष कामधेनु गायत्री के अवलम्बन से ही सम्भव है ।

गायत्री ब्रह्म विद्या है । उसी को कामधेनु कहते हैं । स्वर्ग के देवता इसी का पयपान करके सोमपान का आनन्द लेते और सदा निरोग, परिपुष्ट एवं युवा बने रहते हैं । गायत्री को कल्पवृक्ष कहा गया है । इसका आश्रय लेने वाला अभावग्रस्त नहीं रहता । गायत्री ही पारस है । जिसका आश्रय, सान्निध्य लेने वाला लोहे जैसी कठोरता, कालिमा खोकर स्वर्ण जैसी आभा और गरिमा उपलब्ध करता है । गायत्री ही अमृत है । इसे अन्तराल में उतारने वाला अजर-अमर बनता है। स्वर्ग और मुक्ति को जीवन का परम लक्ष्य माना गया है । यह दोनों ही गायत्री द्वारा साधक को अजस्र-अनुदान के रूप में अनायास ही मिलते हैं । मान्यता है कि गायत्री माता का सच्चे मन से अंचल पकड़ने वाला कभी कोई निराश नहीं रहता । संकट की घड़ी में वह तरण-तारिणी बनती है । उत्थान के प्रयोजनों में उसका समुचित वरदान मिलता है । अज्ञान के अन्धकार में भटकाव दूर करके और सन्मार्ग का सही रास्ता प्राप्त करके चरम प्रगति के लक्ष्य तक जा पहुँचना गायत्री माता का आश्रय लेने पर सहज सम्भव होता है ।

प्रज्ञा व्यक्तिगत जीवन को अनुप्राणित करती है, इसे 'ऋतम्भरा' अर्थात् श्रेष्ठ में ही रमण करने वाली कहते हैं । महाप्रज्ञा इस ब्रह्माण्ड में संव्याप्त है । उसे दूरदर्शिता, विवेकशीलता, न्यायनिष्ठा, सद्भावना, उदारता के रूप में प्राणियों पर अनुकम्पा बरसाते और पदार्थों को गतिशील, सुव्यवस्थित

एवं सौन्दर्य युक्त बनाते देखा जा सकता है । परब्रह्म की वह धारा जो मात्र मनुष्य के काम आती एवं आगे बढ़ाने, ऊँचा उठाने की भूमिका निभाती है-'महाप्रज्ञा' है । ईश्वरीय अगणित विशेषताओं एवं क्षमताओं से प्राणि-जगत एवं पदार्थ-जगत उपकृत होते हैं, किन्तु मनुष्य को जिस आधार पर ऊर्ध्वगामी बनने-परमलक्ष्य तक पहुँचने का अवसर मिलता है, उसे महाप्रज्ञा ही समझा जाना चाहिए । इसका जितना अंश जिसे, जिस प्रकार भी उपलब्ध हो जाता है वह उतने ही अंश में कृत-कृत्य बनता है । मनुष्य में देवत्व का, दिव्य क्षमताओं का उदय-उद्भव मात्र एक ही बात पर अवलम्बित है कि महाप्रज्ञा की अवधारणा उसके लिए कितनी मात्रा में सम्भव हो सकी । महाप्रज्ञा का ब्रह्म विद्या पक्ष अन्तः करण को उच्चस्तरीय आस्थाओं से आनन्दविभोर करने के काम आता है । दूसरा पक्ष साधना है, जिसे विज्ञान या पराक्रम कह सकते हैं, इसके अन्तर्गत आस्था को उछाला और परिपुष्ट किया जाता है । मात्र ज्ञान ही पर्याप्त नहीं होता । कर्म के आधार पर उसे संस्कार, स्वभाव, अभ्यास के स्तर तक पहुँचाना होता है । साधना का प्रयोजन श्रद्धा को निष्ठा में-निर्धारण की-अभ्यास की-स्थिति में पहुँचाना है । इसलिए अग्रदूतों, तत्वज्ञानियों, जीवनमुक्तों एवं जागृत आत्माओं को भी साधना का अभ्यास क्रम नियमित रूप से चलाना होता है ।

महापुरुषों द्वारा गायत्री का महत्व वर्णन

प्रव्रज्या कर रहे जगद्गुरु शङ्कराचार्य से मान्धाता ने पूछा-भगवन् सर्वोपरि देव कौन है ? जिनकी उपासना से लोक-परलोक दोनों सधते हों । शंकराचार्य ने कहा-वह है गायत्री । गायत्री की महिमा का वर्णन करना मनुष्य की सामर्थ्य से बाहर है । सद्बुद्धि का होना इतना बड़ा कार्य है जिसकी समता संसार में और किसी से नहीं हो सकती । आत्म-ज्ञान प्राप्त करने की दिव्यदृष्टि जिस बुद्धि से प्राप्त होती है उसकी प्रेरणा गायत्री द्वारा होती है ।

सृष्टि निर्माण करने के उपरान्त पितामह मनु ने प्रजा से कहा-

अष्टादशसु विद्यासु मीमांसातिगरीयसी । ततोऽपितर्कशास्त्राणि पुराणास्तेभ्य एव च ॥
ततोऽपिधर्मशास्त्राणि तेभ्यो गुर्वीश्रुतिर्द्विज । ततोप्युपनिषच्छ्रेष्ठा गायत्री च ततोऽधिका ॥
दुर्लभासर्वमंत्रेषु गायत्री प्रणवान्विता । न गायत्र्याधिकं कित्ञ्चिमहीषु परिगीयते ॥

अर्थात् अट्ठारह विद्याओं में मीमांसा बड़ी है, इससे भी अधिक गुरु तर्क शास्त्र, उससे भी अधिक धर्मशास्त्र होते हैं । श्रुति उससे भी श्रेष्ठ है, पर इन सबसे अधिक श्रेष्ठ गायत्री है इससे अधिक और कोई नहीं । प्रणव से समन्वित गायत्री उपासना को दुर्लभ ही मानना चाहिए । यह वेदसार या सर्वोपरि वेद-महाप्रज्ञा है । रामकृष्ण परमहंस ने शिष्यों को संबोधित कर कहा-"गायत्री उपासना का जितना विकास, विस्तार होगा, यह देश उतना ही शक्तिशाली, समर्थ और सिद्ध होता जायेगा ।" छोटे से गायत्री मंत्र में सारे विश्व की सामर्थ्य विद्यमान हैं । यहाँ तक कि ब्रह्मा, विश्वामित्र, राम एवं कृष्ण ने भी इसी आद्यशक्ति गायत्री की शरण ली एवं सृष्टि रचना, अवतार प्रयोजन इसी प्रकार पूरे हुए । अगले दिनों भी यही होने जा रहा है ।

अपने युग में भगवान की सत्ता "प्रज्ञावतार" के रूप में प्रकट हो रही है । इसकी कलायें चौबीस हैं । गायत्री के चौबीस अक्षरों में से प्रत्येक को एक कला किरण माना जा सकता है । इन दिव्य धाराओं में बीज रूप में वह सब कुछ विद्यमान है-जो मानवी गरिमा को स्थिर एवं समुन्नत बनाने के लिए आवश्यक है । सूर्य के सप्त अश्व, सप्त-मुख, सप्त-आयुध प्रसिद्ध हैं । सविता की प्राण सत्ता गायत्री की शक्तिधारायें इससे अधिक हैं । गायत्री के चौबीस अक्षरों में साधन परक सिद्धियाँ और व्यक्तित्वपरक सिद्धियाँ अनेकानेक हैं उनका वर्गीकरण चौबीस विभागों में करने से विस्तार को समझने में सुविधा होती है । चेतना का-अन्तरंग का परिष्कार और साधन सुविधाओं का विस्तार यह दोनों ही तथ्य मिलने पर मनुष्य में देवत्व के उदय और समाज में स्वर्णिम परिस्थितियों के विस्तरण की सम्भावना बनती है । प्रज्ञावतार का कार्यक्षेत्र यही है । वह व्यक्ति के रूप में नहीं शक्ति के रूप में प्रकट होगी । जिस व्यक्ति में इस प्रज्ञा तत्व की मात्रा जितनी अधिक प्रकट होगी, उतना ही अधिक वह युग सृजेताओं की गणना में आ सकेगा और अपने पुरुषार्थ के आधार पर श्रेय प्राप्त कर सकेगा । इतने पर भी परिवर्तन के लिए अवतरित मूल सत्ता निराकार ही रहेगी । चेतना सदा निराकार ही रहती है-निराकार ही रहेगी ।

प्राह नारद इच्छायाः स्वकीयाया भवान् मम ।
जिज्ञासायाश्च प्रस्तौति यं समन्वयमद्भुतम् ॥ ४६ ॥
आत्मा मे पुलकितस्तेन स्पष्टं निर्दिश भूतले ।
प्रतिगत्य च किं कार्यं येन सिद्धयेत्प्रयोजनम् ॥ ४७ ॥

टीका–नारद ने कहा–हे देव ! अपनी इच्छा और मेरी जिज्ञासा का आप जो अद्भुत समन्वय प्रस्तुत कर रहे हैं, उससे मेरी अन्तरात्मा पुलकित हो रही है । कृपया स्पष्ट निर्देश कीजिए कि पुनः मृत्युलोक में वापस जाकर मुझे क्या करना चाहिए, ताकि आपका प्रयोजन पूर्ण हो ॥ ४६–४७ ॥

उवाच भगवांस्तात ! दिग्भ्रान्तान् दर्शयाग्रतः ।
यथार्थताया आलोकं सन्मार्गे गन्तुमेव च ॥ ४८ ॥
तर्कतथ्ययुतं मार्गं त्वं प्रदर्शय साम्प्रतम् ।
उपायं च द्वितीयं तं तदाधारसमुद्भवम् ॥ ४९ ॥
उत्साहं सरले कार्ये योजयाभ्यस्ततां यतः ।
परिचितिं युगधर्मे च गच्छेयुर्मानवाः समे ॥ ५० ॥
चरणौ द्वाविमौ पूर्णावाधारं प्रगतेर्मम ।
अवतारक्रियाकर्त्री चेतना सा युगान्तरा ॥ ५१ ॥

टीका–भगवान् बोले–हे तात् ! सर्व प्रथम दिग्भ्रान्तों को यथार्थता का आलोक दिखाना और सन्मार्ग अपनाने के लिए तर्क और तथ्यों सहित मार्गदर्शन करना है, दूसरा उपाय इस आधार पर उभरे हुए उत्साह को किसी सरल कार्यक्रम में जुटा देना है, ताकि युग धर्म से वे परिचित और अभ्यस्त हो सकें । इन दो चरणों के उठ जाने पर आगे की प्रगति का आधार मेरी अवतरण प्रक्रिया–युगान्तरीय चेतना स्वयमेव सम्पन्न कर लेगी ॥ ४८–५१ ॥

व्याख्या-युग परिवर्तन का कार्य योजनाबद्ध ढंग से ही किया जा सकता है । सबसे पहले तो सुधारकों, अग्रगामियों को अपने सहायक ढूँढ़ने के लिए निकलना होता है, उन्हें उँगली पकड़कर चलना सिखाना पड़ता है । जब वे अपनी दिशा समझ लेते हैं, उच्चस्तरीय पथ पर चलने के लिए वे सहमत हो जाते हैं, तब उन्हें सुनियोजित कार्य पद्धति समझाकर उनके उत्साह को क्रियारूप देना होता है । यही नीति हर अवतार की रही है । इतना बन पड़ने पर शेष कार्य वह चेतन-सत्ता स्वयं कर लेती है ।

समस्या तब उठ खड़ी होती है, जब व्यक्ति ईश्वरीय सत्ता की इच्छा-आकांक्षा जानते हुए भी व्यामोह में फँसे दिशा भूले की तरह जीवन बिताते हैं अथवा उद्देश्य को जानते हुए भी अपने उत्साह को सही नियोजित नहीं कर पाते ।

कृष्ण की अर्जुन को लताड़

अर्जुन के हाथ से युद्ध मध्य में गाण्डीव छूटते, मुख सूखते देख कृष्ण झुँझला पड़े थे । कथनी और करनी में व्यतिरेक, व्यामोह, असमंजस उनसे सहन नहीं हुआ । भौहें तरेरते हुए वे बोल उठे-'कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्'-हे अभागे ! इस विषम वेला में यह कृपणता तेरे मन मस्तिष्क पर किस प्रकार चढ़ बैठी ? दिग्भ्रान्त अर्जुन की आँखें खुलीं और उभरे उत्साह ने गाण्डीवधारी अर्जुन को महाभारत विजय का श्रेय दिलाया । कार्य तो ईश्वरीय चेतना ने ही किया पर जागृत व उफन कर आये सत्साहस की परिणति ही पूर्व भूमिका बना सकी ।

मार्गदर्शन के, सत्य का प्रकाश दिखाने के और भी कई तरीके हो सकते हैं-

विद्यासागर द्वारा कर्मठ युवक की सहायता

सुधार का रचनात्मक ढंग प्रभावशाली और चिरस्थायी होता है । एक हट्टे-कट्टे युवक भिखारी से एक दिन मनीषी प्रवर ईश्वरचन्द्र विद्यासागर ने कहा-'बेटे ! यदि तुम कोई उद्यम कर लो तो न केवल भिक्षायाचना की घृणास्पद स्थिति से बच सकते हो वरन् अपने भावी जीवन को सम्मानास्पद भी बना सकते हो ।' युवक ने कहा-'श्रीमान् जी ! मेरे पास पचास

रुपये की भी पूँजी हो जाती तो मैं भीख नहीं माँगता । ईश्वरचन्द्र ने उसे पचास रुपये दे दिये । एक दिन वही युवक कलकत्ते की एक बड़ी कपड़ा फर्म का मालिक बना और अपनी तरह के सैकड़ों अनाथ, असहायों को भी इसी तरह आजीविका से लगाया ।

शिक्षा कभी-कभी अनजाने में ऐसे व्यक्तियों से भी मिल जाती है जो बहिरंग की दृष्टि से तो ज्ञानवान्, प्रतिभाशाली नजर नहीं आते पर उनका व्यवहार ज्ञान इतना प्रखर होता है कि वह व्यक्ति की जीवन धारा ही पलट देता है । शिवाजी के साथ यही हुआ ।

शिवाजी को बुढ़िया की सीख

शिवाजी उन दिनों मुगलों के विरुद्ध छापा मार युद्ध लड़ रहे थे । रात को थके-माँदे वे एक वनवासी बुढ़िया की झोपड़ी में जा पहुँचे और कुछ खाने-पीने की याचना करने लगे । बुढ़िया के घर में कोदों थी सो उसने प्रेमपूर्वक भात पकाया और पत्तल पर उसने सामने परस दिया । शिवाजी बहुत भूखे थे । सो सपाटे से भात खाने की आतुरता में उँगलियाँ जला बैठे, मुँह से फूँककर जलन शान्त करनी पड़ी । बुढ़िया ने आँखें फाड़कर देखा और बोली-'सिपाही तेरी शक्ल शिवाजी जैसी लगती है और साथ ही यह भी लगता है कि तू उसी की तरह मूर्ख भी है ।'

शिवाजी स्तब्ध रह गये । उनने बुढ़िया से पूछा-'भला शिवाजी की मूर्खता तो बताओ और साथ ही मेरी भी ।'

बुढ़िया ने कहा-'तू ने किनारे-किनारे से थोड़ी-थोड़ी ठण्डी कोदों खाने की अपेक्षा बीच के सारे भात में हाथ मारा और उँगलियाँ जला लीं । यही बेअकली शिवाजी करता है । वह दूर किनारों पर बसे छोटे-छोटे किलों को आसानी से जीतते हुए शक्ति बढ़ाने की अपेक्षा बड़े किलों पर धावा बोलता है और मार खाता है ।' शिवाजी को अपनी रणनीति की विफलता का कारण विदित हो गया । उन्होंने बुढ़िया की सीख मानी और पहले छोटे लक्ष्य बनाये और उन्हें पूरी करने की रीति-नीति अपनाई । छोटी सफलताएँ पाने से उनकी शक्ति बढ़ी और अन्ततः बड़ी विजय पाने में समर्थ हुए ।

शुभारम्भ हमेशा छोटे-छोटे कदमों से होता है, पर यथार्थता की प्रकाश किरणें इतने मात्र से एक व्यक्ति की जीवन धारा बदल देती है ।

तोता पढ़ाते सद्भाव जगा

एक सन्त ने गणिका को साध्वी बनने का पाठ पढ़ाना आरम्भ किया । पढ़ाते-पढ़ाते गणिका के अन्दर भाव जागने लगा और उसका जीवन-क्रम ही बदल गया । उसने धर्म-संस्कृति के उत्थान में स्वयं को समर्पित कर दिया ।

कौआ न मारने का शुभारम्भ

महावीर ने व्याध के अन्दर दया का उत्साह जगाया व उसे सुनियोजित भी कर दिया । उनकी एक शर्त, एक पक्षी 'कौआ' न मारने को जब वह राजी हो गया तो उसके अन्दर से प्राणी समुदाय के प्रति करुणा का भाव प्रस्फुटित हुआ और हिंस्र-हेय कर्म छोड़, उसने अपना जीवन ही बदल दिया ।

सदुत्साह जग जाय व सुनियोजित हो सके तो व्यक्ति ऐसे प्रवाह में बह जाते हैं, जो उन्हें आत्म-कल्याण की दिशा में ले जाता है । शेष कार्य युगान्तरीय चेतना, भगवत् सत्ता स्वयं सम्पादित कर लेती है । परिस्थितियों की जटिलता को सरल बनाना व प्रक्रिया को आश्चर्यजनक मोड़ देने का काम परमात्मा का है ।

छोटों से बड़े काम

भगवान बुद्ध का अभियान थोड़े से बौद्ध भिक्षुओं ने चलाया और एक दिन वह सारे भारतवर्ष और एशिया में छा गया । कंस दुर्धर्ष था, बालकों में कृष्ण ने दूध-दही सत्याग्रह जगाया । वे सक्रिय हुए तो चेतन शक्ति ने उसका संहार कर दिखाया । आततायी असुर रावण के प्रति देवताओं का आक्रोश समवेत उत्साह के रूप में उभरा एवं वानर यूथों ने चेतन-शक्ति के सहारे उसका संहार कर डाला । थोड़े व्यक्तियों के प्रयत्नों से अर्जित सफलता को ईश्वरीय ही कहा जाना चाहिए ।

मानवी पुरुषार्थ जब सही दिशा पाकर अपने काम में जुट जाता है तो स्वयमेव वे परिस्थितियाँ बनने लगती हैं जिन्हें 'युग परिवर्तन' के नाम से जाना जाता है । गाँधी का उदाहरण हमारे सामने है । दण्डी यात्रा, नमक आन्दोलन, खादी आन्दोलन, विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार ऐसे छोटे सरल कार्यक्रमों में उन्होंने उत्साहित अग्रदूतों को लगा दिया । छोटे नजर आने वाले इन कार्यक्रमों की ही अंतिम परिणति स्वतन्त्रता प्राप्ति के रूप में हुई । यही महामानवों की क्रियाप्रणाली है जो सूक्ष्म सत्ता द्वारा संचालित व प्रेरित होती रही है ।

नारद उवाच-

पप्रच्छ नारदो भगवन् स्पष्टतो विस्तरादपि ।
किं नु कार्यं मया ब्रूहि मानवैः कारयामि किम् ॥ ५२॥

श्री भगवानुवाच-

उवाच भगवाँस्तात ! हिमाच्छादित एकदा ।
उत्तराखण्ड संशोभिन्यारण्यक शुभस्थले ॥ ५३॥
तत्वावधाने प्राज्ञस्य पिप्पलादस्य नारद ।
प्रज्ञासत्रसमारम्भो जातः पञ्चदिनात्मकः ॥ ५४॥
अष्टावक्रः श्वेतकेतुरुद्दालकशृङ्गिणौ ।
दुर्वासाश्चेति जिज्ञासाः पञ्चाकुर्वन् क्रमादिमे ॥ ५५॥
तत्वदर्शी महाप्राज्ञस्तेषां संमुख एव सः ।
संक्षिप्तं ब्रह्मविद्यायाः प्रास्तौत्सारं सममृषिः ॥ ५६॥
सर्वसाधारणोऽप्येनं ज्ञातुं बोधयितुं क्षमः ।
इह लोके परे चायमृद्धिसिद्धिप्रदः स्मृतः ॥ ५७॥
तं प्रसङ्ग स्मारयामि ध्यानेन हृदये कुरु ।
प्रज्ञा पुराणरूपे च योजितं यत्नतस्तु तम् ॥ ५८॥
वरिष्ठानामात्मानं तु पूर्वं साधारणस्य च ।
हृदयङ्गममेनं त्वं कारयाद्य महामुने ॥ ५९॥

टीका-नारद ने पूछा-"भगवन् ! और भी स्पष्ट करें कि क्या करना और क्या कराना है ।" भगवान् बोले-"हे तात ! एक बार उत्तराखण्ड के हिमाच्छादित एक शुभ आरण्यक में महाप्राज्ञ पिप्पलाद के तत्वाधान में पाँच दिवसीय 'प्रज्ञा-सत्र' हुआ था । उसमें क्रमशः अष्टावक्र, श्वेतकेतु, शृङ्गी, उद्दालक और दुर्वासा ने पाँच जिज्ञासाएँ की थीं । तत्वदर्शी महाप्राज्ञ ऋषि ने उनके समक्ष ब्रह्मविद्या का सार-संक्षेप प्रस्तुत किया था, वह सर्वसाधारण के समझने-समझाने योग्य है, साथ ही लोक-परलोक में उभय-पक्षीय ऋद्धि-सिद्धियाँ प्रदान करने वाला भी है । उस प्रसंग का तुम्हें स्मरण दिलाता हूँ । ध्यान-मग्न होकर हृदयंगम करो, सुनियोजित करो और 'प्रज्ञा पुराण' के रूप में सर्वप्रथम वरिष्ठ आत्माओं को, तदुपरान्त सर्वसाधारण को हृदयंगम कराओ ॥ ५२-५९ ॥

व्याख्या—अध्यात्म विज्ञान के व्यावहारिक शिक्षण की विस्तृत कार्य प्रणाली जानने को उत्सुक देवर्षि को भगवान् एक विशिष्ट प्रज्ञासत्र का स्मरण दिलाते हैं । यह ऋषि प्रणाली है कि किसी भी तथ्य का समर्थन, प्रतिपादन प्रत्यक्ष उदाहरणों द्वारा किया जाय । ध्यान मग्न नारद को भगवान ने ज्ञान सत्रों में हुई चर्चा को संक्षेप में अपनी परावाणी, विचार सम्प्रेषण द्वारा समझा दिया एवं अग्रदूतों तक इसे पहुँचाने, उन्हें इस ज्ञान आलोक से प्रकाशित करने का निर्देश भी दिया ।

समाधिस्थो नारदोऽभूत्तस्मिन्नेव क्षणे प्रभुः ।
प्रज्ञापुराणमेतत्तद्हृदयस्थम कारयत् ॥ ६०॥
उवाच च महामेघमण्डलीव समन्ततः ।
कुरु त्वं मूसलाधारं वर्षां तां युगचेतनाम् ॥ ६१॥
अनास्थाऽऽतपशुष्कां च महर्षे धर्मधारणाम् ।
जीवयैतदिदं कार्यं प्रथमं ते व्यवस्थितम् ॥ ६२॥

टीका-नारद समाधिस्थ हो गये । भगवान् ने उस समय प्रज्ञापुराण कण्ठस्थ करा दिया और

कहा-'इस युगचेतना की वर्षा मेघों की तरह सर्वत्र बरसाओ । अनास्था के आतप से सूखी धर्म-धारणा को फिर से हरी-भरी बना दो । तुम्हारा प्रथम काम यही है ॥ ६०-६२॥'

व्याख्या—बादलों का काम है बरसना तथा जल अभिसिंचन द्वारा सारी विश्व मानवता को तृप्त करना । जहाँ अकाल पड़ा हो वहाँ वर्षा की थोड़ी-सी बूँदें गिरते ही चारों ओर प्रसन्नता का साम्राज्य छा जाता है-कुछ ही समय में हरियाली फैली दिखाई पड़ती है । समुद्र से उठने वाली भाप जब बादल बनती है तो उसका एक ही उद्देश्य रहता है-वनस्पति जगत तथा सारे जीव जगत में प्राण भर देना ।

चेतना विस्तार की यही भूमिका अवतार, महामानव, अग्रदूत, जागृत आत्माएँ निभाती हैं । उनका उद्देश्य भी यही होता है । आस्था संकट का जो मूल उद्गम है-अन्तःकरण, वहाँ वे व्यक्ति-व्यक्ति तक पहुँचकर उसके अन्दर हलचल मचाते हैं । मरुस्थल बन गये अन्तःस्थल में संवेदनाएँ उभारते हैं, आदर्शवादी उत्कृष्टता के प्रति समर्पण की भावना जगाते हैं । अवतार की प्रक्रिया यही है । भगवान ने नारद ऋषि को वही काम सौंपा ताकि प्रस्तुत परिस्थितियों में परिव्रज्या द्वारा वे जन-जन में प्रज्ञावतार की प्रेरणा भर सकें । परिवर्तन-विचारणा में परिष्कार तथा संवेदनाओं में उत्कृष्टता परायण उभार की ही परिणति है । युग परिवर्तन की प्रक्रिया जो अगले दिनों सम्पादित होने जा रही है, उसका प्रथम चरण यही है ।

महाकाल ने हमेशा बीज रूप में उपयुक्त पात्र को यह संदेश दिया है, वही कालान्तर में फला और मेघ की भूमिका उसने निभाई है । इसी तथ्य को रामायणकार ने इस तरह समझाया है-

'राम सिंधु घन सज्जन धीरा । चन्दन तरु हरि सन्त समीरा ॥'

अर्थात्-'भगवान समुद्र हैं तो सज्जन व्यक्ति बादल के समान । चन्दन वृक्ष यदि भगवान हैं तो सन्त पवन की तरह मलयज सुगन्ध को फैलाने वाले ।' भगवान से अर्थ है आदर्शवादिता का समुच्चय । मेघ व पवन की ही भाँति संत व सज्जन उस युगचेतना को विस्तारित करते हैं, असंख्यों को धन्य बनाते हैं ।

बुद्ध और उनकी प्रव्रज्या

बुद्ध को आत्मबोध हुआ । कठोर तपश्चर्या के बाद प्राप्त इस उपलब्धि से वे निर्वाण-मोक्ष की ओर भी बढ़ सकते थे । पर उनका लक्ष्य था-अनाचार, कुरीति से भरे समाज का परिशोधन तथा विवेक रूपी अस्त्र द्वारा जन-मानस का परिष्कार । आत्मबोधजन्य ईश्वरीय सन्देश को व्यापक बनाने वे निकल पड़े और जन-जन तक पहुँचकर विचार-क्रांति कर सकने में सफल हुए । परिव्रज्या बौद्ध धर्म का प्रधान अंग मानी जाती थी । भिक्षुक गण सतत चलते रहते थे व बुद्ध के साथ 'संघं, धर्मं शरणम् गच्छामि' का नारा लगाते । फलतः भारतवर्ष ही नहीं, सारे विश्व भर में उनका सन्देश पहुँचाने का लक्ष्य पूरा कर सके । सिद्धार्थ के अन्दर विश्व कल्याण की कामना रूप में जो बीज पला वह गौतम बुद्ध के रूप में विकसित, पल्लवित होकर सारी मानवता को धन्य कर गया ।

उवाच नारदो देव ! वाच्यः श्राव्यस्त्वयं मतः ।
ज्ञानपक्षः पूरकं तं कर्मपक्षं विबोधय ॥ ६३॥
कर्त्तव्यं यद्यदन्यैश्चाप्यनुष्ठेयं, समग्रता ।
उत्पद्यते द्वयोर्ज्ञानकर्मणोस्तु समन्वयात् ॥ ६४॥

टीका-नारद बोले-'यह ज्ञान पक्ष हुआ, जिसे कहा या सुना जाता है । अब इसका पूरक कर्मपक्ष बताइये, जो करना और कराना पड़ेगा । ज्ञान और कर्म के समन्वय से ही समग्रता उत्पन्न होती है ॥ ६३-६४॥'

व्याख्या—कोई सिद्धान्त अपने आप में अकेला पूर्ण नहीं । प्रयोगपक्ष जाने बिना सारा ज्ञान अधूरा है । फिर क्रिया पक्ष, ज्ञान पक्ष का पूरक है । ब्रह्म ज्ञान-तत्व चिन्तन अपनी जगह है, अनिवार्य भी है, परन्तु उसका व्यवहार पक्ष जिसे साधना-तपश्चर्या के रूप में जाने बिना एक मात्र मानसिक श्रम और ज्ञान वृद्धि तक ही सीमित रहने से उद्देश्य की पूर्ति नहीं होगी । चिकित्सकों को अध्ययन भी करना होता है एवं व्यावहारिक ज्ञान भी प्राप्त करना होता है । यह समग्रता लाये बिना वे चिकित्सक की पात्रता-पदवी नहीं पाते ।

ऐसा अधूरापन अध्यात्म क्षेत्र में बड़े व्यापक रूप में देखने को मिलता है । ब्रह्म की, सद्गुणों की, आदर्शवादिता की चर्चा तो काफी लोग करते पाये जाते हैं परन्तु उसे व्यवहार में उतारने, जीवन का अंग बना लेने वाले कम ही होते हैं ।

माँ की सच्ची सीख

एक साधु द्वार पर बैठे तीन भाइयों को उपदेश कर रहे थे-वत्स ! संसार में सन्तोष ही सुख है । जो कछुये की तरह अपने हाथ-पाँव सब ओर से समेट कर आत्म-लीन हो जाता है, ऐसे निरुद्योगी पुरुष के लिए संसार में किसी प्रकार का दुःख नहीं रहता ।

घर के भीतर बुहारी लगा रही माँ के कानों में साधु की यह वाणी पड़ी तो वह चौकन्ना हो उठी । बाहर आई और तीनों लड़कों को खड़ा करके छोटे से बोली-'ले यह घड़ा, पानी भर कर ला', मझले से कहा-'उठा यह झाड़ू और घर-बाहर की बुहारी कर', अन्तिम तीसरे को टोकरी देते हुए उसने कहा-'तू चल और सब कूड़ा उठाकर बाहर फेंक' और अन्त में साधु की ओर देखकर उस कर्मवती ने उपदेश दिया-'महात्मन् ! निरुद्योगी मैंने बहुत देखे हैं, कई पड़ोस में ही बीमारी से ग्रस्त, ऋण भार से दबे शैतान की दुकान खोले पड़े हैं । अब मेरे बच्चों को भी वह विष वारुणी पिलाने की अपेक्षा आप ही निरुद्योगी बने रहिये और इन्हें कुछ उद्योग करने दीजिए ।' ज्ञान को कर्म का सहयोग न मिले तो कितना ही उपयोगी होने पर भी वह ज्ञान निरर्थक है ।

चलकर आओ- मिठाई लो

कथा में युवक ने सुना भगवान सबको रोटी देते हैं । युवक को बात जँच गई । उसने काम पर जाना बन्द कर दिया । जो पूछता यही उत्तर देता-"भगवान जब रोटी देने ही वाले हैं तो मेहनत क्यों करूँ ?" एक ज्ञानी उधर से निकले, मतिभ्रम में ग्रस्त लड़के की हालत समझी और प्यार से दूसरे दिन सबेरे उसे अपने पास बुलाया और कुछ उपहार देने को कहा । युवक भावुक था । सबेरे ही पहुँच गया । ज्ञानी ने पूछा-'कैसे आये ?' उसने उत्तर दिया-'पैरों से चलकर ।' ज्ञानी ने उसे मिठाई उपहार में दी और कहा-"तुम पैरों से चलकर मेरे पास तक आये तभी मिठाई पा सके । ईश्वर रोटी देता तो है, पर देता उसी को है जो हाथ पैरों के पुरुषार्थ से उसे कमाने और पाने के लिए चलता है । जब मेरा मिष्ठान्न तुम बिना पैरों से चले प्राप्त नहीं कर सके, तो भगवान द्वारा दी जाने वाली रोटी कैसे प्राप्त कर सकोगे ?"

महापुरुष अपने समय और समाज को इस पलायनवादी वृत्ति से बचाने और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में धर्मधारणा के विकास को ही उपासना-आराधना समझ कर सम्पन्न करते रहे हैं ।

बुद्ध और विनायक

भिक्षु विनायक को वाचलता की लत पड़ गई थी । जोर-जोर से चिल्लाकर जनपथ पर लोगों को जमा कर लेता और धर्म की लम्बी-चौड़ी बातें करता ।

तथागत को समाचार मिला तो उन्होंने विनायक को बुलाया और स्नेह भरे शब्दों में पूछा-'भिक्षु यदि कोई ग्वाला सड़क पर निकलने वाली गायें गिनता रहे तो क्या उनका मालिक बन जायेगा ?, विनायक ने सहज भाव से कहा-'नहीं भन्ते ! ऐसा कैसे हो सकता है । गौओं के स्वामी ग्वाले को तो उनकी सम्भाल और सेवा में लगा रहना पड़ता है ।' तथागत गम्भीर हो गये । उनने कहा-'तो तात ! धर्म को जिह्वा से नहीं जीवन से व्यक्त करो और जनता की सेवा साधना में संलग्न रहकर उसे प्रेमी बनाओ ।' इस तरह सत्कर्म को पाठ तक नहीं, कर्तव्य में भी उतार लिया जाय, तो जीवन में सच्चे अर्थों में समग्रता आ जाती है ।

उवाच विष्णुर्ज्ञानार्थं कथा प्रज्ञापुराणजा ।
विवेच्या, कर्मणे प्रज्ञाभियानस्य विधिष्वलम् ॥ ६५ ॥
विधयोऽस्य च स्वीकर्तुं प्रगल्भान्प्रेरयानिशम् ।
युगस्य सृजने सर्वे सहयोगं ददत्वलम् ॥ ६६ ॥
यथातथा विबोध्यास्ते भावुका अंशदायिनः ।
समयस्य च दातारः सोत्साहा उत्स्फुरन्तु यत् ॥ ६७ ॥
संयुक्तशक्त्या श्रेष्ठानां दुर्गावतरणोज्ज्वला ।
प्रचण्डता समुत्पन्ना समस्या दूरयिष्यति ॥ ६८ ॥

टीका–विष्णु भगवान् ने कहा–ज्ञान के लिए प्रज्ञा पुराण का कथा विवेचन उचित होगा और कर्म के लिए प्रज्ञा अभियान की बहुमुखी गतिविधियों में से प्रगल्भों को उन्हें अपनाने की प्रेरणा निरन्तर देनी चाहिए । युग सृजन में सहयोग करने के लिए सभी भावनाशीलों में समय दान, अंशदान की उमंग उभारनी चाहिए । वरिष्ठों की इस संयुक्त शक्ति से ही दुर्गावतरण जैसी प्रचण्डता उत्पन्न होगी और युग समस्याओं के निराकरण में समर्थ होगी ॥ ६५–६८ ॥

व्याख्या–युग चेतना को व्यापक करने के बाद कर्म में प्रवृत्त होने के लिए भगवान प्रगल्भों की चर्चा करते हैं । प्रगल्भ अर्थात् साहसी । ऐसे शूरवीर जो सत्प्रयोजनों के लिए कमर कस कर तैयार हो जायें ।

अवतारों में उच्चस्तरीय वे ही माने जाते हैं जिनमें सन्त सी पवित्रता, सुधारक सी प्रखरता के साथ ऋषियों जैसी तत्व दृष्टि होती है । वे उत्कृष्टता को समर्पित होते हैं । अहंता के परिपोषण में लगने वाली शक्ति समर्पण के बाद उनके पास इतनी अधिक मात्रा में बच जाती है जिसके आधार पर सामान्य व्यक्ति भी असामान्य काम कर दिखाते हैं । भगवान कृष्ण, राम, ईसा, दयानन्द, गाँधी, गुरुगोविन्दसिंह, बुद्ध, मीरा, शंकराचार्य, ज्ञानेश्वर, समर्थ रामदास ऐसे जीते जागते प्रमाणों में से हैं, जिन्होंने प्रतिकूलता से जूझने का साहस दिखाया व सत्प्रयोजन में लगने के लिए असंख्यों को प्रेरित किया ।

ऐसे व्यक्तियों का संगठन तो वह प्रचण्ड चमत्कार कर दिखाता है जिसकी कल्पना भी नहीं की जा सकती ।

संघे शक्तिः कलौयुगे

असुरता के नाश के लिए ऋषिगणों ने अपना रक्त एकत्र कर घड़ा भरा व सीता की उत्पत्ति हुई जो राम अवतरण तथा रामराज्य की स्थापना का निमित्त करण बनी । यह संघशक्ति का ही चमत्कार है । वह उपाख्यान सर्वविदित है जिसमें देवताओं की संयुक्त शक्ति से दुर्गा का उद्भव, महादैत्यों का वध तथा देवताओं का परित्राण सम्भव हो सका । रीछ–वानरों के संयुक्त प्रयास से सेतु बंध, ग्वाल–बालों के सहयोग से गोवर्धन उठाना ऐसे तथ्य हैं जिनमें प्रगल्भों–पुरुषार्थियों के स्नेह–सहकार के आधार पर कठिन कार्य के सरल हो जाने की सच्चाई को इन कथा–गाथाओं के माध्यम से प्रकट किया गया है ।

गट्ठर नहीं टूटा

एक पिता के चार पुत्र थे । चारों में प्रायः झगड़ा बना रहता । इससे उनकी शारीरिक और आर्थिक ही नहीं मानसिक और बौद्धिक अवनति भी होती जा रही थी । यह देखकर पिता बड़ा दुःखी हुआ । पिता ने मरते समय अपने पुत्रों को बुलाया और उन्हें एक लकड़ी का गट्ठर दिया और कहा–'तोड़ो इसे ।' लड़कों ने भरसक प्रयत्न किया परन्तु न तोड़ सके । अन्त में उसने कहा–'एक–एक लकड़ी को तोड़ो ।' तब वह बड़े आराम से टूटने लगीं । तब पिता ने कहा–'यदि इस प्रकार मिलकर रहोगे तो कोई तुम्हारा कुछ बिगाड़ न सकेगा और यदि फूट रही तो इसी प्रकार जैसे लकड़ियाँ क्षण में ही टूट गईं, वैसे ही नष्ट हो जाओगे ।' उस दिन से लड़के मिलकर रहने लगे ।

सहयोग, त्याग और उदारता जैसी महानताओं का जनक है । जब इस तरह की वृत्तियाँ पनपने लगती हैं तो महान् साधन अपने आप उपलब्ध होने लगते हैं ।

तिनके मिलने से रस्सा बँटने और सींकों के समन्वय से बुहारी बनने की बात सभी जानते और मानते हैं । साथ ही यह भी अनुभव करते हैं कि एक घटक चाहे कितना ही महत्वपूर्ण क्यों न हो, सीमित प्रभाव ही प्रस्तुत कर सकता है । बड़े काम सदा संयुक्त प्रयासों से ही सम्पन्न होते रहे हैं ।

पाण्डव विजयी क्यों ?

पाण्डवों के अज्ञात वास से लौटने के बाद श्रीकृष्ण भगवान ने उनकी मनःस्थिति परखी और परिस्थिति को देखते हुए कौरवों से संघर्ष हेतु–महाभारत हेतु प्रवृत्त किया । असमंजस को देखते हुए उन्होंने कहा–'तुम्हारा विजयी होना सुनिश्चित है क्योंकि तुम पाँच होते हुए भी एक हो और कौरव गण सौ होते हुए भी अलग–अलग मत वाले हैं । संघशक्ति के कारण ही नीति पक्ष की विजय होती है ।' हुआ भी यही । पाण्डवों में कोई सेनापति नहीं था । प्रतीक रूप में पाँच पाण्डवों को छोड़कर धृष्टद्युम्न को सेनापति पद दे दिया गया । संगठन शक्ति, सहयोग–सहकार के कारण वे विजयी हुए परन्तु कौरव गण सेनापति पद के लिए ही लड़ते रहे, परस्पर विरोध–विग्रह ही उनकी हार का मूल कारण बना ।

धर्मस्य चेतनां भूयो जीवितां कर्तुमद्य तु ।
अधिष्ठात्रीं युगस्यास्य महाप्रज्ञामृतम्भराम् ।। ६९ ।।
गायत्रीं लोकचित्ते तां कुरु पूर्णप्रतिष्ठिताम् ।
पराक्रमं च प्रखरं कर्तुं सर्वत्र नारद ।। ७० ।।
पवित्रतोदारतां तु यज्ञजां च प्रचण्डताम् ।
प्रखरां कर्तुमेवाद्यानिवार्यं मन्यतां त्वया ।। ७१ ।।

टीका–आज धर्मचेतना को पुनर्जीवित करने के लिए इस युग की अधिष्ठात्री महाप्रज्ञा ऋतम्भरा गायत्री को लोकमानस में प्रतिष्ठित किया जाय । हे नारद ! पराक्रम की प्रखरता के लिए सर्वत्र यज्ञीय पवित्रता, उदारता एवं प्रचंडता को प्रखर करने की आवश्यकता है ।। ६९–७१ ।।

व्याख्या–महाप्रज्ञा को अध्यात्म की भाषा में गायत्री कहते हैं । इसके दो पथ हैं-एक दर्शन अर्थात् तत्वचिंतन-अध्यात्म, दूसरा व्यवहार अर्थात् शालीनता युक्त आचरण-धर्म । महाप्रज्ञा की परिणति अन्तः क्षेत्र में प्रतिष्ठित होने पर साधक के व्यक्तित्व में आमूल-चूल परिवर्तन ला देती है । आत्मिक विभूतियाँ-ऋद्धियाँ तथा लोक व्यवहार में प्राप्त सम्पदा-सिद्धियाँ इसी के तत्व चिन्तन का प्रतिफल हैं ।

महाप्रज्ञा का माहात्म्य शास्त्रों में महाप्रज्ञा की श्रेष्ठता के विषय में अनेक उदाहरण हैं । अत्रिऋषि कहते हैं-

नास्ति गंगा समं तीर्थं न देवः केशवात्परः । गायत्र्यास्तु परं जाप्यं न भूतं न भविष्यति ।।

–अत्रि

अर्थ–गङ्गा के समान कोई तीर्थ नहीं, केशव के समान कोई देवता नहीं, गायत्री से श्रेष्ठ कोई जप न कभी हुआ है और न आगे होगा ।

शास्त्रों में उन परिस्थितियों को जिनमें मनुष्य वातावरण से प्रभावित होकर दुष्कर्मों की ओर अग्रसर होता है, कलियुग कहा गया है । ऐसी परिस्थितियों के प्रभाव से उनके परिणाम स्वरूप होने वाले दुष्कर्मों की ओर प्रेरणा, दबाव तथा उनसे बचे रहने के उपाय के सम्बन्ध में राजा जनमेजय ने महर्षि व्यास से पूछा तो महर्षि व्यास ने उत्तर दिया कि इसके लिए भगवती महाशक्ति का आश्रय लेना ही सर्वोत्तम है । उनकी शरण में जाने वाले की अन्तःप्रेरणा उसे दुष्कर्मों से और दुष्ट भावों से बचाती है । फलतः वह उन बाह्य एवं आन्तरिक कुकर्मों, कुभावों से भी बच जाता है, जिनकी प्रेरणा कलियुग के कुपथ पर चलने वालों से निरन्तर मिलती रहती है ।

महर्षि व्यास और जनमेजय का देवी भागवत में यह सम्वाद इस प्रकार है-

भगवन् ! सर्वधर्मज्ञ ! सर्वशास्त्र विशारद । कलावधर्मबहुले नराणां का गतिर्भवेत् ।
यद्यस्ति तदुपायश्चेदयया तं वदस्व मे । एक एव महाराज तत्रोपायस्तु नापरः ।।
सर्वदोषनिरासार्थं ध्यायेद्देवी पदाम्बुजम् ।।

महर्षि वेद व्यासजी से राजा जनमेजय युगधर्म के कराल समय में सद्गति का उपाय पूछते हुए कहते हैं-हे सम्पूर्ण धर्म के तत्वज्ञाता और समस्त शास्त्रों के महामनीषी ! अधर्म से परिपूर्ण इस घोर कलियुग में मनुष्यों की गति कैसे होगी, यदि इसका कोई उपाय हो तो आप कृपा करके बतलायें । व्यास महर्षि ने कहा-आज जैसी परिस्थितियाँ हैं, उनमें गायत्री उपासना का अवलम्बन किए बिना कोई और विकल्प नहीं । वही विवेक की स्थापना कर संकीर्णता, विभेद को मिटा सकती है तथा समस्त मानव समाज को एकता के सूत्र में बाँध सकती है । गायत्री को मात्र २४ अक्षरों में लिखा हुआ सारगर्भित धर्म शास्त्र कह सकते हैं । यह मानवी एकता एवं गरिमा के अनुकूल बना शाश्वत संविधान है ।

ब्रह्मर्षि विश्वामित्र का कथन है–गायत्री के समान चारों वेदों में कोई मंत्र नहीं । सम्पूर्ण वेद, यज्ञ, दान, तप गायत्री मन्त्र की एक कला के समान भी नहीं हैं ।

वशिष्ठ-विश्वामित्र संवाद में वर्णन आता है कि महाप्रज्ञा की श्रेष्ठता पर प्रश्न किये जाने पर मुनिवर वशिष्ठ ने कहा था-"महाप्रज्ञा" गायत्री का सार तत्व एक ही शब्द 'धीमहि' में सन्निहित है । अर्थात् हम उस श्रेष्ठता को अपने अन्दर धारण करें । जब लोक मानस में श्रेष्ठता की सत्प्रवृत्तियाँ स्थापित होंगी तो कहीं कोई संकट शेष न रहेगा ।"

देवी भागवत में गायत्री उपासना के माहात्म्य पक्ष पर एक कथा आती है ।

व्यासजी ने जनमेजय से कहा-एक बार पन्द्रह वर्षों तक वर्षा नहीं हुई, इस अनावृष्टि के कारण भयंकर दुर्भिक्ष पड़ा । असंख्य प्राणी भूख से तड़पकर मर गये । उनकी लाशें घरों में सड़ने लगीं ।

तब सज्जनों ने इकट्ठे होकर विचार किया कि गायत्री के परम उपासक तपोनिष्ठ गौतम के पास चलना चाहिए, वे इस विपत्ति को दूर कर सकेंगे । वे सब मिलकर गौतम के पास गये और कष्ट सुनाया ।

आगन्तुकों को सम्मानपूर्वक आश्वासन देकर गौतम ऋषि ने सर्वशक्तिमान गायत्री से उस संकट के निवारण के लिए प्रार्थना की ।

जगद्माता गायत्री ने प्रसन्न होकर गौतम ऋषि को समस्त प्राणियों का पोषण कर सकने में समर्थ एक पूर्ण पात्र दिया और कहा-इससे तुम्हारी समस्त अभीष्ट अभिलाषाएँ पूर्ण हो जाया करेंगी । यह कहकर वेदमाता अन्तर्धान हो गईं और उस पात्र की कृपा से अन्न के पर्वतों जैसे ढेर लग गये ।

गौतम ऋषि ने आगन्तुकों के निमित्त आश्रम में ही गायत्री का एक परम तीर्थ बना दिया जहाँ रहकर वे सब गायत्री माता के पुरश्चरण भक्तिपूर्वक करने में संलग्न हो गये ।

आज का युग बुद्धि और तर्क का, प्रत्यक्षवाद का युग है । इस शताब्दी के भी सभी महापुरुषों ने गायत्री के महत्व को उसी प्रकार स्वीकार किया है जैसा कि प्राचीन काल के तत्वदर्शी ऋषियों ने किया था । महात्मा गाँधी, लोकमान्य तिलक, महामना मालवीयजी, रवीन्द्रनाथ टैगोर, योगिराज श्री अरविन्द, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ एवं महर्षि रमण आदि ने जनमानस को उत्कृष्टता की ओर बढ़ाने के लिए गायत्री महाशक्ति की अभ्यर्थना का ही संकेत किया है ।

यज्ञ संस्कृति के पिता

जहाँ गायत्री को विश्वमाता कहा गया है वहाँ यज्ञ को देव संस्कृति-धर्म का पिता कहा गया है । दोनों के समन्वय-सहयोग से ही देव संस्कृति का जन्म, विकास एवं परिपोषण सम्भव हुआ ।

'यज्ञ' में यज्ञीय भावनाओं के अभिवर्धन को बहुत महत्व दिया गया है । यज्ञ शब्द का भावार्थ है-पवित्रता, प्रखरता एवं उदारता । यह तत्वदर्शन व्यक्तिगत जीवन में भी समाविष्ट रहना चाहिए और उसे लोक व्यवहार में भी उत्कृष्टता की प्रथा-परम्परा जैसा प्रश्रय मिलना चाहिए । जीवन यज्ञ की चर्चा शास्त्रों में स्थान-स्थान पर हुई है । ब्रह्म यज्ञ, विश्वयज्ञ आदि नामों से समाज में यज्ञीय प्रचलन की प्रमुखता पर बल दिया है । पशु-प्रवृत्तियों पर अंकुश लगाने, पतनोन्मुख प्रवाह को उत्कृष्टता की ओर मोड़ने के अनुबन्ध निर्धारण यज्ञ कहलाते हैं । इसी अवलम्बन के सहारे मानवी प्रगति सम्भव हुई है । वर्तमान की स्थिरता एवं उज्ज्वल भविष्य की सम्भावना भी इसी सदाशयता के अवलम्बन पर निर्भर रहेगी ।

यज्ञ दर्शन को अपनाकर ही आज की संकीर्ण स्वार्थपरता से प्रचण्ड मोर्चा ले सकना सम्भव है । यज्ञ के साथ यही प्रेरणा जुड़ी है कि मनःक्षेत्र में घुसी निकृष्टता का निराकरण हो, व्यक्ति महान् एवं समाज सुसंस्कृत बने ।

यज्ञ का अर्थ मात्र अग्निहोत्र नहीं, शास्त्रों में जीवन अग्नि की दो शक्तियाँ मानी गई हैं-एक 'स्वाहा' दूसरी 'स्वधा' । 'स्वाहा' का अर्थ है-आत्म-त्याग और अपने से लड़ने की क्षमता । 'स्वधा' का अर्थ है-जीवन व्यवस्था में 'आत्म-ज्ञान' को धारण करने का साहस ।

लौकिक अग्नि में ज्वलन और प्रकाश यह दो गुण पाये जाते हैं । इसी तरह जीवन अग्नि में उत्कर्ष की उपयोगिता सर्वविदित है । आत्मिक जीवन को प्रखर बनाने के लिए उस जीवन अग्नि की आवश्यकता है, जिसे 'स्वाहा' और 'स्वधा' के नाम से, प्रगति के लिए संघर्ष और आत्म-निर्माण के नाम से पुकारा जाता है ।

सच्चा यज्ञ महाराज युधिष्ठिर का राजसूय यज्ञ समाप्त होने पर एक अद्‌भुत नेवला जिसका आधा शरीर सुनहरा था यज्ञ भूमि में लोट लगाने लगा । कुछ ही समय बाद वह रुदन करके कहने लगा कि "यज्ञ पूर्ण नहीं हुआ ।" पाण्डवों सहित सभी उपस्थित लोगों को बड़ा आश्चर्य हुआ, पूछने पर नेवले ने बताया "कुछ समय पूर्व अमुक देश में भयंकर अकाल पड़ा । मनुष्य भूख के मारे तड़प-तड़प कर मरने लगे । एक ब्राह्मण परिवार कई दिनों से भूखा था । एक दिन कहीं से कुछ अन्न उन्हें मिला । ब्राह्मणी ने उसकी चार रोटी बनाईं । उस ब्राह्मण का यह नियम था कि भोजन से पूर्व कोई भूखा होता तो उसे भोजन कराकर तब स्वयं खाता । उस दिन भी उसने आवाज दी कि जो हमसे अधिक भूखा हो उसका अधिकार इस भोजन पर है, आये, वह अपना भाग ग्रहण करे । तो एक चाण्डाल भूख से तड़प रहा था, आ गया । ब्राह्मण ने अपने हिस्से की एक रोटी सौंप दी, उससे भी तृप्त न होने पर क्रमशः पत्नी और बालक-बालिका ने भी अपने-अपने हिस्से की रोटी उसे दे दी । जब वह चाण्डाल भोजन कर चुका और उसने पानी पीकर हाथ धोये तो उससे धरती पर कुछ पानी पड़ गया । मैं उधर होकर निकला तो उस गीली जमीन पर लेट गया । मेरा आधा शरीर ही सम्पर्क में आया जिससे उतना ही स्वर्णमय बन गया । मैंने सोचा था शेष आधा शरीर युधिष्ठिर के यज्ञ से स्वर्णमय बन जायेगा, लेकिन यहाँ ऐसा नहीं हुआ । इसलिए यह यज्ञ मेरे ख्याल से पूर्ण नहीं हुआ ।"

यज्ञ की श्रेष्ठता उसके बाह्य स्वरूप की विशालता में नहीं अन्तर की उत्कृष्ट त्याग वृत्ति में है । यज्ञ के साथ त्याग-बलिदान की अभूतपूर्व परम्परा जुड़ी हुई है । यही संस्कृति को धन्य बनाती है ।

प्राण देकर बीज बचाये एक बार विदर्भ देश में जोर का अकाल पड़ा । एक गाँव में किसी के पास कुछ भी न बचा । उसी गाँव के एक किसान के पास एक कोठी भरा धान था । वह उससे कई महीने तक अपने परिवार का भरण-पोषण कर सकता था, लेकिन उसे ध्यान आया कि अगले वर्ष मौसम के समय खेतों में बोने के लिए बीज न मिलेगा तो फिर से सबको अकाल का सामना करना पड़ेगा। किसान ने उस धान के कोष को खाने में खर्च नहीं किया और सपरिवार सहर्ष मृत्यु की गोद में सो गया । लोगों ने सोचा कि काफी अन्न होते हुए भी किसान परिवार क्यों मर गया ? लेकिन उसकी वसीयत को पढ़कर सभी किसान की महानता पर हर्ष से आँसू बहाने लगे । उसमें लिखा था, "मेरा समस्त अन्न खेतों में फसल बोने के समय गाँव में बीज के लिए बाँट दिया जाय ।" वर्षा हुई और चारों ओर नई लहलहाती फसल से लग रहा था मानो किसान मरा नहीं अपितु असंख्यों जीवधारी के रूप में हरे-भरे खेतों में लहलहाता फिर से धरती पर उतर आया हो ।

बलिदानी मिट्टी-अमूल्य विधाता ने अपने सेवकों को बुलाकर धरती से एक-एक उपहार लाने का आदेश दिया । उन्होंने कहा-"जिसका उपहार सर्वश्रेष्ठ होगा, उसी को प्रधान सेवक के पद पर नियुक्त किया जायेगा ।" आज्ञा मिलने की देर थी । सभी सेवक अच्छे उपहारों की तलाश में पृथ्वी की ओर दौड़ने लगे । सब इस प्रयत्न में थे कि ऐसा उपहार ले जाया जाय जिससे मेरी पदोन्नति शीघ्र हो जाये । एक-से-एक बहुमूल्य उपहार सेवकों ने लाकर सामने रखे, पर विधाता के चेहरे पर कहीं प्रसन्नता और सन्तोष की रेखा तक न थी । हिसाब लगाया गया, तो एक सेवक आना शेष था । उसकी प्रतीक्षा बड़ी आतुरता से की जा रही थी ।

आखिर प्रतीक्षा की घड़ियाँ पूरी हुईं और वह सेवक भी आ गया । कागज की एक पुड़िया विधाता को देकर नीचे डरते-डरते बैठ गया । वह सोच रहा था कि कहीं ऐसा न हो कि देर से आने के कारण डाँट पड़े । उस सेवक की पुड़िया देखकर अन्य कितने ही सेवक मन में हँसने लगे, कई उसकी मूर्खता पर प्रसन्न हो रहे थे । विधाता ने पुड़िया खोली-'अरे यह क्या, इस पुड़िया में मिट्टी बाँध लाये ?' सेवक ने हाथ जोड़कर कहा-'हाँ भगवन् ! मैंने पृथ्वी का चप्पा-चप्पा छान मारा । शायद ही कोई स्थान रह गया हो, जहाँ मैं नहीं गया । मैंने इस बात की बड़ी कोशिश की कि ऐसा उपहार ले चलूँ जो आपको पसन्द आ जाये, पर कुछ समझ ही नहीं पड़ा । प्रभु ! है तो यह मिट्टी ही, पर किसी साधारण स्थान की नहीं है । यह वह मिट्टी है जहाँ के लोगों ने धर्म और मानवता की रक्षा के लिए खुशी-खुशी अपने प्राण न्यौछावर कर दिये ।'

विधाता ने वह मिट्टी बड़ी श्रद्धा से अपने मस्तक पर लगायी और कहा-"सेवको ! जब तक पृथ्वी पर ऐसे सन्त और सज्जन पुरुष बने रहेंगे तब तक धरती पर सुख-शान्ति की सम्भावनाएँ भी कम न होंगी ।"

प्रज्ञापीठस्वरूपेषु युगदेवालया भुवि ।
भवन्तु तत एतासां सृज्यानामथ नारद ॥ ७२॥
सूत्रं संस्कारयोग्यानां प्रवृत्तीनां च सञ्चलेत् ।
नृणां येन स्वरूपं च भविष्यत्संस्कृतं भवेत् ॥ ७३॥
सहैव पृष्ठभूमिश्च परिवर्तनहेतवे ।
निर्मिता स्याद् युगस्यास्तु संधिकालस्तु विंशतिः ॥ ७४॥
वर्षाणां, सुप्रभातस्य वेलाऽऽवर्तन हेतुका ।
अवाञ्छनीयताग्लानिः सदाशयविनिर्मितिः ॥ ७५॥

टीका–हे नारद ! युग देवालय, प्रज्ञापीठों के रूप में बनें । वहाँ से सृजनात्मक और सुधारात्मक सभी प्रवृत्तियों का सूत्र–संचालन हो, जिससे मनुष्य का स्वरूप एवं भविष्य सुधरे, साथ ही महान् परिवर्तन के लिए आवश्यक पृष्ठभूमि भी बनने लगे । युग–सन्धि के ये वर्ष प्रभात की परिवर्तन बेला की तरह हैं । इसमें अवाञ्छनीयता की गलाई और सदाशयता की ढलाई होगी ॥ ७२–७५ ॥

व्याख्या–नये युग में इन्हीं प्रज्ञा की अधिष्ठात्री गायत्री के मन्दिर और यज्ञ शालाएँ बननी चाहिए । उन्हीं के माध्यम से रचनात्मक कार्य चलने चाहिए । महामना मदनमोहन मालवीय कहा करते थे-

ग्रामे ग्रामे सभाकार्याः ग्रामेग्रामे कथाशुभाः । पाठशाला, मल्लशाला, प्रतिपर्वा महोत्सवाः ॥

अर्थात् गाँव-गाँव ऐसे देवमन्दिर रहें जहाँ से न्याय, पर्व-संस्कार मनाने, विद्याध्ययन, आरोग्य सम्वर्धन के क्रिया कृत्य चलते रहें । केवल मन्दिरों से काम चलेगा नहीं ।

आद्य शंकराचार्य ने जब मान्धाता से यही बात कही तो उन्होंने चार धामों की स्थापना के लिए अपना अक्षय भण्डार खोल दिया । इन तीर्थों के माध्यम से धर्म-धारणा विस्तार की कितनी बड़ी सेवा हुई है- इसका मूल्यांकन नहीं किया जा सकता ।

मन्दिर मात्र पलायनवादी श्रद्धा नहीं, कर्म योगी निष्ठा जगायें तो ही उनकी सार्थकता है ।

जब इन देवालयों से, जनजागृति केन्द्रों के माध्यम से सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन की गतिविधियाँ चलने लगेंगी, तो जन-जन में प्रखरता का उदय होगा तथा परिवर्तन के दृश्य सुनिश्चित रूप से दिखाई पड़ने लगेंगे । प्रस्तुत समय संधिवेला का है । आज संसार के सभी विद्वान, ज्योतिर्विद, अतीन्द्रिय दृष्टा इस सम्बन्ध में एक मत हैं कि युग परिवर्तन का समय आ पहुँचा । परिस्थितियों की विषमता अपनी चरम सीमा पर है । ऐसे में इन युग देवालयों की भूमिका अपनी जगह बड़ी महत्वपूर्ण है ।

सूरदास ने लिखा है-

'एक सहस्त्र नौ सौ के ऊपर ऐसौ योग परै । सहस्त्र वर्ष लौं सतयुग बीते धर्म की बेलि बढ़े ॥'

अर्थात् १९ वीं शताब्दी के अन्त में ऐसा ही परिवर्तन होगा जिसके बाद सहस्त्रों वर्षों के लिए धर्म का, सुख-शांति का राज्य स्थापित होगा ।

संक्रमण वेला में किस प्रकार की परिस्थितियाँ बनती और कैसे घटनाक्रम घटित होते हैं, इसका उल्लेख महाभारत के वन पर्व में इस प्रकार आता है-

ततस्तु मूले संघाते वर्तमाने युग क्षये । यदा चन्द्रस्य सूर्यस्य तथा तस्य बृहस्पतिः ॥
एकराशौ समेष्यन्ति प्रयत्स्यति तदा कृतम् । कालवर्षी च पर्जन्यो नक्षत्राणि शुभानि च ॥
क्षेमं सुभिक्षमारोग्यं भविष्यति निरामयम् ॥

अर्थात्-जब एक युग समाप्त होकर दूसरे युग का प्रारम्भ होने को होता है, तब संसार में संघर्ष और तीव्र हलचल उत्पन्न हो जाती है । जब चन्द्र, सूर्य, बृहस्पति तथा पुष्य नक्षत्र एक राशि पर जायेंगे तब सतयुग का शुभारम्भ होगा । इसके बाद शुभ नक्षत्रों की कृपा वर्षा होगी । पदार्थों की वृद्धि से सुख-समृद्धि बढ़ेगी, लोग स्वस्थ और प्रसन्न होने लगेंगे ।

इस प्रकार का ग्रह योग अभी कुछ समय पहले ही आ चुका है । अन्यान्य गणनाओं के आधार पर भी यही समय है ।

विशिष्ट अवसरों को आपत्तिकाल कहते हैं और उन दिनों आपत्ति धर्म निभाने की आवश्यकता पड़ती है । अग्निकाण्ड, दुर्घटना, दुर्भिक्ष, बाढ़, भूकम्प, युद्ध, महामारी जैसे अवसरों पर सामान्य कार्य छोड़कर भी सहायता के लिए दौड़ना पड़ता है । छप्पर उठाने, धान रोपने, शादी-खुशी में साथ रहने, सत्प्रयोजनों का समर्थन करने के लिए भी निजी काम छोड़कर उन प्रयोजनों में हाथ बँटाना आवश्यक होता है । युग सन्धि में जागरूकों को युग धर्म निभाना चाहिए । व्यक्तिगत लोभ, मोह को गौण रखकर विश्व संकट की इन घड़ियों में उच्चस्तरीय कर्त्तव्यों के परिपालन को प्रमुख प्राथमिकता देनी चाहिए । यही है परिवर्तन की इस प्रभात वेला में दिव्य प्रेरणा, जिसे अपनाने में हर दृष्टि से हर किसी का कल्याण है ।

विभीषिकास्तु विश्वस्य दूरीकर्तुं पुनर्भुवि ।
स्वर्ग्यवातवृतिं कर्तुं क्षमानां देवतात्मनाम् ॥ ७६ ॥
मानवानां तु सम्भूतिः कठिना किन्तु तत्र ये ।
योगदानरतास्तेषां श्रेयः सौभाग्यसम्भवः ॥ ७७ ॥

टीका-विश्व-विभीषिकाओं को निरस्त करने और धरती पर पुनः स्वर्गीय वातावरण उत्पन्न कर सकने वाले देवमानवों का सृजन करने का कार्य कठिन तो है, पर उसमें योगदान देने वालों को श्रेय-सौभाग्य भी कम न मिलेगा ॥ ७६-७७ ॥

व्याख्या-दैवी प्रकोपों, विभीषिकाओं के मूल में जितना दोष भौतिक रूप से मानव द्वारा उससे उद्धत रूप से छेड़छाड़ करने का है उससे भी अधिक भ्रष्ट चिन्तन और निकृष्ट कर्तृत्व का आश्रय लेने वाली मानवी प्रकृति का है । नियति इसी से रुष्ट होती है एवं मानवजाति को सामूहिक रूप से विभीषिकाओं के रूप में उभर कर त्रास देती है ।

परिवर्तन की घड़ियाँ असाधारण उलट-पुलट की होती हैं । असुरता जीवन-मरण की लड़ाई लड़ती है और देवत्व उसे पदच्युत कर धरती पर स्वर्ग लाने के दुष्कर कार्य में कई अवरोधों का सामना करता है । यह कार्य कठिन तो है पर असम्भव नहीं । भूतकाल में भी ऐसे अवसरों पर यही दृश्य उपस्थित हुए हैं जैसे कि इन दिनों सामने हैं । ऐसे अवसरों पर ही जो देवमानव आगे आते हैं, स्वयं श्रेय पाकर धन्य बनते हैं, सारी मानवता को भी कृतार्थ कर देते हैं ।

प्रज्ञावतार की दिव्यसत्ता ही प्रमुख है और इन दिनों वही युग परिवर्तन के सरंजाम जुटा रही है । तो भी समग्र कर्तृत्व का वहन उसे अकेले नहीं करना है । सेनापति अकेला नहीं लड़ता, सैनिक भी साथ चलते हैं । हाथ अकेला पुरुषार्थ नहीं करता, दस अँगुलियों व चौबीस पोर भी अपनी क्षमता के अनुरूप अपने ढंग से उस कर्म कौशल में जुड़े रहते हैं ।

साथ जुड़े श्रेय पाया विगत अवतारों में उसके सामयिक सहयोगियों का अविस्मरणीय अनुदान रहा है । राम अवतरण में लक्ष्मण, हनुमान, अंगद, विभीषण, सुग्रीव, नल-नील जैसे वरिष्ठ और सामान्य रीछ वानरों जैसे कनिष्ठ समान रूप से सहगामी रहे हैं । गिद्ध-गिलहरी जैसे अकिंचनों ने भी सामर्थ्यानुसार भूमिकाएँ निभाई हैं । कृष्ण काल में पाण्डवों से लेकर ग्वाल-बालों तक का सहयोग साथ रहा है । बुद्ध के भिक्षु और गाँधी के सत्याग्रही कंधे से कंधा मिलाकर जुटे और कदम से कदम मिलाकर चले हैं । भगवान् सर्व समर्थ हैं, वे चाहे तो उँगली की नोंक पर पर्वत उठा सकते हैं और बाराह-नृसिंह की तरह अकेले ही अभीष्ट प्रयोजन पूरे कर सकते हैं, किन्तु प्रियजनों को श्रेय देना भी अवतार का एक बड़ा काम है । शबरी और कुब्जा जैसी महिलाओं और केवट और सुदामा जैसे पुरुषों को भी अवतार के सखा सहचर होने का लाभ मिला था । गाँधी के सान्निध्य में विनोबा और बुद्ध के सहचर आनन्द जैसे असंख्यों को श्रेय मिला था । भगवान् के अनन्य भक्तों में से नारद जैसे देवर्षि, वशिष्ठ जैसे महर्षि और विभीषण जैसे अगणितों को अविच्छिन्न यश पाने का अवसर मिला है । सहकारिता को, संगठन को सर्वोपरि शक्ति के रूप में प्रतिपादित करने केलिए महान् शक्तियाँ सदा ही यह प्रयत्न करती रही हैं कि जागृतों को महत्वपूर्ण अवसरों पर

अग्रिम पंक्ति में खड़े होने के लिए उभारा जाय । अर्जुन के साथ तो इसके लिए भर्त्सना जैसे उपाय बरते गये थे । सुग्रीव को धमकाने लक्ष्मण पहुँचे थे । परमहंस-विवेकानन्द को घसीट कर आगे लाये थे । आम्रपाली, अंगुलिमाल, हर्षवर्धन और अशोक से जो लिया गया था उससे असंख्य गुना उन्हें लौटाया गया था । भामाशाह के सौभाग्य पर कितने ही धनाध्यक्ष ईर्ष्या करते रहते हैं ।

महानता की अपनी निजी सामर्थ्य है । उसके आधार पर वह स्वयं गरिमा प्रकट करती ही है, साथ ही अपने सम्पर्क परिकर को भी उन विशेषताओं से भरती और कृतकृत्य बनाती देखी गई है । यह एक परीक्षित तथ्य है, सृजन प्रक्रिया में सहयोग देने वाले कभी घाटे में नहीं रहते । सामयिक रूप से तो उन्हें कष्ट ही सहना पड़ता है, लगता वह घाटे का सौदा ही है पर अन्ततः परिणाम सुखद ही होता है ।

कष्ट सहा-श्रेयार्थी बने

पाण्डवों ने जीवन भर कष्ट सहा । राज सत्ता से पदच्युत किये गये पर नीति पथ से हटे नहीं । भगवान से जुड़े रहे व अन्ततः उनके सहचर-सहयोगी बनकर असुरता के दमन में श्रेय सौभाग्य के अधिकारी बने ।

चरक ऋषि जिन्दगी भर औषधियों के गुणधर्मों का अन्वेषण व पीड़ित मानवता हेतु चिकित्सा पद्धति के निर्माण हेतु जुटे रहे । कष्ट सहने के उपरान्त ही वे उस श्रेय को प्राप्त कर सके जो आज आयुर्वेद के प्रणेता के रूप में उन्हें प्राप्त है ।

राम-वनवास की अवधि में सब कुछ साधन सामने होते हुए भी भरत कठोर तपस्वी जैसा जीवन जीते रहे । भाई-भावज के वापस अयोध्या लौटने पर रामराज्य स्थापना में सहयोगी बने । उनके त्याग व निष्ठा ने उन्हें भी सहज ही वह श्रेय प्रदान कर दिया जो रामकाज में जुड़ने वाले हर देवमानव को मिला था ।

चन्द्रगुप्त और राणाप्रताप कठोर जीवन जीकर ही इतिहास में अपना नाम अमर कर पाये, नवसृजन में सहयोगी तो बने ही ।

यह परम्परा हमेशा से रही है । जो संघर्ष के समय आगे आता है, वही श्रेय सम्मान पाता है ।

शतमन्यु आगे आया

यज्ञ भाग न मिलने के कारण इन्द्र कुपित हो गये । उत्तराखण्ड में अकाल पड़ गया । नरमेध से ही अकाल टल सकता है ? कौन उसके लिए आगे आये यह प्रश्न उठ रहा था । तभी शतमन्यु नाम के बालक ने आगे कदम बढ़ाया और धरती धन-धान्य से पूर्ण हो गई ।

सन्मार्ग पर बालक भी चल पड़ें तो औरों का उत्साह जगते देर नहीं लगती, विचारशील लोग आगे चलते हैं, किसी की शिकायत नहीं करते ।

जागृतात्मवतामेतं सन्देशं प्रापयास्तु मे ।
नोपेक्ष्योऽनुपमः कालः क्रियतां साहसं महत् ॥ ७८॥
महान्तं प्रतिफलं लब्ध्वा कृतकृत्या भवन्तु ते ।
जन्मन इदमेवास्ति फलमुद्देश्यरूपकम् ॥ ७९॥
अग्रगामिन एवात्र प्रज्ञासंस्थान निर्मितौ ।
प्रज्ञाभियान सूत्राणां योग्याः संचालने सदा ॥ ८०॥

टीका-अस्तु जागृत आत्माओं तक मेरा यह सन्देश पहुँचाना कि वे इस अनुपम अवसर की उपेक्षा न करें, बड़ा साहस करें, बड़ा प्रतिफल अर्जित करके कृतकृत्य बनें । यही उनके जन्म का उद्देश्य है । जो अग्रगामी हों उन्हें प्रज्ञा संस्थानों के निर्माण तथा प्रज्ञा-अभियान के सूत्र संचालन में जुटाना ॥ ७८-८० ॥

व्याख्या-जागृत आत्माएँ कभी अवसर नहीं चूकतीं । वे जिस उद्देश्य को लेकर अवतरित होती हैं, उसे पूरा किये बिना उन्हें चैन नहीं पड़ता । जागृत वे जो अदृश्य जगत में बह रहे प्रकृति प्रवाह को पहचानते हैं, परिवर्तन में सहायक बनते हैं । दूसरे जब आगे चलकर उन परिणामों को देखते हैं तो पछताते हैं कि हमने अवसर की उपेक्षा क्यों कर दी ।

एक बीज फला, दूसरा गला

दो बीज धरती की गोद में जा पड़े । मिट्टी ने उन्हें ढक दिया । दोनों रात सुख की नींद सोये । प्रातःकाल दोनों जगे तो एक के अंकुर फूट गये और वह ऊपर उठने लगा । यह देख छोटा बीज बोला-भैया ऊपर मत जाना । वहाँ बहुत भय है । लोग तुझे रौंद डालेंगे, मार डालेंगे । बीज सब सुनता रहा और चुपचाप ऊपर उठता रहा । धीरे-धीरे धरती की परत पारकर ऊपर निकल आया और बाहर का सौन्दर्य देखकर मुस्कराने लगा । सूर्य देवता ने धूप स्नान कराया और पवन देव ने पंखा डुलाया, वर्षा आई और शीतल जल पिला गई, किसान आया और चक्कर लगाकर चला गया । बीज बढ़ता ही गया । झूमता, लहलहाता, फूलता और फलता हुआ बीज एक दिन परिपक्व अवस्था तक जा पहुँचा । जब वह इस संसार से विदा हुआ तो अपने जैसे असंख्य बीज छोड़कर हँसता और आत्म-सन्तोष अनुभव करता विदा हो गया ।

मिट्टी के अन्दर दबा बीज यह देखकर पछता रहा था-भय और संकीर्णता के कारण मैं जहाँ था वहीं पड़ा रहा और मेरा भाई असंख्य गुना समृद्धि पा गया ।

साहस अपनाया-कृतकृत्य बने

भगतसिंह और सुभाष जैसा यश मिलने की सम्भावना हो तो उस मार्ग पर चलने के लिए हजारों आतुर देखे जाते हैं । समझाया जाय तो कितने ही बिना उतराई लिए पार उतारने की प्रक्रिया पूरी कर सकते हैं । पटेल और नेहरू बनने के लिए कोई भी अपनी वकालत छोड़ सकता है । पर दुर्भाग्य इतना ही रहता है कि समय को पहचानना और उपयुक्त अवसर पर साहस जुटाना सभी लोगों से बन ही नहीं पड़ता । वे जागरूक ही हैं जो महत्वपूर्ण निर्णय करते, साहसिकता अपनाते और अविस्मरणीय महामानवों की पदवी प्राप्त करते हैं । ऐसे सौभाग्यों में श्रेयार्थी का विवेक ही प्रमुख होता है । महान् बनने के लिए जहाँ आत्म-साधना और आत्म-विकास की तपश्चर्या को आवश्यक बताया गया है वहाँ इस ओर भी संकेत किया गया है कि उसकी प्रखरता से सम्पर्क साधने और लाभान्वित होने का अवसर भी न चूका जाय । यों ऐसे अवसर कभी-कभी ही आते और किसी भाग्यशाली को ही मिलते हैं । किन्तु कदाचित् वैसा सुयोग बैठ जाय तो ऐसा अप्रत्याशित लाभ मिलता है जिसे लाटरी खुलने और देखते-देखते मालदार बन जाने के समतुल्य कहा जा सके ।

पवनपुत्र हनुमान

हनुमान का उदाहरण इसी प्रकार का है । वे सदा से सुग्रीव के सहयोगी थे पर जब बालि ने सुग्रीव की सम्पदा एवं गृहिणी का अपहरण किया तो वे प्रतिरोध में कोई पुरुषार्थ न दिखा सके । इससे प्रतीत होता है कि उस अवसर पर सुग्रीव की तरह हनुमान ने भी अपने को असमर्थ पाया होगा और जान बचाकर कहीं खोह-कन्दरा का आश्रय लेने में ही भला देखा होगा । इससे स्पष्ट है कि उनकी जन्मजात क्षमता सामान्यों से अधिक नहीं रही होगी । पर वे जब प्राण हथेली पर रख रामकाज के परमार्थ प्रयोजन में संलग्न हुए तो पर्वत उठाने, समुद्र लांघने, अशोक उद्यान उजाड़ने, लङ्का जलाने जैसे असम्भव पराक्रम दिखाने लगे । सुग्रीव पत्नी को रोकने में सर्वथा असमर्थ रहने पर भी अन्य देश में-समुद्र पार बसे अभेद्य दुर्ग को वेधकर वे सीता को मुक्त कराने में सफल हो गये ।

युग की आवश्यकता के अनुरूप अच्छे व्यक्ति तैयार कर देना, उन्हें युग चेतना का सन्देश सुनाकर जन्मोद्देश्य का परिचय दे देना भी एक प्रकार से नव सृजन का ही कार्य है ।

अच्छे आदमी अच्छे रसायनज्ञ

नागार्जुन सुप्रसिद्ध रसायनज्ञ थे, पर वे सम्पर्क में आने वालों को धर्मोपदेश ही दिया करते थे । इस पर एक व्यक्ति ने कहा-'आप रसायन शास्त्र पढ़ाया करें तो आपका नाम भी बढ़ेगा, आपकी विद्या का भी विस्तार होगा ।'

नागार्जुन बोले-'रसायनज्ञ तो कभी भी बना जा सकता है । बात तो तब है जब अच्छे आदमी बनें । जिन्हें धार्मिक उत्तरदायित्व वहन करने पड़ते हैं, उन्हें तो इस तथ्य को अनिवार्य ही मानना चाहिए ।'

'जो जागृत हैं, उन्हें स्वयं भी इस युग चेतना में भाग लेने के लिए उठना चाहिए । ऐसे अवसर इतिहास में बार-बार नहीं आते ।'

साहसादर्शरूपा ये चेतनामुच्चभूमिकाम् ।
निजेन बलिदानेन त्यागेनोद्भावयन्ति ये ॥ ८१ ॥
आत्मसन्तोषमासाद्य लोकसम्मानमेव च ।
दैवानुग्रहलाभं च कृतकृत्या भवन्ति ते ॥ ८२ ॥

टीका-आदर्श और साहस के धनी अपने त्याग-बलिदान से उच्चस्तरीय चेतना उत्पन्न करते हैं और आत्म-सन्तोष, लोक-सम्मान तथा दैवी-अनुग्रह के तीन लाभ एक साथ प्राप्त करते तथा धन्य बनते हैं ॥ ८१-८२॥

व्याख्या-नव-सृजन में अपना सब कुछ लुटा देने वाले कभी घाटे में नहीं रहते । भगवान के काम में लग जाने वाले तीन असामान्य लाभ सहज पा लेते हैं जो एक दूसरे की प्रतिक्रियाएँ ही हैं । जागृत आत्माएँ आदर्शवादिता अपनाकर सत्साहस दिखाती हैं और अन्तः में सन्तोष, बहिरंग में सम्मान-सहयोग पाती हैं और ऐसों पर ही दैवी अनुदान बरसते हैं, जो उन्हें कृतकृत्य कर जाते हैं । पेड़ अपने पत्ते गिराते, जमीन को खाद देते और बदले में जड़ों के लिए उपयुक्त खुराक उपलब्ध करते हैं । फल-फूलों से दूसरों को लाभान्वित करते हैं । यह परमार्थ व्रत आज की चिन्तन धारा के अनुसार तो मूर्खता ही ठहराया जायगा और व्यंग्य-उपहास का ही कारण बनेगा । किन्तु पर्यवेक्षकों को इस निष्कर्ष पर पहुँचने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए कि विश्व-व्यवस्था में ऐसी परिपूर्ण गुंजायश है कि परमार्थ परायणों को लोक सम्मान ही नहीं दैवी अनुदान भी अजस्र परिमाण में मिलते रहें । पेड़ों को बार-बार नये पल्लव और नये फल-फूल देते रहने में प्रकृति कोताही नहीं बरतती । उदारमना घाटा उठाते लगते भर हैं । वस्तुतः वे जो देते हैं उसे ब्याज समेत वसूल कर लेते हैं ।

इतिहास के पृष्ठों पर स्वर्णाक्षरों में अंकित महामानवों में से प्रत्येक ने परमार्थ-परायणता की दूरदर्शितापूर्ण नीति अपनाई है । वे बीज की तरह गले और वृक्ष की तरह बढ़े हैं, इस मार्ग पर चलने के लिए उन्हें प्राथमिक पराक्रम यह करना पड़ा कि संचित कुसंस्कारों की पशु-प्रवृत्तियों से जूझे और उन्हें सुसंस्कारी बनने के लिए पूरी तरह दबाया-दबोचा और तब छोड़ा जब वे चीं बोल गईं और संकीर्ण स्वार्थपरता से ऊँचे उठकर आदर्शवादी परमार्थ प्रवृत्ति को अंगीकार करने के लिए सहमत हो गईं ।

पन्नाधाय का सत्साहस

बनवीर को कुछ समय के लिए राजा बनाया गया था किन्तु उसके मन में सत्ता का लोभ समा गया । उसने बालक उदय को मार डालने का षड़यन्त्र रचा । पन्नाधाय-जिस पर उदय की रक्षा का भार था, ने उदय के स्थान पर अपने बच्चे को लिटा दिया । उस बच्चे की हत्या हो गई, पर पन्ना धाय के इस उत्कृष्ट आदर्श और त्याग भावना ने मेवाड़वासियों को नई चेतना प्रदान की । उन्होंने बनवीर के शासन को उखाड़ फेंका ।

आदर्शवादिता के मार्ग पर छोटे बच्चे भी चल पड़ें तो भी उससे उत्पन्न शक्ति इतनी प्रचण्ड हो उठती है जिसे रोकना शक्तिशाली के लिए भी कठिन हो जाता है ।

गुरु गोविन्दसिंह के बच्चे

गुरुगोविन्दसिंह ने अपने १६ वर्षीय बड़े पुत्र अजीतसिंह को आज्ञा दी कि 'तलवार लो और युद्ध में जाओ ।' पिता की आज्ञा पाकर अजीत सिंह युद्ध में कूद पड़ा और वहीं काम आया । इसके बाद गुरु ने अपने द्वितीय पुत्र जोझारसिंह को वही आज्ञा दी । पुत्र ने इतना ही कहा-'पिताजी प्यास लगी है, पानी पी लूँ ।' इस पर पिता ने कहा-'तुम्हारे भाई के पास खून की नदियाँ बह रही हैं । वहीं प्यास बुझा लेना ।' जोझारसिंह उसी समय युद्ध क्षेत्र को चल दिया और वह अपने भाई का बदला लेते हुए मारा गया ।

इन बच्चों के बलिदान से सिखों में ऐसी आग पैदा हुई कि दुश्मनों को अपना खेमा उखाड़ते ही बना । आदर्शों से जुड़ने वाले नरपुंगव दैवी अनुग्रह के पात्र किस प्रकार बनते हैं इसका प्रत्यक्ष उदाहरण आद्य शंकराचार्य, स्वामी दयानन्द, मीरा, स्वामी विवेकानन्द, स्वामी रामतीर्थ एवं तुलसीदास हैं । इन्होंने प्रतिकूलताओं से संघर्ष हेतु साहस दिखाया-यह दैवी अनुग्रह ही था जो उनके अन्तः में प्रेरणा के रूप में उभरा एवं आदर्शवादी उत्कृष्टता से जुड़कर बदले में उन्हें यश-सम्मान भी दे गया ।

भगवन्तं ततो नत्वा वांछा साम्यं विचार्य च ।
प्रज्ञापुराणसन्देशमुपदेष्टुं जनं जनम् ॥ ८३॥
जागृतात्मन प्रज्ञाभियान मार्गे नियोजितुम् ।
संकल्प्य धरणीमायात् प्रसन्नहृदयस्तदा ॥ ८४॥
समर्षीणां तपोभूमौ विरम्याथ गतक्लमः ।
युगान्तरचिते रूपे विश्वव्यापी बभूव च ॥ ८५॥

टीका–नारद ने भगवान् को नमन किया और उनकी इच्छा में अपनी इच्छा मिलाते हुए जन–जन को 'प्रज्ञा पुराण' का सन्देश सुनाने, जागृत–आत्माओं को प्रज्ञा–अभियान प्रयासों में लगाने का संकल्प लेकर, प्रसन्न हृदय धरती पर उतरे । सप्त ऋषियों की तपोभूमि में थोड़ा विराम–विश्राम करके वे युगान्तरीय–चेतना के रूप में विश्वव्यापी बन गये ॥ ८३–८५ ॥

व्याख्या–भक्त की स्वयं की कोई इच्छा नहीं होती । वह भगवान का काम करने का संकल्प लेकर जन्मता है व अपने 'स्व' को चेतन शक्ति में घुला देता है । देवर्षि नारद ने अपनी इच्छा को भगवान की प्रेरणा के साथ मिलाया । एक बार नारद स्वयं मोह में पड़े थे और अपने अहंकार के मद में प्रभु प्रेरणा को समझने में असफल रहे । भगवान ने उनका मोह भंग किया, उन्हें वास्तविकता से अवगत कराया । तब से उन्होंने संकल्प ले लिया कि अब आगे से कभी भी अपनी इच्छा को प्रभु से अलग नहीं रखेंगे ।

नारद मोह एक बार नारद को काम वासना पर विजय पाने का अहङ्कार हो गया था । उन्होंने उसे भगवान् विष्णु के समक्ष भी अभिमान सहित प्रकट कर दिया । भगवान् ने सोचा कि भक्त के मन में मोह–अहङ्कार नहीं रहने देना चाहिए । उन्होंने अपनी माया का प्रपंच रचा । सौ योजन वाले अति सुरम्य नगर में शीलनिधि नामक राजा राज्य करता था । उसकी पुत्री परम सुन्दरी विश्व मोहिनी का स्वयम्बर हो रहा था । उसे देखकर नारद के मन में मोह वासना जागृत हो गयी । वे सोचने लगे कि नृपकन्या किसी विधि उनका वरण कर ले । भगवान को अपना हितैषी जानकर नारद ने प्रार्थना की । भगवान प्रकट हो गए और उनके हित साधन का आश्वासन देकर चले गए । मोहवश नारद भगवान की गूढ़ बात को समझ नहीं सके । वे आतुरतापूर्वक स्वयंवर भूमि में पहुँचे । नृप बाला ने नारद का बन्दर का सा मुँह देखकर उधर से बिल्कुल ही मुँह फेर लिया । नारद बार–बार उचकते–मचकते रहे । विष्णु भगवान नर–वेष में आये । नृप सुता ने उनके गले में जयमाला डाल दी । वे उसे ब्याह कर चल दिये । अपनी इच्छा पूरी न होने पर नारदजी को गुस्सा आ गया और मार्ग में नृप–कन्या के साथ जाते हुए विष्णु भगवान को शाप दे डाला । भगवान ने मुस्करा कर अपनी माया समेट ली । अब वे अकेले खड़े थे । नारदजी की आँखें खुली की खुली रह गयीं । उन्होंने बार–बार क्षमायाचना की, कहा–'भगवन् ! मेरी कोई व्यक्तिगत इच्छा न रहे, आपकी इच्छा ही मेरी अभिलाषा हो, लोक–मंगल की कामना ही हमारे मन में रहे ।'

नारद भगवान से निर्देश–सन्देश लेकर जन–जन तक उसे पहुँचाने के लिए उल्लास के साथ धरती पर आये एवं व्यक्ति के रूप में नहीं अपितु समष्टि में संव्याप्त चेतन प्रवाह के रूप में व्यापक बने । आज ध्वंस की तमिस्रा के मध्य जो नव सृजन का आलोक बिखरा दिखाई पड़ रहा है, वह इसी का प्रतिफल है ।

इति श्री मत्प्रज्ञापुराणे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः
श्री विष्णु–नारद–सम्वादे ''लोककल्याणजिज्ञासे,'' इति
प्रकरणो नाम प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

।। अथ द्वितीयोऽध्याय ।।

卐 अध्यात्म दर्शन प्रकरण 卐

एकदा तु हिमाच्छन्ने ह्युत्तराखण्डमण्डने ।
अभयारण्यके ताण्ड्यशमीकोद्दालकास्तथा ॥ १ ॥
ऋषयः ऐतरेयश्च ब्रह्मविद्या विचक्षणाः ।
तत्वजिज्ञासवो ब्रह्मविद्यायाः संगताः समे ॥ २ ॥
तत्वचर्चारतानां तु प्रश्न एक उपस्थितः ।
महत्वपूर्ण स प्रश्नः सर्वेषां मन आहरत् ॥ ३ ॥
पिप्पलादं पप्रच्छातो महाप्राज्ञमृषीश्वरम् ।
अष्टावक्रो ब्रह्मज्ञानी लोककल्याणहेतवे ॥ ४ ॥

टीका–हिमाच्छादित उत्तराखण्ड के अभयारण्यक में एक बार ताण्ड्य, शमीक, उद्दालक तथा ऐतरेय आदि ऋषि ब्रह्म–विद्या के गहन तत्व पर विचार करने के उद्देश्य से एकत्र हुए । तत्व–दर्शन के अनेकानेक प्रसंगों पर विचार करते–करते एक महत्वपूर्ण प्रश्न सामने आया । उसकी महत्ता ने सबका ध्यान अपनी ओर आकर्षित कर लिया । महाप्राज्ञ ऋषि पिप्पलाद से लोक–कल्याण की दृष्टि से ब्रह्मज्ञानी अष्टावक्र ने पूछा ॥ १–४ ॥

व्याख्या–ऋषि धर्मतन्त्र के प्रहरी माने जाते हैं, सदैव जागरूक एवं सामयिक मानवी समस्याओं का समाधान ढूँढ़ने व उन्हें जन-जन तक पहुँचाने वाले ।

ब्रह्मज्ञान को जन-मानस तक पहुँचाने के उद्देश्य से ही कुम्भ मेलों एवं अन्य पर्वों पर ऋषिगण एकत्र होते व परस्पर परामर्श द्वारा दैनन्दिन समस्याओं का हल निकालते थे । सूत-शौनक, शिवजी-काकभुशुण्डि, जनक-याज्ञवल्क्य, भरद्वाज-याज्ञवल्क्य सम्वाद इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं ।

ऐसे समागम, सत्संग, ज्ञान गोष्ठियों में सदा-सदा से महामानवों के कृत्यों-आचरणों को आधार बनाकर जीवन-क्रम की रूपरेखा बनाई जाती रही है । परस्पर चर्चा में मात्र ब्रह्म विद्या के गूढ़ तात्विक विवेचन को ही स्थान न देकर ऋषिगण हर ऐसी जिज्ञासा में रुचि लेते थे जो उस समय की परिस्थितियों की दृष्टि से महत्वपूर्ण हो, भले ही वह साधारण जन-मानस से सम्बन्धित चर्चा क्यों न हो । हर मनीषी उसमें उतनी ही रुचि रखता था, जितनी कि मुक्ति, योग, साधना जैसे विषयों में ।

अष्टावक्र उवाच–

ईश्वरः भूपतिः साक्षाद् ब्रह्माण्डस्य महामुने ।
मानवं राजपुत्रं स्वं कर्तुं सर्वगुणान्वितम् ॥ ५ ॥
विभूतीः स्वा अदाद् बीजरूपे सर्वा मुदान्वितः ।
सृष्टि संचालकोऽप्येष श्रेयसा रहितः कथम् ? ॥ ६ ॥

टीका–ब्रह्माण्ड के सम्राट् ईश्वर ने मनुष्य को सर्वगुण सम्पन्न उत्तराधिकारी राजकुमार बनाया । अपनी समस्त विभूतियाँ उसे बीजरूप में प्रसन्नतापूर्वक प्रदान कीं । उसे सृष्टि संचालन में सहयोगी बन सकने के योग्य बनाया, फिर भी वह उस श्रेय से, गौरव से वंचित क्यों रहता है ? ॥ ५–६ ॥

व्याख्या–ब्रह्मज्ञानी अष्टावक्र की जिज्ञासा मानव मात्र से सम्बन्धित है । नित्य देखने में आता है ईश्वर का मुकुटमणि कहलाने वाला, सुर दुर्लभ मानव योनि पाने वाला यह सौभाग्यशाली जीव अपने परम पिता से दो विशेष विभूतियाँ पाने के बावजूद दिग्भ्रान्त हो दीन-हीन जैसा जीवन जीता है । ये दो विभूतियाँ

हैं-बीज रूप में ईश्वर के समस्त गुण तथा सृष्टि को सुव्यवस्थित बनाने में उसकी ईश्वर के साथ साझेदार जैसी भूमिका । बीज फलता है तब वृक्ष का स्वरूप लेता है । इसका बहिरंग स्वरूप उसी जाति का होता है जिस जाति का वह स्वयं है । लघु से महान्, अणु से विभु बनने की महत् सामर्थ्य अपने आपमें एक अलभ्य विरासत है । इसे पाने के लिए उसे न जाने कितनी योनियों में कष्ट भोगना पड़ा ।

सहयोग-सहकार भी सुसंचालन के लिए न कि संतुलन को बिगाड़ने के लिए । ऐसे में जब गुण कर्म रूपी बीज भी गलने से इन्कार कर दे एवं मानव संतुलन-व्यवस्था के स्थान पर विग्रह-असहयोग करने लगे तो असमंजस होना स्वाभाविक है ।

सामर्थ्यन्यूनतायां तु साधनाभाव एव वा ।
प्रतिकूलस्थितौ वापि नरस्त्वसफलो भवेत् ॥ ७॥
यत्रैतन्नास्ति तत्रापि सृष्टिरत्नं नरः कथम् ?
दैन्येन ग्लपितेनाथ जीवतीह घृणास्पदः ॥ ८॥

टीका-सामर्थ्य की न्यूनता, साधनों का अभाव, प्रतिकूल परिस्थितियाँ होने पर तो सफल न हो सकने की बात समझ में आती है, किन्तु जहाँ ऐसा कुछ भी न हो, वहाँ मनुष्य जैसा सृष्टि का मुकुटमणि हेय स्तर का जीवन क्यों जिये ? और क्यों घृणास्पद बने ? ॥ ७-८ ॥

व्याख्या-यदि वह सब न होता जिससे मानव समृद्ध-सम्पन्न बन सका है तो मानव के उपरोक्त दो प्रयोजनों, सृष्टि उत्पत्ति, सृष्टि संचालन में असफल रहने की बात स्वीकार्य भी होती, पर ऐसा तो कुछ है नहीं । इसके स्थान पर जन्म देने के बाद उसे तो साधन, सामर्थ्य एवं सहयोगकारी परिस्थितियों का अनुदान भी परम पिता ने दिया है । फिर वह सदैव प्रतिकूलताओं का रोना क्यों रोता है ? यह ब्रह्मज्ञानी जिज्ञासु के लिए एक ऊहापोह बना हुआ है ।

शरीर के अंगों की कीमत

एक सन्त के पास एक व्यक्ति दुःखी होकर आया । "मैं अभागा हूँ । मेरे पास कुछ भी नहीं है । ऐसा जीवन जीने से तो अच्छा है, स्वयं को समाप्त कर लिया जाय ।" सन्त ने कहा-"तुम्हें अपने पास छिपी विभूतियों की जानकारी है ? यदि न हो तो मैं देता हूँ । तुम अपनी एक आँख, एक हाथ व एक पैर के बदले में क्या लेने को तैयार हो ? प्रत्येक के लिए मैं एक-एक लाख स्वर्ण मुद्राएँ दे सकता हूँ ।" व्यक्ति बोला-"भगवन् ! ये तो मैं दे नहीं सकता । इनके बिना मैं जीऊँगा कैसे ?" तब सन्त बोले-"रे मूर्ख ! करोड़ों की सम्पदा तो अपने साथ लिए घूम रहा है व रोना यह रोता है कि मेरे पास कुछ भी नहीं है ।"

बहुसंख्य ऐसे ही हैं जो इस बहुमूल्य सम्पदा को न पहचानकर अभागी स्थिति में जीते हैं । आत्मबोध उन्हें तब होता है जब उन्हें कोई प्रज्ञा सम्पन्न मनीषी सीख देता है ।

जो है वही क्या कम है

एक मनुष्य किसी महात्मा के पास पहुँचा व कहने लगा-'जीवन अल्पकाल का है । इस थोड़े से समय में क्या-क्या करें ? बाल्यकाल में ज्ञान नहीं रहता । बुढ़ापा उससे भी बुरा होता है । रात-दिन नींद नहीं लगती है । रोगों का उपद्रव अलग बना रहता है । युवावस्था में कुटुम्ब का भरण-पोषण किये बिना नहीं चलता । तब भला ज्ञान कैसे मिले ? लोक-सेवा कब की जाय ? इस जिन्दगी में तो कभी समय मिलता दीखता ही नहीं ।' ऐसा कह और खिन्न होकर वह रोने लगा ।

उसे रोते देखकर महात्मा भी रोने लगे । उस आदमी ने पूछा-'आप क्यों रोते हैं ?' महात्मा ने कहा-'क्या करूँ बच्चा ! खाने के लिए अन्न चाहिए । लेकिन अन्न उपजाने के लिए मेरे पास जमीन नहीं है । मैं भूख से मर रहा हूँ । परमात्मा के एक अंश में माया है । माया के एक अंश में तीन गुण है । गुणों के एक अंश में आकाश है । आकाश में थोड़ी-सी वायु है और वायु में बहुत आग है । आग के एक भाग में पानी है । पानी का शतांश पृथ्वी है । पृथ्वी के आधे हिस्से पर पर्वतों का कब्जा है । नदियों और जंगलों को जहाँ देखो, वहाँ अलग बिखरे पड़े हैं । मेरे लिए भगवान ने जमीन का एक नन्हा सा टुकड़ा भी नहीं छोड़ा । थोड़ी-सी जमीन थी भी, सो उस पर और-और लोग अधिकार जमाये बैठे हैं । तब बताओ मैं भूखो न मरूँगा ?'

उस मनुष्य ने कहा-'यह सब होते हुए भी आप जिन्दा तो हो न ? फिर रोते क्यों हैं ?' महात्मा तुरन्त बोल

उठे-"तुम्हें भी तो समय मिला है, बहुमूल्य जीवन मिला है, फिर 'समय नहीं मिलता है, जीवन समाप्त हो रहा है' इसकी रट लगाकर क्यों हाय-हाय करते हो । अब आगे से समय न मिलने का बहाना न करना । जो कुछ भी है उसका तो उपयोग करो ।"

साधनों की न्यूनता की दुहाई देना, ईश्वर के राजकुमार को तो कदापि शोभा नहीं देता । अपनी अपूर्णता को पूर्णता में बदल देने की याचना यदि आत्मिक क्षेत्र के विषय में हो तो वह मानवोचित भी है, गरिमापूर्ण भी । पर यदि बाह्य साधन प्रचुर मात्रा में हों तब उसकी ऐसी शिकायत दुर्भाग्यपूर्ण ही है ।

सत्ये युगे नराः सर्वे सुसंस्कृतसमुन्नतम् ।
देवजीवनपद्धत्या जीवन्ति स्म, धरामिमाम् ॥ ९॥
स्वर्ग्येणैव तु दिव्येन वातावरणकेन ते ।
भरितां विदधानाश्च विचरन्ति, कथं पुनः ? ॥ १०॥
कारणं किं समुत्पन्नं पातगर्ते यथाऽपतन् ।
साम्प्रतीकीं स्थितिं दीनां गताः सर्वे यतो मुने ॥ ११॥
दुर्धर्षायां विपत्तौ तु विग्रहे वाप्युपस्थिते ।
उत्पद्यते विवशता नैतदस्ति तु साम्प्रतम् ॥ १२॥
सामान्यं दिनचर्यायाः क्रमश्चलति मानवाः ।
शक्तिसाधनसम्पन्नाः पातगर्ते पतन्ति किम् ? ॥ १३॥

टीका-सतयुग में सभी मनुष्य समुन्नत और सुसंस्कृत स्तर का देव जीवन जीते थे और इस धरती को स्वर्ग जैसे दिव्य वातावरण से भरा-पूरा रखते थे । फिर क्या कारण हुआ जिससे लोग पतन के गर्त में गिरे और आज जैसी दयनीय स्थिति में जा पहुँचे । कोई दुर्धर्ष-विपत्ति-विग्रह आने पर विवशता उत्पन्न हो सकती है, किन्तु सामान्य-क्रम चलते रहने पर भी शक्ति-साधनों से सम्पन्न मनुष्य अधःपतन के गर्त में क्यों गिरते जा रहे हैं ? ॥ ९-१३ ॥

व्याख्या-ऐसी बात नहीं कि जब से मनुष्य को यह जन्म मिला है-सृष्टि की उत्पत्ति व विकास हुआ है-वह हेय स्तर का ही जीवन जीता आया है । मानव सतयुग में सभ्य-सुसंस्कृत जीवन भी जी चुका है । श्रेष्ठता की उस ऊँचाई पर पहुँचकर फिर नीचे गिर पड़ना कहाँ तक उचित माना जायेगा ? होना तो यह था कि आज स्थिति सतयुग से भी श्रेष्ठ स्तर की स्वर्गोपम होती । परन्तु ऋषि पाते हैं कि प्रस्तुत परिस्थितियाँ तो नारकीय स्थिति से भी गयी बीती हैं ।

उच्चादर्शाय संसृष्टौ मानवो यदि जीवति ।
तिरश्चां प्राणिनां हेयस्तरेण मनसा तथा ॥ १४॥
अनात्माचरणं कुर्यात्सृष्टिसन्तुलनं तथा ।
विकुर्याद् महदाश्चर्यं चिन्ताया विषयस्तथा ॥ १५॥

टीका-उच्च प्रयोजनों के लिए सृजा गया मनुष्य तिर्यक् योनियों में रहने वाले प्राणियों से भी अधिक हेय स्तर की मनःस्थिति रखे, अनात्म आचरण करे और सृष्टि सन्तुलन बिगाड़े तो सचमुच ही यह बड़े आश्चर्य और चिन्ता की बात है ॥ १४-१५ ॥

व्याख्या-सोचा यह था कि मनुष्य अपने को श्रेष्ठता से जोड़े रहेगा, अन्य जीवधारियों के लिए एक आदर्श उदाहरण बनेगा पर स्थिति कुछ विचित्र एवं चिन्ताजनक भी है ।

विवेक चूड़ामणि में यह स्पष्ट करते हुए कि मनुष्य भ्रष्ट आचरण की ओर कब प्रवृत्त होता है, संकेत करते हुए कहा गया है-

शब्दादिभिः पञ्चभिरेव पञ्च, पञ्चत्वमापुः स्वगुणेनबद्धाः ।
कुरङ्गमातङ्गपतङ्गमीनभृङ्गा नरः पञ्चभिरञ्चितः किम् ॥

अर्थात्-'हिरण, हाथी, पतिंगा, मछली और भौंरा'-ये अपने-अपने स्वभाव के कारण शब्दादि पाँच विषयों में से केवल एक-एक से आसक्त होने के कारण मृत्यु को प्राप्त होते हैं, तो फिर इन पाँचों विषयों में जकड़ा हुआ, असंयमी पुरुष कैसे बच सकता है । उसकी तो दुर्गति सुनिश्चित ही है ।

अन्य जीवधारियों के समान यदि मनुष्य भी शिश्नोदर परायण रहकर अपना आचरण व चिन्तन बिगाड़ ले तो फिर यह मानना चाहिए कि वह धरती पर इस योनि में अवतरित होकर भी दुर्भाग्यशाली ही बना रहा । आज मानव की उपभोग की ललक व सुख साधना अर्जित करने की एकांगी घुड़दौड़ ने यह भुला दिया कि इस तथाकथित प्रगति और सभ्यता का सृष्टि संतुलन पर क्या असर पड़ेगा । उच्छृंखल भौतिकवाद अनियन्त्रित दानव की तरह अपने पालने वाले का ही वह भक्षण कर रहा है । पर्यावरण, असंतुलन और अदृश्य जगत में संव्याप्त हाहाकार मानव की स्वयं की संरचना है जो आस्था संकट के रूप में प्रकट हुआ है और जिसकी प्रतिक्रिया विभिन्न विभीषिकाओं के रूप में मानव जाति को भुगतनी पड़ रही है । इतिहास का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि ऐसे उदाहरण पहले भी हुए हैं ।

अपनी करनी से पतित तपस्वी राक्षस बने

रावण विद्वान् था । अपनी तपश्चर्या के बल पर उसने अपरिमित सामर्थ्य अर्जित की । यह सब होते हुए भी उसके अपने हेय आचरण के कारण स्वयं भगवान को उसका संहार करने हेतु जन्म लेना पड़ा । भस्मासुर का उदाहरण भी इसी का द्योतक है कि उच्च स्थिति को पहुँचा मनुष्य कोई विवशता न होने पर भी दुर्बुद्धिवश स्वयं अपने लिए गड्ढा खोद लेता है । इसी प्रकार हिरण्याक्ष और हिरण्यकश्यपु जैसे बलवान् योद्धाओं को आसुरी वृत्तियों के कारण मरना पड़ा । शुम्भ-निशुम्भ, मधुकैटभ, महिषासुर, दुर्गा के द्वारा मारे गये । सहस्रबाहु परशुरामजी द्वारा, वाणासुर श्रीकृष्ण द्वारा मारे गये । जरासन्ध भीम द्वारा दुर्गति से मारे गए । शूर्पनखा, खरदूषण वन में तपस्या करने वाले ऋषियों को सताते थे । ताड़का यज्ञों में विघ्न पहुँचाती थी । बालि ने अपने छोटे भाई को निर्वासित कर उसकी स्त्री को अपनी रखैल बना छोड़ा था । राम-लक्ष्मण ने इन सभी को मार कर दुष्टता का अन्त किया ।

साश्चर्यस्यासमञ्जस्य कारणं किं भवेदहो ।
न सामान्यं धियामेतज्ज्ञातव्यं तु प्रतीयते ॥ १६॥
हेतुना सरहस्येन भवितव्यमिह ध्रुवम् ।
हेतुमेनं तु विज्ञातुमिच्छास्माकं प्रजायते ॥ १७॥
महाप्राज्ञो भवाँस्तत्ववेत्ता कालत्रयस्य च ।
द्रष्टाऽविज्ञातगुह्यानां ज्ञाता ग्रन्थिं विमोचय ॥ १८॥
इदं ज्ञातुं वयं सर्वे त्वातुराश्च समुत्सुकाः ।
अष्टावक्रस्य जिज्ञासां श्रुत्वा तु ब्रह्मज्ञानिनः ॥ १९॥
महाप्राज्ञः पिप्पलादः गम्भीरं प्रश्नमन्वभूत् ।
प्रशशंस च प्रश्नेऽस्मिन्नवदच्च ततःस्वयम् ॥ २०॥

टीका-इस आश्चर्य भरे असमंजस का क्या कारण हो सकता है, यह सामान्य बुद्धि की समझ से बाहर की बात है । इसके पीछे कोई रहस्यमय कारण होना चाहिए । इस कारण को जानने की हम सबको बड़ी इच्छा है । आप महाप्राज्ञ हैं, तत्ववेत्ता हैं, त्रिकालदर्शी हैं, अविज्ञात रहस्यों को समझने वाले हैं । कृपया इस गुत्थी को सुलझाइये । हम सब यह जानने के लिए आतुरतापूर्वक इच्छुक हैं । ब्रह्मज्ञानी अष्टावक्र जी की जिज्ञासा सुनकर महाप्राज्ञ पिप्पलाद ने प्रश्न की गम्भीरता अनुभव की । प्रश्न उभारने के लिए उन्हें सराहा और कहा ॥ १६-२०॥

व्याख्या-यदि यह प्रकरण सामान्य चर्चा से सुलझने जैसा होता तो प्रज्ञासत्र में इस जिज्ञासा को उठाये जाने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती । यह ऋषि-कालीन परम्परा है कि ऐसे असाधारण-मानवी गरिमा से जुड़े प्रश्नों पर तत्वज्ञान के मर्मज्ञ महाप्राज्ञों से समाधान पूछे जाते रहे हैं एवं तदनुसार अदृश्य,

सूक्ष्म जगत् में वातावरण बनाया जाता रहा है । जनक एवं याज्ञवल्क्य तथा काकभुशुण्डि एवं गरुड़ सम्वाद भी इसी प्रयोजन से सम्पन्न हुए हैं । सूत-शौनक सम्वाद के माध्यम से आर्ष ग्रन्थकार ने कथोपकथन से अनेकानेक समस्याएँ उभारी व सुलझाई हैं ।

पिप्पलाद उवाच-

महाभाग ! न ते प्रश्नः केवलं दीपयत्यहो ।
अध्यात्मतत्वज्ञानस्य सारतथ्यान्युतापि तु ॥ २१॥
लोककल्याणकृच्चापि, श्रीष्यन्त्येनं तु ये जनाः ।
सत्यं ज्ञास्यन्ति यास्यन्ति श्रेयो मार्गेऽविपत्तया ॥ २२॥
भवन्तः सर्व एतस्याः समस्यायास्तु कारणम् ।
समाधानं च शृण्वन्तु सावधानेन चेतसा ॥ २३॥

टीका-हे महाभाग ! आपका प्रश्न न केवल अध्यात्म तत्वज्ञान के सार तथ्यों पर प्रकाश डालता है, वरन् लोक कल्याणकारी भी है । जो इस शंका समाधान को सुनेंगे, वे सभी सत्य को समझेंगे, विपत्ति से बचेंगे और श्रेय-पथ पर चल सकने में समर्थ होंगे । आप सब लोग इस समस्या का कारण और समाधान ध्यानपूर्वक सुनें ॥ २१-२३॥

व्याख्या-महाप्राज्ञ पिप्पलाद प्रश्न की गम्भीरता को अनुभव करते हुए कहते हैं कि ऐसी जिज्ञासा का समाधान हर सुनने वाले को सत्य का बोध कराता है । वस्तुतः सुनते तो अनेक हैं पर वे अन्दर तक उसमें प्रवेश कर उसे जीवन में कहाँ उतार पाते हैं । सुनने वाले जिज्ञासु साधक वृत्ति के हों, जन कल्याण ही जिनका उद्देश्य हो, वे कथा श्रवण कर उसे सार्थक कर देते हैं ।

चार बार भागवत सुनी

वीतराग शुकदेव जी के मुँह से राजा परीक्षित ने भागवत पुराण की कथा सुनकर मुक्ति प्राप्त की थी । यह बात एक धनवान व्यक्ति ने सुनी तो उसके मन में भागवत पर बड़ी श्रद्धा हुई और वह भी मुक्ति के लिए किसी ब्राह्मण से कथा सुनने के लिए आतुर हो उठा ।

खोज की तो भागवत के एक बहुत बड़े विख्यात पण्डितजी मिले । कथा-आयोजन का प्रस्ताव किया तो पण्डितजी बोले-यह कलियुग है । इसमें धर्मकृत्यों का पुण्य चार गुना कम हो जाता है, इसलिए चार बार कथा सुननी पड़ेगी । चार बार कथा-आयोजन की सलाह देने का कारण था पर्याप्त दान-दक्षिणा । पण्डित जी को फीस देकर धनी व्यक्ति ने चार-भागवत सप्ताह सुने परन्तु लाभ कुछ नहीं हुआ । धनी उच्चकोटि के सन्त से मिला । भागवत सुनने का लाभ परीक्षित कैसे ले सके और मुझे क्यों नहीं मिला ? उन्होंने इसका कारण बताया कि परीक्षित मृत्यु को निश्चित जानकर, संसार से पूर्णतया विरक्त होकर कथा सुन रहे थे और मुनि शुकदेव सर्वथा निर्लोभ रहकर कथा सुना रहे थे ।

जिस किसी को भी ज्ञान, उपदेश अथवा सत्परामर्श के रूप में सुनने को मिला है, वही श्रेय पर चल सका है ।

वाल्मीकि का बोध

रास्ता रोके खड़े डाकू वाल्मीकि से सप्तऋषियों ने इतना ही तो कहा था कि 'क्या ये स्वजन-सम्बन्धी तुम्हारे पापों में भी उतने ही भागीदार होंगे, जितना सुख वैभव में हैं ?' पत्नी व बच्चों तक ने जब अपना उत्तर नकारात्मक दिया तो उसे अपने दिशा का भान हो गया । आत्म प्रगति का मन्त्र ऋषिगणों से पाकर उसने अपनी जीवन-धारा ही मोड़ दी और वह सन्त वाल्मीकि बन गया । नरक को उन्मुख हो रहा डाकू-अपनी विवेक बुद्धि को सत्परामर्श के सहारे प्रयुक्त कर सही दृष्टि पा गया और आदि कवि के रूप में इतिहास में अमर हो गया ।

कथासुनी-डाकू बदला

एक सन्त आर्त्त भाव से प्रभु की शरण में जाने के सत्परिणाम एवं दुष्कर्मों की परिणति-प्रतिफल की चर्चा कर रहे थे । श्रोताओं में एक डाकू भी बैठा था जिसने कथा के तुरन्त बाद पण्डितजी तथा आये हुए वैभव सम्पन्न श्रोताओं को लूटने की योजना बनाई थी । अनायास ही उसने अजामिल, गणिका, तुलसीदास, बिल्व मंगल का जीवन बदलने व तरने की चर्चा सुनी तो वह अन्दर तक हिल गया । जिन मार्मिक शब्दों में ये कथाएँ सुनाई गयी थीं, उसने उसे अपने दुष्कर्मों पर चिन्तन व पश्चात्ताप करने को प्रेरित किया । कथा समाप्ति के तुरन्त बाद वह पण्डितजी के चरणों में गिर गया, अपने विगत पापों की जानकारी

करायी व आगे के लिए जीवन सुधारने की दिशा पूछी । उन निर्देशों ने उसका जीवन बदल दिया । तदुपरान्त वह प्रभु परायण जीवन बिताने लगा व जो पापों की खाई उसने खोदी थी, सेवा-परमार्थ द्वारा उसे पाटने लगा ।

महात्मा गाँधी और हरिश्चन्द्र नाटक

सत्यवादी हरिश्चन्द्र का नाटक देखा और मोहनदास के अन्तः तक सत्य प्रतिष्ठापित हो गया । मनोरंजन के लिए तो कईयों ने उसे देखा होगा व अभिनय करने वालों ने भी उसे कई बार दोहराया होगा । पर ऐसे प्रसंग जब अन्दर तक प्रवेश करते हैं तभी व्यक्ति को श्रेय पथ की ओर अग्रगामी बनाते हैं । मोहनदास ने सत्य का आश्रय लेकर ही महात्मा गाँधी का पद पाया, यह सर्वविदित है ।

भगवान्निर्ममे नृ न्यछक्तिसौविध्यसंयुतान् ।
सुविधां तत्र स्वातन्त्र्याच्चयनस्य च संददौ ॥ २४॥
दिशां धारां जीवनं च प्रासुं गतिविधिं तथा ।
स्वतन्त्रमकरोदन्ये प्राणिनः प्रकृतिं श्रिताः ॥ २५॥

टीका-भगवान् ने मनुष्य को जहाँ शक्ति और सुविधा से भरपूर बनाया वहाँ उसे एक विशेष सुविधा स्वतन्त्र चयन करने की भी दी है । अपनी दिशा धारा, जीवन क्रम और गति-विधि अपनी इच्छानुसार अपनाने की छूट दी । अन्य सभी प्राणी तो प्रकृति का अनुसरण भर कर पाते हैं ॥ २४-२५ ॥

व्याख्या-मनुष्य शक्ति-साधन सम्पन्न है, इतना कि जितने सृष्टि के अन्य प्राणी नहीं । शरीर बल तो उनके पास भी है पर बुद्धि कौशल तथा अपना मार्ग स्वयं चुनने की छूट ने मनुष्य को विशिष्ट विभूति सम्पन्न जीव बना दिया है । इस स्वतन्त्र चयन में भगवान भी कभी हस्तक्षेप नहीं करते ।

मानव देवों से श्रेष्ठ या पशुओं से हीन ?

एक सभा में वाद-विवाद चल रहा था । एक पक्ष ने कहा-'मनुष्य सर्वश्रेष्ठ प्राणी है क्योंकि वह सभी जीवधारियों को वश में कर लेता है ।' दूसरा पक्ष कहता था 'अन्य प्राणी श्रेष्ठ हैं, क्योंकि वे जिन्दगी भर बिना कुछ माँगे मनुष्य की सेवा करते हैं ।' निर्णय नहीं हो पा रहा था । विवाद बढ़ता ही गया । एक ज्ञानी उधर से जा रहे थे । सबने उनकी सम्मति माँगी । ज्ञानी ने दोनों पक्षों की बात सुनी और बोले-भाई, मानवी स्वतन्त्रता की भी अपनी सीमा है । हर कोई जीवन जीने का मर्म नहीं जानता । मनुष्य जब तक सत्कर्म करता है तब तक ही श्रेष्ठ है और जब वह दुष्कर्म करने लगता है तो वह नीचे गिर जाता है । जब भी ऐसे चयन के अवसर आये हैं, मानवी बुद्धिमत्ता की पूरी परीक्षा हुई ।

कर सकते थे, किया नहीं

रावण तथा विभीषण एक ही कुल में उत्पन्न हुए सगे भाई थे, दोनों विद्वान-पराक्रमी थे । एक ने अपनी दिशा अलग चुनी व दूसरे ने प्रवाह के विपरीत चलकर अनीति से टकराने का साहस किया । धारा को मोड़ सकने तक की क्षमता भगवान ने मनुष्य को दी ही इसलिए है ताकि वह उसका सहयोगी बन सके ।

भगवान ने मनुष्य को इच्छानुसार वरदान माँगने का अधिकार भी दिया है । रावण शिव का भक्त था । उसने अपने इष्ट से वरदान सामर्थ्यवान होने का माँगा पर साथ ही यह भी कि मरूँ तो मनुष्य के हाथों । उसकी अनीति को मिटाने, उसका संहार करने के लिए स्वयं भगवान को राम के रूप में जन्म लेना पड़ा । राम शिव के इष्ट थे । यदि असाधारण अधिकार प्राप्त रावण प्रकाण्ड विद्वान् होते हुए भी अपने इष्ट भगवान शिव से सत्परामर्श लेना नहीं चाहता तो अन्त तो उसका सुनिश्चित होगा ही । यह भगवान का सहज रूप है जो मनुष्य को स्वतन्त्र इच्छा देकर छोड़ देता है ।

जीव विशुद्ध रूप में जल की बूँद के समान इस धरती पर आता है । एक ओर जल की बूँद धरती पर गिरकर कीचड़ बन जाती है व दूसरी ओर जीव माया में लिप्त हो जाता है । यह तो जीव के ऊपर है जो स्वयं को माया से दूर रख समुद्र में पड़ी बूँद के आत्म विस्तरण की तरह सर्वव्यापी हो मेघ बनकर समाज पर परमार्थ की वर्षा करे अथवा कीचड़ में पड़ा रहे ।

मनुष्य को इस विशिष्ट उपलब्धि को देने के बाद विधाता ने यह सोचा भी नहीं होगा कि वह ऊर्ध्वगामी नहीं अधोगामी मार्ग चुन लेगा । अन्य जीवों, प्राणियों का जहाँ तक सवाल है वे तो बस ईश्वरीय अनुशासन-व्यवस्था के अन्तर्गत अपना प्राकृतिक जीवनक्रम भर पूरा कर पाते हैं । आहार ग्रहण, विसर्जन-प्रजनन यहीं तक उनका जीवनोद्देश्य सीमित रहता है । परन्तु बहुसंख्य मानव ऐसे होते हैं जो इन्हीं की तरह जीवन बिताते और अदूरदर्शिता का परिचय देते

सिर धुन-धुनकर पछताते देखे जाते हैं । इनकी तुलना चासनी में कूद पड़ने वाली मक्खी से की जा सकती है ।

चासनी के कढ़ाव को एक बारगी चट कर जाने के लिए आतुर मक्खी बेतरह उसमें कूदती है और अपने पर-पैर उस जंजाल में लपेट कर बेमौत मरती है । जबकि समझदार मक्खी किनारे पर बैठ कर धीरे-धीरे स्वाद लेती, पेट भरती और उन्मुक्त आकाश में बेखटके बिचरती है । अधीर आतुरता ही मनुष्य को तत्काल कुछ पाने के लिए उत्तेजित करती है और उतने समय तक ठहरने नहीं देती जिसमें कि नीतिपूर्वक उपयोगी आवश्यकताओं की पूर्ति सरलतापूर्वक सम्भव हो सके ।

मछली वंशी में लिपटी आटे की गोली भर को देखती है । उसे उतना अवकाश या धीरज नहीं होता कि यह ढूँढ़-समझ सके कि इसके पीछे कहीं कोई खतरा तो नहीं है । घर बैठे हाथ लगा प्रलोभन उसे इतना सुहाता है कि गोली को निगलते ही बनता है । परिणाम सामने आने में देर नहीं लगती । काँटा आँतों में उलझता है और प्राण लेने के उपरान्त ही निकलता है ।

अस्याः स्वतन्त्रतायास्तूपयोगं कः कथं मुने ।
करोति सम्मुखे सेयं परीक्षा पद्धतिः स्थिता ॥ २६ ॥

टीका-हे मुने ! इस स्वतन्त्रता का कौन किस प्रकार उपयोग करता है, यही परीक्षा-पद्धति हर मनुष्य के सामने है ॥ २६ ॥

व्याख्या-विधाता ने मनुष्य को विभूतियाँ दे दीं और साथ ही यह अधिकार भी कि वह उनका जैसा चाहे वैसा उपयोग करे । पर यह भी स्पष्ट कर दिया कि इस चयन की छूट का दुरुपयोग जो करता है वह दुर्गति को प्राप्त होता है । दूसरी ओर अपना लक्ष्य जानते हुए जो मानवोचित गरिमा का निर्वाह कर सुनिश्चित योजना बनाकर जीवन व्यतीत करते हैं, अपने कल्याण व परमार्थ को साथ जोड़ते हुए जीवन शकट खींचते हैं, वे सद्गति को प्राप्त होते हैं । यह एक चुनौती हर व्यक्ति के समक्ष है कि वह श्रेय पथ को स्वीकार करे अथवा प्रेय को ।

कृष्ण के वरण की छूट

भगवान श्रीकृष्ण के पास दुर्योधन व अर्जुन दोनों पहुँचे । महाभारत युद्ध के पूर्व कौरव व पाण्डव दोनों ही कृष्ण को अपने पक्ष में करना चाहते थे । दुर्योधन पहले पहुँचे व अहंकारवश सो रहे श्रीकृष्ण के सिरहाने बैठ गये । बाद में अर्जुन आये व अपनी सहज श्रद्धा-भावना वश पैरों के पास बैठ गये । श्रीकृष्ण जागे । अर्जुन पर उनकी दृष्टि पड़ी । कुशल क्षेम पूछकर अभिप्राय पूछने ही जा रहे थे कि दुर्योधन बोल उठा-"पहले मैं आया हूँ, मेरी बात सुनी जाय ।" श्रीकृष्ण असमंजस में पड़े । बोले-'अर्जुन छोटे हैं इसलिए प्राथमिकता तो उन्हीं को मिलेगी, पर माँग तुम्हारी भी पूरी करूँगा । एक तरफ मैं हूँ, दूसरी तरफ मेरी विशाल चतुरंगिणी सेना । बोलो अर्जुन ? तुम दोनों में से क्या लोगे ?' चयन की स्वतन्त्रता थी-यह विवेक पर निर्भर था, कौन क्या माँगता है-भगवत् कृपा अथवा उनका वैभव ?

अर्जुन बोले-"भगवन् ! मैं तो आपको ही लूँगा । भले ही आप युद्ध न करें-बस साथ भर बने रहें ।" दुर्योधन मन ही मन अर्जुन की इस 'मूर्खता' पर प्रसन्न हुआ और श्रीकृष्ण की विशाल अपराजेय सेना पाकर फूला न समाया । अनीतिवादी दुर्योधन, ईश्वरीय समर्थन वाले अर्जुन जिसके पास श्रीकृष्ण भी निरस्त्र थे, से हारा ही नहीं महाभारत के युद्ध में बन्धु-बांधवों सहित मारा भी गया । दुर्योधन जैसे अनीति का चयन करने वाले एवं अर्जुन जैसे ईश्वरीय कृपा को वरण करने वाले तत्व हर मनुष्य के भीतर विद्यमान हैं-एक को विवेक या सुबुद्धि एवं दूसरे को अविवेक या दुर्बुद्धि कह सकते हैं । किसका चयन व्यक्ति करता है, यह उसकी स्वतन्त्रता है ।

नचिकेता का तीसरा वर

यमराज द्वारा नचिकेता की निष्ठा पर प्रसन्न होकर उन्हें तीन वर दिये गये । उन्होंने मृत्यु भय से मुक्त होने के स्थान पर पिता के क्रोध की शान्ति पहला वर माँगा, परलोक के लिए स्वर्ग के साधनरूप अग्नि विज्ञान का दूसरा वर प्राप्त करके उन्होंने तीसरे वर के रूप में आत्मा के यथार्थ स्वरूप और उसकी प्राप्ति का उपाय जानना चाहा । यमराज द्वारा वचन बद्ध होते हुए भी तीसरे वर का उसे पात्र न मानने के कारण उन्होंने उसे सब प्रकार के प्रलोभन दिए व बदले में कुछ और माँगने को कहा । पर आत्मतत्व तथा आत्मा के मरणोपरांत अस्तित्व संबंधी अनुभूति ज्ञान के अतिरिक्त उसने कुछ न माँगा । चयन की स्वतंत्रता सामने होते

हुए भी नचिकेता ने सुखोपभोग, मुक्ति, पुनर्जीवन जैसे लाभ एक ओर होते हुए भी ब्रह्मविद्या व आत्म विद्या के ज्ञान को जानने को ही प्राथमिकता दी । पंचाग्नि विद्या को आत्मसात् कर साधना पथ का मार्गदर्शन मानव मात्र के लिए कर सकने में वे सफल हुए । ऐसे सौभाग्यशाली बिरले ही होते हैं ।

श्रुतायुध व भस्मासुर दोनों ही असुरों को तप द्वारा वरदान प्राप्त थे । यह तो उनकी दुर्बुद्धि ही थी कि वह वरदान उन्होंने अपनी इच्छानुसार ऐसा चुना जो अन्ततः उन्हीं की मौत का कारण बना । श्रुतायुध के पास शंकरजी के वरदान से प्राप्त एक गदा थी । शर्त मात्र यही थी कि वह उसका अनीति पूर्वक प्रयोग न करे । यदि करेगा तो लौटकर वह उसी को नष्ट करेगी । महाभारत युद्ध में क्रोध के आवेश में उसने उस गदा का प्रयोग सारथी की भूमिका निभा रहे भगवान कृष्ण पर कर डाला । गदा बीच से ही वापस लौटकर श्रुतायुध पर ही आ गिरी और उसे क्षत-विक्षत कर गयी । भस्मासुर ने भी यही वरदान माँगा था कि वह जिसके सिर पर हाथ रख देगा वही भस्म हो जायेगा । जब उसने वरदान का दुरुपयोग आरम्भ किया तो भगवान ने माया रची और उसकी दुर्बुद्धि ने उससे स्वयं अपने ऊपर हाथ रखवाकर भस्म कर डाला ।

यह चयन की दिशा धारा ही है जो मनुष्य का गन्तव्य-भवितव्य निर्धारित करती है ।

जहाँ जाना है उसे ठीक बनाया एक राज्य का यह नियम था कि जन साधारण में से जो राजा चुनकर गद्दी पर बिठाया जाय उसे दस वर्ष बाद ऐसे निविड़ एकाकी द्वीप में छोड़ दिया जाय, जहाँ अन्न जल उपलब्ध न हो । कितने ही राजा इसी प्रकार अपने प्राण गवाँ चुके थे । जो अपना राज्यकाल बिताते थे उन्हें अन्तिम समय में अपने भविष्य की चिन्ता दुःखी करती थी, तब तक समय आ चुका होता था ।

एक बार एक बुद्धिमान व्यक्ति जानबूझकर उस समय गद्दी पर बैठा जब कोई भी उस पद को लेने के लिए तैयार न था । उसे भविष्य का ध्यान था । उसने उस द्वीप को अच्छी तरह देखा व वहाँ खेती कराने, जलाशय बनाने, पेड़ लगाने तथा व्यक्तियों को बसाने का कार्य आरम्भ कर दिया । दस वर्ष में वह नीरव एकाकी प्रदेश अत्यन्त रमणीक बन गया । अपनी अवधि समाप्त होते ही राजा वहाँ गया और सुख पूर्वक शेष जीवन व्यतीत किया ।

जीवन के थोड़े दिन 'स्वतन्त्र चयन' के रूप में हर व्यक्ति को मिलते हैं । इसमें वर्तमान का सुनियोजन और भविष्य की सुखद तैयारी जो कर लेता है, वह दूरदर्शी राजा की तरह सुखपूर्वक जीता है ।

विस्मरन्ति स्वरूपं ये त्यक्ता चोत्तरदायिता ।
यैः, पतन्ति तु पातस्य गर्ते ते निश्चित नराः ॥ २७॥

टीका-जो आत्म-स्वरूप को भूलते और उत्तरदायित्वों से विमुख होते हैं, वे पतन के गर्त में गिरते हैं ॥ २७॥

व्याख्या-आत्मगरिमा को हर कोई नहीं समझता । आत्म तत्व एक अँगारे के समान है जिस पर कषाय-कल्मषों के आवरण चढ़े होते हैं । जो उन्हें हटाने का प्रयास करते हैं वे उसकी चमक व ताप से परिचित-प्रभावित होते हैं । बहुसंख्य ऐसे होते हैं जो अपने अन्दर छिपी सामर्थ्य को पहचान नहीं पाते, जिम्मेदारी का निर्वाह न कर उलटे अपना पतन और कर लेते हैं । जिन्हें आत्मबोध हो जाता है वे अपना स्वरूप समझकर तदनुसार अपनी जीवन-योजना का निर्धारण करते व कृत-कृत्य होते हैं ।

सिंह शावक गीदड़ों के बीच एक गीदड़ ने सिंह के बच्चे को नवजात अवस्था में कहीं पड़ा देखा, उठाया और उसे अपने बच्चों के साथ पालने लगा । सिंह शावक गीदड़ों के बच्चों के साथ पलते-पलते उस परिकर में विकसित होते कभी स्वयं को नहीं पहचान पाया । एक बार यह परिवार शिकार को गया । मरे हाथी पर जैसे ही खाने के लिए टूटे वैसे ही स्वयं वनराज सिंह वहाँ पधार गये । उन्हें देखते ही गीदड़ परिवार कूच कर गया पर सिंह की पकड़ में सिंह शावक आ गया । सिंह ने उससे पूछा-"वह कैसे उनके साथ था और भयभीत क्यों होता है ?" शावक समझ ही नहीं पा रहा था कि यह सब क्या है ? उसे भय से काँपते देख वनराज सब समझ गये । उन्होंने उसे पानी में अपनी परछाई दिखाई व फिर स्वयं अपना चेहरा । स्वयं दहाड़े और उसे भी स्वयं दहाड़ने को कहा । तब उसे अपने विस्मृत आत्म-स्वरूप का भान हुआ और वह सिंह बिरादरी में शामिल हो उन्मुक्त-भयमुक्त विचरण करने लगा ।

ऐसे लोगों की संख्या अधिक होती है जो अपना स्वरूप भूलकर दिवास्वप्न अधिक देखते हैं ।

बिल्ली ने सपना देखा

बिल्ली ने सपना देखा कि वह शेर बन गई है और एक मोटी-सी बकरी का शिकार कर रही है । शिकार का स्वाद लेने भी न पाई कि उसने देखा कि पड़ोसी का मोटा कुत्ता भोंकता हुआ उसके ऊपर चढ़ दौड़ा । बिल्ली ने बकरी छोड़ दी और वह भाग कर मालिकन की पौली में आ छिपी । दूसरा सपना बिल्ली ने फिर देखा कि वह कुत्ता बन गई है और मालकिन के चौके में घुस कर स्वादिष्ट व्यंजनों पर हाथ साफ करने की तैयारी कर रही है, इतने में मालकिन आ पहुँची और उन्होंने मोटे बेलन से मार-मार कर उसे बेदम कर दिया और वह बुरी तरह कराहने लगी ।

उनींदी बिल्ली को कराहते-कलपते देख मालकिन ने उसे जगाया । बिल्ली ने आँखें खोलीं तो कहीं कुछ न था । उसने मालकिन से कहा-'अब मैं वही बनी रहूँगी, जो हूँ । रूप बदलने में तो खतरा ही खतरा रहता है ।'

अपने स्वरूप को हम अच्छी तरह समझे रहें, कभी भूलें नहीं इसका स्मरण विभिन्न घटना-क्रम दिलाते रहते हैं ।

स्वप्न का राजा

एक युवक ने स्वप्न देखा कि वह किसी बड़े राज्य का राजा हो गया है । स्वप्न में मिली इस आकस्मिक विभूति के कारण उसकी प्रसन्नता का ठिकाना न रहा । प्रातःकाल पिता ने काम पर चलने को कहा, माँ ने लकड़ियाँ काट लाने की आज्ञा दी, धर्मपत्नी ने बाजार से सौदा लाने का आग्रह किया, पर युवक ने कोई भी काम न कर एक ही उत्तर दिया-'मैं राजा हूँ, मैं कोई भी काम कैसे कर सकता हूँ ?'

घर वाले बड़े हैरान थे, आखिर किया क्या जाये ? तब कमान सम्भाली उसकी छोटी बहिन ने । एक-एक कर उसने सबको बुलाकर चौके में भोजन करा दिया, अकेले खयाली महाराज ही बैठे के बैठे रह गये । शाम हो गई, भूख से आँतें कुलबुलाने लगीं । आखिर जब रहा नहीं गया तो उसने बहन से कहा-'क्यों री ! मुझे खाना नहीं देगी क्या ?' बालिका ने मुँह बनाते कहा-'राजाधिराज ! रात आने दीजिए, परियाँ आकाश से उतरेंगी तथा वही आपके लिए उपयुक्त भोजन प्रस्तुत करेंगी । हमारे रूखे-सूखे भोजन से आपको सन्तोष कहाँ होगा ?'

व्यर्थ की कल्पनाओं में विचरण करने वाले युवक ने हार मानी और शाश्वत और सनातन सत्य को प्राप्त करने का, श्रमशील बनकर पुरुषार्थरत होने का, वचन देने पर ही भोजन पाने का अधिकारी बन सका ।

ऐसे लोगों की स्थिति वैसी ही होती है, जिनका कबीर ने अपनी ही शैली में वर्णन किया है-

ज्यों तिल माही तेल है, ज्यों चकमक में आग । तेरा साँई तुझ में, जागि सके तो जाग ॥
ज्यों नैनों में पूतली, त्यों मालिक घर मांय । मूर्ख लोग ना जानिये, बाहर ढूँढन जाँय ॥

सदुपयुञ्जते ये तु सौभाग्यं प्रस्तुतं क्रमात् ।
उद्गच्छन्ति तथा यान्ति पूर्णतां लक्ष्यगां सदा ॥ २८॥

टीका-जो प्रस्तुत सौभाग्य का सदुपयोग करते हैं, वे क्रमशः अधिक ऊँचे उठते और पूर्णता के लक्ष्य तक जा पहुँचते हैं ॥ २८॥

व्याख्या-सामने आया समय बार-बार नहीं आता । मानव जीवन एक सौभाग्य है जो बार-बार नहीं मिलता । विडम्बना यही है कि इसका सदुपयोग करने वाले कम ही होते हैं । जो जीवन का समुचित उपयोग करना जानते हैं वे क्रमिक गति से ऊँचे उठते हुए परम ध्येय को अन्ततः प्राप्त करके ही रहते हैं ।

कुबेर का विवेक युक्त पुरुषार्थ

पुलस्ति के विश्रवा के यहाँ एक कुरूप सन्तान ने जन्म लिया । बेडौल आकार का होने के कारण सभी उसकी हँसी उड़ाते । उसे लोगों की मूर्खता पर बड़ा क्षोभ हुआ । 'कुबेर' नामक इस पुरुषार्थी ने अपनी हँसी अपने ही घर में उड़ते देख ठान ली कि वह मानव समुदाय को यह बताकर रहेगा कि सभी को मनुष्य जीवन रूपी प्राप्त सम्पदा का सदुपयोग कर महान से महान बना जा सकता है । शरीर गत सुन्दरता से नहीं अपितु गुण रूपी सम्पदा महत्वपूर्ण है एवं उसे ही अर्जित किया जाना चाहिए । यह सोचकर उसने अपनी योग्यता बढ़ाने के लिए कठोर तप किया । अपनी लगन से उसने पिता व बाबा को भी इस साधना में सम्मिलित कर लिया । देवताओं ने उन्हें अपना धनाधीश-लोकपाल बनाया और वे अलकापुरी में राज करने लगे ।

कालिदास की कथा

कालिदास एक गया बीता व्यक्ति था, बुद्धि की दृष्टि से शून्य एवं काला कुरूप । जिस डाल पर बैठा था, उसी को काट रहा था । जंगल में उसे इस प्रकार बैठे देख राज्य सभा से विद्योत्तमा द्वारा अपमानित पण्डितों ने उस विदुषी को शास्त्रार्थ में हराने व उसी से विवाह कराने का षड्यन्त्र रचने के

लिए कालिदास को श्रेष्ठ पात्र माना । शास्त्रार्थ में अपनी कुटिलता से उसे मौन विद्वान् बताकर उन्होंने प्रत्येक प्रश्न का समाधान इस तरह किया कि विद्योत्तमा ने उस महामूर्ख से हार मान उसे अपना पति स्वीकार कर लिया । पहले ही दिन जब उसे वास्तविकता का पता चला जो उसने उसे घर से निकाल दिया । धक्का देते समय जो वाक्य उसने उसकी भर्त्सना करते हुए कहे-वे उसे चुभ गये । दृढ़ संकल्प-अर्जित कर वह अपनी ज्ञान वृद्धि में लग गया । अन्त में वही महामूर्ख अपने अध्ययन से कालान्तर में महाकवि कालिदास के रूप में प्रकट हुआ और अपनी विद्वता की साधना पूरी कर विद्योत्तमा से उसका पुनर्मिलन हुआ ।

लेकिन जो अवसर की महत्ता नहीं पहचानते, उन्हें तो अन्ततः पछताना ही पड़ता है ।

अवसर का प्रतीक-चित्र

एक बार एक कलाकार ने अपने चित्रों की प्रदर्शनी लगाई । उसे देखने के लिए नगर से सैकड़ों धनी-मानी व्यक्ति भी पहुँचे । एक लड़की भी उस प्रदर्शनी को देखने आई । उसने देखा सब चित्रों के अन्त में एक ऐसे मनुष्य का भी चित्र टँगा है जिसके मुँह को बालों से ढक दिया गया है और जिसके पैरों पर पंख लगे थे । चित्र के नीचे बड़े अक्षरों में लिखा था 'अवसर'। चित्र कुछ भद्दा सा था इसलिए लोग उस पर उपेक्षित दृष्टि डालते और आगे बढ़ जाते ।

लड़की का ध्यान प्रारम्भ से ही इस चित्र की ओर था । जब वह उसके पास पहुँची तो चुपचाप बैठ कलाकार से पूछ ही लिया-'श्रीमान् जी यह चित्र किसका है ? आपने इसका मुँह क्यों ढक रखा है तथा उसके पैरों में पंखों का क्या रहस्य है ?' कलाकार ने जवाब दिया-'बेटी ! यह 'अवसर' का चित्र है । चूँकि साधारण व्यक्ति इसे पहचान नहीं पाते ।' अतः मैंने इसका मुँह ढक रखा है ताकि इसे देखकर जिज्ञासा तो उठे । पैरों में पंख इसलिए कि यह अवसर जो आज चला गया, कल फिर आयेगा नहीं । इसलिए इसे उड़ने से पहले ही थाम लो । इसका सदुपयोग कर लो ।' लड़की ने मर्म को समझा और तत्क्षण ही अपने जीवन निर्माण में जुट गयी ।

काल ही जीवन है । काल पर वस्तुतः किसी का बस नहीं । जो यह गर्वोक्ति करते हैं उनके लिए युधिष्ठिर के जीवन का यह प्रसंग बहुत यथार्थ है ।

युधिष्ठिर ने काल जीता

एक बार एक ब्राह्मण ने युधिष्ठिर के पास जाकर दान की याचना की । युधिष्ठिर राज्य-कार्यों में व्यस्त थे, इसलिए ब्राह्मण को दूसरे दिन आने को कह दिया । भीमसेन को यह बात अच्छी न लगी । उन्होंने सेवकों को बुलाकर सभी मंगल वाद्य बजाने की आज्ञा दी और स्वयं भी दुन्दुभि बजाने लगे । वाद्यों की आवाज सुनकर युधिष्ठिर दौड़े आये । उन्होंने भीम से इसका कारण पूछा । भीमसेन ने कहा-'महाराज ! आपने काल जीत लिया है इस खुशी में हम यह कर रहे हैं । कल ब्राह्मण को बुलाने का तात्पर्य यही है कि कल तक समय आपके वश में है ।' युधिष्ठिर ने अभिप्राय समझा और कहने लगे-'सचमुच भीम ! अच्छे कार्यों में देर नहीं करनी चाहिए ।'

प्रत्यक्षं देवता नूनं जीवनं यत्तु दृश्यते ।
देवानुग्रहरूपं च ये तदाराधयन्ति तु ॥ २९॥
तेऽधिकाः प्राप्नुवन्त्युच्चा उपलब्धीः शनैः शनैः ।
दुरुपयुञ्जते ये ते नरा निघ्नन्ति स्वां गतिम् ॥ ३०॥
आत्महन्तार इव च दुर्गतिं प्राप्नुवन्ति ते ।
नहि तान् कश्चिदन्योऽपि समुद्धर्तुं भवेत्प्रभुः ॥ ३१॥

टीका-जीवन प्रत्यक्ष देवता है, वह ईश्वरीय अनुकम्पा का दृश्यमान स्वरूप है । जो उसकी आराधना करते हैं, उपलब्धियों का सदुपयोग करते हैं, उन्हें अधिकाधिक मात्रा में उच्चस्तरीय उपलब्धियाँ धीरे-धीरे मिलती जाती हैं । दुरुपयोग करने वाले अपने पैरों आप कुल्हाड़ी मारते हैं और आत्महत्यारों की तरह दुर्गति का दुःख भोगते हैं, उनका उद्धार कोई नहीं कर सकता है ॥ २९-३१ ॥

व्याख्या-जीवन को सहज उपहार मानकर चलने वाले उसके साथ खेलते ही हैं । यदि उसे देवता मानकर चलाते तो प्रभु की कृपा का ऐसा दुरुपयोग न होता और देवताओं की तो मनुष्य अभ्यर्थना-याचना

अपनी कामना पूर्ति के लिए करते रहते हैं, पर कभी आत्मदेव पर ध्यान नहीं देते । जो सदुपयोग करना जानते हैं वे कभी उपलब्धियों से वंचित नहीं रहते परन्तु दूसरी ओर जो उसका दुरुपयोग करते हैं, वे उसका दण्ड भी भुगतते हैं ।

इसी तथ्य को इस प्रकार भी कहा है-

मानुष जन्म अमोल है, होय न दूजी बार । पका फल जो गिर पड़ा, लगे न दूजी बार ॥

पर इस अनमोल मानुष काया का उपयोग कितने कर पाते हैं, यह विचारणीय है ।

पारस लोहे से न छुला सके

एक व्यक्ति को महात्मा जी के आशीर्वाद से ७ दिन के लिए पारस पत्थर तो मिल गया, पर अब वह व्यक्ति सस्ते लोहे की तलाश में शहर-शहर भटकने लगा । एक जगह नहीं मिला तो दूसरी जगह दौड़ा । इसी दौड़-धूप में सारा समय गुजर गया और वह रत्ती भर भी सोना न बना सका । सातवें दिन महात्मा ने मणि वापिस ले ली ।

यह जीवन भी पारसमणि है । जो इसे आत्मिक सम्पदा में बदलना चाहता है, वह अवसर नहीं गँवाता, आकर्षणों में भटककर समय नष्ट नहीं करता । आत्मावलम्बनजन्य-विभूतियाँ उसे सन्तोष-परितृप्ति देती हैं, उनकी तुलना में उसे सारा वैभव अर्थ हीन नजर आता है ।

चन्दन का कोयला बनाया

एक राजा वन भ्रमण को गया । रास्ता भूल जाने पर भूख प्यास से पीड़ित वह एक वनवासी की झोपड़ी पर पहुँचा । समय पर मिले रूखे-सूखे आतिथ्य ने उसे तृप्त कर दिया । चलते समय उसने उस वनवासी से कहा-'हम इस राज्य के शासक हैं । तुम्हारी सज्जनता से प्रभावित होकर चन्दन का एक बाग तुम्हें देते हैं । तुम्हारा शेष जीवन आनन्द से बीतेगा ।'

चन्दन का वन तो उसे मिल गया पर चन्दन का क्या महत्व है और उससे किस प्रकार लाभ उठाया जा सकता है-इसकी जानकारी न होने से वनवासी चन्दन के वृक्ष काटकर उनका कोयला बनाकर नगर में बेचने लगा । इस प्रकार किसी तरह उसके गुजारे की व्यवस्था बन गयी ।

धीरे-धीरे सभी वृक्ष समाप्त हो गये । एक अन्तिम पेड़ बचा । वर्षा होने के कारण कोयला न बन सका तो उसने लकड़ी बेचने का निश्चय किया । लकड़ी का गट्ठा लेकर जब बाजार में पहुँचा तो सुगन्ध से प्रभावित लोगों ने उसका भारी मूल्य चुकाया । आश्चर्यचकित वनवासी ने इसका कारण पूछा तो लोगों ने कहा-'यह चन्दन काष्ठ है, बहुत मूल्यवान है । यदि तुम्हारे पास ऐसी ही और लकड़ी हो तो उसका प्रचुर मूल्य प्राप्त कर सकते हो ।'

वनवासी अपनी नासमझी पर पश्चात्ताप करने लगा कि उसने इतना बड़ा बहुमूल्य चन्दन वन कोयले बनाकर कौड़ी मोल बेच दिया । पछताते हुए नासमझ को सान्त्वना देते हुए एक विचारशील व्यक्ति ने कहा-'मित्र ! पछताओ मत, यह सारी दुनियाँ तुम्हारी ही तरह नासमझ है । जीवन का एक-एक क्षण बहुमूल्य है पर लोग उसे वासना और तृष्णाओं के बदले कौड़ी मोल में गँवाते हैं । तुम्हारे पास जो एक वृक्ष बचा है, उसी का सदुपयोग कर लो तो कम नहीं ।' बहुत गँवाकर भी अन्त में यदि कोई मनुष्य सम्भल जाता है तो वह भी बुद्धिमान ही माना जाता है ।

अनुपात उनका ही अधिक होता है जो सब कुछ समाप्त होने पर होश में आते हैं ।

मनुष्य शरीर मिलने के बाद बिरले ही ऐसे होते हैं जो उसकी अभ्यर्थना-स्तवन देवता की तरह करते हैं । लेकिन जो करते हैं वे उस अक्षय आनन्द को भी प्राप्त करते हैं जो मानव की अमोल निधि है ।

जीवन वीणा बजे तो ही सार्थक

मन्दिर के जिस प्रकोष्ठ में भगवान् सुब्रह्मण्यम की मूर्ति थी, उसी के सामने वाले भाग में एक सुन्दर वीणा रखी हुई थी । मन्दिर में कई लोग तो वीणा के दर्शन कर लेते और चले जाते । कुछ उसे बजाने की इच्छा करते, पर वहाँ बैठा हुआ मन्दिर का रक्षक उनसे मना करता और वे वहाँ से चल देते । इस प्रकार सुन्दर स्वरों वाली यह वीणा जहाँ थी वहीं रखी रहती थी, उसका कभी कोई उपयोग न होता था ।

एक दिन एक व्यक्ति आया । उसने वीणा बजाने की इच्छा व्यक्त की, पर उस व्यक्ति ने उसे भी मना कर दिया । वह व्यक्ति वहाँ चुपचाप खड़ा रहा । थोड़ी देर में सब लोग मन्दिर से निकल कर बाहर चले गये तो उस व्यक्ति ने वीणा उठाली और उसका लयपूर्वक वादन करने लगा । वीणा का मधुर स्वर लोगों के कानों तक पहुँचा तो लोग पीछे

लौटने लगे और उस मधुर संगीत का रसास्वादन करने लगे । वाद्य घण्टों चला और लोग मन्त्र मुग्ध सुनते रहे । जब वह बन्द हुआ तब भी लोग ईश्वरीय आनन्द की अनुभूति करते रहे । लोगों ने कहा- "आज वीणा सार्थक हो गई ।"

भावार्थ यह है कि भगवान् काया तो सबको देता है पर कुछ लोग अज्ञानवश व कुछ अभिमान वश इस वीणा रूपी यन्त्र का सदुपयोग नहीं कर पाते । यदि इन दो दोषों से दूर रहकर कोई शरीररूपी वीणा से मधुर लहरियाँ निकाले तो उस आनन्द से न केवल वह स्वयं वरन् सम्पर्क के सैकड़ों लोग उसमें ईश्वरीय आनन्द की झलक पाते हैं । ऐसी जीवन-वीणा सभी बजा सकें यही तत्ववेत्ताओं का निर्देश है, महामानवों का उपदेश है एवं प्रत्यक्ष अनुभूत सत्य है । पर दूसरा पक्ष भी ऐसा हठी है कि उस पर काबू पाना, अन्तः की दुष्प्रवृत्तियों से संघर्ष कर जीवन रूपी मणि का उपयोग कर पाना हर किसी के लिए सम्भव नहीं हो पाता ।

सूर्यकान्त मणि का उपयोग

एक महात्मा के पास 'सूर्यकान्त मणि' थी । जब उनका अन्तकाल समीप आया तो बड़े प्रयत्न से अर्जित यह मणि उन्होंने अपने पुत्र सौमनस को दे दी और कहा-'यह कामधेनु के समान मनोवाँछा प्रदान करने वाली है । इसको सम्भाल कर रखना । इससे तुम्हारी सब आवश्यकताएँ सहज में पूर्ण हो सकेंगी और तुम्हें कभी किसी चीज का अभाव नहीं हो सकेगा ।'

सौमनस ने मणि तो ले ली पर पिता के उपदेशों पर कुछ ध्यान नहीं दिया । रात्रि के समय दीपक के स्थान पर वह उसका उपयोग करने लगा । एक दिन उसकी प्रेयसी वेश्या ने उपहार में वह मणि माँगी और सौमनस ने उसे बिना किसी संकोच के दे डाली ।

वेश्या ने कुछ समय बाद एक जौहरी के हाथ उसे बेच दिया और उस धन से शृंगार की सामग्री खरीद ली । जौहरी ने मणि की परीक्षा ली और रासायनिक प्रयोगों द्वारा उसकी सहायता से बहुत-सा सोना बना लिया । इससे वह बड़ा वैभवशाली बन गया और अपना जीवन राजा-महाराजाओं की तरह व्यतीत करने लगा । अनेक दीन-दुखियों की भी उसने उस स्वर्ण राशि से बहुत सहायता की ।

आनन्द ने अपने शिष्य बिद्रुध को यह कथा सुनाते हुए कहा-'वत्स ! यह जीवन सूर्यकान्त मणि के समान है । इसका सदुपयोग करना कोई-कोई पारखी जौहरी ही जानते हैं, अन्यथा सौमनस और गणिका की तरह उसे कौड़ी मोल गँवा देने वाले ही अधिक होते हैं ।'

आत्मज्ञानं नरस्यास्ति गौरवं महदुन्मुखः ।
यो दिशां तां प्रति, प्रैतिगतिमन्तर्मुखीं स तु ॥ ३२॥
भूतं यश्च भविष्यच्च विचार्य वर्तते पुमान् ।
आत्मावलम्बी सयाति द्रुतं प्रगतिपद्धतौ ॥ ३३॥
नात्र काठिन्यमाप्नोति ये त्यजन्त्यवलम्बनम् ।
उपेक्षयात्महन्तारो दुःखदारिद्र्यभागिनः ॥ ३४॥
पदे पदे तिरस्कारं सहन्ते यन्त्रणा भृशम् ।
नारक्यःप्राप्नुवन्त्येव व यान्ति परमां गतिम् ॥ ३५॥

टीका-आत्मज्ञान ही मनुष्य का सबसे बड़ा गौरव है । जो उस दिशा में उन्मुख होता, अन्तर्मुखी बनता, अपने भूत और भविष्य को ध्यान में रखते हुए वर्तमान का निर्धारण करता है-वह आत्मावलम्बी मनुष्य प्रगति-पथ पर द्रुतगति से बढ़ चलता है । लोग दुःख-दारिद्र्य के भागी बनते हैं । पद-पद पर तिरस्कार सहते और नारकीय यन्त्रणायें भुगतते हैं, साथ ही सद्गति को प्राप्त नहीं कर पाते ॥ ३३-३५ ॥

व्याख्या-मनुष्यों को औरों की अपेक्षा अधिक बुद्धि, विद्या, वैभव, बल, विवेक मिला है । यह बात तो समझ में आती है किन्तु इन शक्तियों का सम्पूर्ण उपयोग बाह्य जीवन तक ही सीमित रखने में उसने बुद्धिमत्ता से काम नहीं लिया । अर्जित कौशल एवं ज्ञान को उसने मात्र शारीरिक सुखोपभोग तक सीमित रखा है । सारे दुःखों का कारण भी यही है कि हम अपने शाश्वत स्वरूप, आत्मतत्व को जानने का कभी

प्रयास भी नहीं करते । अपने शरीर को भी नहीं पहचान पाये तो इस शरीर का, बौद्धिक शक्तियों का क्या सदुपयोग रहा ?

जो भी व्यक्ति आत्म-तत्व का अवलम्बन लेने के लिए अपने अन्दर की गुफा में झाँकता है, उसे अपार वैभव-सम्पदा सामग्री बिखरी दिखाई पड़ती है । आत्मावलम्बन का ही चमत्कार है कि मनुष्य अपने विगत के घटनाक्रमों को दृष्टिगत रख भविष्य की योजना बनाता व वर्तमान का निर्धारण सफलतापूर्वक कर पाता है ।

अपनी सामर्थ्य पर प्रकाश

एक सन्त ने अपने शिष्यों से इस तथ्य का प्रतिपादन करते हुए कहा-"शरीर का वजन अपने ही पैर उठाते हैं । यदि पैर असमर्थ हों तो खड़ा होना या चल फिर सकना भी कठिन है । भोजन पचाने का काम अपना ही पेट करता है । यदि पाचन प्रणाली बिगड़ जाय तो दूसरों के पेट से अपना भोजन पचा लेने का काम सम्भव न हो सकेगा । विद्या प्राप्त करने के लिए स्वयं ही पढ़ना पड़ता है । अपने ही पुण्य-पाप से मनुष्य सुख-दुःख प्राप्त करता है । जिसे सुखद आनन्दमय संसार में रहना है, उसे यह निर्माण कार्य अपने ही भीतर से आरम्भ कर देना चाहिए । बाह्य निर्माण की जैसी कल्पना हो उसी के अनुरूप अपना निर्माण किया जाय ।"

आत्मावलम्बन किस प्रकार सफलता का पथ-प्रशस्त करता है इस सम्बन्ध में एक बार रामकृष्ण परमहंस ने शिष्यगणों को एक कथा सुनाई-

बढ़ता चल

"एक लकड़हारा जंगल से लकड़ी काटकर किसी प्रकार दुःख और कष्ट सहते हुए अपने दिन व्यतीत करता था । एक दिन वह जंगल से पतली-पतली लकड़ी सिर पर ला रहा था कि अकस्मात् कोई मनुष्य उसी रास्ते से जाते-जाते उसे पुकार कर बोला-'बच्चा, आगे बढ़ जा ।' दूसरे दिन वह लकड़हारा उस मनुष्य की बात याद कर कुछ आगे बढ़ा तो मोटी-मोटी लकड़ियों का जंगल उसको दीख पड़ा । उस दिन उससे जहाँ तक बना लकड़ी काट लाया और बाजार में बेचकर उसने पहले दिन से अधिक पैसा कमाया । तीसरे दिन फिर मन में विचार करने लगा-'उस महात्मा ने तो मुझे आगे बढ़ जाने को कहा था । भला आज और थोड़ा आगे बढ़कर तो देखूँ ।' यह सोचकर वह आगे बढ़ गया और उसे एक चन्दन का वन दिखाई पड़ा । उस दिन उसने चन्दन की लकड़ी बेचकर बहुत रुपये कमाये । दूसरे दिन उसने फिर मन में विचार किया कि मुझे तो उन्होंने आगे ही जाने को कहा है, यह विचार कर और आगे जाकर उस दिन उसने ताँबे की खान पाई । वह यहीं पर न रुककर प्रतिदिन आगे ही बढ़ता गया, और क्रमशः चाँदी, सोने और हीरे की खान पाकर बड़ा धनवान् हो गया । धर्म मार्ग में भी इसी प्रकार होता है ।"

"आत्मिक क्षेत्र में आदमी को कभी भी रुकना नहीं चाहिए । उस साधु ने जो आगे बढ़ने की शिक्षा दी थी, उसका मर्म था-रुक मत, चलता जा, जब तक गन्तव्य तक न पहुँच जाय । अपने अन्दर झाँक व तब तक आत्मावलोकन, विश्लेषण, मनन कर जब तक प्रगति की राह न दिखाई पड़े । थोड़ी-बहुत ज्योति आदि का दर्शन कर यह मत समझो कि तुम्हें सिद्धि मिल गयी, मोक्ष प्राप्त हो गया ।"

इस सम्बन्ध में सन्त कबीर का कथन सही है-

कस्तूरी कुण्डल बसे, मृग ढूँढ़े बन माँहि । ऐसे घट-घट राम हैं, दुनियाँ देखे नाँहि ॥
तेरा साईं तुझ में, जस पुहुपन में बास । कस्तूरी का हिरण ज्यों, फिर-फिर ढूँढ़त घास ॥

आत्मावलम्बी किसी अनुग्रह, वरदान की प्रतीक्षा नहीं करते, न ही याचना । वरन् प्रगति का पथ स्वयं बनाते हैं, अपनी सहायता आप करते हैं ।

झरने तक उतरकर प्यास बुझाई

तीन पथिक पहाड़ी की ऊपरी चोटी पर लम्बा रास्ता पार कर रहे थे । धूप और थकान से उनका मुँह सूखने लगा । प्यास से व्याकुल हो उनने चारों ओर देखा पर वहाँ पानी न था । एक झरना बहुत गहराई में नीचे बह रहा था । एक पथिक ने आवाज लगाई-'हे ईश्वर ! सहायता कर हम तक पानी पहुँचा ।' दूसरे ने पुकारा-'हे इन्द्र ! मेघ माला ला और जल वर्षा ।' तीसरे पथिक ने किसी से कुछ नहीं माँगा और चोटी से नीचे उतर तलहटी में बहने वाले झरने पर जा पहुँचा और भरपूर प्यास बुझायी ।

दो प्यासों की आवाजें अभी भी सहायता के लिए पुकारती हुई पहाड़ी को प्रतिध्वनित कर रही थीं, पर जिसने आत्मावलम्बन का साहस किया वह तृप्ति लाभ कर फिर आगे बढ़ चलने में समर्थ हो गया ।

आत्मज्ञान की प्राप्ति के बाद ऐसी स्थिति आती है जिसे शाश्वत आनन्द की चरम उपलब्धि कहा जा सकता है ।

बुद्ध शव देख कर हँसे

सुजाता ने खीर दी, बुद्ध ने उसे ग्रहण कर परम सन्तोष का अनुभव किया । उस दिन उनकी जो समाधि लगी तो फिर सातवें दिन जाकर टूटी । जब वे उठे, उन्हें आत्म-साक्षात्कार हो चुका था ।

निरंजना नदी के तट पर प्रसन्न मुख आसीन भगवान् बुद्ध को देखने गई सुजाता बड़ी विस्मित हो रही थी कि यह सात दिन तक एक ही आसन पर कैसे बैठे रहे ? तभी सामने से एक शव लिए जाते हुए कुछ व्यक्ति दिखाई दिये । उस शव को देखते ही भगवान् बुद्ध हँसने लगे ।

सुजाता ने प्रश्न किया-"योगिराज ! कल तक तो आप शव को देखकर दुःखी हो जाते थे, आज वह दुःख कहाँ चला गया ?

भगवान् बुद्ध ने कहा-"बालिके ! सुख-दुःख मनुष्य की कल्पना मात्र है । कल तक जड़ वस्तुओं में आसक्ति होने के कारण यह भय था कि कहीं यह न छूट जाय, वह न बिछुड़ जाय । यह भय ही दुःख का कारण था, आज मैंने जान लिया कि जो जड़ है, उसका तो गुण ही परिवर्तनशील है, पर जिसके लिए दुःख करते हैं, वह न तो परिवर्तनशील है, न नाशवान् । अब तू ही बता जो सनातन वस्तु पा ले, उसे नाशवान् वस्तुओं का क्या दुःख ?"

आत्मावलम्बन की उपेक्षा व्यक्ति को कहाँ से कहाँ पहुँचा देती है, इसके कई उदाहरण देखने को मिलते हैं । सद्गति का लक्ष्य समीप होते हुए भी वे अपने इस परम पुरुषार्थ की अवहेलना कर पतन के गर्त में भी जा पहुँचते हैं । अहंकार की उत्पत्ति व उसका उद्धत प्रदर्शन इसी आत्म तत्व की उपेक्षा की फलश्रुति है ।

जय-विजय असुर योनि में

जय-विजय भगवान् विष्णु के द्वारपाल थे । उन्हें अपने इस अधिकार पर घमण्ड हो गया । उन्हें इसमें अपना अनादर प्रतीत हुआ कि कोई उनसे पूछे बिना ही बैकुण्ठाधिपति से मिलने चला जाय । इन द्वारपालों ने अपने अधिकार का दुरुपयोग कर नारायण प्रिया लक्ष्मी-स्वयं गृहस्वामिनी को भी भीतर जाने से रोक दिया । लक्ष्मीजी शालीन स्वभाववश मौन रह गयीं । पर जिस दिन उन्होंने सनक, सनन्दन, सनातन और सनत्कुमार जैसे महात्माओं को रोक दिया तब वे चुप न रहे । उन्होंने दोनों को असुर होने का शाप दे दिया । तीन कल्पों में उन्हें हिरण्याक्ष-हिरण्यकशिपु, रावण-कुम्भकर्ण एवं शिशुपाल-दुर्योधन के रूप में जन्म लेना पड़ा । संतों को तो उन्हें निरहंकारिता का पाठ पढ़ाना था । बैकुण्ठवासी होने के नाते स्वयं में पूर्णता मानकर अपने आपको पतन के भय से मुक्त मान लेना किसी के लिए भी पराभव का कारण बन सकता है । निष्कर्ष यही है जब स्वर्ग में बैठा एक उच्चपदाधिकारी भी इस दुर्बलता के कारण रावण आदि असुर योनि को प्राप्त होता है तो फिर मर्त्यलोक का प्राणी यह कैसे मान लेता है कि वह आत्मा की उपेक्षा कर प्रगति कर सकता है ।

आत्मज्ञान की प्राप्ति का पथ एक ऐसा पथ है, जिस पर एक बार कदम रखते ही मनुष्य कभी लौटने का विचार नहीं करता । पग रखने भर से होने वाली अनुभूति उसे अनिर्वचनीय आनन्द की प्राप्ति करा देती है । यह एक ऐसी पारसमणि है, जो अन्दर से बाहर तक मनुष्य को स्वर्ण युक्त बना देती है ।

भौतिकीः सुविधाः प्रादान्मनुष्येभ्यः प्रभुःस्वयम् ।
दिव्यानां च विभूतीनां निधिं वपुषि दत्तवान् ॥ ३६ ॥
किन्तु कार्यमिदं तस्याधीनं च कृतवान् प्रभुः ।
यद् विवेकयुतां बुद्धिं स्वतन्त्रां परिदर्शयेत् ॥ ३७ ॥
उपयोगं साधनानां दुरुपयोगमथाश्रयन् ।
सहभाक् स्वर्गयधाराया नारक्या वापि सम्भवेत् ॥ ३८ ॥

टीका-ईश्वर ने मनुष्य को भौतिक सुविधाओं का बाहुल्य प्रदान किया, भीतर दिव्य विभूतियों का भण्डार भर दिया । पर इतना काम उसे ही सौंपा कि स्वतन्त्र विवेक बुद्धि का परिचय दे और साधनों का सदुपयोग या दुरुपयोग करके स्वर्ग या नरक की दिशा धारा का सहभागी बने ॥ ३६-३८ ॥

व्याख्या-मनुष्य में ये दो विशेषताएँ एक साथ पायी जाती हैं-(१) बाह्य जगत में प्रचुर मात्रा में

उपभोग हेतु सुख-साधन, प्रतिकूल को भी अनुकूल बना सकने योग्य सामर्थ्य तथा (२) अन्तः जगत में देवताओं को भी अप्राप्य आत्मिक सम्पदा जो उपयुक्त होने पर उसे ऋषि, देव मानव, महामानव स्तर का बनाती है । सृष्टि में अन्य ऐसा कोई भी जीवधारी नहीं जिसमें इन दोनों का समन्वय हो । इसे स्रष्टा का पक्षपात नहीं कहेंगे क्योंकि उसने इसके साथ एक उत्तरदायित्व उसी के ऊपर छोड़ दिया है कि वह अपनी विवेक शक्ति, दूरदर्शिता का उपयोग कर इन साधनों को किस सीमा तक, किसी प्रयोजन विशेष में लगा पाता है ? इस विवेकशक्ति का जागरण जिसमें जितनी मात्रा में हुआ, समझना चाहिए वह उतना ही आध्यात्मिक होता चला गया । सदुपयोग ही स्वर्ग को ले जाने वाली तथा दुरुपयोग ही नरक की ओर ले जाने वाली पगडण्डी है ।

याचक ने पारस फेंक दिया

एक व्यक्ति एक सन्त के पास आया व उनसे याचना करने लगा कि वह निर्धन है । वे उसे कुछ धन आदि दे दें, ताकि वह जीविका चला सके । सन्त ने कहा-'हमारे पास तो वस्त्र के नाम पर यह लंगोटी व उत्तरीय है । लंगोटी तो आवश्यक है पर उत्तरीय तुम ले जा सकते हो । इसके अलावा और कोई ऐसी निधि हमारे पास है नहीं ।' वह व्यक्ति बराबर गिड़गिड़ाता ही रहा, तो वे बोले-'अच्छा, झोंपड़ी के पीछे एक पत्थर पड़ा होगा । कहते हैं, उससे लोहे को छूकर सोना बनाया जा सकता है । तुम उसे ले जाओ ।' प्रसन्नचित्त वह व्यक्ति भागा व उसे लेकर आया, खुशी से चिल्ला पड़ा-'महात्मन् ! यह तो पारस मणि है । आपने इसे ऐसे ही फेंक दी ।'

सन्त बोले-'हाँ बेटा ! मैं जानता हूँ और यह भी कि यह नरक की खान है । मेरे पास प्रभु कृपा से आत्म सन्तोष रूपी धन है जो मुझे निरन्तर आत्म ज्ञान, और अधिक ज्ञान प्राप्त करने को प्रेरित करता है । मेरे लिए इस क्षणिक उपयोग की वस्तु का क्या मूल्य ?' वह व्यक्ति एकटक देखता रह गया ।

फेंक दी उसने भी पारस मणि । बोला-'भगवन् ! जो आत्म सन्तोष आपको है व जो कृपा आप पर बरसी है उससे मैं इस 'पत्थर' के कारण वंचित नहीं होना चाहता । आप मुझे भी उस दिशा में बढ़ने की प्रेरणा दें जो सीधे प्रभु प्राप्ति की ओर ले जाती है ।' सन्त ने उसे शिष्य के रूप में स्वीकार किया । वे दोनों मोक्ष सुख पा गए ।

विवेकवान के समक्ष हर वैभव, हर सम्पदा तुच्छ है । वह सतत् अपने चरम लक्ष्य, परम पद की प्राप्ति की ओर बढ़ता रहता है ।

संत की परीक्षा

सन्त पुरन्दर की निर्लोभिता एवं तपश्चर्या की चर्चा विजय नगर के महाराज कृष्णदेवराय ने बहुत सुनी थी, पर उन्हें सहसा विश्वास नहीं होता था कि क्या ऐसा भी सम्भव है । क्या व्यक्ति स्वयं विद्वान होते हुए तथा साधनों के सहज उपलब्ध रहते हुए भी उन्हें ठुकरा दे और लोकसेवी का जीवन जिए ? गृहस्थ जीवन और लोक सेवा ऐसी गरीबी में कैसे साथ-साथ निभ सकते हैं ?

अपने मन्त्री व्यासराय की सहायता से उन्होंने सन्त की परीक्षा लेने का निश्चय किया । उन्होंने सन्त को परोक्षतः कहलवाया कि वे अपनी भिक्षा राजभवन से ले लिया करें । भिक्षा में दिये जाने वाले चावलों में उन्होंने रत्न-हीरे मिला दिये । नित्य उन्हें इसी प्रकार प्रसन्नभाव से आते देख उन्हें शंका हुई, अपने मन्त्री से बोले-"आइये ! जिन सन्त की निस्पृहता की बड़ी प्रशंसा सुनी थी, उसे उनके घर चलकर परखें ।" वहाँ पहुँचे तो बड़ा विचित्र दृश्य देखा । सादगी भरा जीवन जी रहे सन्त व उनकी पत्नी में परस्पर सम्वाद चल रहा था । पत्नी हीरे आदि बीनकर अलग रखती जाती थी व कहती जा रही थी-"आजकल आप न जाने कहाँ से भिक्षा लाते हैं । इन चावलों में तो कंकड़-पत्थर भरे पड़े हैं ।" इतना कहकर छद्मवेशधारी राजा मन्त्री के सामने ही उसे वे कचरे के ढेर में फेंक आयीं । राजा के आश्चर्य व्यक्त करने पर वे बोलीं-'पहले हम भी यही सोचते थे कि ये हीरे-मोती हैं । पर जब से भक्ति का पथ अपनाया, लोक सेवा की ओर कदम बढ़ाया तो निर्वाह योग्य ब्राह्मणोचित आजीविका से ही काम चल जाता है । अब इस बाह्य सम्पदा का मूल्य हमारे लिए तो हीरों के नहीं, कंकड़-पत्थर के बराबर ही है ।'

स्वतन्त्र विवेक बुद्धि ही है जो व्यक्ति को दो मार्गों-आत्मिक प्रगति तथा भौतिक समृद्धि के चयन, अनुपयोग, दुरुपयोग, सदुपयोग के माध्यम से स्वर्ग व नरक के दृश्य इसी जीवन में दिखाती है व उसका भविष्य निर्धारित करती है ।

व्याध, संत, वेश्या एवं सद्गृहस्थ के दृश्य

स्वर्ग और नरक करनी के फल हैं, एक सन्त ने अपने शिष्य को समझाया पर शिष्य की समझ में बात आयी नहीं । तब उसका उत्तर देने के लिए अगले दिन सन्त शिष्य को लेकर एक बहेलिए के पास पहुँचे । वहाँ जाकर देखा कुछ जंगल से व्याध निरीह पक्षी पकड़कर लाया था, वह उन्हें काट रहा था, घर में कलह मची थी । यह सब देखते ही शिष्य चिल्लाया-'महाराज ! यहाँ तो नरक है, यहाँ से शीघ्र चलिए ।' सन्त बोले-'सचमुच, इस बहेलिये ने इतने जीव मार डाले, पर आज तक फूटी कौड़ी तक न जोड़ पाया । कपड़ों तक के पैसे नहीं, इसके लिए यह संसार भी नरक है और परलोक में तो इतने मारे गये जीवों की तड़पती आत्मायें उसे जितना कष्ट देंगी, उसकी तो कल्पना भी नहीं हो सकती ।'

सन्त दूसरे दिन एक साधु की कुटी पर पधारे । शिष्य भी साथ थे, वहाँ जाकर देखा, साधु के पास है तो कुछ नहीं, पर उनकी मस्ती का कुछ ठिकाना नहीं, बड़े सन्तुष्ट, बड़े प्रसन्न दिखाई दे रहे थे । सन्त ने कहा-'वत्स ! यह साधु इस जीवन में कष्ट का, तपश्चर्या का जीवन जी रहे हैं तो भी मन में इतना आह्लाद इस बात का प्रतीक है कि इन्हें पारलौकिक सुख तो निश्चित ही है ।'

सांयकाल सन्त एक वेश्या के घर में प्रवेश करने लगे तो शिष्य चिल्लाया-'महाराज ! यहाँ कहाँ ?' सन्त बोले-'वत्स ! यहाँ का वैभव भी देख लें । मनुष्य इस सांसारिक सुखोपभोग के लिए अपने शरीर, शील और चरित्र को भी किस तरह बेचकर मौज उड़ाता है पर शरीर का सौन्दर्य नष्ट होते ही कोई पास नहीं आता, यह इस बात का प्रतीक है कि इसके लिए यह संसार स्वर्ग की तरह है, पर अन्त इसका वही है, जो उस बहेलिये का था ।'

अन्तिम दिन वे एक सद्गृहस्थ के घर रुके । गृहस्थ बड़ा परिश्रमी, संयमशील, नेक और ईमानदार था सो सुख-समृद्धि की उसे कोई कमी नहीं थी वरन् वह बढ़ रही थी । सन्त ने कहा-यह वह व्यक्ति है, जिसे इस पृथ्वी पर भी स्वर्ग है और परलोक में भी । शिष्य ने इस तत्व-ज्ञान को भली प्रकार समझ लिया कि स्वर्ग और नरक वस्तुतः करनी का फल है ।

विधाता ने तो मानव को यही सोच कर भेजा है कि वह पृथ्वी पर अन्य जीवधारियों से अलग अपनी दिशाधारा चयन करेगा और श्रेय पक्ष की ओर बढ़कर सबका कल्याण करेगा पर उसे भी वर्तमान स्थिति देखकर निराशा ही होती होगी ।

स्वयं ही गिरा है स्वयं ही उठेगा

प्रजापति ब्रह्मा ने वृक्ष बनाये, वनस्पति बनाई, छोटे-छोटे जीव जन्तु बनाये, बड़े-बड़े जीवधारी बनाये, पशु और पक्षी बनाये और जब देखा कि इनमें से एक भी सृष्टि को व्यवस्थित रख सकने में समर्थ नहीं, हर जीव खुदगर्ज साबित हुआ तब विधाता ने सम्पूर्ण प्रतिभा और ज्ञान सम्पन्न मनुष्य का निर्माण किया । मनुष्य को अपने समान क्षमतावान् देखकर विधाता की चिन्ता दूर हुई । सृष्टि की व्यवस्था मनुष्य को सौंपकर उन्होंने अपनी थकावट मिटाने के लिए लेट लगाई और शयन करने लगे ।

एक हजार वर्ष की नींद टूटी तो विधाता ने देखा द्वार पर जीव-जन्तुओं की भारी भीड़ जमा है । विधाता को जगाने और अपनी शिकायत पेश करने के लिए सब किवाड़ खटखटा रहे थे, नारे लगा रहे थे । चकित विधाता दरवाजा खोलकर बाहर निकले और जीव-जन्तुओं से उनके दुःख का कारण पूछा । जीवों के प्रमुख प्रतिनिधियों ने बताया-'भगवन् ! आपने मनुष्य को बनाया था सृष्टि की व्यवस्था के लिए पर यह तो हम सबको ही सताये और नष्ट किए डाल रहा है ।'

सृष्टि का सौन्दर्य नष्ट होता देखकर विधाता बहुत चिन्तित हुए और बोले-'बच्चा ! दुःख मत करो । मनुष्य ने अपनी सद्बुद्धि को दुर्बुद्धि में बदल कर आप लोगों का उतना अहित नहीं किया जितना अपना पतन किया है । जाओ कुछ दिन और प्रतीक्षा करो । एक दिन उसकी यह दुर्बुद्धि ही उसे पशुवत् जीवन में ले जायेगी तब वह स्वयं ही अनुभव करेगा कि यदि हम भी पशुओं की तरह ही जीवन जीते हैं, तो मनुष्य शरीर पाने का क्या लाभ ? यह ज्ञान ही उसे पश्चाताप और सुधार की प्रेरणा देगा, तभी सुख-शान्ति स्थापित होगी । वह स्वयं गिरा है तथा उठेगा भी स्वयं ही ।'

प्रगतिर्मानवानां या दुर्गतिर्वाऽपि दृश्यते ।
तस्य संरचना स्वस्य तात ! जानीहि निश्चितम् ॥ ३९ ॥
मानवः स्वयस्य भाग्यस्य विधाता स्वयमेव हि ।
तथ्यमेतद् विजानन्ति ये ते तु निजचिंतनम् ॥ ४० ॥
प्रयासं साधुभावाय योजयन्ति न ते पुनः ।
पतनं पराभवं वापि सहन्ते न च यन्त्रणाम् ॥ ४१ ॥

टीका-हे तात ! मनुष्य की जो भी प्रगति-दुर्गति दृष्टिगोचर होती है, वह उसकी स्वयं की संरचना है, यह निश्चित समझो । 'मनुष्य अपने भाग्य का विधाता आप है'-जो इस तथ्य को समझते हैं, वे अपने चिन्तन और प्रयास को सदाशयता के लिए नियोजित करते हैं । ऐसे लोगों में से किसी को भी पतन-पराभव की यन्त्रणा नहीं सहनी पड़ती ॥ ३९-४१ ॥

व्याख्या-आत्मज्ञान की सबसे बड़ी उपलब्धि है यह बोध हो जाना कि हम अपने आप में सर्व समर्थ शक्तिमान सत्ता हैं व अपना भविष्य स्वयं बना सकते हैं । स्रष्टा का यही तो सबसे बड़ा अनुदान है । पुरुषार्थी, आत्मबल सम्पन्न व्यक्ति कभी भाग्य के भरोसे बैठे नहीं रहते । इसीलिए वे हमेशा अपने चिन्तन और प्रयासों को उत्कृष्टता से जोड़कर अपनी परिस्थितियाँ स्वयं विनिर्मित करते हैं । भाग्यवादी तो इसी प्रतीक्षा में अवसर गँवाते चले जाते हैं कि उपयुक्त परिस्थितियाँ हों व बिना श्रम-प्रयास के सब अनुकूल होता चला जाये ।

शास्त्रों मे लिखा है-

कलिः शयानो भवति संजिहानस्तु द्वापरः । उत्तिष्ठन्त्रेता भवति कृतं सम्पद्यते चरन् ॥
चरैवेति, चरैवेति ॥

अर्थात्-सोते रहना ही कलियुग है, जागरणोपरान्त जम्हाई लेना द्वापर है, उठ पड़ना ही त्रेता है, उठकर अपने लक्ष्य केलिए गतिशील हो जाना ही सतयुग है । अतएव लक्ष्य प्राप्ति के लिए चलते रहो, आगे बढ़ते रहो ।

प्रगति-दुर्गति, अपने ही हाथों

प्रगति और दुर्गति के दो उदाहरण महाभारत में देखने को मिलते हैं । युधिष्ठिर व दुर्योधन दोनों का कृतित्व ही उनका भविष्य बन गया । धर्मराज ने जुआ खेला तो उन्हें वनवास भोगना पड़ा । अपनी धर्मनिष्ठा बनाये रख पत्नी व भाईयों सहित उन्होंने उसे भोगा, श्रीकृष्ण को भगवत् स्वरूप माना तथा उनके निर्देश पर धर्म युद्ध लड़ा । सारे पराक्रमी एक ओर होते हुए भी विजय नीति की, आदर्शों की हुई । दुर्योधन ने तपस्विनी माँ गांधारी, ब्रह्मज्ञानी भीष्म व द्रोण के सत्परामर्शों की अवहेलना की, अपने ही भाईयों से युद्ध लड़ा व अन्त में पतन को प्राप्त हुआ । सारे कुरुवंश को ले डूबा ।

शक्ति मिल भी जाये, परिस्थितियाँ अनुकूल भी बना दी जायें तो भी सदाशयता का नियोजन न होने से मानवी कर्तृत्व उसे दुर्गति की ओर ही ले जाता है ।

अपङ्गों ने शक्ति पायी-खोयी

एक बार पाँच असमर्थ और अपंग इकट्ठे हुए । अन्धा बोला-मेरी आँखें होतीं तो जो कुछ अनुपयुक्त दिखाई देता उसे ठीक करता । लँगड़ा बोला-मैं तो दौड़-दौड़कर लोगों की भलाई करता । निर्बल बोला-मेरे पास बल होता तो दीन-दुखियों की सेवा करता । निर्धन ने कहा-मैं धनी होता तो किसी को भूखा न रहने देता । मूर्ख बोला-मैं पण्डित होता तो लोगों को सच्चा ज्ञान देता । वरुणदेव ने उनकी बातें सुनी तो दया आ गई । उनकी इच्छायें उन्होंने पूरी कर दीं । पर अब तो अन्धा सौन्दर्य दर्शन में ही लीन रहने लगा । लँगड़ा सैर-सपाटे के लिए निकल पड़ा । निर्धन धन के नशे में डूब गया । निर्बल दूसरों को सताने लगा और मूर्ख अपनी ही शेखी बघारने लगा । वरुणदेव ने यह देखा तो उन्हें बड़ा दुःख हुआ । अपनी दी हुई शक्तियां उनसे छीन लीं ।

इसी तथ्य को रामायणकार ने इस प्रकार लिखा है-

करम प्रधान बिश्व करि राखा । जो जस करहिं सो तस फल चाखा ॥

मनुष्य के लिए तो यही उचित है कि वह अपनी गरिमा के अनुरूप सदैव उत्थान की ओर बढ़े । अन्यों को भी साथ ले ।

ऊर्ध्व उठे फिर ना गिरे, यही मनुज को कर्म । औरन ले ऊपर उठे, इससे बड़ौ न धर्म ॥

इस तथ्य को मनुष्य समझ नहीं पाता और अपनी ही रची नारकीय सृष्टि से दूर भागने का विफल प्रयास करते देखा जाता है ।

स्वयं बिगाड़ा है स्वयं ही सुधारो

मगध के एक धनी व्यापारी ने बहुत धन कमाया । उसे अपनी सम्पन्नता पर इतना गर्व हुआ कि वह अपने घर के लोगों पर ऐंठा करता । फल हुआ कि उसके लड़के भी उद्दण्ड और अहंकारी हो गये । पिता-पुत्रों में ही ठनने लगी । घर नरक बन गया ।

उद्विग्न व्यापारी ने महात्मा बुद्ध की शरण ली और कहा-"भगवन् ! मुझे इस नरक से मुक्ति दिलाइये, मैं भिक्षु होना चाहता हूँ ।"

तथागत ने कुछ सोचकर उत्तर दिया-"भिक्षु बनने का अभी समय नहीं है तात ! तुम जैसा संसार चाहते हो वैसा आचरण करो तो घर में स्वर्ग के दर्शन कर सकोगे ।" उपवन में तुम्हें शान्ति नहीं मिलेगी जब तक मन अशान्त है । यह नरक तुम्हारा अपना ही पैदा किया हुआ है ।

व्यापारी घर लौट आया । उसने जैसे ही अपना दृष्टिकोण-व्यवहार-आचरण बदला, सबके हृदय बदले व उसे घर में ही स्वर्ग के दर्शन होने लगे ।

प्रगति-दुर्गति तथा स्वर्ग-नरक किस प्रकार मनुष्य स्वयमेव रचता है, उसका परिचय प्रस्तुत दृष्टान्त से मिलता है ।

यद् भविष्यति की दुर्गति

एक तालाब में तीन मछलियाँ रहती थीं-एक का नाम था 'यद्भविष्यति', दूसरी का 'प्रत्युत्पन्नमति', तीसरी का 'दूरदर्शी' । एक दिन मछुआरे आये व बोले कल यहाँ जाल डालेंगे-काफी मछलियाँ हैं । 'यद्भविष्यति' ने कहा-'यहीं रहने में भला है । कल ये लोग आयें आवश्यक नहीं ।' दूरदर्शी बोली-'भला इसी में है कि आज रात्रि तक यहाँ से निकल जायें ।' अवसर पाकर वह तालाब से जुड़े दूसरे पोखर में चली गयी । तीसरी 'प्रत्युत्पन्नमति' बोली-'कल जब ये लोग आयेंगे तब परिस्थिति के अनुसार निर्णय लिया जायेगा ।' अगले दिन मछुआरे आये । जाल डाला गया । दोनों पकड़ी गयीं । प्रत्युत्पन्नमति ने मृतवत् होने का ढोंग रचा । मृतक समझ मछुआरों ने उसे जाल से निकाल दिया, वह उचककर गहरे पानी में तैरती हुई धारा को पारकर दूसरी ओर चली गयी । 'यद्भविष्यति' पकड़ी गई व अपनी 'भाग्य पर अवलम्बन' वाली बुद्धि पर रोती रही ।

इसी प्रकार दूरदर्शी, तुरन्त निर्णय लेने वाले व भविष्य-भाग्य पर विश्वास कर हाथ पर हाथ धरे बैठे रहने वाले तीन प्रकार के मनुष्य होते हैं । वे इस तथ्य की पूरी साक्षी देते हैं कि 'मनुष्य अपने भाग्य का विधाता आप है ।'

वयं यद् ब्रह्मतत्वस्य मुने कुर्मोऽवगाहनम् ।
न विवेच्यो विराट् तत्र परमेतदवेहि यत् ॥ ४२ ॥
मानवानामन्तराले सत्ता या विद्यते प्रभोः ।
तस्या महामहत्तां तु कथं ज्ञातुं क्षमा वयम् ॥ ४३ ॥
कथं पश्याम एवं च कथं कुर्मस्तथात्मसात् ।
प्रयोजनमिदं सर्वं ब्रह्मविद्या प्रचक्षते ॥ ४४ ॥

टीका-हे ऋषि श्रेष्ठ ! हम लोग जिस ब्रह्मतत्व का अवगाहन करते हैं, उसमें उद्देश्य विराट् की विवेचना नहीं, वरन् यह है कि मानवी अन्तराल में विद्यमान ईश्वरीय-सत्ता की महान् महत्ता को किस प्रकार समझा जाय एवं उसे कैसे देखा, उभारा व अपनाया जाय । इस सम्पूर्ण प्रयोजन को ही ब्रह्मविद्या कहते हैं ॥ ४२-४४ ॥

व्याख्या-महाप्राज्ञ पिप्पलाद विषय की गूढ़ता को देखते हुए उसे अधिक स्पष्ट करने का प्रयास करते

हुए ब्रह्मविद्या एवं विराट् विश्वपुरुष परब्रह्म की विवेचना में अन्तर बताते हैं । सृष्टि का व्यापक विस्तार और उसमें संव्याप्त जड़-चेतन का सम्मिश्रित लीला जगत तो वह पक्ष हुआ जिसे 'विराट्' के नाम से ऋषिवर ने सम्बोधित किया है । इसी तथ्य को ऋग्वेद में ऋषि ने समझाते हुए कहा है-"हे मनुष्यो ! बर्फ से आच्छादित पहाड़, नदियाँ, समुद्र जिसकी महिमा का गुणगान करते हैं, दिशाएँ जिसकी भुजाएँ हैं, हम उस विराट् विश्वपुरुष परमात्मा को कभी न भूलें ।"

ब्रह्मविद्या वह विज्ञान है जिसके अन्तर्गत परमपिता के अंशरूप में विद्यमान अपने अन्दर अवस्थित सत्ता की महत्ता को समझा, उभारा एवं विकसित किया जाता है । उपासना ईश्वर के इसी रूप की की जाती है । परब्रह्म तो अचिन्त्य, अगोचर है, उसके क्रिया-कलापों को जड़-चेतन में, गति-विधियों तथा सृष्टि विज्ञान के विभिन्न स्वरूपों में देखा जा सकता है पर जिस ईश्वर, परमात्मा, भगवान, इष्ट की उपासना-साधना अभ्यर्थना करने की चर्चा की जाती है वह तो मनुष्य के अन्दर ही बीज रूप में विद्यमान है । इसे पहचान कर, आच्छादित आवरणों को हटाकर जो विकसित कर लेता है वह महामानव देवदूत, ऋषि स्तर तक जा पहुँचता है । ऋद्धि-सिद्धियाँ इसी आत्मतत्व के अनुदान रूप में बरसती हैं-कहीं बाहर से नहीं टपकतीं ।

भगवान श्रीकृष्ण ने गीता के मोक्ष संन्यासयोग विषयक अध्याय में इस गुह्यज्ञान को और भी अधिक अच्छी तरह स्पष्ट किया है । "ईश्वरःसर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति"-इस प्रकार कहते हुए भगवान अर्जुन को समझाते हैं-"हे अर्जुन ! यंत्र पर आरूढ़ हुए के समान सब भूतों को अपनी शक्ति से घुमाता हुआ ईश्वर सब जीवधारियों के हृदय में वास करता है । हे भरत पुत्र ! तू उसी ईश्वर की शरण में समर्पित हो जा । उसके प्रसाद से तुझे परमशान्ति और शाश्वत आनन्द मिलेगा । यह गुह्यज्ञान मैंने तुझे कहा है, इस पर अच्छी तरह विचार कर ।"

मीरा, चैतन्य महाप्रभु, रैदास तथा कबीर आदि सन्तों-महामानवों ने अपने इसी ईश्वर को तो पूजा है । उनकी साधना-उपासना अन्तर्जगत में विराजमान ईश्वर की थी । प्रतीक उसका कुछ भी हो । यह ब्रह्मविद्या की साधना किस व्यक्ति को कितना ऊँचा उठा सकी यह इसी पर निर्भर करता है कि किसने आत्म तत्व को समझने का प्रयास किया व उसे विकसित किया ।

सुविधासम्पदा पूर्णं जगदेतत्तु भौतिकम् ।
सम्पदिभरात्मिकं तृप्तितुष्टिशान्तिभिराप्लुतम् ॥ ४५ ॥
सुविधा साधनेष्वेव रमन्ते मन्दबुद्धयः ।
यथा क्रीडनकैर्बालास्तथा ते सन्ति निश्चितम् ॥ ४६ ॥
आध्यात्मिकस्य जगतः स्वर्ग्यां प्राप्तुं तु सम्पदाम् ।
रुचिर्येषां महाभाग्या धन्यं तेषां हि जीवनम् ॥ ४७ ॥

टीका-भौतिक जगत में सुविधा-सामग्री भरी पड़ी है, तो आत्मिक क्षेत्र तृप्ति, तुष्टि और शान्तिरूपी सम्पदा से सम्पन्न है । जो व्यक्ति सुविधा साधनों में रमते हैं, वे खिलौनों से खेलने वाले बालकों की तरह मन्द-बुद्धि हैं । जिन्हें आत्मिक जगत् की स्वर्गीय सम्पदा को प्राप्त करने में रुचि है, उन्हें बड़भागी कहा जाना चाहिए, उन्हीं का मानव-जीवन धन्य है ॥ ४५-४७ ॥

व्याख्या-मनुष्य को बाह्यजगत में भौतिक उपलब्धियाँ मिली हैं तो अन्तःजगत में चेतन शक्ति प्रवाह के रूप में आत्मिक सम्पदा भी । अज्ञानवश मनुष्य भौतिक उपलब्धियों को ही उन्नति-सफलता का प्रतीक मान लेता है । मनुष्य शरीरबल, बुद्धि, धन, वैभव, यश, ऐश्वर्य-पद-प्रतिष्ठा के क्षेत्र में भले ही हिमालय की तरह ऊँचा व सागर की तरह गहरा क्यों न हो, आत्म-सम्पदा के अभाव में वह निम्न कोटि का ही जीवन जीयेगा, सुख तो होंगे पर शान्ति न होगी, साधन तो होंगे पर तृप्ति न होगी ।

भौतिक जगत की मृग-मरीचिका आत्मा की प्यास को कभी बुझा नहीं सकती । ऐसी बात नहीं कि जीवन में भौतिक पदार्थों का कोई मूल्य नहीं । निर्वाह हेतु कुछ सीमा तक वे आवश्यक तो हैं पर दिग्भ्रान्त

मनुष्य साधनों को ही साध्य मान कर उनमें भटक जाता है । वस्तुतः जीवन में दोनों का ही समुचित समन्वय करना पड़ता है । एक चित्रकार अपनी रचना में कला एवं सौन्दर्य का समावेश कर ही उसे सर्वश्रेष्ठ बना पाता है । भौतिक जगत यदि कला है तो आत्मिक जगत सौन्दर्य । पहला पक्ष तो वहाँ तक जरूरी है जहाँ तक शरीर निर्वाह के लिए साधनों की आवश्यकता है । दूसरा पक्ष अपने आपको समग्र बनाने, आत्मिक उत्कर्ष द्वारा चरम लक्ष्य पाने के लिए आवश्यक है । जिन्हें आत्मिक जगत की सम्पदा को पाने में रुचि बढ़ती है वे ही धन्य होते हैं और शरीर की दृष्टि से तृप्ति, ज्ञान की दृष्टि से तुष्टि और आत्मा की दृष्टि से शान्ति का अमूल्य वैभव पाने में सफल होते हैं ।

याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद महर्षि याज्ञवल्क्य अपनी सम्पत्ति दोनों पत्नियों में बराबर-बराबर बाँटकर गृहत्याग के लिए उद्यत हुए । मैत्रेयी को सन्तोष नहीं हुआ । वह पूछ ही बैठी-"भगवन् ! क्या मैं इस सबको ले जीव मुक्ति का लाभ प्राप्त कर सकूँगी ?" महर्षि ने कहा-"साधन-सुविधा सम्पन्न सुखी जीवन जैसा अब तक चला है आगे भी चलता रहेगा और अन्य सांसारिक लोगों की तरह तुम भी जीवन सुखमय बिता सकोगी ।

मैत्रेयी का अन्तर्द्वन्द्व शान्त नहीं हुआ, वे बोली-

"येनाहंनामृता स्याम् किमहं तेन कुर्याम् ।"

"जिससे मुझे अमरत्व प्राप्त न हो उसे लेकर मैं क्या करूँगी ?" यह पूछा जाने पर कि वे क्या चाहती हैं-मैत्रेयी ने महर्षि के चरणों में शीश झुकाते हुए कहा-

"असतो मा सदगमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्माऽमृतं गमय ।"

"हे प्रभो ! रुद्र बनकर मेरे अन्तः के अन्धकार को नष्ट कर दें । मुझे भी आप अपने आत्मिक पुरुषार्थ का सहभागी बनायें ।"

कात्यायनी ने भौतिक सुख सम्पत्ति-ऐश्वर्य को वरीयता दी और उसे पाया । मैत्रेयी चाहती थी उस परम-तत्व का साक्षात्कार, एकानुभूति, नित्य-दर्शन जो सत्य, ज्योतिर्मय स्वरूप है, जो उसके जीवन का चिर प्रकाश बन सके । याज्ञवल्क्य ने प्रसन्नचित्त हो मैत्रेयी को ब्रह्मज्ञान की शिक्षा दी । उसे पति के साथ श्रेष्ठ ऋषि पद मिला ।

हम भी जीवन भर नाना प्रकार के ऐश्वर्य एकत्र करते हैं व अन्तः में स्थित 'मैत्रेयी', 'कात्यायनी' को सौंपते हुए कहते हैं-लो ! इससे तुम्हें प्रसन्नता होगी, आनन्द मिलेगा, किन्तु अन्तः में बैठी यह मैत्रेयी आत्मिक प्रगति की ओर अग्रसर व्यक्ति से पूछती है-*'येनाहं नामृता स्याम् किमहं तेन कुर्याम् ।'* इस प्रार्थना को हम एकाग्रता के साथ सुनें व उसकी इच्छा पूर्ति करें तो कोई कारण नहीं कि यह जीवन अमृतमय न बन जाय ।

प्रह्लाद का चयन-प्रभुनिष्ठा प्रह्लाद हिरण्यकश्यप के पुत्र थे । पुत्र को सभी वैभव-असुर संस्कृति के अनुकूल मिले-इसकी सारी व्यवस्था करायी गयी । पर प्रभु भक्ति को ही अपना लक्ष्य मान उन्होंने उस प्रतिकूल वातावरण में भी आत्मिक सम्पदा अर्जित करने का पुरुषार्थ किया । जब बेटा ही विषयासक्ति के विरुद्ध हो भगवान की, आदर्शों की स्तुति पिता के समक्ष करने लगा तो वह असुर उसे मारने को उद्यत हुआ । सारी माया का प्रयोग कर वह उसे पराजित न कर पाया और अवतार का संकल्प लिए स्वयं नृसिंह भगवान को असुर का वध करने आना पड़ा । यह है आत्मिक पुरुषार्थ की महिमा ।

विक्रमादित्य : राज्य त्याग में सुख क्यों राजा विक्रमादित्य के राज्य में एक सदाचारी, सन्तोषी ब्राह्मण रहता था । वह निर्धन था । स्त्री की प्रेरणा से धन प्राप्ति के निमित्त घर से निकला तो जंगल में एक महात्मा से भेंट हुई । उन्होंने उसे चिंतित देख आश्वासन दिया और विक्रमादित्य को पत्र लिखा कि तुम्हारी इच्छा पूर्ति का अब समय आ गया है । अपना राज्य इस ब्राह्मण को देकर यहाँ चले आओ ।

वह पत्र विक्रमादित्य ने पढ़ा तो उन्हें बड़ी प्रसन्नता हुई और ब्राह्मण को राज्य सौंपने की तैयारी की । ब्राह्मण ने राजा को राज्य-त्याग के लिए इतना उत्सुक और अत्यन्त आनन्दविभोर देखा तो सोचने लगा कि जब राजा ही राज्य सुख को लात मारकर योगी के पास जाने में विशेष आनन्द अनुभव कर रहे हैं तो योगी के पास अवश्य ही कोई राज्य से भी बड़ा सुख है । अतः उसने राजा से कहा कि -"महाराज ! मैं अभी महात्माजी के पास पुनः जा रहा हूँ, लौटकर राज्य लूँगा ।" यह कह कर योगी के पास पहुँचकर बोला कि 'भगवन् ! राजा तो राज्य-त्याग कर आपके पास आने

के लिए नितान्त उतावला और हर्ष विभोर हो गया । इससे जान पड़ता है कि आपके पास राज्य से भी बड़ी कोई वस्तु है, मुझे वही दीजिए ।'

महात्मा ने प्रसन्नचित्त हो ब्राह्मण देवता को आत्मविद्या सिखाई और उसे वह वैभव दे दिया जो उसे मोक्ष दिला गया । उस सुख की तुलना में सारे सांसारिक सुख नगण्य हैं ।

जो आत्मावलम्बी बहुरंगीय दुनिया के सुख-आकर्षणों को ठुकराता है, अन्ततः वही इस श्रेय का भागी बनता है । जो क्षणिक सुख लाभ के मोह में उन्हीं में लिप्त हो जाते हैं वे अन्ततः त्रास ही पाते हैं, भले ही उन्हें उसमें तात्कालिक दृष्टि से सुख मिलता हो । उनकी उपमा तो उस बालक से ही दी जा सकती है जो खिलौनों से खेलकर सामयिक आनन्द पाने में ही रुचि लेता है । आयु की दृष्टि से बड़े होने पर भी ऐसे मन्द बुद्धि बालकों का अनुपात जन समुदाय में अधिक ही होता है ।

बहिर्मुखाः जनाः सर्वे भ्रमजालेषु पाशिताः ।
अन्तर्मुखाश्च तथ्यज्ञा सत्यं श्रेयः श्रयन्त्यलम् ॥ ४८॥

टीका-बहिर्मुखी-भ्रम जंजालों में उलझते हैं । अन्तर्मुखी-तथ्यों को समझते, सत्य को अपनाते और श्रेय पाते हैं ॥ ४८ ॥

व्याख्या-जैसा कि पहले ऋषि श्रेष्ठ ने स्पष्ट किया है-भौतिक जगत और आत्मिक जगत दोनों ही क्षेत्रों में समुचित समन्वय स्थापित कर मनुष्य आत्मोत्थान का पथ प्रशस्त कर सकता है परन्तु ऐसे व्यक्ति जो बाह्य आकर्षणों से विरत हो, अपने आपको आत्मिक पुरुषार्थ में नियोजित कर दें, कम ही होते हैं । इसी आधार पर वे बहिर्मुखी और अन्तर्मुखी दो समूहों में जन समुदाय को विभाजित करते हैं । पहले भटकते हैं, दूसरे राह खोजते हैं व अनेक को राह दिखाते हैं । एक सन्त ने इनकी बड़ी सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत उपाख्यान में की है ।

सूप बने या चलनी

संसार में दो प्रकार के स्वभाव वाले मनुष्य पाये जाते हैं कुछ तो सूप की तरह स्वभाव वाले होते हैं और कुछ चलनी की तरह । सूप जिस प्रकार भूसी इत्यादि असार वस्तुओं का त्याग करके सारयुक्त वस्तुओं को ग्रहण करता है जैसे अनाज इत्यादि । उसी प्रकार कुछ लोग संसार की असार वस्तुओं (कामिनी-कांचन आदि) को छोड़कर सारयुक्त बात अर्थात् भगवान को ग्रहण करते हैं । चलनी जिस प्रकार सार युक्त वस्तुओं को निकाल कर असार वस्तुओं को अपने में रख लेती है, उसी प्रकार संसार के कुछ पुरुष सार-युक्त वस्तु ईश्वर का त्याग कर कामिनी-कांचनादि को ग्रहण करते हैं ।

बहिर्मुखी व्यक्ति का चिन्तन हर वस्तु के प्रति एवं अपने जीवन क्रम के प्रति भी एकांगी होता है । वे आत्म-शोधन से अधिक बाह्य उपचारों को प्रधानता देते देखे जाते हैं ।

तीर्थयात्री कमण्डल कड़वा

महाभारत समाप्त होने के उपरान्त धर्मराज युधिष्ठर ने तीर्थयात्रा करने का निश्चय किया, साथ में चारो भाई-अर्जुन, भीम, नकुल, सहदेव और द्रोपदी भी थीं । प्रस्थान करने से पूर्व वह भगवान कृष्ण के पास भी गये और उनसे साथ चलने का आग्रह किया । कृष्ण को उस समय कुछ आवश्यक कार्य थे । अतः तीर्थयात्रा में साथ न जा सके, पर सुखद यात्रा की कामना करते हुए उन्होंने अपना कमण्डल अवश्य दे दिया और यह कहा, "जहाँ-जहाँ तीर्थ स्थानों, नदियों और सरोवरों में स्नान करने का आपको अवसर मिले वहाँ-वहाँ इस कमण्डल को भी उनमें डुबा लेना ।" युधिष्ठिर कमण्डल लेकर सपरिवार तीर्थयात्रा को चल पड़े । काफी दिनों के बाद वापस लौटे और कृष्ण को उनका कमण्डल देते हुए कहा-'आपकी आज्ञानुसार जहाँ मैंने स्नान किया वहाँ इसे भी पानी में डुबोया है ।'

'यही तो मैं चाहता था ।' इतना कहकर कृष्ण ने उस कमण्डल को जमीन में पटक कर टुकड़े-टुकड़े कर दिये और प्रसाद रूप में एक-एक टुकड़ा वहाँ उपस्थित सभी लोगों को वितरित कर दिया । जिसने भी प्रसाद चखा उसका मुँह खराब हो गया । लोगों को थूकते हुए तथा मुँह बनाते हुए देखकर कृष्ण ने धर्मराज से पूछा-'यह इतने तीर्थों में घूमकर आ रहा है और अनेक स्थानों पर स्नान भी किया है फिर भी इसका कड़वापन दूर क्यों नहीं हुआ ?'

'आप भी कैसी अजीब बात करते हैं कृष्ण, कहीं धोने मात्र से कमण्डल का कड़वापन निकल सकता

है ?' धर्मराज ने उत्तर दिया । भगवान कृष्ण ने समाधान करते हुए कहा-'यदि ऐसा है तो तीर्थ स्नान का बाह्योपचार मात्र करने से अन्तः का परिष्कार, धुलाई-मार्जन कैसे हो सकता है ?' धर्मराज ने अपनी गलती सुधारी और आत्म-शोधन की-अन्तर्मुखी होकर आत्म पर्यवेक्षण की गरिमा को जाना ।

कभी-कभी आत्मिक विभूतियों की गरिमा को न जानने वाले भी बहिर्मुखी बनकर भटक जाते हैं ।

हाथी मारा, जिलाया, क्या मिला ?

बारह वर्ष तक तप करने के उपरान्त साधक घर लौटा तो जिज्ञासुओं की भीड़ एकत्र हो गई । सभी जानना चाहते थे कि इतने दिन में उन्हें क्या-क्या सिद्धि मिली । साधक ने कहा-'अभी दिखाता हूँ ।' यह कहकर उसने जल लेकर मन्त्र पढ़ा और एक हाथी के ऊपर छिड़क दिया । बात की बात में हाथी की मृत्यु हो गई । साधक ने दुबारा जल लिया और फिर मन्त्र पढ़कर मृत हाथी के शरीर पर जल छींट दिया । अभिमंत्रित जल के छींटे पड़ते ही हाथी पुनः जी उठा । यह देखते ही लोगों ने करतल ध्वनि की और साधक की खूब जय-जयकार हुई ।

साधक का पिता भी वहीं उपस्थित था, उसने कहा-'वत्स ! अच्छा अब यह तो बताओ इस सिद्धि से तुम्हें क्या मिला ?' साधक चुप था । उससे कोई उत्तर देते न बन पड़ रहा था । पिता ने कहा-'बेटा ! जितने दिन चमत्कार के चक्कर में रहे, अगर अपने परिवार और संसार की सेवा करते तो उससे अपना भी भला होता और संसार का भी । आत्मिक विभूतियों का यदि तुमने सदुपयोग किया होता तो तुम्हारी १२ वर्ष की साधना सार्थक हो गई होती ।' साधक मर्म को समझकर अन्तर्मुखी हो अपनी विभूतियों का समाज हित में उपयोग करने लगा ।

उद्देश्य चुनो, स्थिर रहकर करो

एक लड़के ने एक बहुत धनी आदमी को देखकर धनवान बनने का निश्चय किया । कई दिन तक वह कमाई में लगा रहा और कुछ पैसे भी कमा लिए । इसी बीच उसकी भेंट एक विद्वान् से हुई । अब उसने विद्वान् बनने का निश्चय किया और दूसरे ही दिन से कमाई-धमाई छोड़कर पढ़ने में लग गया । अभी अक्षर अभ्यास ही सीख पाया कि उसकी भेंट एक संगीतज्ञ से हुई । उसे संगीत में अधिक आकर्षण दिखाई दिया, अतः उस दिन से पढ़ाई बन्द कर दी और संगीत सीखने लगा । कुछ दिन बाद यह भी छोड़कर नेतागीरी करने लगा ।

काफी उम्र बीत गई, न वह धनी हो सका, न विद्वान्, न संगीत सीख पाया और न नेता बन सका । तब उसे बड़ा दुःख हुआ । एक दिन उसकी एक महात्मा से भेंट हुई । उसने अपने दुःख का कारण बताया । महात्मा मुस्करा कर बोले-'बेटा ! दुनियाँ बड़ी चिकनी है, जहाँ जाओगे कोई न कोई आकर्षण दिखाई देगा । एक निश्चय कर लो और जीते-जी उसी पर अमल करते रहो तो तुम्हारी उन्नति अवश्य हो जायेगी । बार-बार रुचि बदलते रहने से कोई भी उन्नति न कर पाओगे । युवक समझ गया और अपना एक उद्देश्य निश्चित कर उसी का अभ्यास करने लगा ।

अन्तर्जगत उत्थानं पर्यवेक्षणमेव च ।
आत्मविज्ञानमस्त्यस्मिन्नुपलब्धिर्यथा-यथा ॥ ४९ ॥
यस्य तत्क्रमतोगृह्णन्नृषीणां भूमिकामपि ।
देवदूतावताराणां महामानवरूपिणाम् ॥ ५० ॥
सफलं मानवं जन्म स्वं करोति तथा चसः ।
कल्याणमार्गं जगतः प्रशास्ति च महामुने ॥ ५१ ॥

टीका-अन्तर्जगत् का पर्यवेक्षण और अभ्युत्थान ही आत्म-विज्ञान है । जिसे यह उपलब्धि जितनी मिल सकी, वह उसी क्रम में महामानवों, ऋषियों, देवदूतों और अवतारियों की भूमिका निभाते हुए मनुष्य जन्म को सार्थक करता है तथा जगत् के कल्याण का मार्ग भी प्रशस्त करता है ॥ ४९-५१ ॥

व्याख्या-आत्मविवेचन ऋषि प्रणीत विद्या है । अपने अन्दर झाँककर आत्म निरीक्षण, विश्लेषण तथा तदुपरान्त विकास का पथ खोज लेना ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है । मात्र निरीक्षण ही काफी नहीं, उस क्षेत्र में आगे कैसे बढ़ा जाय ? यह प्रश्न महत्वपूर्ण है । हममें से अधिकांश ऐसे हैं जो बहिरंग तक ही उलझे रहते हैं-कभी अन्दर झाँकते भी नहीं ।

सुन्दरता शरीर या आत्मा की ?

शरीर तथा आत्मा में परस्पर सम्वाद चल रहा था । शरीर ने कहा-'मैं कितना सुन्दर हूँ, आकर्षक व बलवान हूँ ।' आत्मा बोली-'तुम अपनी अपेक्षा मुझे अधिक सुन्दर, आकर्षक व बलवान बना दो, तुम्हारी ये विशेषतायें मेरे सुन्दर हुए बिना क्षणिक ही हैं । मुझे सुन्दर बनाकर तुम भी शाश्वत सौन्दर्य से युक्त हो जाओगे ।' किन्तु शरीर की समझ में कुछ न आया । वह आकर्षणों में उलझा जीवन समाप्त करता रहा । शरीर से आत्मा के विच्छेद का समय आ पहुँचा, अब शरीर को ज्ञात हुआ कि यदि आत्मा को भी उसने सुन्दर बनाया होता, शक्ति दी होती तो उसका स्वरूप भी निखर गया होता-मरने के बाद भी उसे याद किया जाता । चलते समय आत्मा बोली-'मैं तो जाती हूँ । यदि तुम पहले से चेते होते, प्राप्त अधिकार का सदुपयोग कर अपने अन्तः को सुन्दर बनाते तो अमर हो जाते-महामानव कहलाते ।' शरीर सिर धुनता रहा, विदा हो गयी आत्मा नया शरीर पाने को ।

उपगुप्त का सौन्दर्य बोध

वासवदत्ता अपने समय की श्रावस्ती की अनिंद्य सुन्दरी नगर वधू थी । सारा कुलीन समुदाय उसे पाने को भौंरे की तरह मँडराता । भिक्षु-उपगुप्त उन दिनों महान् तपस्वी ही नहीं सौन्दर्य और सौष्ठव की प्रतिमूर्ति भी थे । वासवदत्ता केवल उन्हें ही चाहती थी, किन्तु आत्मा के उपासक उपगुप्त पर उसका कुछ भी प्रभाव न पड़ा । जीवन के उत्तरकाल में वृद्धा वासवदत्ता बीमार हो गई । तब एक दिन उपगुप्त उधर पहुँचे । वासवदत्ता उन्हें देखकर बोली-'तात ! आप अब आये हैं, जब मेरे पास आपके लिए कुछ बचा नहीं ।'

आत्म ज्ञानी उपगुप्त की आँखें उमड़ पड़ीं उन्होंने अत्यन्त आदर और स्नेह पूर्वक वासवदत्ता से कहा-'भद्रे ! सौन्दर्य तो आत्मा का होता है और वह अविनाशी है ।' यह कहकर वे उसकी सेवा में जुट गये ।

तुलाराम बने तुलसीदास

ऐसा ही बोध तुलसीदास जी को रत्नावली ने कराया था । इससे पूर्व वे तुलाराम थे जो पत्नी के प्रति आसक्तिवश कामातुर हो उसके नैहर पहुँच गये । विवेक इतना खो बैठे कि उससे छिपकर मिलने का प्रयास किया । धिक्कारते हुए वह कह उठी-

हाड़-माँस की देह मम, तापर जितनी प्रीति । तिसु आधो जो राम प्रति, अवसि मिटिहिं भवभीति ॥

अर्थात् 'माँस-हड्डियों से बनी इस काया पर तुम्हारी जितनी आसक्ति है उससे आधी भी यदि राम के प्रति होती तो भव-बन्धन से ही छूट जाते ।' यही बात उनके अन्तःकरण को छू गयी तथा वे वहाँ से चले आये । जीवन को मोड़ मिला । अन्तः का बोध हुआ और वे तुलसीदास बन गये । रामचरित्र को लेखनी द्वारा उन्होंने जन-जन तक पहुँचाया और ऐसी समग्र विचार-क्रांति कर सकने में सफल हुए जिसने सारे विश्व को राम अवतार के माध्यम से आध्यात्मिक शिक्षा दी । उनकी कृति उन्हें हमेशा-हमेशा के लिए अमर बना गयी ।

अधकचरा ज्ञान भटकाता ही है । जब तक अपने अन्दर झाँककर अपनी समीक्षा नहीं की जाती, तब तक 'ब्रह्मज्ञान' की चर्चा मात्र कौतुक तक ही सीमित रहती है ।

पक्षी चुगाने वाले की सीख

महिषपुर नगर में रविदत्त नामक एक व्यक्ति रहता था । अपने पशुओं को चराता व गृहस्थी में व्यस्त रहता था । विद्वानों का एक समूह तीर्थाटन करते गाँव में आया । सामूहिक उद्बोधन में वे बोले-'क्यों इन व्यर्थ के बखेड़ों में तुम सब अपना जीवन नष्ट कर रहे हो । व्यर्थ संचय न करो । परलोक की तैयारी करो ।' रविदत्त ने उपदेश का प्रारम्भिक आधा भाग ही सुना और ब्रह्मज्ञान प्राप्ति की लालसा से घर से निकल भागा । घाटियाँ, वन, उपत्यिकाएँ पार कर एक सन्त के पास पहुँचा जो चिड़ियों को दाने चुगा रहे थे ।

बड़ी देर तक उनने ध्यान नहीं दिया, वह झुँझला उठा-"आप कैसे सन्त हैं । हम कब से खड़े आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं । हमें भी ब्रह्मज्ञान दीजिए ।" अनाज की टोकरी उसके हाथ में थमा सन्त बोले-"आओ ! तुम भी इन्हें दाना चुगाओ । यह मस्ती व आनन्द का साम्राज्य देखो ।" रविदत्त आपा खोकर सन्त को भला-बुरा कहने लगा । तब बिना किसी उत्तेजना के उन्होंने उसे अपनी बाहों में भर लिया वे । बोले-"भाई ! जिसे तुम खोज रहे हो-वह शास्त्रों, उपदेशों में नहीं है । उसे तो तुम आपा खोकर खो ही रहे हो । फूलों की सुगन्ध और अग्नि की ऊष्मा की तरह आनन्द तो तुम्हारे भीतर कैद है । उसे कैद से मुक्त करो, खिलो और अपना सौरभ, हँसी सबको बाँटो । कर्तव्यपालन के द्वारा इस सृष्टि के सौन्दर्य को बढ़ाओ । अपने को रीता कर दो, तब आनन्द का समुद्र तुम्हें अपने ही भीतर लहराता मिलेगा ।"

पहले अन्दर झाँकें फिर उपदेश सुनें

राजा उदावर्त्त बहुमूल्य रत्नराशि लेकर महर्षि कणाद के आश्रम पहुँचे और उनसे ब्रह्मविद्या का उपदेश करने की प्रार्थना की । महर्षि ने धन को अस्वीकार कर उनसे एक वर्ष बाद पुनः आने पर उपदेश की सम्भावना व्यक्त की और कहा-'इस बीच आप अन्तर्मुखी होने की साधना करें । वृत्तियों से अपना मुँह मोड़ें ।'

राजा निराश लौटे, बुरा भी लगा और क्षुब्ध भी थे । मन्त्री श्रुतकीर्ति ने उनकी खिन्नता दूर करते हुए कहा-"राजन ! भूखे को ही अन्न पचता है । जिज्ञासु को ही ज्ञान का लाभ मिलता है । ऋषि ने एक वर्ष की साधना देकर आपकी जिज्ञासा को परखा है । अनाधिकारी में ज्ञान को पचाने की सामर्थ्य नहीं होती । मनोरंजन के लिए कुछ कहने में समय की बर्बादी समझकर ऋषि ने आपको लौटाया है । उसमें बुरा न मानें ।"ऋषि का अभिप्राय उदावर्त्त की समझ में आया । एक वर्ष ब्रह्मचर्य पालन कर अपनी वृत्तियों पर नियंत्रण कर आत्मिक ज्ञान के अधिकारी बन कर वे आश्रम पहुँचे तो कणाद ने उन्हें गले से लगा लिया, वे बोले-'धैर्यवान, श्रद्धावान जिज्ञासु ही ब्रह्मज्ञान के अधिकारी होते हैं । अब आप ब्रह्मविद्या का लाभ उठा सकेंगे ।'

जिज्ञासायाः समाधानं त्वेकमेवास्ति तात ! यत् ।
स्वतन्त्रो मानवः स्वस्यां प्रगतौ दुर्गतौ भृशम् ॥ ५२॥
वृत्वा स्वयमनौचित्यमात्मने स विषद्रुमम् ।
स्थिरयत्यात्मनो यस्य गौरवे विपुला रुचिः ॥ ५३॥
आत्मनिर्माणरूपे यः पुरुषार्थे रतस्तथा ।
सन्मार्गे साहसं गन्तुं तस्य पातो न सम्भवः ॥ ५४॥

टीका-हे तात ! आपकी जिज्ञासा का समाधान एक ही है कि मनुष्य को अपनी प्रगति और दुर्गति की पूरी छूट मिली है । अनौचित्य का वरण करके वह अपने लिए स्वयं ही विष-वृक्ष रोपता है । जिसे आत्म गौरव का चाव है, जो आत्म-निर्माण रूपी पुरुषार्थ में रत रहता है, जिसमें सन्मार्ग पर चलने का साहस है, उसका कभी पतन-पराभव नहीं होता ॥ ५२-५४॥

व्याख्या-जिसे वास्तव में आत्मगरिमा के प्रति रुझान होता है, वही सत्साहस अपनाता है और प्रगति की दिशा में आगे बढ़ पाता है । यह छूट पूरी तरह से ईश्वर की ओर से मिली है कि मनुष्य किस मार्ग पर चले । अपना पतन रोकना अपने ही बस की बात है । वरण जिसने जो किया वह वैसा ही बन गया ।

आत्मगरिमा के श्रेयाधिकारी किन्हीं भी परिस्थितियों में अपनी आन्तरिक महानता भूलते नहीं । वह प्रवाह सहज ही उन्हें उत्कृष्टता की ओर खींच ले जाता है ।

धर्मराज नर्क के लिए तैयार

युधिष्ठिर को एक झूठ बोलने के कारण कुछ समय के लिए नरक भुगतने का दण्ड मिला था । जब वे नरक में पहुँचे तो वहाँ का दृश्य देख काँप उठे । इतने ही में उन्हें नरक में कष्ट भुगत रहे अपने भाईयों, स्वजनों व अन्य प्राणियों का आर्त्तनाद सुनाई दिया-"हे धर्मराज ! कुछ देर और ठहर जाइये । आपके स्पर्शमात्र से जो हवा आ रही है उससे हमारे दग्ध तन को शीतलता मिली है । हमें कुछ क्षण के लिए शांति मिली है ।" धर्मराज विस्मित हो देवदूत से बोल उठे-"यदि ऐसा है तो मैं स्वर्ग छोड़कर नरक में निवास करने को तैयार हूँ । यदि मेरे अर्जित पुण्य यहाँ भी किसी का भला कर सकते हों तो इससे बड़ा पुण्य क्या हो सकता है ?" उनके इतने कथन मात्र से ही शेष नरक की अवधि स्वतः काट दी गयी और भाईयों, स्वजनों सहित वे स्वर्ग के अधिकारी बने ।

घिसाई पिटाई का लाभ

एक पत्थर पानी में पड़ा घिसाई के लिए इन्कार कर देता है व वहीं उपेक्षित पड़ा रहता है । दूसरा घिसते-घिसते शिवलिंग का रूप ले लेता है एवं मन्दिर में प्रतिष्ठित हो अभिनन्दनीय बनता है । रचना की दृष्टि से दोनों में कोई अधिक अन्तर नहीं है । भिन्नता है तो उस समर्पण भाव की जो उसे सत्कार्य के लिए बलि होने को प्रेरित करता है ।

एक धातु का टुकड़ा अपना अस्तित्व बनाये रखने की संकीर्णता बरतता है, पिटाई से इन्कार कर देता है तो

किसी के काम नहीं आता है व उपेक्षा अवहेलना का पात्र बनता है । दूसरा अन्य विजातीय धातुओं को भी अपने में मिला लेता है व पिटाई, गलाई, ढलाई के लिए तत्पर हो जाता है, कीमती आभूषण बनकर सुसज्जित होता है ।

धर्मोपदेशक का स्तर

भिक्षु पूर्ण ने तथागत से जन समाज में धर्मोपदेश करने की आज्ञा माँगी । भगवान् बुद्ध ने शिष्य से कहा-'वत्स ! वहाँ के लोग बड़े कठोर है, तुम्हें गालियाँ देंगे ।' शिष्य ने कहा-'भगवन् ! फिर भी अच्छा है कि वे मारेंगे तो नहीं ।' और 'यदि मारने ही लगें तो ?' 'तो क्या हुआ भगवन् ! वे मेरे प्राण तो न ले लेंगे ।' 'कदाचित् ऐसा ही हो गया तो ?' बुद्ध ने पूछा । 'भगवन् ! यह शरीर परोपकार में नष्ट हो जाय तो यह जीवन सार्थक ही होगा ।' पूर्ण का उत्तर सुनकर भगवान् बुद्ध बहुत प्रसन्न हुए । बोले-"जाओ वत्स ! धर्म तुम्हारी अवश्य रक्षा करेगा । लोक सेवी में ऐसा ही सत्साहस होना चाहिए ।"

अंगद द्वारा उचित का वरण

कई बार ऐसे अवसर आते हैं कि मनुष्य के विवेक को परीक्षा की कसौटी से गुजरना पड़ता है । वहीं ज्ञात होता है कि वह अनुचित को नहीं, उचित को चाहता है और उस पर चलने को दृढ़ संकल्पित है । अंगद के साथ ऐसा ही हुआ ।

रावण की भरी सभा में अंगद अपना पैर चट्टान की भाँति जमाकर खड़े थे । सभी योद्धाओं ने पैर हटाने का प्रयत्न किया पर असफल रहे । अन्ततः रावण उठा । अंगद का पैर पकड़ने वाला ही था कि वे बोले, 'रावण मेरा पैर पकड़ने से कुछ नहीं होगा-उस भगवान का पकड़ो जो सर्व-समर्थ है, सबका स्वामी है । तुम्हारा उद्धार उसी से होगा ।'

प्रह्लाद ने भी सन्मार्ग का वरण किया । इसके लिए उसे अपने पिता से भी संघर्ष करना पड़ा ।

हिरण्यकश्यप ने प्रह्लाद से कहा-'तुम भी मेरी तरह धन सम्पत्ति अर्जित करो-मैं तुम्हारा पिता हूँ, मेरी हर बात तुम्हें माननी चाहिए ।'

प्रह्लाद ने उत्तर दिया-'पिता के नाते आप मुझसे शारीरिक सेवा ले सकते हैं पर आपकी अनुचित बातों का समर्थन करूँ-यह मुझसे नहीं होगा ।' उन्होंने अपार संकट सहे पर अनौचित्य से कभी सहमत नहीं हुए ।

अनौचित्य की अवज्ञा पारिवारिक सम्बन्धों और मर्यादाओं से महत्वपूर्ण है ।

सामान्यास्तु जनाः सर्वे गृह्णन्तो दूरदर्शिताम् ।
विवेकं संत्यजन्तश्चाकर्षणेषु भ्रमद्धियः ॥५५॥
कुमार्गगामिनो भूत्वा दुरूहां दुःखसन्ततिम् ।
सहन्ते, मौढ्यमायाया यदि मोक्तुं समे तु ते ॥५६॥
आत्मावलम्बिनां यादृक् साहसं तु विवेकिनाम् ।
लभ्येरंस्तेऽपि कुत्रापि ता विपत्तिविभीषिकाः ॥५७॥
द्रष्टुं नैव तु शक्ष्यामो दृष्टा मग्नास्तु यत्र ते ।
समाप्तिं नरकस्यायं हाहाकारो गमिष्यति ॥५८॥

टीका-सामान्य जन अदूरदर्शिता अपनाते, विवेक को छोड़ आकर्षणों में भटकते हैं । कुमार्गगामी बनकर दुरूह दुःख सहते हैं । यदि उन्हें इस मूढ़ता की माया से छूटने का अवसर और विवेकवान् आत्मावलम्बियों जैसा साहस मिल सके तो कहीं भी उन विपत्ति-विभीषिकाओं के दर्शन न हों जिनमें वे बुरी तरह धँसे-फँसे दृष्टिगोचर होते हैं । साथ ही नारकीय वातावरण का यह हाहाकार समाप्त हो जाय ॥५५-५८॥

व्याख्या-विवेक का आश्रय छोड़ना सबसे बड़ी भूल है । बौद्धिक परावलम्बन व्यक्ति को सामयिक आकर्षणों में ही रस ढूँढ़ने, आनन्द खोजने को विवश करता है, जबकि दूरगामी परिणामों की उसे कभी कल्पना भी नहीं होती ।

दूरदर्शिता और अदूरदर्शिता की दो चिन्तन धाराएँ सर्वविदित हैं । एक के अनुसार दूरगामी सत्परिणामों को ध्यान में रखते हुए ही निर्णय करने होते हैं । भविष्य में जिनकी प्रतिक्रिया दुःखद होनी है, उन्हें छोड़ना पड़ता है । दूरी मात्र मीलों की नहीं होती । समय के अन्तर को भी दूरी कहते हैं । जो गन्तव्य

स्थान तक पहुँचने पर मिलने वाले सुखद परिणामों की बात सोचता है, वह दूरदर्शी है । उसी प्रकार जो समयानुसार उत्पन्न होने वाले भले या बुरे परिणामों को ध्यान में रखते हुए आज की कार्य पद्धति का निर्धारण करता है-रीतिनीति अपनाता है उसे भी दूरदर्शी कहते हैं ।

जाल में फँसे पक्षी व बिल्ली की बन्दर-बाँट

जाल में फँसने वाले पक्षियों की ऐसी दुर्गति होती है कि देखते बनती है । दूर कौन उड़ कर जाये, कौन परिश्रम पूर्वक दाना चुगे । वे तो दाना ढूँढ़ने की तुलना में जाल पर बिखरे दानों को एक सौभाग्य जैसा मानते हैं और उससे लाभ उठाने में चूकने की बात नहीं सोचते । उन्हें यह सोचने की फुरसत नहीं होती कि लाभ उठाते समय उसके पीछे कोई दूरगामी संकट तो नहीं छिपा है, उसे भी देखने की आवश्यकता है । हर लोभी अधीर-आतुर होता है और तात्कालिक लाभ के कुछेक दाने चुग लेने के बाद उस पक्षी की तरह बेमौत मरता है जिसे सामने बिखरे आकर्षण के उपरान्त अन्य कोई बात सूझती ही नहीं ।

पूरी रोटी स्वयं ही खा जाने की फिराक में दो बिल्लियों में से प्रत्येक घाटे में रही । मिल-बाँटकर खातीं और सन्तोष-सहयोग का आश्रय लेकर प्रसन्न रहतीं तो कितना अच्छा होता । पर उनके लिए लालच से ऊपर उठकर कुछ स्वार्थ कुछ परमार्थ की न्यायोचित नीति अपनाना सम्भव न हो सका । लड़ी-मरीं । घायल हुईं और अन्ततः बन्दर बाँट करने की मूर्खता अपनाकर खाली हाथ घर लौटीं और देर से समझ आने पर उदास मन होकर पछताईं । हममें से कितने ही मात्र अपनी ही बात सोचते हैं । साथियों, सहयोगियों, समकालीनों को भी उपलब्धियों में हिस्सा देना है, इसके लिए रजामन्द नहीं होते । हाऊहड़प की आपाधापी आरम्भ में ही चतुरता लगती है पर इस विडम्बना को अपनाने में क्या कुछ पल्ले नहीं पड़ता है – इसके सम्बन्ध में उन्हें मूर्ख बिल्लियों की तरह ही खाली हाथ रहना और बेतरह पछताना पड़ता है ।

संकट भूला शहद चाटता पथिक

यह जानते हुए भी कि आकर्षणों में भटक कर दुर्गति ही होती है, सामान्यजन उस माया से छूटने का साहस जुटा नहीं पाते ।

एक घना जंगल था । उसके मध्य में यात्रियों के लिए एक पगडण्डी । पथिक अपने गन्तव्य पर पहुँचने के लिए लम्बे-लम्बे कदम रखता हुआ बढ़ा जा रहा था । जंगली हाथी ने राह रोकी । पथिक पर झपटा । उसे जान प्यारी थी, बचाव के लिए भागा और एक कुँए में जा गिरा ।

कुँए के अन्दर की दीवार से निकला हुआ एक पीपल का वृक्ष । पथिक के हाथ में वृक्ष की एक शाखा आ गई । चलो कैसे भी जान तो बची यहाँ हाथी न आ पायेगा । अब नीचे की ओर दृष्टि गई तो काल के रूप में साक्षात् मगर ही मुँह खोले पथिक की बाट जोह रहा था । डर के मारे दृष्टि नीचे से ऊपर कर ली ।

ऊपर मधुमक्खी का छत्ता । छत्ते से टपकता हुआ बूँद-बूँद मधु । पथिक को आनन्द आने लगा । नीचे मगर है-बिल्कुल भूल गया । इतने पर उसका ध्यान गया कि जिस डाल को वह पकड़े हुए है उसे दो चूहे कुतर रहे है, एक का रंग काला और दूसरे का सफेद ।

यह सब स्थितियाँ जीवन के स्वरूप को प्रकट करती हैं । वह हाथी काल था । मगर मृत्यु और टपकता हुआ मधु जीवन रस । दोनों चूहे दिन-रात के प्रतीक थे, जो उस वृक्ष को काट रहे थे । इतने पर भी अज्ञानी पथिक भविष्य के अन्धकार से बचने का उपाय न सोचकर मात्र मधु बूँदों में ही व्यस्त और मस्त हो रहा था ।

दूरदर्शिता के अवलम्बन के लिए जो साहस अन्तः से उभर कर आना चाहिए, वह बिना आत्मिक पुरुषार्थ के सम्भव नहीं । पतन तो सहज है पर ऊपर उठने के लिए पुरुषार्थ करना पड़ता है । धार में बहना तो सरल है पर चीर कर चलने के लिए हिम्मत चाहिए । इसके लिए अनुदान की याचना अथवा आशा लगाना व्यर्थ है ।

बालक – अपराधी बना

कुमार्गगामिता और अन्तः से उठकर आने वाले साहस का अभाव जीवन धारा मोड़कर व्यक्ति को कहाँ से कहाँ पहुँचा देता है ।

एक चित्रकार ने एक सुन्दर बालक का चित्र बनाया । वह चित्र इतना पसन्द आया कि उसकी लाखों प्रतियाँ बिक गयीं । पन्द्रह वर्ष के बाद वह दुष्टता के भाव प्रकट करने वाला एक चित्र बनाना चाहता था । कारागार जाकर एक खूंखार कैदी से बोला-'मैं तुम्हारा चित्र बनाना चाहता हूँ ।' कैदी ने पूछा-'क्यों ?' चित्रकार ने अपना विचार बताते हुए उसे 'बालक' का चित्र दिखाया । कैदी उस चित्र को देखकर रोने लगा और बोला-'यह चित्र

मेरा ही है ।' चित्रकार हतप्रभ रह गया और बोला-'यह कैसे हुआ ?' कैदी का उत्तर था-'सांसारिक आकर्षणों में भटककर अपना जीवन लक्ष्य भूलने से ।'

कुछ पतन के गर्त में जाकर भी महामानवों का अवलम्बन ले अपने आपको सुधार लेते हैं और मँझधार में अपनी नाव भी खे ले जाते हैं । आवश्यकता मात्र जीवन को उत्कृष्टता की ओर मोड़ देने भर की है ।

अशोक-अंगुलिमाल बदले

सम्राट् अशोक कलिंग विजय के बाद चक्रवर्ती शासक बन सुखोपभोग भी कर सकता था पर युद्ध के आर्त्तनाद ने उसका जीवन ही बदल दिया । उसने भगवान बुद्ध के प्ररिव्रज्या अभियान को आगे बढ़ाया, शांति पूर्ण साम्राज्य की स्थापना की, विश्वसंस्कृति को धर्म भावना से आलोकित कर दिया ।

अंगुलिमाल ने महानता के साथ जुड़कर क्रूरता छोड़ी और भिक्षु बना, तो आम्रपाली ने पतित-गर्हित जीवन बदला और शेष समय धर्म-संस्कृति के प्रसार-विस्तार में लगा दिया ।

असली स्वर्ण मिला-जीवन बदला

मूढ़ता की माया से आदमी अनायास कब छूट जाये, नहीं मालूम । महामानवों का सत्संग उपदेशों का श्रवण भी कभी-कभी पतनोन्मुख दिशा धारा को उलटा ही मोड़ देता व उन्हें सत्पथ पर चलने को विवश कर देता है ।

अवन्ति देश के कुररधर नगर में भिक्षु कोटिकर्ण का अमृत उपदेश चल रहा था । भिक्षु कोटिकर्ण अपना धन-वैभव को त्यागकर परिव्राजक बने थे । पहले वे इतने धनवान् थे कि कानों में एक करोड़ रु० मूल्य के कुण्डल पहना करते थे । जनता उन त्यागमूर्ति भिक्षु का उपदेश बड़ी तल्लीनता से सुन रही थी । श्रोताओं में श्राविका कार्तियानी भी बैठी थी । संध्या हो चली थी । उसने दासी को घर में दीप-बाती कर आने के लिए भेजा । दासी ने घर जाकर देखा कि चोरों ने सेंध लगा दी है और वे सारा स्वर्ण निकाल कर बाँध रहे हैं । दासी डरकर स्वामिनी के पास भागी । चोरों का सरदार उसे मारने के लिए पीछे से दौड़ा ।

दासी श्राविका कार्तियानी के पास पहुँच गई और उसे घटना बताई, किन्तु वह उपदेशामृत में इतनी मग्न थी कि दासी की बात न सुन सकी । दासी ने उसका कन्धा हिलाकर फिर कहा-'स्वामिनी, चोरों ने घर में सेंध काट दी है और वे सब स्वर्ण लूटे लिए जा रहे हैं ।'

श्राविका ने दुःखी होकर कहा-'तू मुझे क्यों व्यर्थ में दुःख दे रही है । चोरों को स्वर्णाभूषण ले जाने दे, वह स्वर्ण नकली है । देखती नहीं कि मैं दोनों हाथों वास्तविक स्वर्ण-वैभव बटोर रही हूँ, वह वैभव जिसे कोटिकर्ण महाराज ने असंख्यों का वैभव त्यागकर पाया है ।'

यह सुनकर चोरों के सरदार के ज्ञान-चक्षु खुल गये । वापिस आकर साथियों से कहा कि यह नकली स्वर्ण यहीं पड़ा रहने दो । चलो, भिक्षु कोटिकर्ण द्वारा बाँटी जा रही धर्म की वास्तविक सम्पदा प्राप्त करें, जिसके लिए श्राविका ने इस स्वर्ण की उपेक्षा कर दी है । सब चोर कुटी पर पहुँच कर और भिक्षु कोटिकर्ण का उपदेशामृत सुनकर कृतार्थ हो गये ।

महामनीषिणस्तत्वज्ञानिन एतदेव हि ।
आत्मतत्वं तु विज्ञातुमुद्बोद्धुं चास्य मूर्च्छनाम् ॥ ५९ ॥
प्रौढ़ं परिष्कृतं कर्तुं भजन्ते योग-साधनाम् ।
तपस्यायां रता हेम्नः परिष्कार इवास्ति यत् ॥ ६० ॥

टीका-तत्वज्ञानी-महामनीषी इसी आत्मतत्व को समझने, उसकी मूर्छना जगाने और उसे प्रौढ़-परिष्कृत करने के लिए योग-साधना करते और तपश्चर्या में निरत होते हैं । यह कार्य स्वर्ण को परिष्कृत करने जैसा है ॥ ५९-६० ॥

व्याख्या-चूँकि जन समुदाय मूढ़ता की माया से छूट नहीं पाता, प्रसुप्त स्थिति में पड़ा जीवन शकट खींचता रहता है, तत्वदर्शीगण उन्हें आत्मतत्व की गरिमा जानने का मार्ग बताते हैं । सोये को जगा लेना सबसे बड़ी उपलब्धि है । मात्र जागना ही काफी नहीं, साधना पुरुषार्थ भी किया जाना जरूरी है और शोधन हेतु तपश्चर्या भी । इससे कम में उन कुसंस्कारों से मुक्ति पाना संभव नहीं, जो कुहासे के रूप में, काली घटाओं के रूप में आत्मतत्व पर छाये रहते हैं ।

राजा चित्रकेतु की मृत पुत्र से वार्ता

चित्रकेतु एक राजा था, जिसे महर्षि अंगिरा की कृपा से एक सन्तान प्राप्त हुई थी । बच्चा अभी किशोर ही था कि उसकी मृत्यु हो गयी । राजा पुत्र-वियोग से बड़ा व्याकुल हुआ । अन्त में ऋषिदेव आये और उन्होंने दिवंगत आत्मा को बुलाकर शोकातुर राजा से वार्तालाप कराया । पिता ने पुत्र से लौटने के लिए कहा तो उसने जवाब दिया-'हे जीव ! मैं न तेरा पुत्र हूँ और न तू मेरा पिता । हम सब जीव कर्मानुसार भ्रमण कर रहे हैं । इसलिए तू अपनी आत्मा को पहचान । हे राजन् ! उसी से तू सांसारिक सन्तापों से छुटकारा पा सकता है । इसके लिए तू तप साधना कर ।' राजा आश्वस्त हुआ और शेष जीवन उसने आत्म-कल्याण की साधना में लगाकर आत्म-ज्ञान प्राप्त किया व जीवन-मुक्त हो गया ।

प्रस्तुत उदाहरण यह बताता है कि वास्तविक पुरुषार्थ आत्म-ज्ञान की प्राप्ति है । योग एवं तप इसी निमित्त किये जाते हैं । स्वयं का परिष्कार एवं अभ्यस्त कुसंस्कारों से जूझना ही तप है ।

भ्रूण नौ माह तक माता के गर्भ में पकता है । पेट के बच्चे को माँ गर्मी की, आहार की व्यवस्था अपने शरीर अनुदान द्वारा करती है । यह एक प्रकार का कायाकल्प है । योगी वन्य प्रदेशों में रहकर एकान्त सेवन तथा तप साधना आत्म परिष्कार व स्वयं को नये ढाँचे में ढालने के लिए करते हैं । गुरुकुल आरण्यकों में नई रीति-नीति अपनाने के लिए जीवन ढालने योग्य उपयुक्त तपोबलमय वातावरण दिया जाता है ।

आग की भट्टी में झोंके-तपाये शोधित किये बिना सोना कुन्दन नहीं बन सकता । स्वर्ण का परिष्कार सुनार की साधना है और उसे किये बिना उस स्वर्ण की कोई कीमत नहीं । फौलादी उपकरण लोहे को गलाये-तपाये बिना बन ही नहीं सकते ।

तप ईंटों, धातु, अन्न, औषधि आदि का

कच्ची मिट्टी से बनी ईंटें द्वारा विनिर्मित मकान वर्षा में गलने लगता है । पर यदि ईंटों को आग में पका लिया जाय तो वह भवन मजबूत बना वर्षों खड़ा रहता है ।

धातुएँ खदान से कच्ची अवस्था में निकलती हैं । भट्टी में तपाकर, मजबूत बनाकर ही उनसे औजार, अस्त्र-शस्त्र बन सकते हैं ।

कच्चा अन्न खा लेने से हर कोई उन्हें पचा नहीं सकता । उन्हें सुपाच्य उपयोगी बना लेने के पूर्व आग के सान्निध्य में लाना होता है ।

आयुर्वेद के रसायनवेत्ता कई प्रकार की गुणकारी भस्में बनाते हैं । अभ्रक भस्म, प्रवाल भस्म, लौह भस्म, स्वर्ण भस्म, बंग भस्म, स्थूल धातु की तुलना में कई गुना अधिक गुणकारी होती हैं, रोग निवारण एवं स्वास्थ्य-सम्वर्धन में प्रयुक्त होती हैं ।

पानी गरम करने से भाप बनती है । अनेकों प्रयोग कर उसे अत्यधिक शक्तिशाली बना लिया जाता है । दीपक की गर्मी ही प्रकाश में बदलती है । सामान्य वस्तु को असामान्य बनने का गौरव तभी मिल पाता है, जब वह अपने भीतर के कषाय-कल्मषों को जला डालने का अवसर देती है ।

भागीरथ द्वारा तप करके गंगा को धरती पर लाना, पार्वती का शिव से विवाह, ध्रुव का तप करके ब्रह्माण्ड का केन्द्र बनना, दधीचि की अस्थियों से वज्र बनना व उससे असुर संहार, विश्वामित्र का नई सृष्टि का निर्माण जैसी घटनाएँ तप की असीम सामर्थ्य व आत्मतत्व को प्रौढ़ परिष्कृत करने हेतु इसकी अनिवार्यता प्रतिपादित करती है ।

ब्रह्माजी ने यह सृष्टि तप के बल पर रची, शेषजी तपोबल के कारण ही पृथ्वी का भार उठा पाते हैं । सन्त ऋषियों ने सामान्य व्यक्ति से तप के सहारे ही महामानव बनने, विश्व व्यवस्था का उत्तरदायित्व सम्भालने का पुरुषार्थ सम्पन्न किया । देव पक्ष के लोगों ने आत्मिक और दैत्य वर्ग के समुदाय ने भौतिक बल प्राप्त करने में तप साधना का ही समान रूप से अवलम्बन लिया है ।

भगवान् राम और उनके तीन भाईयों को हिमालय की कन्दराओं में जाकर तप साधना करनी पड़ी है । भगवान् कृष्ण को सुसन्तति प्राप्त करने के लिए रुक्मणी सहित लम्बी अवधि तक बदरिकाश्रम रहना पड़ा था । स्वयंभू मनु और शतरूपा रानी के तप ने उन्हें राम जैसा पुत्र दिया । कश्यप और अदिति के तप से कृष्ण उनकी गोदी में खेले । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि तप द्वारा मनुष्य भगवान का पिता भी बन सकता है । तप से ही प्रसुप्ति से जागरण की परिस्थितियाँ बनती हैं ।

तप और शम से बुद्धत्व मिला

जब भगवान बुद्ध आत्मशान्ति की खोज में गृह त्याग कर निकले और आत्मा की प्राप्ति का मार्ग विभिन्न गुरुजनों से उन्होंने पूछा तो उनके अन्तः से आवाज आई "तप से अपने भीतर प्रकाश उत्पन्न कर ।"-तप और शम से मैं स्वयं ही तत्व को जानूँगा और उसे ग्रहण करूँगा-यह संकल्प उन्होंने लिया और वे आत्मबोध को प्राप्त कर बुद्ध कहलाये ।

राजा विश्वामित्र महर्षि बने

विश्वामित्र एक राजा थे । वशिष्ठ मुनि के आश्रम पर एक बार सेना सहित पहुँचे । अपनी कामधेनु की शक्ति से महर्षि ने उनका यथोचित सत्कार किया । उस गौ का प्रभाव देखकर राजा विश्वामित्र ने उसे लेना चाहा । स्वेच्छा से देने से इन्कार करने पर बलात् ले जाने लगे । कामधेनु ने महर्षि से अनुमति प्राप्त कर अपने शरीर से लाखों सैनिक प्रकट करके इनकी सेना को पराजित कर दिया । ब्रह्मतेज का यह बल देखकर उन्होंने क्षत्रिय धर्म त्यागकर ब्राह्मणत्व प्राप्त करने का निश्चय किया । दिशा धारा ही बदल गयी ।

"धिक् बलं क्षत्रिय बलं ब्रह्मतेजो बलं बलम् ।"

कहते हुए उन्होंने महान तप किया । बार-बार तप के नाश से भी वे निराश नहीं हुए । तपस्या के प्रभाव से वे इतने समर्थ हो गये कि दूसरी सृष्टि रचने लगे । ब्रह्मा ने उन्हें सृष्टि निर्माण कार्य से रोका, ब्राह्मणत्व का पद प्रदान किया और वशिष्ठ जी ने उन्हें 'ब्रह्मर्षि' स्वीकार किया ।

पात्रतायां विकासोऽयं ह्यनेकानेकसम्पदाम् ।
उपलब्धेर्विभूतीनां पन्थाश्च केवलः स्मृतः ॥ ६१ ॥

टीका-पात्रता का विकास ही अनेकानेक विभूतियों और सम्पदाओं की उपलब्धि का एक मात्र मार्ग है ॥ ६१ ॥

व्याख्या-आत्म तत्व को जगाने व तप पुरुषार्थ को करने के अतिरिक्त भी एक और पक्ष ऐसा रह जाता है जिसे छुए बिना आत्मिक सम्पदा प्राप्त नहीं होती । पात्रता वह पारस है जो अनगढ़ सी धातु को स्वर्ण बना देती है । इसी के बदले दैवी अनुग्रह बरसता है-बिना माँगे मिलता है ।

भौतिक क्षेत्र की तुलना में अध्यात्म के प्रतिफल कई गुने अधिक महत्वपूर्ण सामर्थ्यवान और चमत्कारी हैं । किन्हीं-किन्हीं महापुरुषों में उन चमत्कारी विशेषताओं को देख एवं सुनकर हर व्यक्ति के मुँह में पानी भर आता है तथा उन्हें प्राप्त करने के लिए मन ललचाता है, पर अभीष्ट स्तर का आत्मिक पुरुषार्थ न कर पाने के कारण उस ललक की आपूर्ति नहीं हो पाती । पात्रता के अभाव में अधिकांश को दिव्य आध्यात्मिक विभूतियों से वंचित रह जाना पड़ता है जबकि पात्रता विकसित हो जाने पर बिन माँगे ही वे साधक पर बरसती हैं । उन्हें किसी प्रकार का अनुनय-विनय नहीं करना पड़ता है । दैवी शक्तियाँ परीक्षा तो लेती हैं, पर पात्रता की कसौटी पर खरा सिद्ध होने वालों को मुक्तहस्त से अनुदान भी देती हैं । मिलता उन्हें ही है जो लौकिक कामनाओं, ऐषणाओं से मुक्त हैं, निस्पृह और उदार हैं ।

समान धर्मी का आकर्षण

पेड़ अपनी आकर्षण शक्ति से बादलों को खींचते हैं और बरसने के लिए विवश कर देते हैं । खदानें अपने सजातीय कणों को दूर-दूर तक आमंत्रण भेजती हैं और उन्हें अपने निकट खींच बुलाती हैं । यह चुम्बकत्व है जो जहाँ जितना अधिक होगा, सजातीयों को उसी स्तर का आह्वान निमंत्रण मिलेगा । खिलते फूल का चुम्बकत्व मधुमक्खियों, तितलियों, भौंरों को आमंत्रण देता है । ठीक इसी प्रकार साधक का चुम्बकत्व दैवी शक्तियों को अदृश्य रूप से आमंत्रित करता है और उन्हें अनुग्रह बरसाने के लिए विवश कर देता है ।

धारण करने की क्षमता

सूखी चट्टान पर पानी बरस भी जाय तो उस पर उगेगा क्या ? अन्दर से नमी होती, उस जल को समेट कर आत्मसात करने का पुरुषार्थ चट्टान द्वारा किया जाता, तो वह भी हरीतिमा से लदी नजर आती । अपने ही दरवाजे बन्द हों तो सूर्य पर रोशनी, ताप न देने का दोषारोपण करना व्यर्थ है । पात्रता इसी का नाम है । अंगारे पर रखी राख हटाने भर की देर है-प्रदीप्त अग्नि, देदीप्यमान हो उठती है । अपना आपा ही विस्मृत हो-घड़ा ही औंधा रखा हो तो बरसने वाला अनुदान भी व्यर्थ चला जायगा ।

सभी महान व्यक्ति, जिन्हें दैवी अनुदान मिले, अपनी पात्रता विकसित करके ही उन्हें पा सके । इसके लिए उन्हें दृढ़ संकल्प बल, व्रतनिष्ठा, आदर्शों के प्रति समर्पण का परिचय देना पड़ा है ।

बर्तन माँजने वाले अर्जुनदेव

अर्जुनदेव ने दीक्षा लेकर आश्रम में प्रवेश किया तो उन्हें बर्तन माँजने का काम सौंपा गया । वे सबेरे से शाम तक बर्तन माँजने में लगे रहते । अन्य शिष्य जब धर्म-चर्चा और गुरु पूजा में लगे होते तब भी अर्जुनदेव अपने नियत कर्म के अतिरिक्त दूसरी बात भी न सोचते ।

गुरु रामदासजी के अवसान का समय आया । सब शिष्य यह आशा लगाये हुए थे कि बढ़ी-चढ़ी योग्यता के कारण उन्हें ही उत्तराधिकार मिलेगा, वे गुरु की गद्दी पर बैठेंगे । गुरुदेव अपना घोषणा-पत्र लिख चुके थे । उनकी मृत्यु के बाद उसे खोला जाना था । गुरुदेव दिवंगत हुए । घोषणा पत्र खुला । उसमें अर्जुनदेव को उत्तराधिकारी माना गया था । सुनने वालों ने आश्चर्य किया कि इसको यह पद कैसे मिला ? समाधान करने वालों ने समझाया कि श्रद्धा और अनुशासन यही शिष्य की सबसे बड़ी योग्यता है ।

अर्जुनदेव सिख धर्म के पाँचवें गुरु हुए और उन्होंने सिख धर्म की भारी सेवा की तथा प्रगति की ।

यही पात्रता जिसे प्रकारान्तर से 'आत्मबल' कहा जा सकता है-महामानवों को कठिन से कठिन एवं प्रतिकूल परिस्थितियों में भी अपने आदर्शों व सिद्धान्तों पर दृढ़ बनाये रखती है । यही चमत्कारी सामर्थ्य सिद्धार्थ को गौतम बुद्ध, एक छोटे से राज्य के राजकुमार को तीर्थंकर महावीर, सामान्य से साधु को समर्थ रामदास, वासना में लिप्त कामुक तुलाराम को तुलसीदास, एक पुजारी को रामकृष्ण परमहंस, घर से भागे नवयुवक को ऋषि दयानन्द एवं सामान्य से अध्यापक को स्वामी रामतीर्थ बना देती है । यह जिस देवता की आराधना-अभ्यर्थना का चमत्कार है-वह अन्तः में ही विराजमान है ।

गुरु विरजानन्द द्वारा दयानन्द को अपनी शक्ति वितरण, महर्षि धौम्य द्वारा आरुणि को ऋषिपद दे पाना एवं रामकृष्ण परमहंस द्वारा विवेकानन्द को विश्ववंद्य बना देना व्यक्ति विशेष की पात्रता के अभाव में सम्भव नहीं हो पाता ।

अध्यात्म का सबसे बड़ा चमत्कार यही पात्रता अभिवर्धन है जो बदले में विभूतियों के अनुदान बरसने को विवश कर देता है ।

आत्मनिरीक्षणं चात्मनिर्माणं सर्वतो महान् ।
पुरुषार्थो मतो नास्ति साधना याचनाऽथ च ॥ ६२॥
परावलम्बनं नैव विद्यते विद्धि तामतः ।
आत्मनस्तु परिष्कारस्याधारः सुनियोजितः ॥ ६३॥

टीका-आत्म-निरीक्षण और आत्म-निर्माण ही सबसे बड़ा पुरुषार्थ है । साधना न तो परावलम्बन है, न याचना । उसे आत्म-परिष्कार का सुनियोजित आधार ही माना गया है ॥ ६२-६३ ॥

व्याख्या-इसमें कोई सन्देह नहीं कि जीवन कल्पवृक्ष की तरह असंख्यों सत्परिणामों से भरा पूरा है । पर उसका लाभ तभी मिलता है जब उसे ठीक तरह साधा, सम्भाला जाय । जीवन क्षेत्र को सुव्यवस्थित बनाने के लिए किये गये पुरुषार्थ को ही साधना कहते हैं । अपने अन्दर की वृत्तियों का निरीक्षण, उन पर नियंत्रण तथा सत्प्रवृत्तियों को उनका अंग बना लेने से ही व्यक्तित्व का प्रयोजन सधता है ।

साधना का अर्थ है अपने को अनगढ़ से सुगढ़ बनाना, इसके लिए प्रखर पुरुषार्थ करना । विडम्बना यही है कि बहुसंख्य व्यक्ति याचना को, दैवी मनुहार को, साधना का पर्याय मान बैठते हैं । इसमें समय, श्रम, धन भी गँवाते हैं, बदले में निराशा ही पाते हैं ।

अपने बारे में सूक्ष्म विवेचन तथा आत्म-निर्माण के बिना सतत् विकास कर सकना, ऊँचा उठना सम्भव नहीं ।

शिल्पी रोया क्यों ?

एक शिल्पी ने बहुत सुन्दर मूर्ति बनाई । बहुत देर तक उलट कर उसने देखा और फिर फूट-फूट कर रोने लगा ।

लोगों ने रोने का कारण पूछा तो उसने कहा कि मुझे बहुत खोजने पर भी इसमें कोई त्रुटि नजर नहीं आती । यदि मेरी सूक्ष्म दृष्टि इतनी ही कुण्ठित बनी रही तो भविष्य में इससे अच्छी मूर्तियाँ बनाने का द्वार ही बन्द हो जायेगा ।

यही भावना व्यक्ति को प्रखर बनाती है, न कि थोड़ा करके संतुष्ट हो जाना व फिर शेष भाग्य या भगवान के सहारे छोड़ देना ।

नटकला बनाम नदी पार करना

कई व्यक्ति बाजीगरी को ही साधना-सिद्धि मान बैठते हैं । वहाँ पुरुषार्थ के बिना चमत्कार दीख पड़ने से वे सहज ही प्रभावित भी हो जाते हैं । पर वस्तुस्थिति का पता लगने पर उन्हें आत्म-परिष्कार की महत्ता व इन ढोंगों का स्वरूप समझ में आता है ।

एक नट खेल दिखाकर लौटा तो पीछे-पीछे एक साधु भी अपने शिष्य के साथ चल पड़े । मार्ग में नदी पड़ी । नट किनारे बैठकर नाव वाले को पुकारने लगा । सन्त ने पूछा-'क्यों भाई ! तुम तो ऐसे ऐसे करतब दिखा रहे थे-यह छोटी सी नदी भी पार नहीं कर सकते ?' नट ने कहा-'भगवन् ! नट-कला और बात है नदी पार करना और । इन दोनों में कोई संगति नहीं ।'

साधु ने अब शिष्य की ओर संकेत करके कहा-'तात ! ऐसे ही आध्यात्मिक उन्नति के लिए सांसारिक दृष्टि से चतुर होना ही पर्याप्त नहीं, उसके लिए तो साधन ही काम आते हैं । बिना आत्म-परिष्कार के सारे कर्मकाण्ड मात्र इस नट के क्रियाकलापों जैसे ही सीमित हैं ।'

स्वावलम्बी साधु

जब व्यक्ति आत्म-निर्माण पर उतर आता है तो उसे कहीं बाहर नहीं देखना पड़ता । उसके इस पुरुषार्थ के बाद दैवी अनुदान स्वतः बरसते हैं । याचना को ही प्रारम्भिक प्रयास बना लिया जाने पर आत्म-प्रवंचना ही होती है-परावलम्बी जीवन की धिक्कार से अपनी ही आत्मा दुःखी होती है ।

एक बार भूखे-प्यासे साधु के मन ने कहा-'काया को कष्ट क्यों देते हो, किसी घर से भीख माँग लो ।' साधु अभी एक ओर मुड़ने ही वाले थे कि आत्मा बोली-'जिससे माँगोगे वह भी तो तुम्हारे जैसा ही होगा । तुम स्वयं क्यों नहीं कमा लेते ।' मन ने कहा-'तुम तो तपस्वी हो, अपरिग्रही हो, तुम्हें कमाना नहीं चाहिए ।' आत्मा ने तत्काल उत्तर दिया-'जो अपरिग्रही, परिग्रह का दास हो उससे अच्छा तो परिग्रही ही है, जो कम से कम हाथ तो नहीं फैलाता ।'

लक्ष्मी ने भू-पुत्रों को आलसी बनाया

एक बार एक शिष्य द्वारा अपने गुरुदेव से पूछे जाने पर कि 'मनुष्य को पुरुषार्थ क्यों करना पड़ता है ? भगवान् अपने अनुदान देकर उन्हें पीड़ा-कष्ट से बचाता क्यों नहीं है ?' सन्त बोले-'वत्स ! यह संसार विधि-विधानों से चलता है । याचक भिखारी तो कई हैं पर यदि विधाता ने कुपात्रों को व्यर्थ वितरण आरम्भ कर दिया तो कर्म की, स्वावलम्बन की, आत्म सुधार की कोई आवश्यकता ही शेष न रह जायेगी ।' इसे स्पष्ट करते हुए उन्होंने एक कथा सुनायी । एक बार लक्ष्मी धरती पर प्रसन्न भाव से उतरीं तो पृथ्वी ने उनका स्वागत किया व बोली-'देवि ! मेरे परिश्रमी पुत्रों को वरदान मत देना, इन्हें श्रमपरायण बना रहने देना नहीं तो वे आलसी हो जायेंगे ।' दर्प मिश्रित स्वर में लक्ष्मी बोल उठीं-'मेरी कृपा को तो सभी लालायित रहते हैं । मैं तुम्हारे पुत्रों को सुखी बनाने आई हूँ । तुम्हारा मूर्खतापूर्ण अनुरोध मुझे स्वीकार्य नहीं ।'

धरती कुछ और निवेदन करती, इसके पूर्व ही वे आगे बढ़ गयीं, देखते-देखते लोगों के घर सोने-चाँदी से भर गये । लोग सौभाग्य को सराहने लगे । श्रम की ओर अब कौन ध्यान देता ? वर्षा आई, न बीज बोया गया, न अन्न उपजा । खेतों में खरपतवार जम गये, घरों में भरे अन्न भण्डार समाप्त होते ही हाहाकार मच गया । छाती से सोने की ईंटें बाँधे क्षुधा पीड़ितों ने प्राण त्याग दिये ।

धरती रो पड़ी, विधाता से उसने विनती की । उन्होंने आकस्मिक लाभ के वरदान से प्रस्तुत अभिशाप को देखा और कुछ सोचकर गिने चुने कर्मठ-पुरुषार्थी धरती पर भेजकर सारा वैभव क्षणभर में समेट लिया । इन पुरुषार्थियों ने शीघ्र ही नई सृष्टि रच डाली ।

आत्मनस्तु विकासं यः कर्तुं शक्तः स एव हि ।
सुसंस्कृतश्च सफलस्तथ्यस्यास्य महामुने ॥ ६४॥
प्रत्यक्षायै क्रियन्तेऽनुभूत्यै च साधनात्मकाः ।
पराक्रमा वयं नैवमृषयो हे मनीषिणः ॥ ६५॥
अध्यात्मामृतपानस्य सीम्नि बद्धा भवेम तु ।
उपलब्धिभिरेताभिर्बोद्धार सर्वेजनाः सदा ॥ ६६॥
जिज्ञासानां न चैवासां सम्भवेदनिवार्यता ।
समर्थो ना कथं दीनहीनवद् विविधा इमाः ॥ ६७॥

यातनाः पतनस्याथ पराभूतेश्च सन्ततिम् ।
सहते पातगर्ताच्च बहिरेतुं न हि क्षमः ॥ ६८॥

टीका–हे महर्षे ! जो आत्म विकास कर सका, वही सफल सुसंस्कृत बनता है । इस तथ्य की प्रत्यक्ष अनुभूति के लिए ही साधनात्मक पराक्रम किये जाते हैं । हे ऋषि–मनीषियो ! हम सब इस अध्यात्म–अमृत का पान करने तक ही सीमित न रहें, वरन् अपनी उपलब्धियों से जन–जन को अवगत करायें । इस स्थिति में ऐसी जिज्ञासा की आवश्यकता ही न पड़े कि समर्थ मनुष्य दीन–हीनों की तरह विविध पतन–पराभव की यातनाएँ क्यों सहता है, पतन के गर्त से बाहर क्यों नहीं निकल पाता ॥ ६४–६८॥

व्याख्या–साधना एक पराक्रम है, संघर्ष है जो अपनी ही दुष्प्रवृत्तियों से करना होता है । जो इस संग्राम में जितना सफल होता है वह उतना ही बहिरंग में सुसंस्कृत एवं अंतरंग की दृष्टि से महान बनता चला जाता है ।

साधना में सभ्यता और संस्कृति दोनों का ही समावेश रहता है । इसमें संस्कृति को उद्गम और सभ्यता को प्रवाह कहा गया है । संस्कृति विचारणा, मान्यता, आस्था, निष्ठा में उत्कृष्टता के समावेश को कहते हैं । इसी पृष्ठभूमि की प्रेरणा से गतिविधियों का निर्धारण सम्भव होता है । शालीनता की पक्षधर जीवनचर्या को सभ्यता कहते हैं । सभ्य बन सकना उसी के लिए सम्भव है जो सुसंस्कृत हो । संस्कृति मनःसंस्थान में उगाई और बढ़ाई जाती है । सभ्यता अपनाने के लिए शरीर को सधाया जाता है । जंगली जानवरों को सरकस में कलाकारिता दिखाने के लिए जिस प्रकार प्रशिक्षित किया जाता है, उसी प्रकार साधनात्मक अनुशासन में जकड़कर अनगढ़ मनुष्य को सुगढ़, सुसंस्कृत बनाया जाता है । इसी प्रयास को सभ्यता सम्वर्धन कहते हैं ।

साधना पराक्रम की चमत्कृतियाँ

अपने ही भीतर इतने खजाने दबे पड़े हैं कि उन्हें आत्म निर्माण की साधना द्वारा कुरेदने–उभार लेने पर कुबेर जितना सुसम्पन्न बना जा सकता है । फिर किसी बाहर वाले से माँगने की दीनता दिखाकर आत्म सम्मान क्यों गँवाया जाय ? साधना की परिणति किस प्रकार सुसंस्कारिता व सुगढ़ता में होती है, उसके उदाहरण अपने चारों ओर देखे जा सकते हैं ।

साधना से सामान्य स्तर के प्राणी आश्चर्यजनक कार्य करके दिखाते हैं । वनगायें मनुष्य को पास भी नहीं आने देतीं और खेतों को उजाड़ कर रख जाती हैं, पर जब वे पालतू हो जाती हैं तो दूध, बछड़े, गोबर आदि बहुत कुछ देती हैं । स्वयं सुखी रहती हैं और उसके पालने वाले भी लाभान्वित होते हैं । यही बात अन्य वन्य पशुओं के बारे में भी लागू होती है । जंगली घोड़े, कुत्ते, सुअर, हाथी आदि स्वयं भूखे मरते, कष्ट उठाते और अनिश्चित जीवन जीते हैं । पालतू बन जाने पर वे स्वयं निश्चिन्ततापूर्वक रहते हैं और अपने पालने वालों को लाभ पहुँचाते हैं । अपने भीतर शरीर तथा मन:क्षेत्र में एक से बढ़कर एक शक्तिशाली धाराएँ प्रवाहित होती हैं । वे निरुद्देश्य और अनियंत्रित स्थिति में रहकर वन्य पशुओं जैसी असंगत बनी रहती हैं । फलतः विकृत होकर वे सड़ी दुर्गन्ध की तरह अपने समूचे प्रभाव क्षेत्र को विषैला बना देती हैं । आग जहाँ भी रहती है वहीं जलाती है, तेजाब की बोतल जहाँ भी फैलती है वहीं गलाती है । विकृत प्रवृत्तियाँ छितराई हुई आग और फूटी तेजाब की बोतल की तरह हैं, उनसे केवल विनाश ही सम्भव होता है । यह दोनों वस्तुएँ यदि सुनियोजित रखी जा सकें तो उनसे उपयोगी लाभ मिलते हैं और इतने बढ़े–चढ़े होते हैं कि सामान्य दीखने वाला मनुष्य पग–पग पर अपनी असामान्य स्थिति का परिचय देता है । साधना जीवन के बहिरंग और अन्तरंग क्षेत्रों में सुसंस्कारिता, सुव्यवस्था उत्पन्न करने का नाम है ।

महाप्राज्ञ पिप्पलाद आत्मतत्व की व्याख्या, उसे उभारने, विकसित करने की विद्या का ज्ञान कराने के उपरान्त जिज्ञासु ऋषियों से कहते हैं कि ज्ञानी का ज्ञानार्जन तभी सार्थक है जब वह इसे मात्र अपने तक सीमित न रख चारों ओर फैला दे । इसी में उनकी महानता है व उपदेश श्रवण की सार्थकता भी । मात्र बुद्धि चातुर्य और मानसोल्लास के लिए किये गये सत्संग–ज्ञानसत्र किस काम के, यदि वह चर्चा जनसामान्य तक न पहुँचे, जिन्हें ऊँचा उठाने–पतन के गर्त में जाने से बचाने के लिए ही प्रस्तुत प्रसंग सत्र रखा गया ।

महापुरुष, देवदूत, ऋषि स्तर के महामानव बादल व वायु की तरह चारों ओर व्याप्त हो ज्ञान वर्षा कर जन-जन को कृतार्थ करते हैं । जब भी ऐसा कोई भटकाव आता है, वे उसे रोकते हैं और अपने कनिष्ठों को प्रेरणा देकर संव्याप्त अज्ञान निवारण हेतु अपने साधना-पराक्रम द्वारा अर्जित ज्ञान को जन समुदाय तक पहुँचाने का निर्देश देते हैं ।

कन्दरा में नहीं, पीड़ितों के पास जाओ

एक शिष्य ने आत्मज्ञान का शिक्षण लिया व अपने गुरु से बोला-"एकान्त में बैठकर आत्म-चिन्तन करने में जो आनन्द है, वह और कहीं नहीं । हे गुरुवर ! उच्चस्तरीय साधना हेतु मैं पहाड़ों जैसी शांति चाहता हूँ ।" गुरु ने कहा-'वत्स ! पहाड़ों का परमार्थ अनिश्चित है । तू सुदूर क्षेत्रों में जा-जहाँ अज्ञान का तिमिर व्याप्त है । व्यक्ति दीन-हीन स्थिति में अपना जीवनयापन कर रहे हैं । तू नगरों मे जा-जहाँ अज्ञान मानव-मानव के बीच भेदभाव, छल-कपट और विषमता के बीज बो रहा है ।'

शिष्य बोला-'देव ! वहाँ की संघर्ष-यातनाएँ मुझसे झेली न जाएँगी, वहाँ का कोलाहल-क्रन्दन मुझ से देखा न जायेगा । मुझे तो हिमालय से दूर न जाने दें ।'

गुरुदेव की आँखें छलछला उठीं-"तात ! जिस राष्ट्र के नागरिक, नन्हीं-नन्हीं सन्तानें भटक रही हों, वहाँ के प्रबुद्ध व्यक्ति अपने आत्म-कल्याण भर की बात, स्वार्थ की बात सोचें, यह अनैतिक है । ईश्वर को पाना है तो प्रकाश की साधना करो । जो अन्धकार में भटक गये हैं, उन्हें ज्ञान का प्रकाश दो । चारों ओर अर्जित सम्पदा बिखेर दो ।" शिष्य चल पड़ा-अपना मोह तोड़कर और मानवता के देवदूत के रूप में अग्रगामियों की टोली में सम्मिलित हो गया ।

स्वामी दयानन्द धरासूं में तप

स्वामी दयानन्द विरजानन्द जी से आदेश पा तपोबल अर्जित करने धरासूं चट्टी पहुँचे व वहाँ परशुराम शिला पर बैठकर उन्होंने कड़ा तप किया । ६ वर्ष बीते । उन्हें अपना संकल्प बल बढ़ता, ब्रह्मतेज बढ़ता प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होने लगा । साधना के प्रति मोह ने रोका-"और भी ऊँचे आयाम पार कर मुक्त हो जाओ ।" ऐसे में अन्दर से धमकी भरा आदेश आया-"मैंने इसीलिए तुझे साधना करने भेजा था ? चल, उठ-समाज में व्याप्त अनीति-अन्धविश्वास मिटा, धर्म की चादर को मैला करने वाले पाखण्डियों का खण्डन कर", लगा-स्वयं गुरुदेव अन्दर से कह रहे हों । वे उठ खड़े हुए और उन्होंने धर्मान्धों के बीच आकर अपना अड्डा जमाया, ज्ञान विस्तार कर जन-मानस में व्याप्त भ्रान्तियों का खण्डन किया और यही उनकी जीवन साधना बन गयी ।

बुद्ध की शरण में, विवेक की शरण में

आम्रपाली का आतिथ्य स्वीकार कर, उसे भिक्षुणी बनाकर समाज सेवा में प्रवृत्त कर जब भगवान प्रव्रज्या पर आगे बढ़े तो आनन्द ने जिज्ञासा उनके समक्ष रखी-'भगवन् ! आज तो एक पतिता को आपने तार दिया । पर जब सारा मानव समाज कुरीतियों से ग्रस्त हो, अज्ञान के दलदल में अनेक मानव कराह रहे हों, आप अकेले कहाँ-कहाँ तक जायेंगे, किस-किस का उद्धार करेंगे ।' बुद्ध हँसे, बोले-"आनन्द ! इसका उत्तर भी क्या मुझे ही देना होगा । बुद्ध, धर्म संघ की शरण में आने का तात्पर्य एक व्यक्ति 'बुद्ध' से नहीं, उसके अग्रदूत बने 'विवेक बुद्धि' के प्रतीक अनेक शिष्यगण हैं जो आने वाले समय में विचार क्रांति की व्यापक आग सारे समाज में फैलाकर इन अवांछनीयताओं का नाश करेंगे । बुद्ध अभी अवतार के रूप में नहीं आया है, वह भविष्य में जब भी उद्धारकों को आवश्यकता होगी-प्रज्ञा व विवेक के रूप में आयेगा । तुम्हें-अर्थात् तुम सब प्रज्ञावानों को घर-घर जाकर विवेक की, नीति की, सदाशयता की शरण में जाने का शिक्षण देना है, ताकि पतन-पराभव की स्थिति से मानव समाज उबरे ।" आनन्द को वास्तविकता का ज्ञान हुआ, संशय का समाधान एवं अपनी भूमिका की गरिमा का भान भी उसे हुआ ।

यथार्थज्ञानसंयुक्तं श्रुत्वा तु प्रतिपादनम् ।
आरण्यकस्थिताः सर्वे तुष्टास्ते तु महर्षयः ॥ ६९ ॥
समाधानं च लब्धुं तत्सन्दर्भेऽधिकं ततः ।
ज्ञातुमन्या च जिज्ञासा प्रचण्डावेगतोऽवहत् ॥ ७० ॥
आरण्यकस्थिताः सर्व ऋषयो ये मनीषिणः ।
सन्दर्भे प्रष्टुमन्यच्च यद्याप्यासन् समुत्सुकाः ॥ ७१ ॥

सायङ्काले समायाते सन्ध्यावन्दनकर्म च ।
सम्मुखे प्रस्तुतं, सत्रं समाप्तं दैनिकं ततः ॥ ७२ ॥
महाप्राज्ञः पिप्पलादो जगाद हे महर्षयः ।
भवन्तोऽधिकमुत्सुका ज्ञातुं प्रत्यक्षमस्ति हि ॥ ७३ ॥
सत्रमद्यतनं यातु विश्रमं श्वः पुनश्चलेत् ।
समाधास्याम्यलं ज्ञानसत्रे जिज्ञासितं भृशम् ॥ ७४ ॥
उत्थितास्ते प्रसन्नायां मुद्रयां तु महर्षयः ।
नत्वा तं तु महाप्राज्ञं परस्परमथापि च ॥ ७५ ॥
ऋषयो दैनिकं कर्तुं साधनाकृत्यमुत्थिताः ।
द्वितीयेऽह्नि ततोऽप्युग्रा जातोत्कण्ठा तु बोधितुम् ॥ ७६ ॥
चलता हृदये तेषां सर्वेषामेव या भृशम् ।
झंझावातमहावेगविजृम्भण पराऽभवत् ॥ ७७ ॥

टीका–इस यथार्थता से भरे प्रतिपादन को सुनकर आरण्यक में उपस्थित ऋषियों को सन्तोष भी हुआ और समाधान भी मिला । पर साथ ही इस सन्दर्भ में अधिक जानने की दूसरी जिज्ञासा और भी प्रचण्ड वेग से उठ पड़ी । आरण्यक में उपस्थित ऋषि–मनीषी इस सन्दर्भ में और कुछ पूछना चाहते थे, पर सायंकाल हो जाने और सन्ध्या–वन्दन का अनिवार्य नित्य–नियम सामने होने के कारण उस दिन का सत्र समाप्त कर दिया गया । महाप्राज्ञ पिप्पलाद ने कहा–'मनीषियो, आप लोग इस सम्बन्ध में अधिक जानना चाहते हैं, ऐसा प्रत्यक्ष दिखाई पड़ रहा है । आप लोग आज के सत्संग को विराम दें । कल पुनः यह ज्ञान–सत्र चलेगा, तब आपकी अन्य जिज्ञासाओं का विस्तारपूर्वक समाधान करेंगे ।' सभी प्रसन्न मुद्रा में उठे । महाप्राज्ञ को अभिवन्दन और नमन करके ऋषिगण अपने नियमित साधना कृत्य के लिए चले गये । दूसरे दिन और भी अधिक जानने की प्रबल उत्कण्ठा चलते–चलाने उन सबके मन में आँधी–तूफान जैसी मचल रही थी ॥ ६९–७७ ॥

व्याख्या-अध्यात्म दर्शन सम्बन्धी प्रस्तुत समाधान जिस रोचक शैली में महाप्राज्ञ द्वारा किया गया, उससे ऋषि समुदाय को न केवल अपने इस ज्ञान सत्र के प्रथम दिन में उपस्थिति से सन्तोष व तृप्ति मिली, वहाँ इसी विषय से सम्बन्धित अन्य कई प्रश्न भी अन्दर जन्म लेने लगे । परन्तु जैसा कि आश्रम व्यवस्थानुसार गायत्री-महाप्राज्ञ की संध्या-उपासना का समय आ चुका था, इस समागम को विराम दे दिया गया । एक ओर जिज्ञासा दूसरी ओर अध्यात्मज्ञान के व्यावहारिक पक्ष नित्य कर्म की अनिवार्यता को दृष्टिगत रख महाप्राज्ञ ने उन्हें अगले दिन इसी विषय के विस्तार में जाकर पुनः मन्थन-परामर्श का क्रम चलाने का आश्वासन दिया व सभी ऋषिगण उल्लास भरे वातावरण में परस्पर नमन कर विसर्जित हो गये ।

इति श्रीमत्प्रज्ञापुराणे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः श्री पिप्पलाद–अष्टावक्र ऋषि–सम्वादे ''अध्यात्मदर्शन'' इति प्रकरणो नाम द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

।। अथ तृतीयोऽध्यायः ॥

卐 अजस्र अनुदान उपलब्धि प्रकरण 卐

आरण्यकस्य सत्रस्य द्वितीयेऽह्नि मनीषिणः ।
ऋषयः कृतनित्यास्ते प्रभातसमये शुभे ॥ १॥
देवदारुतरूणां ते सङ्कताः सघने शुभे ।
उपवने तं महाप्राज्ञं व्यासपीठसुशोभितम् ॥ २॥
नत्वा पिप्पलादं ते, क्रमशः स्वयं स्वमासनम् ।
यथाक्रमं व्यराजन्त तत्वजिज्ञासवः समे ॥ ३॥
स्मारयन् प्रथमं तत्वचिन्तनं निर्गताह्निकम् ।
श्वेतकेतुः समाधातारं पप्रच्छ तु वाग्मिनम् ॥ ४॥

टीका-आरण्यक सत्र के दूसरे दिन प्रातःकाल की वेला में नित्य-नैमित्तिक कर्मों से निवृत्त होकर सभी ऋषि-मनीषी पुनीत देवदारु वृक्षों के सघन-सुन्दर उद्यान में एकत्र हुए । व्यासपीठ पर विराजमान् महाप्राज्ञ पिप्पलाद को नमन-वन्दन करने के उपरान्त वे सभी तत्वजिज्ञासु अपने-अपने नियत स्थान पर यथाक्रम विराजमान् हो गये । पिछले दिन के तत्व-चिन्तन का स्मरण दिलाते हुए विचारवान् श्वेतकेतु ने समाधानी प्रवक्ता से पूछा ॥ १-४॥

श्वेतकेतु उवाच-

देव ! किं सर्वथा मर्त्यः स्वतन्त्रोऽथ च सर्वथा ।
परिपूर्णोऽनपेक्ष्योऽन्यैः प्रगतेः पथि संचरन् ॥ ५॥
स्वतन्त्रतायां तस्यास्ति बाधको नाहि कोऽपि किम् ।
यद् यद् वाञ्छति तत्तत् सक्षमः कर्तुमृषीश्वर ॥ ६॥
सर्वस्वं किं तदिच्छास्ति सामर्थ्यं च तदीयकम् ।
भवता मानवस्यालं गरिम्णो यद्विनिर्मितौ ॥ ७॥
ईश्वरानुग्रहः प्रोक्तो व्यक्तिसौभाग्यमेव च ।
यथार्थमपि तत्रालं, कठिन्यं व्यावहारिकम् ॥ ८॥
क्षममाणो बालबुद्धिं कृपया वद मानवः ।
सन्मार्गप्रस्थितोऽन्यस्यापेक्षां कुरुते न वा ॥ ९॥

टीका-देव ! क्या मनुष्य सर्वथा स्वतन्त्र और सर्वथा परिपूर्ण है ? क्यो उसे प्रगति क्रम पर अग्रसर होते हुए किसी की सहायता अपेक्षित नहीं होती ? हे ऋषि श्रेष्ठ ! क्या उसकी स्वतन्त्रता में कोई बाधक नहीं है ? क्या वह जो चाहे सो कर सकता है ? क्या उसकी इच्छा एवं सामर्थ्य ही सब कुछ है ? आपने मनुष्य की गरिमा बताते हुए ईश्वर के अनुग्रह और व्यक्ति के सौभाग्य की चर्चा की थी, वह यथार्थ होते हुए भी उसमें कुछ व्यावहारिक कठिनाइयाँ जान पड़ती हैं । हमारी बाल-बुद्धि को क्षमा करते हुए कृपया यह कहें कि मनुष्य को सन्मार्ग पर अग्रसर होने के लिए अन्य किसी की सहायता अपेक्षित है या नहीं ॥ ५-९॥

व्याख्या-जिज्ञासु श्रोता श्वेतकेतु अध्यात्म दर्शन प्रकरण की चर्चा को आगे बढ़ाते हुए मनुष्य की

स्वतन्त्र चयन क्षमता पर अपना असमंजस व्यक्त करते हैं । प्रज्ञासत्र के प्रथम दिन के स्पष्टीकरण में महाप्राज्ञ पिप्पलाद ने यह कहा था कि मनुष्य सृष्टि का सिरमौर है, विशिष्ट विभूतियों से सम्पन्न है व उसे विधाता की ओर से अपनी दिशा धारा तथा जीवन की गतिविधियाँ अपनाने की पूरी छूट है । अपनी शंका व्यक्त करते हुए वे कहते हैं-क्या इसका यह अर्थ है कि मनुष्य को बाह्य क्षेत्र से किसी प्रकार की कोई सहायता अभीष्ट नहीं है ? अन्तर्मुखी बन अपने ही अन्दर से प्रगति की दिशा धारा चुनकर मनुष्य महान बनता है, यह तथ्य सही है, अनुभूत तथ्य है । फिर भी यह जिज्ञासा उनके मन में अभी भी शेष है कि मनुष्य को आत्मावलम्बन व स्वतन्त्र निर्णय बुद्धि के अतिरिक्त भी परम लक्ष्य तक पहुँचने के लिए कौन सा ऐसा पक्ष शेष रह जाता है जिसकी व्याख्या मुनिवर ने नहीं की है ।

श्वेतकेतु ने बड़ी बुद्धिमत्तापूर्वक इस तथ्य को व्यक्त किया है कि ज्ञान, मात्र सौभाग्य व ईश्वरीय कृपा की व्याख्या तक सीमित न रहे वरन् उसके व्यावहारिक पक्ष को भी खोला जाय ताकि सामान्य जन उससे लाभ उठा सकें ।

यदि थोड़ा गहराई में प्रवेश करें तो हम अपने चारों ओर देखते हैं कि सिद्धान्त तो कईयों को ज्ञात हैं । तत्व ज्ञान, ब्रह्मविद्या की दृष्टि से वे विद्वान् भी माने जाते हैं पर जब व्यावहारिकता की बात आती है तो वहाँ वे शून्य पाये जाते हैं । ज्ञान का श्रवण तो अच्छा है पर यदि उसे व्यवहार में उतारना आया नहीं तो ऐसा अधूरा ज्ञान किस काम का ? लक्ष्य तक पहुँचने के लिए अध्यात्म विज्ञान के क्षेत्र में भी यही सिद्धांत लागू होता है-एक चरण सिद्धांत का, एक व्यवहार का । सिद्धांत अपनी जगह अटल व यथार्थ होते हुए भी व्यावहारिक न हो तो प्रगति रुकी ही रहेगी ।

प्रश्नं श्रुत्वा महाप्राज्ञः प्रसन्नः प्रशशंस सः ।
जिज्ञासूनां मतिं सूक्ष्मां कथयामास तात हे ॥ १०॥
सारयुक्ता व आशङ्का समाधानं च श्रूयाताम् ।
तस्याः सर्वैः बुधैः सार्धं सावधानेन चेतसा ॥ ११॥

टीका-प्रश्न को सुनकर महाप्राज्ञ बहुत प्रसन्न हुए, जिज्ञासुओं की सूक्ष्म-बुद्धि को सराहा और कहा-'तात ! तुम्हारी आशंका सारगर्भित है । उसका समाधान ध्यानपूर्वक अन्य विद्वानों के साथ श्रवण करें ॥ १०-११॥'

व्याख्या-प्रज्ञा सम्पन्न समर्थ तत्वदर्शी के पूछे गये उन प्रश्नों की सराहना करते हैं जिनसे संशय का निवारण होता हो तथा आत्म-कल्याण और लोक-कल्याण के सदुद्देश्य को लेकर पूछे गये होते हैं । जिज्ञासा से युक्त उचित प्रश्नों का समर्थों द्वारा समय-समय पर समाधान किया जाता रहा है । अर्जुन के उठाये गये प्रश्नों को सुनकर श्रीकृष्ण ने उनकी सूक्ष्म बुद्धि की प्रशंसा की । महाभारत में गीता का उपदेश ऐसे ही जिज्ञासा से युक्त प्रश्नों तथा उत्तरों से भरा पड़ा है । भारत की यह आर्षकालीन परम्परा रही है । आरण्यकों का संचालन ऐसे ब्राह्मण करते थे जो अध्यात्म विद्या के मर्मज्ञ होते थे । विविध प्रसंगों पर उठाये गये अध्यात्म प्रश्नों का वे युगानुरूप उत्तर देते थे । जिज्ञासु उनका श्रवण करते तथा भावी रीति-नीति निर्धारित करते थे । इसी कारण यहाँ का जीवन सदैव प्रसन्न, सन्तुष्ट, सद्गतिशील और स्वर्गीय रहा है ।

पिप्पलाद उवाच-

जीवोंऽश ईश्वरस्यास्ति तेनैवास्ति च संयुतः ।
श्रेष्ठमार्गे प्रयातुं चेद् याचते शक्तिमेष तु ॥ १२॥
उदारः सददात्येनां प्राप्य चैवं सहायताम् ।
कृतकृत्या भवन्त्येते भक्तास्तेजस्विनोऽपि च ॥ १३॥
सिद्धीस्ता अद्भुतास्ते तु वरीतुं शक्ता भवन्ति च ।
अग्रगानां सरूपाश्च प्राप्य भूतोः गताः श्रमम् ॥ १४॥

टीका-जीव ईश्वर का अंश है, उसके साथ जुड़ा हुआ भी है । श्रेष्ठता के मार्ग पर चलने के लिए जब शक्ति माँगी जाती है, तो वह उसे उदारता पूर्वक देता भी है । इस प्रकार की सहायता पाकर अनेक भक्तजन कृतकृत्य हुए हैं, तेजस्वी बने हैं, अद्भुत सफलताएँ वरण करने में समर्थ हुए हैं तथा अग्रगामियों के अनुरूप विभूतियाँ प्राप्त करते हुए परम-लक्ष्य तक पहुँचे हैं ॥ १२-१४॥

व्याख्या-जिज्ञासा का समाधान विषयानुरूप करते हुए महाप्राज्ञ कहते हैं कि मनुष्य उस परम सत्ता का एक अंश होने के नाते उससे अविच्छिन्न रूप से जुड़ा हुआ है । मनुष्य अपने निर्णय के लिए पूर्ण रूपेण स्वतन्त्र है । इसमें कहीं कोई हस्तक्षेप नहीं करता । विवेक का अवलम्बन लेकर मनुष्य जब भी उत्कृष्टता की ओर बढ़ता है तो फिर उसकी मदद के लिए, अनुदान लुटाने के लिए भी वह सहर्ष तैयार हो जाता है । यही परब्रह्म की विशेषता है । चयन की स्वतन्त्रता, औचित्य-अनौचित्य का वरण, यह काम उसने जीव के जिम्मे छोड़ा है तथा भटकने पर सीख, दण्ड आदि के रूप में वापस सही मार्ग पर लाना एवं सन्मार्ग पर चलने पर मुक्त हस्त से अनुदान लुटाना यह अपने जिम्मे रखा है । जीव-ब्रह्म की एकता व परस्पर सम्बन्धों की यह विशिष्टता ही मनुष्य रूपी जीवधारी को अन्यों की तुलना में वरिष्ठ ठहराती है ।

जिस प्रकार किसी वनस्पति की विशेषताएँ, उसका गुण-दोष जड़-तना-त्वक् यहाँ तक कि फूल-पत्ती आदि के अंश-अंश में ओत-प्रोत हैं, उसी प्रकार निश्चय ही ईश्वर के सारे गुण-विशेषताएं जीव में हैं, उसका अंश, उसका पुत्र-प्रतिनिधि होने के नाते ओत-प्रोत हैं ।

लोटे के पानी में नाव

जीव और ब्रह्म की एकता का विश्लेषण करते हुए गंगा तट पर बैठे हुए एक तत्वदर्शी कह रहे थे कि जीव ईश्वर का ही अंश है । जो गुण ईश्वर में हैं, वे जीव में भी मौजूद हैं । सुनने वालों में से एक ने पूछा-"भगवन् ! ईश्वर तो सर्वज्ञ और सर्व शक्तिमान् हैं, पर जीव तो अल्पज्ञ और अल्प सामर्थ्य वाला है, फिर इस भिन्नता के रहते एकता कैसी ?"

प्रवचन कर्त्ता ने जिज्ञासु से कहा-'एक लोटा गंगा जल भर लाओ ।' वह नीचे बहती हुई गंगा में से जल भर लाया । उससे पूछा गया-"गंगा के जल और इस लोटे के जल में कोई अन्तर तो नहीं है ?" जिज्ञासु ने कहा-"नहीं ।" तत्वदर्शी ने कहा-"सामने गंगाजल में नावें चल रही हैं । एक नाव इस लोटे के जल में भी चलाओ ।" जिज्ञासु ने कहा-"लोटा छोटा है, इसमें थोड़ा-सा जल है, इतने में भला नाव कैसे चलेगी ?"

प्रवचनकर्त्ता ने गम्भीर होकर कहा-"प्रिय ! जीव एक छोटे दायरे में सीमाबद्ध होने के कारण लोटे के जल के समान अल्प और अशक्त बना हुआ है । यदि यह जल पुनः गंगा में लौटा दिया जाय तो उस पर नाव चलने लगेगी । इसी प्रकार यदि जीव अपनी संकीर्णता के बन्धन काट कर महान् बन जाय तो उसे ईश्वर जैसी सर्वज्ञता और सर्वशक्ति सम्पन्नता सहज ही प्राप्त हो सकती है ।"

रघु का सर्वमेध, कुबेर की स्वर्ण वर्षा

जब भी मनुष्य ने अपने परमपिता की विशेषताओं के अनुरूप उत्कृष्टता की दिशाधारा अपनायी है तब उसके पुरुषार्थ-साधन कम होते हुए भी, ईश्वर श्रेष्ठ कार्यों के लिए स्नेहपूर्वक अनुदान उड़ेलता है ।

राजा रघु ने लोक मंगल के लिए एक बार सर्वमेध यज्ञ किया । जो कुछ भी राज सम्पत्ति थी उन्होंने प्रजा के हित के लिए लगा दी । सब कुछ दान कर देने के बाद उनके पास सम्पत्ति के नाम पर मिट्टी का जल पात्र और कुश का आसन शेष बचा । ऋषि कौत्स तक राजा की दानशीलता का समाचार पहुँचा । उन्हें गुरुदक्षिणा चुकाने के लिए धन की आवश्यकता थी । धन की आकांक्षा लेकर ऋषि रघु के पास पहुँचे ।

पर वहाँ दृश्य दूसरा ही था । राजा सब कुछ दान कर चुके थे । स्थिति विपरीत देखकर ऋषि कौत्स ने बिना कुछ राजा से कहे वापस लौट जाना उचित समझा, किन्तु राजा को समझते देर न लगी कि ऋषि किसी विशेष प्रयोजन से आये हैं । ऋषि का मनोरथ मालूम हुआ । राजा ने ऋषि को वापस बुला लिया और आश्वासन दिया कि आप थोड़ी देर प्रतीक्षा करें, धन की व्यवस्था हो जायेगी । कौत्स ठहर गये । रघु ने कुबेर को सन्देश भेजा । कुबेर ने स्वर्ण मुद्राओं की वृष्टि कर दी । राजा ने कौत्स को अभीप्सित धन देकर संतुष्ट किया ।

कौत्स ने आश्चर्यान्वित हो तनिक सी याचना पर राजा को इतना धन मिल जाने का रहस्य जानना चाहा । कुबेर

ने कहा-"ऋषिवर ! धर्म के प्रति आस्थावान् व्यक्ति परमार्थ प्रयोजन के लिए जो प्रयत्न करते हैं उन्हें यदि सम्पन्न व्यक्तियों द्वारा सहायता न दी जाय तो धनपति और धन दोनों कलंकित होने लगेंगे ।"

लोकहित में गंगा अवतरित हुई

शोक-संताप की नारकीय अग्नि में जलते पूर्वजों के परित्राण के लिए गंगा का भूलोक पर अवतरण आवश्यक था । भागीरथ को यह मालूम हुआ कि किसी तरह गंगा पृथ्वी पर आ जाँय तो पितरों को सद्गति मिल जायेगी और भूलोक के प्राणियों एवं वनस्पतियों की प्यास बुझेगी । महलों का भोग-विलास छोड़कर चल पड़े तप करने । गंगा पृथ्वी पर आने के लिए तैयारी हो गयीं । भगवान शंकर ने गंगा के तीव्र वेग को सम्भाला और गंगा को पृथ्वी की ओर प्रवाहित कर दिया । भागीरथ की अपनी निज की सामर्थ्य नगण्य थी । लोक कल्याण के लिए उन्हें ईश्वरीय शक्ति, भगवान शिव का सहयोग मिला । गंगा के अवतरण से शाप पीड़ित भागीरथ के पूर्वजों को सद्गति मिली । वे स्वयं यशस्वी हुए और सबसे बड़ी बात यह हुई कि उनके सद्प्रयत्नों द्वारा अवतरित गंगा द्वारा कोटि-कोटि प्राणियों को अपनी प्यास बुझाने का अवसर मिला ।

अनन्तं तत्परं ब्रह्मतदचिन्त्यमगोरचरम् ।
समग्रं तत्तु विज्ञातुं न हि शक्यं कथञ्चन ॥ १५॥
मनुष्येण सहैवास्ति सत्ता तु परमात्मनः ।
संयुक्तो, त्वृष्टतादर्शवादिता परमात्मता ॥ १६ ॥
सघनता तस्य जीवेन सह संयुज्यते तः ।
अनुग्रहेण तस्यापुर्भक्ता भूतीर्वरानलम् ॥ १७॥

टीका-परब्रह्म अनन्त, अगोचर एवं अद्भुत है, उसे समग्र रूप में जान सकना किसी के लिए भी शक्य नहीं । मनुष्य के साथ उसकी परमात्म-सत्ता ही जुड़ती है । उत्कृष्ट आदर्शवादिता का समुच्चय ही परमात्मा है, जीव के साथ उसी की सघनता जुड़ती है, उसी के अनुग्रह से वैभव वरदान का भण्डार भक्त-जनों को हस्तगत होता है ॥ १५-१७॥

व्याख्या-परमात्मसत्ता का एक विराट् असीम स्वरूप वह है जो हमारे चारों ओर दिग्-दिगन्त में व्याप्त है । सामान्य बुद्धि इसे समझ नहीं पाती, न इसे परिपूर्ण रूप में जाना जा सकता है । दूसरा स्वरूप वह है जिससे जीव जुड़ा हुआ है । एक को परब्रह्म एवं दूसरे को परमात्मा कहते हैं । पहला सृष्टि की नियम व्यवस्था, गतिचक्र इत्यादि का नियंत्रण कर्त्ता है, स्फुलिंगों के रूप में इसी दिव्य ज्योति का प्रकाश भिन्न-भिन्न रूपों में दिखाई पड़ता है ।

हाथी और अन्धे

किसी ने जन्मान्ध खड़े अन्धों के समूह से पूछा-"सामने खड़े हाथी को छूकर बताओ हाथी कैसा होता है ।" एक ने हाथी की पूँछ पकड़ी, दूसरे ने कान, तीसरे ने पैर, चौथे ने दाँत और पाँचवे ने पीठ को स्पर्श किया । पूँछ को पकड़ने वाले ने रज्जु जैसा, कान को स्पर्श करने वाले ने सूप जैसा, पैर के सम्पर्क में आने वाले ने खम्भे जैसा, दाँत वाले ने दण्ड जैसा, पीठ को स्पर्श करने वाले ने विशालकाय पत्थर जैसा बताया । नेत्र दृष्टि सम्पन्न व्यक्ति उनकी बात सुनकर हँसा । सभी अन्धों ने एक-एक अंगों का स्पर्श करके यह समझ लिया कि उन्होंने हाथी देख लिया । पर समग्र हाथी का स्वरूप किसी को विदित न हो सका ।

इसी प्रकार परब्रह्म के एक अंश को ही हम देख पाते हैं, उसकी किन्हीं-किन्ही शक्तियों का अनुभव कर पाते हैं । ऋषिगणों ने इसी विराट् अनन्त स्वरूप को देखकर 'नेति-नेति' कहा है ।

दूसरा स्वरूप वह है जो सीधे मनुष्य के कर्तृत्व, उसकी पूर्णता-मुक्ति से सम्बन्ध रखता है । नियामक सत्ता परब्रह्म की ही यह परमात्म सत्ता के रूप में जीव के अत्यन्त समीप अवस्थित साकार प्रतिमा है । इसकी सही अर्थों में परिभाषा की जाय तो यह श्रेष्ठता का भांडागार कही जा सकती है । मानव का सहज विकास इसी परमात्म-सत्ता के रूप में होता है । जितना अंश उसके अन्दर श्रेष्ठता का बढ़ता चला जाता है वह परमात्मा के उतना ही समीप जा पहुँचता है ।

नदियाँ जब तक समुद्र में नहीं मिलतीं, अस्थिर, बेचैन बनी रहती हैं । मनुष्य जब तक अपने को मनुष्य मानता है तब तक माया आवरण में ढँका सब प्रकार के कर्म करता रहता है । जैसे ही उसे स्वयं के उस परमात्मसत्ता के

ही अंश होने व उसकी मात्रा अपने अन्दर सघन रूप में होने की अनुभूति होती है-वह उससे और भी अधिक मजबूती से जुड़ता चला जाता है । समानधर्मी वस्तुएँ ही परस्पर जुड़ती हैं । एक ही धातु के दो टुकड़े परस्पर गलाकर जोड़े जा सकते हैं पर यदि दोनों के गुण-धर्म अलग-अलग हों तो सारे प्रयास निरर्थक होंगे ।

जुड़े तो अनुदान मिला

जैसे ही मानवी श्रेष्ठता का सम्बन्ध परमात्म-सत्ता रूपी उत्कृष्टता के भाण्डागार से हो जाता है, अनुदान स्वतः बरसने लगते हैं । सुदामा एक गुरुकुल के कुलपति थे । साधारण अध्यापक सा जीवन जीते थे । सहपाठी होने के नाते कृष्ण के सखा तो थे पर महानता से तब जुड़े जब वे समर्पण भाव से द्वारिका आये । भगवान ने अपने सारे अनुदान उन पर बिखेर दिए ।

सन्त कबीर ने अपनी डोर भगवान के हाथ में सौंप दी और बदले में भगवान ने उन पर आत्मिक विभूतियाँ और वैभव लुटाया जिसे वे जीवन भर सब पर बिखेरते रहे । इसके पीछे वही सघनता थी जो उन्होंने अपनी साखियों में व्यक्त की है-

कबीर यह घर प्रेम का, खाला का घर नाहिं । सीस उतारे हाथि करि, सो पैठे घर मांहि ॥

अर्थात् भगवान् का प्रेम पाया तो जा सकता है पर एक ही कीमत पर-सिर काट कर हाथ में लेने पर, सम्पूर्ण रूप से समर्पण कर अपनी सघनता उत्कृष्टता के साथ जोड़ देने पर ।

जब सघनता जुड़ती है तो क्या स्थिति होती है ?

जब मैं था तब हरि नहीं, अब हरि है मैं नाहि । सब अँधियारा मिट गया, जब दीपक देख्या मांहि ॥

ईश्वर का प्रकाश अन्दर तभी पहुँचता है जब पूर्ण विसर्जन हो जाता है, अपना 'मैं' हट जाता है, वृत्तियाँ आदर्श परायण हो जाती हैं ।

विभीषण राम से जुड़े तो धन्य हो गये । असुर बंधु-बांधवों से मोह तोड़कर जब वे अनीति को परास्त करने आदर्शवादिता से जुड़े तो भगवान राम ने अपनी पहली भेंट में ही उन्हें 'लंकेश' कहकर सम्बोधित किया । यह अनुग्रह परमात्मा से सघनता जोड़ने वाले हर भक्त को सहज ही मिलता है ।

आदर्शभूतासत्ता तु परमात्मन एव सा ।
युज्यते मानवैर्योग्यैरनुरूपैरलं मुदा ॥ १८॥
अनुरूपत्वमेवैतदनुकूलत्वमेव च ।
उच्यते पात्रता तां च प्राप्तुमेवाप्तपूरुषाः ॥ १९॥
उपासनासाधनानां विधानानि व्यधुर्न तु ।
स्तवनोपक्रमस्यास्ति प्रभोर्वोपहृते रतिः ॥ २०॥
पात्रतां विकसितां कृत्वा मनुष्यः परमात्मनः ।
अनेकानेकदिव्यानुदानान्यासादयतययम् ॥ २१॥

टीका-आदर्शों की प्रतीक परमात्म-सत्ता उन्हीं मनुष्यों के साथ जुड़ती-प्रसन्न होती है, जो उसके अनुरूप हैं । इस अनुरूपता-अनुकूलता को ही पात्रता कहते हैं । पात्रता विकसित करने के लिए ही आप्तजनों ने उपासना और साधना का विधान बनाया है । ईश्वर को किसी स्तवन-उपक्रम या उपहार की आवश्यकता नहीं है । पात्रता विकसित करके ही मनुष्य परमात्मा से अनेकानेक दिव्य अनुदान प्राप्त करता है ॥ १८-२१ ॥

व्याख्या-परमात्मा उपयुक्त पात्र के साथ ही जुड़ता, सघनता स्थापित करता है और अनुदान वर्षा के माध्यम से अपनी प्रसन्नता-उल्लास व्यक्त करता है । इसके लिए उन्हीं गुणों को अपने जीवन में उतारना होता है जिनका समुच्चय परमात्म-सत्ता में है । इतना करने भर से वह पात्रता पा लेता है जो उसे ईश्वर के साथ बैठने योग्य अधिकार दे देती है । पात्रता अर्थात् वह गठ-बन्धन जो आत्मसत्ता को परमात्मसत्ता से जोड़कर आदान-प्रदान का क्रम आरम्भ कर देता है । भक्त की गुण-कर्मों की उत्कृष्टता व आदर्शों के प्रति समर्पण तथा भगवान की अनुकम्पा यह प्रवाह फिर सतत् चलने लगता है ।

तद्रूप बने, सुपात्र बने

जब भक्त स्वयं को उस उत्कृष्टता के अनुरूप बना लेता है तो सुपात्र कहलाता है । महात्मा गाँधी और विवेकानन्द ने स्वयं को आदर्शवादिता के अनुरूप बनाया । स्वयं को उन्होंने श्रेष्ठता से जोड़ा तो वे ईश्वर के प्रिय पात्र बने और बदले में वैभव अनुदान पाये । बुद्ध ने अमरत्व की प्राप्ति को नहीं, जन-जन में व्याप्त भ्रान्तियों को मिटाने को तथा आद्यशंकराचार्य ने धर्म चेतना के जन जागरण को अपना आदर्श माना । नानक ने सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन तथा बापाजलाराम ने परमार्थ परायणता की अपनी वृत्ति के कारण परमात्म सत्ता से जुड़ने का सौभाग्य पाया । ये सभी महामानव ईश्वरीय सत्ता के दिव्य गुणों के अनुरूप-अनुकूल स्वयं को विकसित कर सुपात्र कहलाये । इसके लिए उन्हें कोई अलग से कर्मकाण्ड अथवा उपचार-उपक्रम नहीं अपनाना पड़ा ।

भगवान की कृपा, प्रसन्नता अथवा समृद्धि के रूप में पाने के लिए सुपात्र बनना भी अनिवार्य है, यह तथ्य बहुतों के गले उतरता नहीं । ऐसे व्यक्ति दिग्भ्रान्त हो भटकते ही रहते हैं ।

ज्ञानेश्वर ने महिला से आभूषण माँगे

ज्ञान, विवेक, शक्ति और भक्ति परमात्मा सत्पात्रों को देता है, सन्त ज्ञानेश्वर के ऐसा कहने पर एक महिला नाराज हो उठी । वह बोली-'तो इसमें भगवान की क्या विशेषता रही ? उसे तो सबको समान अनुदान देना चाहिए ।' सन्त उस समय तो चुप हो गये । उस दिन की बात समाप्त हो गयी । दूसरे दिन प्रातःकाल सन्त ने मुहल्ले के एक मूर्ख व्यक्ति को बुलाकर कहा कि अमुक स्त्री से जाकर आभूषण माँग लाओ । मूर्ख गया और आभूषण माँगे । उस महिला ने झिड़क कर उसे बिना आभूषण दिए भगा दिया ।

थोड़ी देर बाद सन्त ज्ञानेश्वर स्वयं उस महिला के यहाँ पहुँचे और बोले-'आप एक दिन के लिए अपने आभूषण दे दें । आवश्यक काम करके लौटा देंगे ।' महिला ने बिना कोई प्रश्न पूछे सन्दूक खोला और सहर्ष अपने आभूषण सौंप दिये । आभूषण हाथ में लिए सन्त ने पूछा-'अभी-अभी दूसरा व्यक्ति आया था । आपने उसे आभूषण क्यों नहीं दिए ?' महिला बोली-'उस मूर्ख को कैसे मूल्यवान आभूषण दे दें ।' सन्त ज्ञानेश्वर मुस्कराये और बोले-'बहन ! जब अपने सामान्य से आभूषण बिना सोचे-विचारे कुपात्र को नहीं दे सकतीं तो फिर परमात्मा अपने दिव्य अनुदानों को कुपात्रों को कैसे सौंप सकता है । वह तो बारम्बार इस बात की परीक्षा करता है कि जिसको अनुदान दिया जा रहा है उसमें पात्रता है अथवा नहीं ।'

गंदे कमण्डल में खीर की भिक्षा

पात्रता के विकास के लिए ऋषियों ने उपासना, साधना का अवलम्बन लेने का निर्देश दिया है । उपासना अर्थात् ईश्वर के निकट बैठना, उसके दिव्य गुणों को धारण करना । साधना अर्थात् अपने गुण, कर्म, स्वभाव का परिष्कार । दोनों के संयोग से पूरी बात बनती है । उपासना का लाभ तब तक नहीं मिल सकता जब तक साधना की, आत्मपरिष्कार की प्रक्रिया बन्द है ।

भगवान बुद्ध के पास एक सेठ आत्म-ज्ञान प्राप्ति की आकांक्षा से पहुँचा । पहुँचकर आने का मन्तव्य स्पष्ट किया । दूसरे दिन उसके घर पर आकर ही उत्तर देने का आश्वासन देकर बुद्ध ने उसे बिदा किया । स्वयं भगवान बुद्ध घर पर आ रहे हैं, यह सोचकर सेठ ने अच्छी खीर बनवायी । कमण्डल लिए दूसरे दिन तथागत पहुँचे । "भगवन् ! आपके लिए खीर तैयार की है । प्रसाद ग्रहण करें", सेठ ने निवेदन किया । बुद्ध ने खीर के लिए अपना कमण्डल आगे कर दिया । सेठ खीर देने के लिए आगे बढ़ा । ध्यान से देखा तो उसमें गोबर भरा हुआ था । बोला-'देव ! इसमें तो पहले से गोबर भरा हुआ है । इस पात्र में देने पर तो खीर भी बेकार हो जायेगी ।' तथागत हँसे और बोले-"वत्स ! तुम्हारे कल के प्रश्न का यही उत्तर है । आत्म-ज्ञान प्राप्ति के लिए पहले पात्रता विकसित करो, अपने कषाय-कल्मषों का परिशोधन करो । आत्मज्ञान जैसी महान उपलब्धि पात्रता विकसित हुए बिना प्राप्त नहीं हो सकती ।"

अपने को पात्र तो बना

जब अपना स्वयं का ही द्वार बन्द हो तो कोई क्या दे पायेगा । सूर्य का प्रकाश कमरे में तब प्रवेश करेगा जब हमारे खिड़की-दरवाजे खुले हों । प्रभु की कृपा बरसे और हमारे अन्दर प्रवेश करने का उसे मार्ग न मिले तो वह व्यर्थ ही है । साधना पुरुषार्थ में याचना नहीं, पात्रता अर्जन का महत्व है । जो इस तथ्य को समझ लेता है, वह रीता नहीं रहता ।

आँगन में दो मिट्टी के घड़े रखे थे । एक का मुँह आसमान की ओर । दूसरे का धरती की ओर, वर्षा आई, जो पात्र ऊपर को उन्मुख था, भर गया । जो औंधे मुँह लेटा था, खाली रह गया । खाली घड़े को बहुत गुस्सा आया ।

उसने भरे घड़े को भी गालियाँ दीं, वर्षा को भी कोसा । बहुत रात बीतने तक भी जब बकवास बन्द न की तो वर्षा बोली-अभागे, चिढ़ मत, हमारे यहाँ पात्र को सब कुछ मिलता है, तू भी ऊपर को मुँह कर लेता तो तुझे भी मिलता, बावले अब भी प्रयत्न कर सिर उठा, इस बार तुझे भी दूँगी । घड़े ने बात समझ ली, भूल स्वीकार कर ली ।

चनों की लोभिन को पुत्र कैसे मिले ?

सन्त चिदम्बर उन दिनों सिद्ध पुरुष माने जाते थे । कितने ही लोग उनके पास सहायता हेतु वरदान माँगने जाते । एक दिन एक स्त्री सन्तान प्राप्त होने का आशीर्वाद माँगने आई । सन्त ने उसे भुने चने दे दिये और सन्तोष पूर्वक बैठकर पेट भर लेने को कहा । स्त्री चने खाती रही । कई छोटे बच्चे उधर खेल रहे थे, उनने चने पाने के लिए स्त्री को निहारा, पर उसने आँखें फेर लीं, किसी को दिये नहीं । विदाई का प्रणाम करने वह स्त्री पहुँची तो सन्त ने कहा-देवी ! जब तू बच्चों को तनिक-से चने तक देने की उदारता न दिखा सकी तो भगवान तुझे बेश कीमती बच्चा मुफ्त में कैसे देगा ?

कसौटी पर परखना अनिवार्य

हर महामानव ने उपयुक्त पात्र को परीक्षा की कसौटी पर खरा सिद्ध पाने पर ही उसे सब कुछ दिया है । कुपात्रों को जब भी मिला है, संकट खड़ा हुआ है । सुपात्रों ने जब भी पाया है, सृष्टि को धन्य बनाया है ।

समर्थ गुरु रामदास ने शिवाजी को ढूँढ़ निकाला था तो भी अपने अनुमान को प्रत्यक्ष परखने के लिए सिंहनी का दूध लाने का आदेश दिया और जब आदर्श के लिए उपयुक्त साहसिकता दिखाने की बात सिद्ध हो गयी तो उनने उन्हें वह सब कुछ दिया जो देना चाहिए था । इन्द्र ने अर्जुन को गाण्डीव देने और महाभारत जिताने की बात सोची किन्तु साथ ही उसकी पात्रता जाँचने का भी निश्चय किया अन्यथा कुपात्र को दिये गये अनुदान ग्रहण करने वाले और देने वाले दोनों को ही संकट में फँसाते हैं । कुपात्र भस्मासुर को वरदान देने वाले शिवजी किस प्रकार विपत्ति में फँसे थे और दोनों को कितना त्रास सहना पड़ा यह सर्वविदित है । विश्वामित्र ने राम-लक्ष्मण को बला-अतिबला विद्या सिखाने पर भगवान की भूमिका निभा सकने की विशेषता से सम्पन्न पाया फिर भी आदर्शों के प्रति जोखिम उठाने वाली साहसिकता की कसौटी पर उन्हें जाँचने की आवश्यकता समझी गयी और यज्ञ रक्षा में सुबाहु, ताड़का, मारीच से निपटने का कष्ट साध्य काम उनके कन्धे पर डाल दिया । उत्तीर्ण हुए तो वे ऋषि आश्रम से भगवान बनकर ही लौटे ।

रत्नवर्षा की विद्या से अनर्थ

कुपात्र विभूतियाँ पाकर समस्याएँ खड़ी करते हैं । पदार्थ विद्या विलुप्त न हो जाय यह सोचकर बोधिसत्व ने जहाँ आत्म साक्षात्कार के लिए योगाभ्यास किया वहीं तन्त्र विद्या की कठोर साधनाएं भी कीं और अनेक गूढ़ रहस्यों का पता लगाया ।

वे चाहते थे कि लोक-मंगल के लिए आगे भी इस विद्या का उपयोग होता रहे तथा अस्तित्व बना रहे । एक बार एक ब्राह्मण युवक आया और उसने बोधिसत्व से तन्त्र विद्या सीखने की प्रबल जिज्ञासा व्यक्त की । बोधिसत्व ने तन्त्र विद्या के उस गोपनीय रहस्य का ज्ञान करा दिया जिसके द्वारा एक विशेष नक्षत्र में मन्त्र का उपयोग करके आकाश से रत्न वर्षा करायी जा सकती थी । पर उन्हें इस बात का पश्चाताप बना रहा कि उन्होंने सिखाने के पूर्व पात्रता की परीक्षा नहीं की ।

एक दिन वे उस ब्राह्मण युवक को साथ लेकर कहीं जा रहे थे । मार्ग में जंगल पड़ता था । चोरों ने दोनों को पकड़ लिया । ब्राह्मण को एक पेड़ से बाँध दिया तथा बोधिसत्व को यह कहकर छोड़ दिया कि निर्धारित मुद्राएँ आने पर ब्राह्मण युवक को छोड़ा जायेगा ।

बोधिसत्व चलने लगे तो उन्हें एकाएक याद आया कि यह नक्षत्र कल आने वाला है जब पदार्थ विद्या का प्रयोग करके रत्नों की वर्षा करायी जा सकती है । लोक मंगल के लिए बतायी गयी तन्त्र विद्या का अपने स्वार्थ के लिए कहीं दुरुपयोग न कर बैठे, यह सोचकर उन्होंने चलते-चलते ब्राह्मण के कान में कहा-'वत्स ! मैं मुद्राओं का प्रबन्ध करके शीघ्र ही लौटूँगा । देखना तुम तन्त्र विद्या प्रयोग मत करना अन्यथा अपना भी नाश कर लोगे ।'

दूसरे दिन वह नक्षत्र आया । बोधिसत्व की चेतावनी को भूलकर उसने मन्त्र का प्रयोग किया । रत्नों की वर्षा हुई, चोरों ने उसे खोल दिया । रत्नों को बाँधकर चलते बने । रास्ते में चोरों की एक दूसरी टोली मिली । उन्होंने इन चोरों को पकड़ लिया तथा रत्न के विषय में पूरी कहानी सुनी । थोड़ी ही दूर अभी ब्राह्मण युवक गया होगा कि दूसरी टोली ने उसे पकड़ लिया तथा रत्न वर्षा के लिए आग्रह किया । दूसरी बार ब्राह्मण ने यह कहते हुए असमर्थता व्यक्त की कि

मन्त्र का प्रयोग एक वर्ष में एक बार ही हो सकता है । क्रुद्ध होकर चोरों ने उसे मार डाला ? चोरों में रत्नों के लिए आपस में संघर्ष छिड़ा और अन्ततः सभी आपस में लड़-लड़कर मर गये ।

दूसरे दिन बोधिसत्व वहाँ पहुँचे । उनकी आशंका सच निकली । सम्पूर्ण दृश्य देखकर बोल पड़े-"पात्रता का ध्यान दिए बिना विभूतियाँ दे देना अन्ततः हानिकारक ही सिद्ध होता है ।"

गुणकर्मस्वभावेषूत्कृष्टत्वस्याभिवृद्धिका ।
परमेशस्य मुख्या साऽनुकम्पा विद्यते ध्रुवम् ॥ २२॥
एतदाश्रित्य व्यक्तित्वं परिष्कृतमथो भवेत् ।
फलतोऽन्तः प्रखरतां बाह्ये स साधु भावनाम् ॥ २३॥
वर्धमानां सदा पश्यत्यलं द्वे यस्य चागते ।
विभूती वस्तुनस्तस्य नास्ति कस्यापि न्यूनता ॥ २४॥

टीका-गुण, कर्म, स्वभाव में उत्कृष्टता की अभिवृद्धि निश्चित ही परमेश्वर की प्रमुख अनुकम्पा है । इसी के सहारे व्यक्तित्व परिष्कृत होता है । फलतः उपलब्धकर्त्ता अन्तःक्षेत्र में प्रखरता और बाह्य क्षेत्र में सद्भावना बढ़ती देखता है । जिन्हें ये दो विभूतियाँ मिल जाती हैं, उन्हें किसी भी वस्तु की कमी नहीं रहती ॥ २२-२४॥

व्याख्या-जब भी प्रभु की कृपा बरसती है तो साधक के अन्तरंग में सद्गुण वृद्धि के रूप में तथा बहिरंग में स्वभाव-सुसंस्कारिता के समावेश के रूप में । यदि इतना परिवर्तन न दिखाई पड़े तो समझना चाहिए कि साधक ने साधना नहीं मात्र समयक्षेप किया, उसकी आवाज ईश्वर तक नहीं पहुँची । साधना की सच्ची फलश्रुति है मनुष्य की अपने आन्तरिक दुर्गुणों से संघर्ष लेने योग्य प्रचण्डता और अपने व्यवहार क्षेत्र में सद्भाव का विस्तार । हम पाते यह हैं कि मनुष्य अन्तः के प्रति (अपने दुर्गुणों-स्वभाव में बैठी दुष्प्रवृत्तियों, कुसंस्कारों के प्रति) तो दयालु होता है परन्तु बाह्यक्षेत्र में कड़ा एवं कटु । जब यह स्थिति उलटने लगे तो मानना चाहिए कि साधक की साधना सफल रही, व्यक्तित्व का परिष्कार हुआ और यही प्रभु की अनुकम्पा, विभूति वर्षा है ।

नरेन्द्र-विवेकानन्द बने- युवक नरेन्द्र से जब भी रामकृष्ण परमहंस समाज सेवा, दलितों का उद्धार एवं विश्व निर्माण हेतु आगे आने की बात कहते नरेन्द्र एक ही बात कहता-'मुझे अपने पारिवारिक उत्तरदायित्व सम्भालने हैं ।' व्यामोह से मुक्ति दिलाने हेतु भगवत् स्वरूप रामकृष्ण को काली को माध्यम बनाना पड़ा । इससे जो शक्ति मिली, अन्तः में प्रकाश पहुँचा तो नरेन्द्र का गुण, कर्म, स्वभाव आमूल-चूल बदल गया और विवेकानन्द बनकर विश्ववंद्य महापुरुष कहलाये ।

अशोक, अंगुलिमाल व श्रद्धानन्द बदले- परमात्मा की कृपा सन्मार्ग पर चलने की प्रेरणा बनकर बरसती है । व्यक्ति, महामानव अथवा घटना क्रम भले ही माध्यम बन जायें, लक्ष्य होता है उस व्यक्ति के गुण, कर्म में परिष्कार, व्यक्तित्व में परिवर्तन ।

अशोक ने कलिंग विजय तो की पर उसके अन्तः का हाहाकार शान्त नहीं हुआ । भारी रक्त-पात व विनाश से प्राप्त यह सफलता उसे शान्ति नहीं दे पायी । बुद्ध की शरण में जाते ही उसका जीवन क्रम बदल गया, धर्मचक्र प्रवर्तन के शुभ प्रयोजन में उसने स्वयं को नियोजित कर दिया । अहंता को विकृति पर कठोर अंकुश ने जिस समर्पण भाव को जन्म दिया उसने उसे बुद्ध रूपी आदर्शवादी परमात्मसत्ता से जोड़कर महान् चक्रवर्ती-सम्राट अशोक के रूप में अमर कर दिया ।

अंगुलिमाल डाकू था, पर बुद्ध की करुणा उसके सूखे निष्ठुर अन्तःकरण पर कृपा बनकर बरसी । उसने अपना दृष्टिकोण बदला और पतन के पथ से स्वयं को मोड़कर प्रव्रज्या ले ली । धर्म कार्य में प्रवृत्त होते ही उसकी जीवनधारा ही बदल गयी ।

आर्यसमाज के प्रसिद्ध नेता स्वामी श्रद्धानन्द अपनी युवावस्था में कुमार्गगामी भी रहे थे । तब वे एक

कोतवाल के कुसंगग्रसित पुत्र थे । उन्हें मद्य, माँस, जुआ का चस्का लग गया था । होनहार जीवन भी कुसंग में पड़कर बुराईयों में प्रवृत्त हो जाते हैं । एक दिन मुन्शीराम (स्वामी श्रद्धानन्द का पूर्व नाम) शराब के नशे में वेश्या के यहाँ भी गये । बहुत रात बीतने पर घर आये तो उल्टी होने लगी । उनकी पत्नी आदर्श नारी थी । उसने उन्हें कुल्ला कराया, उल्टी से सने हुए कपड़े बदल कर पलंग पर लिटा कर सिर दबाने लगी । नींद आयी और वे सो गये । जब नींद खुली तो पानी माँगा । देवी उठी और उसने मिश्री मिलाकर दूध पति को पिलाया । अब कुछ होश आया तो वह पूछने लगे 'अभी तुम जग ही रही हो भोजन किया है या नहीं ?' पत्नी बोली-"मैं आपको भोजन कराये बिना स्वयं कैसे खा लेती ?" अपनी पत्नी की इतनी उदारता और श्रद्धा को देखकर पति का हृदय भर आया । वे अपने कृत्यों पर क्षमा माँगने लगे तो पत्नी ने कहा-'आप मेरे स्वामी हैं, ऐसा कहकर मुझ पर पाप न चढ़ावें । मैंने तो आपको ही परमेश्वर मानकर आपकी सेवा करना अपना कर्तव्य समझा है ।' उसी रात से उनका जीवन बदल गया । स्वामी श्रद्धानन्द ने अपनी जीवनी में इसको अपने जीवन की दिशा बदलने वाली घटना बताया है ।

अनगढ़ वानर-अनुशासित सैनिक

बन्दर वैसे ही स्वभाव के चंचल होते हैं । उनसे किसी सृजन कार्य में प्रवृत्त होने की आशा की भी कैसे जा सकती है । परन्तु जब वे ही अनगढ़ वानर रामकाज में लगे, प्रभु ने उन पर कृपा बरसायी तो वे अनुशासन में बँधे सैनिक बन गये, सेतु बंधन, असुर संहार जैसे महान् कार्य में भगवान राम के सहयोगी बन धन्य हुए ।

ईश्वरस्य तु सद्भक्तिः साधकं मान्यसद्गुणैः ।
परिपूर्णं विनिर्माति सहैवोदारतां तथा ॥ २५॥
ददाति येन कार्यं स्वं पूरयन्न्यूनतस्तथा ।
उपलब्धेर्लाभयुतं कर्तुं शक्येत भूतलम् ॥ २६॥
एतादृशास्तु भक्ता ये भूसुरास्ते तु निश्चितम् ।
अयाचितजस्रं ते लभन्ते योगमैश्वरम् ॥ २७॥

टीका-सच्ची ईश्वर भक्ति साधक को मानवी सद्गुणों से परिपूर्ण बनाती है । साथ ही ऐसी उदारता प्रदान करती है कि अपना काम न्यूनतम में चलाकर उपलब्धियों से विश्व-वसुधा को लाभान्वित किया जा सके । ऐसे भक्तजन इस धरती के देवता होते हैं । उन्हें बिना माँगे ही ईश्वर का अजस्र सहयोग मिलता है ॥ २५-२७॥

व्याख्या-भक्ति का प्रमाण यह नहीं कि कौन क्या-क्या सिद्धि पा सका । अपितु ईश्वर भक्ति मनुष्य में ऐसी उदारमना वृत्ति का समावेश करती है कि व्यक्ति अपनी नहीं सारी मानवता की पीड़ा समझता है । इसके लिए अपने अन्तः में सद्गुणों की वृद्धि कर वह स्वयं औसत नागरिक का जीवन जीता है ताकि सृष्टि के सभी प्राणी उपलब्ध साधनों का आवश्यकतानुसार उपयोग कर सकें ।

अपने लिए न्यूनतम, शेष समाज के लिए

हर्षवर्धन ने सर्वमेधयज्ञ किया व सारा धन परमार्थ हेतु नियोजित कर दिया । स्वयं निर्वाह योग्य साधन रखे जब कि सम्राट होते हुए वे पूरी सुविधा से जी सकते थे । जनक राजा थे पर रहते ऋषि की तरह थे । विदेह नाम से जाने गये जनक जीवन्मुक्त स्थिति में उदारमना जीवन जीते थे । ईश्वरचन्द्र विद्यासागर अपनी कमाई का थोड़ा सा निर्वाह योग्य अंश अपने लिए व शेष समाज के लिए खर्च करते थे । ऐसी उदारता ही सच्ची भक्ति कहलाती है ।

स्वामीजी ने सारी रोटियाँ बाँट दी

स्वामी रामतीर्थ के जीवन की एक घटना है । भ्रमण एवं भाषणों से परिश्रांत स्वामी जी अपने निवास स्थान पर लौटे । उन दिनों वे एक महिला के यहाँ ठहरे थे । वे अपने ही हाथों भोजन बनाते थे । अपने स्वभाव के अनुसार वे भोजन की तैयारी ही कर रहे थे कि कुछ बच्चे पास में आकर खड़े हो गये । उनके पास बहुत बच्चे आया करते थे ।

बच्चे भूखे थे । स्वामीजी ने अपनी सारी रोटियाँ एक-एक करके बच्चों में बाँट दी । महिला वहीं बैठी सब देख रही थी । बड़ा आश्चर्य हुआ उसे । आखिर पूछ ही बैठी-'आपने सारी रोटियाँ तो उन बच्चों को दे डालीं, अब आप क्या खायेंगे ?'

स्वामीजी के अधरों पर मुस्कान दौड़ गयी । उन्होंने प्रसन्न होकर कहा-'माता, रोटी तो पेट की ज्वाला शान्त करने वाली वस्तु है । यदि इस पेट में न सही, तो उस पेट में सही ।' देने का आनन्द पाने के आनन्द से बड़ा है ।

महाकवि माघ अपनी उदारता के लिए प्रसिद्ध थे । उन दिनों उनकी आर्थिक स्थिति खराब चल रही थी फिर भी हृदय की उदारता पहले जैसी ही थी । एक रात उनके घर पर एक याचक आया । उसने बताया-'मुझे अपनी कन्या का विवाह करना है और मेरे पास में कुछ भी नहीं है । आपकी ख्याति सुनकर आपके पास आया हूँ । कुछ सहायता मिल जाय तो मेरा काम बन जाये ।'

कवि माघ का हृदय भर आया । घर की सम्पत्ति पर दृष्टि डाली । पास में सौ रुपये भी नहीं थे । तभी पास ही सो रही पत्नी के शरीर पर दृष्टि गई । धीरे-धीरे एक कंगन उतारा और अतिथि को देते हुए बोले-'इस समय अधिक के लिए मैं विवश हूँ । जो कुछ पास में है उसे ही स्वीकार कीजिए ।'

तभी पत्नी की आँख खुली, वस्तुस्थिति को समझा । मन्द मुस्कराहट के साथ बोली-'भला विवाह जैसा कार्य एक कंगन में कैसे हो सकेगा ? यह दूसरा भी ले जाइये ।' और दूसरा कंगन भी उतार कर दे दिया । माघ, पत्नी के इस कृत्य पर पुलकित हो उठे ।

धरती के देवता

ऐसे व्यक्ति मानवी काया में रहते हुए भी देवता जैसा जीवन जीते हैं और धरती को ही स्वर्ग बना लेते हैं । उन्हें कोई लौकिक आकर्षण प्रभावित नहीं कर पाता ।

महाराज बिन्दुजात ने निश्चय किया कि राज्य में जो निराश्रय साधु हैं उन्हें राज्य वृत्ति प्रदान की जाये । एक 'कोष' नियत किया गया जिसमें से प्रतिदिन एक लाख स्वर्ण मुद्रायें राज्य के साधु-सन्तों को भोजन निर्वाह आदि के लिए बाँटने की व्यवस्था रखी गई । यह कार्य नीति-निपुण मन्त्री आचार्य गृत्समद् को सौंपा गया । गृत्समद् कई दिन तक धन की थैली लेकर घूमे किन्तु एक भी स्वर्ण मुद्रा का वितरण न हो सका । हार कर उन्होंने अब तक का सारा 'कोष' सम्राट् बिन्दुजात को लौटा दिया ।

महाराज ने पूछा-'महामन्त्री उस दिन धनराशि का वितरण नहीं हो पाया क्या ? क्या इतने बड़े राज्य में एक भी साधु-सन्त नहीं जिसे हमारी सहायता की आवश्यकता हो ?' इस पर एक दीर्घ नि:श्वास छोड़ते हुए गृत्समद् ने उत्तर दिया-'नहीं हो पाया आर्य ! कठिनाई यह है कि कोष उन साधु-सन्तों के लिए नियत है जो लोक-मंगल का कार्य करते हों ऐसे सन्त राज्य में कम नहीं, पर वे धन स्वीकार नहीं करते ? उनकी सामान्य सी आवश्यकतायें हैं उसके लिए वे सहयोग नहीं लेना चाहते । इस शर्त पर वे धन को स्वीकार कर सकते हैं कि लोक मंगल के कार्यों में खर्च करेंगे । हे राजन् ! आप यदि देना ही चाहते हैं तो उन्हें व्यक्तिगत प्रयोग के नाम पर नहीं, लोककल्याण के लिए सहर्ष दे सकते हैं । उसके लिए वे तैयार हो जायेंगे क्योंकि संसार की सेवा उन्हें अभीष्ट है । सेवा के लिए साधन भी आवश्यक हैं ।'

स्वर्ग में भक्त निवास खाली

ऋषि वरुद किसी आवश्यक काम से एक बार इन्द्र से मिलने स्वर्ग पहुँचे । इन्द्र ने उनका अभिनन्दन किया । स्वर्ग का दर्शन कराने के लिए उनको साथ लेकर चले । कर्मानुसार कितने ही व्यक्ति स्वर्ग में भोग-विलास से युक्त जीवन व्यतीत कर रहे थे । स्वर्ग के मध्य में कितने ही स्वर्ण महल बने थे । वरुद ऋषि ने पूछा-'ये सुन्दर महल खाली क्यों पड़े हैं जबकि भोग-विलास के सभी साधनों से सुसज्जित हैं ।' इन्द्र ने उत्तर दिया-'ये महल उदार भक्तों, सन्तों के लिए बनाये गये हैं । खाली इसलिए पड़े हैं कि वे यहाँ आकर भोग विलास में नहीं रमना चाहते । उन्हें जन-सेवा में ही आनन्द आता है ।' ईश्वरीय सहयोग ऐसे भक्तों के लिए स्वत: उमड़ता रहता है ।

स्वर्ग नहीं सेवा का अवसर

सन्त अरिष्टनेमि की भक्ति से प्रसन्न होकर इन्द्र ने देवदूत को उन्हें सादर स्वर्ग में लाने के लिए भेजा । देवदूत सन्त के पास आकर बोला-'महाभाग ! मुझे सुरपति इन्द्र ने भेजा है । उनका आग्रह है कि आप मेरे साथ स्वर्ग चलें और वहीं निवास करें ।'

'स्वर्ग !' सन्त ने तो परमार्थ से आत्म कल्याण की बात सुनी थी, जब स्वर्ग बीच में आ टपका तो उनको कहना ही पड़ा-'भाई अपना स्वर्ग तो मैंने यहीं बना रखा है । मैं क्या करूँगा उन सुविधाओं का ? जो आनन्द मुझे उन उपभोगों में मिलता वही यहाँ धरती पर जन-जन की सेवा करने में मुझे प्राप्त होता है । इसके समक्ष तुम्हारा स्वर्ग मेरे लिए फीका है ।'

ईश्वरानुग्रहमात्मविश्वासं योऽधिगच्छति ।
समर्थः स तथा मन्ये कुबेरेन्द्रानुकम्पितः ॥ २८॥
इमान्यासुमेकमात्रमुपायो योग्यतोदयः ।
सघनात्मीयता चास्य हेतोर्योज्येश्वरेण तु ॥ २९॥
अनुशासनं प्रभोस्तस्य स्वीकर्त्तव्यं भवत्यपि ।
महते समर्पितात्मानस्तद्रूपसमतां गताः ॥ ३०॥

टीका-आत्म विश्वास और ईश्वर अनुग्रह उपलब्ध कर लेने वाला व्यक्ति इतना समर्थ सम्पन्न होता है, मानो उसे इन्द्र-कुबेर का सहयोग मिल गया । इन्हें प्राप्त करने का एक मात्र उपाय है-अपनी प्रामाणिकता विकसित करना । इसके लिए ईश्वर के साथ सघन आत्मीयता जोड़नी होती है । उसका अनुशासन अपनाना होता है । महान् के साथ समर्पण-विसर्जन करने वाले तद्रूप होते देखे गये हैं ॥ २८-३० ॥

व्याख्या-सद्गुणों की अभिवृद्धि व्यक्ति में आत्म विश्वास बढ़ाती है । अपने पर विश्वास ही ईश्वरीय सत्ता में विश्वास है-इसे ही सच्ची आस्तिकता कह सकते हैं । ऐसे व्यक्ति प्रभु की कृपा सामर्थ्य के रूप में (इन्द्र का सहयोग) तथा सम्पन्नता के रूप में (कुबेर का सहयोग) पाते हैं, अपनी विभूतियों का सदुपयोग कर स्वयं धन्य बनते हैं, अनेक को कृतार्थ कर जाते हैं ।

संत सेनापति बने

परमात्मा अपने अनुग्रह आत्मविश्वासी पर बरसाता है । तक्षशिला पर एक दूसरे राजा ने आक्रमण कर दिया । शत्रु की विशालकाय सेना को देखकर तक्षशिला के सेनापति की हिम्मत टूट गयी । तक्षशिला नरेश से सेनापति ने कहा-'राजन् ! शत्रु की सेना विशाल है, अस्त्र-शस्त्रों से सुसज्जित है । संधि कर लेना अपने लिए अच्छा है ।' सेनापति की बात सुनकर राजा चिन्तित बैठे थे । उसी राज्य के सन्त को पूरी बात मालूम हुई । वे राजा के पास पहुँचे और बोले-'अविलम्ब सेनापति को निकाल बाहर किया जाय । मैं स्वयं सेना का नेतृत्व करूँगा ।' राजा थोड़ी देर असमंजस में पड़ा रहा, पर सन्त के परामर्श समय-समय पर उसके लिए लाभकारी सिद्ध हो चुके थे । आत्म समर्पण करने की तुलना में लड़ना कहीं अधिक श्रेयस्कर है, यह सोचकर सन्त के हाथों में सेना का नेतृत्व दे दिया ।

शत्रु सेना का पड़ाव थोड़ी दूर था । मार्ग में देवता का मन्दिर था । सन्त ने कहा-'पहले देवता से पूछ लेना चाहिए कि विजय किसकी होगी ।' सेना के समक्ष मन्दिर के प्रांगण में सिक्का उछालते हुए संत ने कहा-'यदि सिक्का पट गिरता है तो विजयश्री हमें हासिल होगी ।' संयोग से सिक्का पट गिरा । दैवी कृपा अनुकूल जानकर सेना के सिपाही पूरी वीरता के साथ लड़े । विजय प्राप्त हुई । सैनिकों ने सन्त से कहा-'यह सब मंदिर के देवता की कृपा का प्रतिफल है ।' सन्त मुस्कराये । उन्होंने सिक्का दिखाया । सिक्के के दोनों ओर आकृति एक जैसी थी । बोले, यह सब आत्म-विश्वास का प्रतिफल है । जो पहले सोया हुआ था वह जग पड़ा । विजयश्री चेरी बन गयी ।

बुद्ध को कीड़े से प्रेरणा

बुद्ध को तब आत्मबोध नहीं हुआ था । तपश्चर्या में संलग्न थे । कितनी ही कष्टसाध्य साधनाएँ कीं, पर लक्ष्य की प्राप्ति नहीं हुई । मन अशान्त और अस्थिर हो गया । सोचने लगे इस जीवन से तो अच्छा था महल में रहकर सुख-सुविधाओं से युक्त जीवन व्यतीत करता । वापिस लौटने की सोच रहे थे । निकट ही एक कीड़ा एक वृक्ष पर चढ़ने का प्रयास कर रहा था । उसने दस बार चढ़ने का प्रयत्न किया पर हर बार असफल रहा । ग्यारहवीं बार चढ़ने में सफल हो गया । ऐसा लगा बुद्ध को जैसे यह दृश्य उन्हीं की प्रेरणा के लिए रचा गया हो । बुद्ध का आत्म-विश्वास जग पड़ा और पूरी दृढ़ता के साथ आत्म साधना के लिए आरूढ़ हो गये और अन्ततः अपने लक्ष्य को प्राप्त करने में सफल हुए । इस सामर्थ्य को सत्प्रवृत्ति संवर्धन में नियोजित करके विचार क्रांति कर सके ।

लक्ष्मण की मूर्छना व आत्मविश्वास

मेघनाद ने लक्ष्मण पर तेजपूर्ण शक्ति का प्रहार किया तो वे मूर्च्छित हो गए । हनुमानजी द्वारा संजीवनी लायी जाने पर वे जागे । दूसरी बार जब वे फिर मेघनाद की माया के

समक्ष आ खड़े हुए तो वही शक्ति उनका कुछ नहीं बिगाड़ पायी । अग्रज के वचनों ने उनका आत्मविश्वास जगा दिया और दृढ़ संकल्पित होकर उन्होंने तप द्वारा अर्जित अपनी सामर्थ्य असुर के संहार हेतु लगा दी । वही सामर्थ्य पहले भी उनके पास थी पर आत्मविश्वास नहीं था । मेघनाद की माया व असुरत्व को जिस प्रकार शेषजी रूपी लक्ष्मण ने नष्ट किया, उसी प्रकार अपनी सामर्थ्य व ईश्वरीय सत्ता का अपने अन्दर अस्तित्व मानकर जो भी उसे प्रयुक्त करता है, कभी भ्रम-जंजाल में पड़कर पथ-भ्रष्ट नहीं होता । माया के बंधनों को तोड़ फेंकता है ।

शल्य द्वारा कर्ण का मनोबल तोड़ना

आत्मविश्वास टूटा तो सामर्थ्य चाहे वह कितनी ही प्रचण्ड-अजेय क्यों न हो, काम नहीं आती और पराजय का मुख देखना पड़ता है ।

अपनी फूट नीति से महाभारत युद्ध में दुर्योधन ने शल्य को कर्ण का सारथी बनने के लिए सहमत कर लिया । कर्ण ने कहा था, 'यदि मुझे शल्य जैसा सारथी मिल जाय तो एक अर्जुन तो क्या सैकड़ों अर्जुन जैसे वीरों को मार दूँगा ।'

पाण्डवों को मालूम हुआ कि मामा शल्य ने कर्ण का सारथी बनना स्वीकार कर लिया है । शल्य का सारथी बनना सचमुच ही पाण्डवों के लिए खतरे से खाली न था । बात कृष्ण को मालूम हुई । नीति निपुण कृष्ण ने शल्य से निवेदन किया-'कर्ण का सारथी बनने के लिए आप वचनबद्ध हैं । युद्ध में कौरवों का साथ दीजिए, पर धर्म युद्ध के लिए मात्र आप कर्ण को हतोत्साहित करते रहियेगा ।' शल्य ने कृष्ण का निवेदन स्वीकार कर लिया । इतिहास प्रसिद्ध है कि शल्य के हतोत्साहित करते रहने के फलस्वरूप ही कर्ण का मनोबल टूटता रहा । फलत: वह हारा और मारा गया ।

आत्मविश्वासियों को ही ईश्वर का अनुग्रह मिलता है, पर वह प्राप्त होता है एक ही कीमत पर । अपनी प्रामाणिकता सिद्ध करने पर । प्रामाणिकता का अर्थ है प्रभु का अनुशासन मानना, उसकी व्यवस्था में विश्वास रखना, जो भी वह कहे उसे बिना तर्क-वितर्क के मानना । इसी तथ्य को रामायणकार ने कहा है-

मम सेवक मम प्रियतम सोई । मम अनुशासन मानहिं जोई ॥

आरुणि और उपमन्यु

प्रामाणिकता का परिचय आरुणि और उपमन्यु ने दिया तो बदले में अनुदान पाया ।

ऋषि धौम्य ने नवागत शिष्य आरुणि की प्रथम दिन ही कठोर परीक्षा ली । उस दिन मूसलाधार बारिश हो रही थी । गुरु ने शिष्य से कहा-'बेटा आरुणि ! बारिश में कहीं खेत की मेंड़ टूट न गई हो । सब पानी निकल जायेगा । तुम जाओ और देखो तो जरा । मेंड़ टूट गई हो तो बाँध आना ।'

आरुणि तत्काल उठा । सचमुच खेत की मेंड़ टूट गयी थी । पानी का बहाव बहुत तेज था । सब उपाय कर देखे, परन्तु मेंड़ रुकी नहीं । अब कोई उपाय न देख आरुणि स्वयं उस स्थान पर लेट गया । इस प्रकार पानी को रोके रहने में उसे सफलता मिल गई ।

बहुत रात गये तक भी वह वहीं लेटा रहा । आश्रम न लौटा तो ऋषि को चिन्ता हुई । वे उसे खोजने खेत पर चल दिये । देखा तो छात्र पानी को रोके मेंड़ के पास बेहोश पड़ा है । देखते ही गुरु की आँखें भर आयीं । उन्होंने शिष्य को कन्धे पर उठाया तथा आश्रम की ओर चल दिये ।

उपचार परिचर्या के बाद आरुणि ठीक हुआ तो ऋषि ने अपने तपोबल के प्रभाव से उसे जीवन विद्या में पारंगत बना दिया ।

शिष्य उपमन्यु को गौएँ चराते हुए अध्ययन करते रहने की आज्ञा दी । पर उसके भोजन का कुछ प्रबन्ध न किया और देखना चाहा कि देखें वह किस प्रकार अपना काम चलाता है । छात्र भिक्षा माँग कर भोजन करने लगा । वह भी न मिलने पर गौओं का दूध दुहकर अपना काम चलाने लगा ।

धौम्य ने कहा-'बेटा उपमन्यु ! छात्र के लिए उचित है कि आश्रम के नियमों का पालन करे और गुरु की आज्ञा बिना कोई कार्य न करे । छात्र ने अपनी भूल स्वीकार की और कहा भविष्य में भूखा रहना तो बात क्या है, प्राण जाने का अवसर आने पर भी आश्रम की व्यवस्था का पालन करूँगा । उसने कई दिन निराहार होकर बहुत दुर्बल हो जाने तक अपनी इस निष्ठा की परीक्षा भी दी । निष्ठा की सम्पदा कमा कर वह महान् बना ।

राजा दिलीप-नन्दिनी प्रसंग

वानप्रस्थ ग्रहण करने के बाद महाराजा दिलीप पत्नी सहित महर्षि वशिष्ठ के आश्रम में पहुँचे । वशिष्ठ ने उन्हें एक गाय नन्दिनी की सेवा पर नियुक्त किया ।

नन्दिनी जब चरने के लिए जंगल में जाती तो महाराज दिलीप धनुष-बाण लेकर उसकी रक्षार्थ साथ जाते । पत्नी भी साथ होती । एक दिन सिंह नन्दिनी पर आक्रमण करने के लिए लपका । दिलीप ने धनुष की प्रत्यंचा पर बाण चढ़ाया, सिंह रुका और बोला-'दिलीप तुम जिसे सिंह समझते हो वह नहीं, मैं भगवान शंकर का वाहन हूँ, तुम्हारे शस्त्रों का मुझ पर प्रभाव न होगा ।'

'आप जो भी हों वनराज' दिलीप ने कहा-'मैं नन्दिनी पर किसी भी प्रकार का प्रहार नहीं होने दूँगा ।' वनराज ने कहा-'मैं मान जाऊँगा यदि तुम नन्दिनी के बदले में अपना शरीर देकर मेरी भूख मिटाओ ।' 'सहर्ष प्रस्तुत हूँ' और दिलीप ने यह कहकर धनुष बाण समेटे । उन्होंने सिर झुकाया परन्तु काफी समय तक कोई हलचल नहीं हुई तो उस स्थान की ओर देखा, जहाँ सिंह खड़ा था । परन्तु वहाँ सिंह नहीं था, मुस्करा रहे थे महर्षि वशिष्ठ । 'तुम्हारी साधना-तपश्चर्या पूरी हुई वत्स ! अब तुम तत्वज्ञान के अधिकारी हो गये हो ।'

दिलीप की साधना ने उन्हें जिस आधार पर ऊँचा उठाया, वह प्रत्येक सामान्य से सामान्य व्यक्ति के अन्तः में विद्यमान है ।

ऐसी ही परीक्षा समर्थ रामदास ने तपोबल से सिंहनी की उत्पत्ति कर उसका दूध लाने की आज्ञा देकर शिवाजी की ली थी । खरा उतरने पर उन्होंने उन्हें वे सारे शक्ति अनुदान दिये जिस कारण वे छत्रपति कहलाये ।

प्रामाणिकता का ही परिणाम है कि बुद्ध के संघाराम-विहार विश्व भर में फैले । बुद्ध की सामर्थ्य-समृद्धि का परिचय इससे अधिक और क्या हो सकता है । गुरु नानक की प्रामाणिकता का, आस्तिकता का प्रमाण है-विश्व भर में फैले गुरुद्वारे । रामकृष्ण परमहंस की ईश्वर के साथ सघन आत्मीयता का परिचय उनके शिष्यों द्वारा संस्कृति विस्तार के विश्वव्यापी अभियान तथा मिशन के मठों की स्थापना को देखकर मिलता है ।

ईश्वरीय अनुशासन मानने वाले सदैव उसी के हो जाते हैं, उसके समान सामर्थ्यवान व वैभवशाली बनते हैं ।

साधनाऽऽराधनोपासनानां तु त्रिभिरीश्वरः ।
उपायैर्जीवसत्तायां प्रवेशं लभते ध्रुवम् ॥ ३१॥
देवोपमचरित्रं च निर्मातुं प्रेरयत्यसौ ।
मनुष्यमेतदालोकानुरूपं ये चलन्ति ते ॥ ३२॥
भक्ता असीमसामर्थ्यं प्राप्नुवन्ति यथा च ते ।
आश्रयं कंचनान्यं तु न भजन्ति मुनीश्वराः ॥ ३३॥
सर्वाभ्यश्च दिशाभ्यस्तु वर्षतीव तथाञ्जसा ।
सहयोगोऽनुकूलायां स्थितौ सौभाग्यसम्पदा ॥ ३४॥

टीका-उपासना, साधना, आराधना के तीन उपायों से ईश्वर, जीवसत्ता में प्रवेश करता है तथा मनुष्य को देवोपम चिन्तन-चरित्र विनिर्मित करने की प्रेरणा देता है । इस आलोक के अनुरूप साहसपूर्वक चलने वाले, भक्तजन इतनी असीम सामर्थ्य प्राप्त करते हैं कि हे मुनीश्वरो ! फिर उन्हें अन्य किसी का सहारा लेना नहीं पड़ता । उन पर हर दिशा से सहयोग अनायास ही बरसता है, जैसे अनुकूल परिस्थियों में सौभाग्य-सम्पत्ति आदि ॥ ३१-३४॥

व्याख्या-अपने गुण, कर्म, स्वभाव का परिष्कार, अन्दर विद्यमान दिव्य सत्ता पर विश्वास तथा प्रमाणिकता का परिचय देकर मनुष्य इस योग्य बन जाता है कि ईश्वरीय आलोक उसके अन्दर प्रवेश कर सके । इसके लिए जो उपाय अपनाने होते हैं वे भी अपने स्थान पर अनिवार्य हैं । उपासना, साधना, आराधना के रूप में जो विविध उपक्रम अपनाने होते हैं वे इसी निमित्त होते हैं ।

(१) **उपासना**-उपासना अर्थात् आदर्शों का समुच्चय, परब्रह्म के साथ अधिकाधिक समीपता स्थापित करना । उसकी प्रेरणाएं अधिकाधिक मात्रा में आत्मसात् करना । सान्निध्य की भक्ति भावना उभारना और चन्दन वृक्ष के समीप उगने वाले वृक्षों की तरह अधिकाधिक सुरभित बनते जाना । क्रमशः अग्नि और ईंधन जैसी एकात्मता स्थापित करना । उपासना के प्रतिफल क्या हो सकते हैं, उसका परिचय प्रस्तुत आख्यान से मिलता है ।

राजा के साथ बैठने का फल

एक बार एक ब्राह्मण ने किसी सेठ के यहाँ अपनी राशि जमा कर दी ताकि कन्या के ब्याह के समय ब्याज समेत वे रुपये उसे मिल जावें । बहुत वर्ष बीत गये । आवश्यकता पड़ने पर वह ब्राह्मण अपने रुपये वापिस लेने पहुँचा । पर सेठ की नीयत में बदी आ गई । उसने उस ब्राह्मण को पहचानने तक से इन्कार कर दिया और कहा–'हमारे यहाँ आपका कोई पैसा नहीं है ।'

ब्राह्मण राजा के पास पहुँचा । उसने पुकार की । प्रमाण के अभाव में राजा कुछ कर तो नहीं सकते थे पर उन्हें एक युक्ति सूझी और दूसरे दिन अपनी शोभा यात्रा नगर में निकालने की घोषणा कर दी । ब्राह्मण से कह दिया कि–'आप उस सेठ के मकान से कुछ पहले ही खड़े रहना ।' शोभा-यात्रा निकली । सभी नागरिक अभिवादन करने खड़े थे । सेठ के मकान के पास से जब सवारी निकली तो राजा ने सवारी रोककर नियत स्थान पर खड़े ब्राह्मण को अपने पास बिठा लिया और उसे गुरुदेव कहकर सम्बोधित किया । कुछ आगे चलकर उस ब्राह्मण को सवारी से उतार दिया ।

सेठ का हृदय काँपने लगा । राजा का गुरुदेव यह ब्राह्मण है । मेरी शिकायत कर देगा तो न जाने क्या दण्ड मिले ? सेठ ने उस ब्राह्मण की तलाश में सेवक दौड़ाये । कुछ दूर आगे जाने पर ही वे मिल गये । सेठ ने उसका बहुत सम्मान किया और कहा–'बहीखातों में आपका धन जमा था, हमें स्मरण नहीं रहा था, उसके लिए क्षमा करें ।' सेठ ने ब्याज समेत सारा रुपया और उसकी कन्या के विवाह के लिए कुछ विशेष दान देकर बिदा किया ।

ब्राह्मण मन-ही-मन सोचने लगा–'राजा के पास थोड़ी देर बैठने का यह परिणाम होता है तो राजाओं के राजा ईश्वर के पास बैठने, उसकी उपासना करने का तो न जाने कितना बड़ा प्रतिफल होगा ?' चिंतन में यह परिवर्तन भक्त की विचारणा, क्रिया व निष्ठा में कायाकल्प कर देता है जो उसे ऊँचाई पर ले जाकर ही छोड़ता है ।

उपासना का अर्थ है–समीपता । यों तो भगवान कण-कण में संव्याप्त हैं, ओत-प्रोत हैं पर यह समीपता उथली है, गहरी नहीं । अपने को ईश्वर के समकक्ष-तद्रूप बनाने के लिए उसकी समीपता का उपक्रम बनाना पड़ता है । सामीप्य-संगति का माहात्म्य सर्वविदित है । यदि ईश्वर के पास बैठकर भी मानव जीवन घिनौना रहा तो यह उपासना नहीं–बाह्योपचार भर है । ईश्वर उत्कृष्टताओं का भण्डार है । उसकी समीपता से भी वैसी ही विशेषताएँ अंदर बढ़नी चाहिए । चंदन के समीप उगे झाड़-झंखाड़ तक सुगंधित हो जाते हैं । कीट-भृंग का, टिड्डे का हरी घास में रहने से हरे होने का उदाहरण सर्वप्रसिद्ध है । उपासना सच्ची तभी है जब जीवन में ईश्वर घुल जाये ।

(२) साधना–साधना का अर्थ है जीवन-साधना । आत्म निरीक्षण, आत्मशोधन, आत्मनिर्माण एवं आत्मविकास की अन्तःचेतना उत्पन्न करने के लिए स्वाध्याय, सत्संग, चिन्तन, मनन का नियमित प्रबन्ध करना । इस माध्यम से अन्तर्जगत का पर्यवेक्षण कर अभ्युदय का पथ-प्रशस्त करना । अन्तरंग में सुसंस्कारिता का अभिवर्धन और व्यवहार में सज्जनोचित सभ्यता का अभ्यास करना । इन निर्धारणों को संकल्पपूर्वक स्वभाव-अभ्यास का अविच्छिन्न अंग बनाने हेतु प्रयत्नरत रहना । संक्षेप में यही है जीवन साधना जिसमें अनगढ़ को सुदृढ़ बनाया जाता है । इसी प्रयास से नर को नारायण बनने का सौभाग्य मिलता है ।

वन्य पशुओं के सधने से पालतू हो जाने, किसान की साधना द्वारा ऊबड़-खाबड़ ऊसर जमीन के उर्वर हरीतिमा युक्त हो जाने के उदाहरण ऐसे हैं जो बताते हैं कि साधना के माध्यम से मानव जीवन को एक उद्यान की तरह पुष्पित-पल्लवित किया जा सकता है । साधना में अपने चिन्तन को उत्कृष्ट और कर्तृत्व को आदर्श बनाने के लिए हर पल प्रयत्नशील रहने की सुनिश्चित योजना बनाकर चला जाता है । उपासना कुछ क्षणों की हो सकती है पर साधना अनवरत चलनी चाहिए ।

(३) आराधना–लोकमंगल के लिए समाज को अपने उपार्जन, श्रम, समय, सम्पदा का अंश अर्पित करना । सेवा धर्म द्वारा समाज ऋण से मुक्ति, ईश्वरीय अपेक्षा की पूर्ति एवं सर्वतोमुखी प्रगति के तीनों ही उद्देश्य इस उदार परमार्थ परायणता के बदले ही खरीदे जाते हैं ।

नामदेव-पीड़ितों में प्रभु दर्शन

'ईश्वर की प्राप्ति कहाँ से हो सकती है ?' एक जिज्ञासु युवक ने पूछा । सन्त नामदेव ने कहा–'सायंकाल मेरे साथ चलना, मैं तुम्हें ईश्वर का साक्षात् दर्शन करा लाऊँगा ।'

युवक शाम की उत्सुकता पूर्वक प्रतीक्षा करने लगा । शाम हुई और चल पड़ा संत के साथ । संत नामदेव ने हरिजन बस्ती में एक वृद्ध के घर उसे ले जाकर खड़ा कर दिया ।

टूटी खाट पर एक बोरा बिछाये एक दस वर्षीय मातृहीन बालक लेटा हुआ था । वैद्यों ने बताया था कि उसे 'क्षय रोग' हो गया है । संत नामदेव ने प्यार से उसे दवा पिलायी, सेवा-सुश्रूषा की । थोड़ी देर बाद दूसरे दिन पुनः आने का आश्वासन देकर युवक को लेकर वापिस चल पड़े । युवक ने पूछा-"तात् ! आपने ईश्वर दर्शन कराने का आश्वासन दिया था ।" संत बोले-'वह बच्चा ही ईश्वर था ।' युवक को विश्वास हो गया कि पीड़ित मानवता की सेवा ही सच्ची आराधना है ।'

सहायता के लिए संत ने ध्यान तोड़ा

राजा विक्रमादित्य एक बार जंगल में आखेट के लिए निकले । जंगल में भटक गये । साथी भी कहीं मार्ग में छूट गये । निविड़ वन में प्यास के कारण राजा का दम घुटने लगा । कहीं पानी दिखायी नहीं दे रहा था । सामने एक पर्ण कुटी पर दृष्टि पड़ी, किसी तरह कुटी तक राजा पहुँचे । भीतर देखा तो एक साधु समाधिमग्न थे । इतने में राजा मूर्छित होकर गिर पड़े ।

मूर्छा दूर हुई तो महाराजा विक्रमादित्य ने देखा वही सन्त उसका मुँह धो रहे हैं तथा पंखा झल रहे हैं । होश में आते ही संत ने राजा को पानी पिलाया । राजा ने विस्मयवश पूछा-'आपने मेरे लिए समाधि क्यों भंग की, अपनी उपासना क्यों बन्द कर दी ।' सन्त मधुर वाणी में बोले-'वत्स ! भगवान की इच्छा है कि उनके संसार में कोई दुःखी न रहे । उनकी इच्छा की पूर्ति आवश्यक है । दूसरों की सेवा से ही उपासना सफल होती है ।'

डूबते को बचाना सच्ची आराधना

नदी के किनारे से संत ज्ञानेश्वर जा रहे थे । समीप में ही एक लड़का स्नान कर रहा था और एक महात्मा जप कर रहे थे । एकाएक बच्चे का पैर फिसल गया और वह तेज बहाव में चला गया । लड़का सहायता के लिए चिल्लाया पर महात्मा अपने जप में लगे रहे । एक बार डूबते बालक को देख लिया और फिर आँखें बन्द कर लीं । सन्त ज्ञानेश्वर बिना विलम्ब किए नदी में कूद पड़े और डूबते बालक को बाहर खींच लाये । किनारे पर जप कर रहे महात्मा से सन्त ज्ञानेश्वर ने पूछा-'आप क्या कर रहे हैं ?' महात्मा ने कहा-'जप कर रहे हैं' और पुनः आँखें बन्द कर लीं । सन्त ने पूछा-'क्या ईश्वर के दर्शन हुए ?' महात्मा ने उत्तर दिया, 'नहीं । मन स्थिर नहीं हो रहा है ।' सन्त ज्ञानेश्वर ने कहा-'तो उठो पहले दीन दुखियों की सेवा करो, उनके कष्टों में हिस्सा बँटाओ अन्यथा उपासना का कोई विशेष लाभ नहीं मिलेगा ।' महात्मा को अपनी भूल मालूम हुई कि सच्चा जप तो यह था कि डूबते हुए बच्चे को बचाया जाता । उस दिन से वे उपासना के साथ-साथ दीन-दुखियों की सेवा में लग गये ।

निष्ठुर भक्त के जल से प्रभु-रोगी

एक भक्त रोज गंगा स्नान करके भगवान् पर जल चढ़ाता था । एक दिन रास्ते में एक प्यासा मनुष्य रात भर के बुखार का मारा पड़ा था । पानी लाते देखकर उसने भक्त से पानी पिलाने की याचना की । भक्त डपटकर बोला-'मूर्ख, यह जल भगवान् को चढ़ाना है, तुम्हारे जैसे अनेक बीमार पड़े होंगे । उन्हें कौन पानी पिलाता घूमे ?' रात को भक्त ने सपने में देखा भगवान् बीमार हो गये हैं । भक्त ने बीमारी का कारण पूछा । भगवान् बोले-'तूने पीड़ित मनुष्य की सहायता नहीं की, प्यासे मनुष्य की आवश्यकता पूरी न कर मेरे स्नान में जो जल काम आया वह मेरे लिए पाप रूप सिद्ध हुआ और उससे मैं बीमार पड़ गया ।' दूसरे दिन से वह मनुष्य सच्चे हृदय से दीन-दुखियों की सेवा करने लगा । इसी को उसने ईश्वर भक्ति का सच्चा स्वरूप समझना आरम्भ कर दिया ।

जब मनुष्य ईश्वर साक्षात्कार के ये तीन उपाय-उपासना, साधना, आराधना अपना लेता है तो ईश्वर उच्चस्तरीय चिंतन व उत्कृष्ट चरित्र के रूप में उसके अन्दर प्रवेश करता है, उसके अन्दर सन्मार्ग पर चलने का साहस उत्पन्न होता है और दैवी अनुग्रह प्रचुर मात्रा में उस पर बरसता है ।

तमुवाच महाप्राज्ञः श्वेतकेतो ! समर्चना ।
प्रभुसम्पर्किणी वाग्भिरुपचारोपहारकैः ॥ ३५॥
सदृशैः साधनैर्हीनैः सम्भवेत्किन्तु तस्य ताम् ।
लब्धुं दयामपेक्ष्योऽयमात्मोत्साही च पावनः ॥ ३६॥

टीका-महाप्राज्ञ ने कहा-हे श्वेतकेतु ! ईश्वर से सम्पर्क जोड़ने वाली, भजन-पूजा तो वचन, उपचार, उपहार जैसे नगण्य साधनों से भी हो सकता है, पर उसकी अनुकम्पा प्राप्त करने के लिए अपने को पवित्र, प्रखर बनाना होता है ॥ ३५-३६ ॥

व्याख्या-महाप्राज्ञ ईश्वर-जीव के परस्पर सम्मिलित संयोग के दर्शन व प्रक्रिया को समझाते हुए श्वेतकेतु से कहते हैं कि जान-पहचान वाला सम्बन्ध तो स्थापित कर लेना आसान है, पर ऐसा सम्पर्क जिसके बदले में दैवी अनुदान बरसने लगें, ईश्वरीय कृपा अपने अंदर प्रवेश करने लगे तभी सम्भव है जब स्वयं को निश्छल व तेजस्वी बना लिया जाय । बाह्योपचार तथा स्तवन, भजन, पूजन ईश्वर से सम्पर्क स्थापित कर लेने के माध्यम भर हैं । इसके साथ यदि अंतरंग वैसा ही दीन-मलीन तथा दुर्बल बना रहा तो यह सम्पर्क एकांगी और अधूरा ही है । हमारी आवाज पहुँचे पर उसका उत्तर न मिले तो समझना चाहिए, यह प्रयास असफल है । पवित्रता अर्थात् निश्छलता एवं प्रखरता अर्थात् तेजस्विता-ये दो शर्तें पूरी होने पर विद्युत घर से ऊर्जा प्रवाहित होने की तरह प्राण प्रवाह साधक के अन्दर होने लगता है । सच्ची भक्ति यही है, शेष तो मात्र कलेवर है ।

शबरी के बेर, विदुर-रुक्मिणी का भोजन

भगवान राम शबरी के बेर खाने गये क्योंकि वहाँ समर्पण के साथ निश्छलता थी । निर्जन जंगल में रहने वाली एक भीलनी पर अपनी अनुकम्पा बरसाने प्रभु स्वयं गये, इससे बड़ा उसकी पवित्रता का क्या प्रमाण हो सकता है ।

श्रीकृष्ण को रुक्मिणी के हाथ के बने सुस्वादु भोजन से अधिक विदुर के दिये फलों के छिलके व द्रौपदी द्वारा सबको खिलाने के बाद बची थोड़ी सी सब्जी अधिक प्रिय थी । प्रभु अपनी कृपा समर्थों, समृद्धों पर नहीं पवित्र, निश्छलमना व्यक्तियों पर बरसाते हैं ।

अर्जुन पर अनुकम्पा-गीता का उपदेश

अर्जुन में पवित्रता तो थी प्रखरता नहीं । गीता का उपदेश सुनने की पात्रता व भगवान को सारथी बनाने की योग्यता उसको अपनी पवित्रता के आधार पर मिली । अपने सखा में अधूरापन देख भगवान ने उसे युद्ध में प्रवृत्त होने का आदेश, उपदेश दिया और प्रखरता का समावेश कर उसका गाण्डीवधारी होना, पराक्रमी होना सार्थक कर दिया । भगवत्कृपा अनुदान रूप में ऐसे ही बरसती है ।

पवित्र-प्रखरभक्त

पवित्र, प्रखर भक्तों में समर्थ गुरु रामदास, गुरु गोविन्दसिंह, छत्रसाल के गुरु प्राणनाथ महाराज का नाम उल्लेखनीय है ।

राजा जनश्रुति और रैक्य मुनि

भक्त को जब अपनी सिद्धि-क्षमताओं पर अहंकार होने लगता है तो भगवान उसे इस प्रकार उपदेश देते हैं-

राजा जनश्रुति को चिड़ियों की भाषा समझने की सामर्थ्य प्राप्त थी । हंसों की जोड़ी बात कर रही थी कि जनश्रुति से बड़े तो मुनि रैक्य हैं जो सदा परमार्थ में लगे रहते हैं । गाड़ीवान रैक्य के बड़ा होने की बात से उन्हें बड़ा कष्ट हुआ । दूसरे दिन उन्होंने उस गाड़ीवान की खोज कराई और बहुत-सा धन, अश्व और आभूषण लेकर मुनि रैक्य के पास गये और बोले-'आपकी कीर्ति सुनकर यहाँ आये हैं, हमें ब्रह्म-विद्या का उपदेश दीजिए ।' रैक्य मुनि ने उत्तर दिया-'राजन् ! ब्रह्म-विद्या सीखना है तो अपना अंतरंग पवित्र बनाओ । अहंकार को मिटाकर, श्रद्धा-विश्वास तथा नम्रता को धारण कर ही तुम सच्चा आत्म ज्ञान प्राप्त कर सकोगे ।' जनश्रुति को अपनी भूल ज्ञात हुई और वे सिद्धि सम्पादन का अहं त्याग कर अन्दर से स्वयं को महान बनाने में लग गये ।

मध्यकाल में जितने भी संत हुए हैं उन्होंने भगवान की कृपा इसी प्रकार पायी है । छोटी जाति के माने जाने वाले, ज्ञान की दृष्टि से सामान्य पर अंदर से महान ये सभी संत पवित्रता की कसौटी पर खरे उतर कर ही ईश्वर के प्रिय पात्र बने, लोक श्रद्धा भी पा सके ।

सन्त तुकाराम कुनवी जाति में पैदा हुए थे जो उन दिनों एक तरह से नीची कौम मानी जाती थी । लेकिन अपने सद्गुणों, सद्व्यवहार, भगवद्भक्ति, ज्ञान आदि के कारण तुकाराम भक्तों-सन्तों की श्रेणी में माने गये । आज भी दक्षिण भारत में संत तुकाराम के अभंग उसी तरह गाये जाते हैं जैसे मीरा, सूर, तुलसी आदि की रचनाएँ ।

सन्त रैदास जाति के चमार थे लेकिन अपने सद्गुणों और भगवद्भक्ति के द्वारा वे उत्कृष्ट व्यक्तियों की श्रेणी में आ गये । भारत में संत रैदास का न केवल निम्न जाति में ही वरन् उच्च वर्ग में भी सम्मानयुक्त और पूज्यनीय स्थान है ।

संत कबीर जाति से जुलाहा थे । लेकिन उनके ज्ञान, विद्वता, ईश्वर-निष्ठा, सज्जनता के कारण सारे भारतवासी

उन्हें श्रद्धा की दृष्टि से देखते आये हैं । संत कबीर ने न केवल मानव-मात्र को समान माना वरन् उन्होंने जाति-पांति, ऊँच-नीच, वर्ग भेद की खुले शब्दों में निन्दा की । कबीर के इन सिद्धांतों से लोग इतने प्रभावित थे कि निम्न जाति के लोगों के अतिरिक्त उच्च वर्ग के हिन्दू, मुसलमान दोनों ने ही इन्हें अपना माना ।

रामानुजाचार्य को उनके गुरु ने कई प्रकार की विद्याएँ सिखाईं । ज्ञानदीक्षा सम्पन्न करते हुए उनके आचार्य ने कहा-'रामानुज, नीच जाति के लोगों को यह ज्ञान मत देना ।' इस पर रामानुज बोले-'गुरुदेव ! जिसका गिरे हुओं को उठाने में उपयोग न हो वह शिक्षा मुझे नहीं चाहिए ।' शिष्य की विशाल भावना देखते हुए आचार्य ने स्वेच्छा से उसके उपयोग करने की स्वीकृति दे दी ।

तथोदारमना एवं परमार्थे रतो भवेत् ।
सर्वेष्वात्मानमेवं ये पश्यन्त्यात्मनि तानपि ॥ ३७॥
वण्टयन्ति सुखं दुःखं स्वयं गृह्णन्ति पूरुषाः ?
वसुधैव कुटुम्बं च येषामेतच्चराचम् ॥ ३८॥
उदारचेतसस्त्वेवं मनुष्याः सत्तया प्रभोः ।
घनत्वं याति स्वीयाभिः साधनाभिस्तु कर्मणाम् ॥ ३९॥

टीका-साथ ही उदारमना एवं परमार्थरत रहना पड़ता है । जो सबमें अपने को, अपने में सबको देखते हैं, जो दुःख बँटाते और सुख बाँटते हैं, जिनके लिए समस्त संसार अपना कुटुम्ब है-ऐसे उदारचेता मनुष्य अपनी कर्म साधना से परमात्म-सत्ता के साथ घनिष्ठ होते जाते हैं ॥ ३७-३९ ॥

व्याख्या-भगवान की दृष्टि में वही सच्चा भक्त है जो दूसरों के कष्ट में सहभागी बनता है वह अपना सुख औरों को बाँटता है । भले ही वह पूजा अर्चा न कर पाये-अपनी इस परमार्थयुक्त कर्म साधना से ही वह ईश्वर का प्रिय पात्र बन जाता है ।

पूजा छोड़कर परिचर्या

एक गुरु के दो शिष्य थे । दोनों बड़े ईश्वर भक्त थे । ईश्वर उपासना के बाद वे आश्रम में आये रोगियों की चिकित्सा में गुरु की सहायता किया करते थे । एक दिन उपासना के समय ही कोई कष्ट पीड़ित रोगी आ पहुँचा । गुरु ने पूजा कर रहे शिष्यों को बुला भेजा । उत्तर मिला-'अभी थोड़ी पूजा बाकी है, पूजा समाप्त होते ही आ जायेंगे ।' गुरुजी ने दुबारा फिर आदमी भेजा । इस बार शिष्य आ गये । पर उन्होंने अकस्मात् बुलाये जाने पर अधैर्य प्रकट किया । गुरु ने कहा-'मैंने तुम्हें इस व्यक्ति की सेवा के लिए बुलाया था, प्रार्थनायें तो देवता भी कर सकते हैं, किन्तु अकिंचनों की सहायता तो मनुष्य ही कर सकते हैं । सेवा प्रार्थना से अधिक ऊँची है, क्योंकि देवता सेवा नहीं कर सकते ।'

शिष्य अपने कृत्य पर बड़े लज्जित हुए और उस दिन से प्रार्थना की अपेक्षा सेवा को अधिक महत्व देने लगे ।

एकनाथ ने गधे को जल पिलाया

एक बार संत एकनाथ जी अन्य संतों के साथ प्रयाग से गंगाजी का जल काँवर में लेकर रामेश्वर जा रहे थे । रास्ते में एक रेतीला मैदान आया । वहाँ एक गधा प्यास के मारे छटपटा रहा था । एकनाथजी ने तुरंत काँवर से गंगाजल लेकर गधे के मुख में डाला । एकनाथ के साथी संत, प्रयाग के गंगाजल का इस प्रकार प्रयोग होते देखकर क्रुद्ध हुए । एकनाथ ने उन्हें समझाया सज्जन वृन्द ! आप लोगों ने तो बार-बार सुना है कि भगवान घट-घट वासी हैं । तब भी ऐसे भोले बनते हो ! जो वस्तु या ज्ञान समय पर काम न आवे वह व्यर्थ है । काँवर का जो जल गधे ने पिया, वह सीधे श्रीरामेश्वरम् पर चढ़ गया ।

बैल के जख्म सन्त पर

सन्त केवलराम जी एक गाड़ीवान को उसकी गाड़ी के साथ चलते-चलते श्रीकृष्ण चरित्र कथामृत पान करा रहे थे । अचानक एक स्थान पर बैल रुक गये तो गाड़ीवान ने उन पर दो-तीन सोटे जोर से जमाये । सोटों के डर से बैल जोर से भागने लगे । गाड़ी वाले को अब संत जी का ध्यान आया, उसने मुड़कर देखा तो आप मूर्छित होकर गिर पड़े थे । गाड़ीवान ने उन्हें उठाया और उसने देखा कि मारे गये सोटों के निशान केवलराम जी के शरीर पर स्पष्ट दिखाई पड़ रहे हैं ।

भैंसे की पीड़ा सन्त ज्ञानेश्वर ने झेली

संत ज्ञानेश्वर के किशोर काल की घटना है । जब वे अपने भाई-बहिनों सहित अपने गाँव पहुँचे तो पुरातन पन्थी पण्डितों द्वारा उनके पिता के संन्यास धर्म त्यागने व गृहस्थ जीवन स्वीकार करने के कारण काफी धिक्कारा गया, उन्हें जाति से बहिष्कृत कर दिया गया । वे अपनी पवित्रता का परिचय उन्हें देते, इसी बीच एक व्यक्ति वहाँ से एक भैंसे को कोड़ों से मारते निकला । पण्डितों ने साश्चर्य देखा कि कोड़ों के निशान संत की पीठ पर उभर आये थे । उनके यह कहने पर कि ईश्वर सब में निवास करता है और भैंसे को दिया गया कष्ट ही मैंने झेला है-पण्डितों ने चुनौती दी कि यदि ऐसा ही है तो इससे वेद मंत्र कहलवाइये । ज्ञानेश्वर के भैंसे की ओर उन्मुख होते ही उसके मुँह से वेद मंत्र निकलने लगे । यह सब देखकर विश्व सत्ता का ही एक स्वरूप संत ज्ञानेश्वर को मान पण्डितगण उनके चरणों पर गिर गए व अपनी नादानी पर क्षमा माँगी ।

मुनि द्वारा पीड़ित चाण्डाल की सेवा

कौस्तुभ मुनि वर्षों से किसी दीन-दुखी को भोजन कराने के बाद स्वयं भोजन करने का अपना व्रत निभाते चले आ रहे थे किन्तु एक दिन उनके द्वार पर कोई सेवा का अधिकारी नहीं आया । दोनों बड़े दुःखी हुए । तभी उन्होंने एक वृक्ष तले पड़े कुष्ठ पीड़ित वृद्ध को देखा । वे ईश्वर को इस कृपा के लिए धन्यवाद देते हुए उसके पास पहुँचे और विनम्र शब्दों में उससे उनका आतिथ्य ग्रहण करने का निवेदन किया ।

वृद्ध बोला-आर्य ! आपकी इस उदारता के लिए धन्यवाद ! पर मैं जाति का चाण्डाल हूँ, आपकी उदारता पाने का अधिकार मुझ शूद्र को कहाँ ? सर्वत्र एक ही परमात्मा को देखने वाले कौस्तुभ के लिए कोई शूद्र कैसे हो सकता था । उन्होंने उसको वैसा ही आतिथ्य दिया जैसा किसी सवर्ण को ।

सद्भावैश्च सुसम्पन्नाः सत्कर्मनिरताश्च ये ।
आत्मानस्तुल्यरूपास्ते ज्ञेयास्तु परमात्मनः ॥ ४०॥

टीका-सद्भाव सम्पन्न सत्कर्म परायण आत्माएं परमात्मा के ही समतुल्य होती हैं ॥४०॥

व्याख्या-जो काम सद्भाव से प्रेरित होकर किये जाते हैं, वे ही फलित होते हैं । कर्म साधनारत ऐसे ही व्यक्ति देव मानव कहलाते हैं और परमात्म सत्ता का अनुग्रह तथा जन-सम्मान पाते हैं ।

बाबा आमटे एक साधारण वकील थे । चाहते तो अपना गुजारा भली-भाँति चला सकते थे । परन्तु उनके अन्तः से निस्सृत सद्भाव ने उनकी दिशा धारा ही बदल दी । अपंगों, कुष्ठ रोग से ग्रस्त व्यक्तियों के पुनर्वास हेतु उन्होंने अपना सारा जीवन लगा दिया । उन्हें स्वावलम्बी बनाया तथा यह प्रमाणित कर दिया कि दुर्दैव को भी चुनौती दी जा सकती है । रोग की चिकित्सा व शल्य क्रिया द्वारा यथासम्भव रोगियों को कार्य योग्य बना देने के कार्य में उनके पुत्र व पुत्र वधू ने भी योगदान दिया, शासन व जनता ने सहयोग, सम्मान भी । अभी भी वे जिस आश्रम का संचालन करते हैं उसका सारा व्यय तथा आसपास के मीलों के क्षेत्र में रचनात्मक कार्यों का दायित्व ये स्वावलम्बी कुष्ठ रोगी ही उठाते हैं । जो भिखारी बन जगह-जगह मारे-मारे फिरते थे, उनके लिए तो वे देवदूत ही हुए ।

धर्मराज का सेवाधर्म

सद्भाव जिनके अन्दर कूट-कूटकर भरा हो उनसे सेवा-धर्म निबाहे बिना रहा ही नहीं जाता । परिस्थितियाँ कुछ भी हों वे अपना कर्तव्य पूरा करते हैं । अंतः की यह सदाशयता ही उन्हें महान बनाती है ।

भगवान् श्रीकृष्ण से एक बार एक यादव ने प्रश्न किया आप युधिष्ठिर को धर्मराज क्यों कहते हैं । भगवान् श्रीकृष्ण बोले-महाभारत का युद्ध चल रहा था । तब युधिष्ठिर सायंकाल वेष बदलकर कहीं जाया करते थे । पाण्डवों ने इस रहस्य का पता लगाने के उद्देश्य से एक दिन उनका पीछा किया तो पता चला कि वे युद्ध क्षेत्र में पड़े घायलों की सेवा शुश्रुषा किया करते थे । शेष तीनों भाइयों ने उनके वेष बदलकर यह शुभ कार्य करने का कारण पूछा तो वे बोले-'इनमें से कई कौरव पक्ष के हैं जो यदि मैं प्रकट रूप में होता तो मुझे अपना कष्ट न बताते और मैं सच्ची सेवा के अधिकार से वंचित रह जाता, इसलिए ऐसा करना पड़ा । यह घटना सुनाने के बाद श्रीकृष्ण ने बताया धर्म और परमार्थ अन्योन्याश्रित हैं, इसी से युधिष्ठिर धर्मराज कहलाते हैं और धर्म मंत्रणा में उन्हें शीर्ष स्थान दिया जाता है ।

बुद्ध की अंतिम भेंट

भगवान बुद्ध बीमार थे । उन दिनों वे किसी से मिल भी नहीं रहे थे । इसी समय श्रेष्ठि सुभद्र वहाँ आये और शिष्य आनन्द से उन्होंने आग्रह किया-'तथागत का यह अन्तिम

समय है, मुझे भावी परिस्थितियों पर चर्चा करनी है । कृपया भेंट अवश्य करा दें ।' आनन्द ने अपनी विवशता बता दी । अन्दर तथागत तक आवाज पहुँची । उन्होंने स्वयं आवाज देकर सुभद्र को बुलाया और आनन्द से कहा-'अस्वस्थता की इस स्थिति में भी यदि मैं लोक मंगल के प्रयोजन से आने वाले इस नर श्रेष्ठ को मार्ग दर्शन न कर पाया तो मेरा 'बुद्ध' बनना ही निरर्थक है ।' बुद्ध से हुई इस अन्तिम भेंट ने, जो सद्भाव प्रेरित थी-सुभद्र को इतना प्रभावित किया कि वे अपना सब कुछ अर्पण कर भिक्षु हो गये और बौद्ध धर्म के विस्तार में अभूतपूर्व योगदान दे सकने में समर्थ हुए ।

आत्मशक्तेः पूरिका तु शक्तिः सा परमात्मनः ।
अपेक्ष्यं बाह्यसाहाय्यं महाभाग ! ततः शृणु ॥ ४१ ॥
एतत्साधनया सर्वं सिद्धयत्यात्मनि सौम्य तु ।
परमात्मनि सम्प्रीते प्रीताः सर्वेऽलमञ्जसा ॥ ४२ ॥
अयाचितं च साहाय्यं कुर्वते येन चार्जिताः ।
भक्तश्रद्धा विप्रप्रज्ञा साधुनिष्ठा परार्थगा ॥ ४३ ॥
ज्ञातव्यं स्रोत एवैतत्सामर्थ्यस्य समागतम् ।
तस्य, नास्ति किमप्यत्र दुर्लभं ज्ञायतामिदम् ॥ ४४ ॥

टीका-हे महाभाग ! आत्मबल का पूरक परमात्मबल है । बाहरी सहायता अपेक्षित हो तो, इसी एक साधना-से और सब सध जाता है । आत्मा और परमात्मा-दो को प्रसन्न कर लेने पर और सब अनायास ही प्रसन्न हो जाते हैं तथा बिना माँगे ही सहायता करते हैं । जिसने भक्त जैसी श्रद्धा, ब्राह्मण जैसी प्रज्ञा और साधु जैसी परमार्थ-निष्ठा अर्जित कर ली, समझना चाहिए उसे सामर्थ्य और सम्पन्नता का स्रोत हस्तगत हो गया । अब उसे कुछ भी दुर्लभ नहीं-ऐसा समझना चाहिए ॥ ४१-४४ ॥

व्याख्या-मानवीबल सीमित है । अपना पुरुषार्थ तो पूरा किया जाना चाहिए पर जब इसकी साधना पूरी हो तब ही परमात्मा से अनुदान पाने की बात सोचनी चाहिए । आत्मा से वरिष्ठ केवल एक ही शक्ति है परमात्मा । और किसी से माँगना, याचना करना मनुष्यों को शोभा नहीं देता । मनुष्य को अपनी पात्रता अर्जित कर परमात्म सत्ता से स्वतः ही अनुदान बरसाने की आशा करनी चाहिए ।

अर्जुन कर्ण से क्यों जीते

महाभारत हो चुका था । महर्षि जरत्कारु के आश्रम में दो शिष्यों में चर्चा चल रही थी । वे कह रहे थे "कर्ण युद्ध विद्या में भी अर्जुन से श्रेष्ठ थे, दानियों में भी अग्रगण्य थे, आत्मबल के धनी थे, फिर भी अर्जुन से हार गये ?" समाधान न निकलने पर गुरुदेव के पास जाकर पूछा । गुरुदेव ने स्पष्ट किया-'अर्जुन को नर और कृष्ण को नारायण भी कहा गया है । नर-नारायण का जोड़ा ही असुरता से जीतता है । अर्जुन अपने 'नरत्व' को छोड़ रहा था तो कृष्ण ने उन्हें प्रेरणा देकर खड़ा कर दिया । कर्ण अर्जुन की अपेक्षा श्रेष्ठ नर भले हो, पर उसने अपने आपको ही सब कुछ माना, नारायण को पूरक नहीं बनाया-इसलिए भटका और सम्भल नहीं पाया । पूरक सत्ता का लाभ उसे न मिल सका । वही उसकी पराजय का मुख्य कारण रहा ।'

दर्प को चूर किया

कभी-कभी मनुष्य को अपने ऊपर, आत्म सामर्थ्य के ऊपर गर्व हो जाता है । वह भूल जाता है कि उसके अतिरिक्त कोई शक्ति है । मनुष्य तक तो क्षम्य भी है पर जब देवता वर्ग को भी ऐसा लगने लगे तो भगवान् को यह भ्रम मिटाना ही पड़ता है । देवासुर संग्राम हेतु पितामह ब्रह्माजी ने युद्ध की योजना बनाकर दी थी, विष्णु ने संगठित किया था, महर्षि दधीचि ने अस्थियाँ दी थीं, जिससे वृत्रासुर को मारने वाला वज्र बना था-विजय इन योजनाओं और आयुधों से ही मिली थी, किन्तु कृतघ्न अहंकार की जितनी निन्दा की जाये कम होगी, उसी अहंकार ने आज विजयी इन्द्र को आच्छादित कर लिया था । इन्द्र गाल बजाते घूम रहे थे-मैं न होता तो वृत्रासुर को कोई मार नहीं सकता था । अन्य देवतागण भी आत्म प्रशंसा में लगे थे ।

ऐसे में भगवान ने माया रची । वे एक कांति युक्त यक्ष के रूप में प्रकट हुए । दर्प में चूर एक-एक कर

अग्निदेव, मरुत, वरुण, पृथ्वी और आकाश सभी उनसे उनका परिचय पूछने लगे । भगवान ने अपना परिचय देने के पूर्व एक छोटे से तिनके को अपने स्थान से हटाने की चुनौती दी । जब सब प्रयास कर चुके तब इन्द्र वहाँ पहुँचे । माया जाल हट चुका था । स्वयं भगवान वहाँ विराजमान थे । सभी देवगणों को सम्बोधित कर उन्होंने कहा-"यह न भूलें कि आप अपने आप में पूरे नहीं । पर आपके अलावा, आपसे ऊपर भी कोई सत्ता है । उसे भुलाकर आत्म श्लाघा में पड़ने से ही असुर गण आप पर हावी होते रहे हैं ।"

यही कथा मनुष्य पर भी लागू होती है । परमात्म सत्ता के अनुदान मिलने पर वह उसे भूल जाता है । जब तक नहीं मिलता, तब तक आत्मबल का प्रयोग नहीं कर याचना, मनुहार में कोई कमी नहीं छोड़ता । यहाँ ऋषि पिप्पलाद निर्देश देते हैं कि आत्मबल को तो भूलो मत पर साथ ही यह भी न भूलो कि इसके ऊपर भी कोई सत्ता है । आवश्यकता पड़ने पर वह अवश्यमेव सहायता करेगी ।

यह तब ही सम्भव है जब मनुष्य में पूर्व वर्णित अन्य विशेषताओं के समान श्रद्धा, प्रज्ञा एवं निष्ठा का-सद्भाव, सद्ज्ञान व सत्कर्म का समावेश हो जाय ।

श्रद्धा ऐसी हो जैसी रामकृष्ण परमहंस में थी, जो अपनी काली को भोग ग्रहण करने हेतु विवश कर देते थे । मीरा के शालिग्राम उनसे स्वयं आकर खेलते थे और राजपाट त्यागकर बन्धन मुक्ति की दिशा में भक्त के बढ़ने पर प्राण रक्षा हेतु स्वयं अवतरित हो जाते थे ।

प्रज्ञा अर्थात् ऐसी वृत्ति जो व्यक्ति को गाँधी, टण्डन, बुद्ध के समान अपरिग्रही ब्राह्मण जैसा जीवन जीने को प्रेरित करे । जो अपने लिए कम तथा परमार्थ के लिए अधिकतम बचाने और अपना श्रम भी उसी में नियोजित करने को प्रेरित करे । ईश्वरचन्द्र विद्यासागर जैसी प्रज्ञा विकसित होने पर व्यक्ति न्यूनतम में स्वयं का निर्वाह कर लेता है व सन्तोष का जीवन जीकर अपने उपार्जन से कईयों की सहायता करता है ।

निष्ठा साधु में होती है जो सतत् सत्कर्मपरायण होते हैं । वेश से नहीं, वृत्ति तथा कर्म से व्यक्ति साधु कहलाते हैं । उनका अंतःकरण सदैव उन्हें परमार्थ हेतु प्रेरित करता रहता है । उदारमना व्यक्ति के अन्तः में संकीर्णता के लिए कोई स्थान नहीं होता ।

साधु जैसी निष्ठा का उदाहरण प्रस्तुत उपाख्यान है-

एक सन्त के पास एक छोटी-सी झोंपड़ी मात्र थी जिसमें वह सो सकते थे । एक दिन जोरों की वर्षा हुई । किसी ने दरवाजा खटखटाते हुए आवाज दी "क्या अन्दर जगह है ?" सन्त ने कहा-"इसमें एक व्यक्ति सो सकता है लेकिन दो बैठे रह सकते हैं । आप अन्दर आ जाइये ।" उसे अन्दर ले लिया गया और वे दोनों बैठ गये । इतने में ही फिर किसी ने कुण्डी खटखटाई । "जगह है क्या ?" सन्त ने जबाव दिया-"यहाँ दो आदमी बैठ सकते हैं किन्तु तीन खड़े रह सकते हैं" और दरवाजा खोल दिया गया । तीनों ने वह बरसात की रात खड़े होकर काटी । आध्यात्मिक-समाजवाद की यह व्यावहारिक परिभाषा यदि मनुष्य अपना ले तो संसार कष्टों से मुक्त हो जाय ।

अपेक्ष्यन्ते लघूनां तु साहाय्यं महतां कितु ।
उपकुर्यात्लघुस्त्वात्मा महतः परमात्मनः ॥ ४५ ॥
तनैव घनसम्बन्धः कर्तव्यस्तोष्य एव सः ।
अनुकम्पां च तस्यैव प्राप्तं तत्क्रियतां मनः ॥ ४६ ॥

टीका-छोटों को बड़ों की सहायता अपेक्षित होती है । छोटा बड़े की क्या सहायता करेगा । आत्मा से वरिष्ठ केवल परमात्मा है, उसी के साथ घनिष्ठता जोड़ने, सन्तुष्ट करने और अनुकम्पा अर्जित करने की बात सोचनी चाहिए ॥४५-४६॥

व्याख्या-जिस प्रकार पूर्व में ऋषि ने कहा-'आत्मबल का पूरक परमात्मबल है' उसी प्रकार यहाँ भी इसी तथ्य को और भी अधिक स्पष्ट करते हुए वे कहते हैं कि मनुष्य सहायता का पात्र है तो भी मात्र अपने से वरिष्ठ परमात्मसत्ता से । इन दोनों आत्मा-परमात्मा के बीच और कोई पद नहीं है मनुष्य को माँगना चाहिए तो अपने से वरिष्ठ-मूल उद्गम स्रोत परमात्म शक्ति से । उसी से अपना सम्बन्ध साधना, उपासना, आराधना आदि उपक्रम अपनाकर जोड़ा और सशक्त किया जाता है ।

माँगूँगा तो भगवान् से

महाराज विक्रान्त एक बार जंगल में भटक गये । रात एक किसान ने शरण दी, बहुत भावनापूर्वक आवभगत की । महाराज विदा हुए तो राजमुद्रा अंकित पहचान पत्र देकर कहा–'कभी कष्ट हो, कुछ आवश्यकता हो तो सहर्ष राज दरबार में इसे लेकर चले आना ।'

संयोगवश एक बार किसान की आर्थिक स्थिति चरमरा गई । उसे पिछली घटना याद आई । वह राज दरबार पहुँचा । उस समय सम्राट आराधना गृह में थे । आदेश पत्र के कारण प्रहरियों ने उसे वहाँ तक जाने दिया । किसान् ने देखा महाराज स्वयं भगवान से माँग रहे हैं । यह देखकर उसका आत्म-विश्वास जागा । सर्वशक्तिमान् भगवान के रहते मनुष्य से क्या माँगा जाये ? वह वापस लौट पड़ा । महाराज ने देख लिया तो रोका और कुछ देने की इच्छा प्रकट की । इस पर किसान ने कहा–'महाराज आया तो माँगने था, पर अब उसी से माँगूँगा जिससे आप भी माँगते हैं ।'

सिकन्दर-साधु, राजा-संत

जिन्हें परमात्मा का अवलम्बन मिला हो, उससे तादात्म्य स्थापित हो गया हो, उन्हें कोई भी लौकिक अभाव कष्ट नहीं देता । वे अभावों में भी हँसती-हँसाती जिन्दगी जीते हैं, अपने और परमात्मा के बीच किसी अन्य समर्थ, समृद्ध को महत्व नहीं देते ।

सिकन्दर विश्व विजेता के मद में चूर था । भारत में उसने संतों की महत्ता व उन्हें प्राप्त सिद्धियों के विषय में खूब सुना था । जहाँ उसका डेरा लगा था, उसके समीप ही एक साधु की झोंपड़ी थी । उनकी ख्याति सुनकर वह वहाँ पहुँचा, चेहरे पर छाई तेजस्विता से प्रभावित हुआ पर देखा कि उनके पास पहनने को न वस्त्र हैं, न रहने को ठीक स्थान । धन के गर्व में मदमस्त हो बोल उठा–'महाराज ! आपकी मैं क्या सेवा कर सकता हूँ ।' सन्त ने कहा–'तू क्या सहायता करेगा, मेरा तो एक मात्र आश्रयदाता परमपिता परमात्मा है । कृपा करनी ही हो बस इतनी कर कि मेरे लिए धूप छोड़ दे जिसके मार्ग में तू खड़ा है ।' संत की निस्पृहता से प्रभावित सिकन्दर मौन हो लौट गया ।

एक राजा ने सन्त की ख्याति सुनी । नदी किनारे दर्शन के लिए पहुँचे । देखा तो संत के शरीर पर वस्त्र नाम मात्र के थे । जो थे वे भी फटे हुए । सोचा कुछ सहयोग करना चाहिए । संत से बोले–'महात्मा आप कहें तो आपके लिए इतने धन की व्यवस्था कर दूँ ताकि आपका काम चलता रहे ।' संत मुस्कराये और बोले–'आप जो देना चाहते हैं वह पाना होता तो मैं उसी के लिए पुरुषार्थ करता और पा लेता । अब तो जो चाहिए वह परमात्मा ही दे सकता है । वह आप दे नहीं सकते ।'

देने वाला तो अब भी यहीं है

प्रख्यात विभूति हातिम परदेश जाने लगे तो अपनी पत्नी से पूछ बैठे 'तुम्हारे लिए खाने-पीने का कितना सामान रख जाऊँ ?'

"जितनी मेरी आयु हो"–कहकर स्त्री हँस पड़ी ।

'तुम्हारी आयु जानना मेरे बूते की बात नहीं ।'

'तब तो मेरी रोटी का इन्तजाम भी आपके बूते से बाहर है । यह काम जिसका है उसी को करने दीजिए ।' पत्नी की आस्था पर मुग्ध होकर हातिम परदेश चले गये । तब एक पड़ौसन ने पूछा–'बेटी ! हातिम तेरे लिए क्या इन्तजाम कर गये हैं ?'

हातिम की स्त्री ने कहा–'माँ, मेरे पति क्या इन्तजाम करेंगे, वे तो खाने वाले थे । खाना देने वाला तो अब भी यहीं है । हमेशा मेरे आसपास उसकी ही सत्ता तो विद्यमान है ।'

प्राणिनां दानसेवाभिः साधनाभिश्च श्रेष्ठताम् ।
प्राप्येश्वरात्तु संप्राप्तिः प्राणिभ्यश्च विभाजनम् ॥ ४७॥
सत्या सम्पन्नता ह्यत्र सामर्थ्यं चापि विद्यते ।
जीवनस्य च सर्वस्य सार्मक्यं मन्यतामये ॥ ४८॥

टीका–प्राणियों को तो देने की, सेवा-साधना करते हुए उनसे वरिष्ठ ही बनना चाहिए । ईश्वर से पाना और प्राणियों को बाँटना, इसी में सच्ची समपन्नता, समर्थता एवं जीवन-की सार्थकता है ॥ ४७-४८ ॥

व्याख्या-मनुष्य को जिस प्रकार अपने वरिष्ठ परमपिता से अनुदान मिलते हैं, उसी प्रकार उसे भी मिली वैभव, साधन, गुणकर्म रूपी सम्पदा को अपने पास संचित न रख निरंतर वितरित करते रहना

चाहिए । वरिष्ठ बनने की पहली शर्त यही है कि अपने को जो मिला उसे अन्यों को बाँटा कि नहीं ? जो देने की उदारता दिखाता है वह पाता भी है । बादल समुद्र से भाप बनकर उठते हैं और उस जल को वापस पृथ्वी को लौटा देते हैं । वे अपने पास संचित रखते तो सृष्टि का संतुलन ही नष्ट हो जाता ।

कुएँ की शिकायत-समुद्र का उत्तर

कुएँ ने शिकायत करते हुए समुद्र से कहा-'पिता, सभी नदी-नाले आपके घर में जगह पाते हैं । आप प्रेमपूर्वक उन्हें अपने घर में स्थान देते हैं । मुझसे ही पक्षपात क्यों ? पिता के लिए तो सभी बेटे-बेटी एक से होते हैं ।' समुद्र ने उत्तर दिया-'वत्स ! अपने चारों ओर दीवार बनाकर बैठने पर ही तुम्हें जन्म सिद्ध अधिकार से वंचित रहना पड़ा है । असीम का अनन्त प्यार पाने के लिए स्वयं को भी असीम बनना पड़ता है । अपनी सीमाओं को त्याग करके उन्मुक्त रूप से अपने आपको व्यक्त करो, अपनी दीवारों को हटा दो । धरती को हरी-भरी, तृप्त करती हुई तुम्हारी धारा जब बन्धनमुक्त हो उठेगी, तब तुम सहज ही मुझमें आ समाओगे ।'

खोये पीले पत्ते, पाये नये पल्लव-फूल

कड़ाके की ठण्ड पड़ी । पृथ्वी पर रेंगने वाले कीटक उससे सिकुड़ कर मरने लगे । वन्य प्राणियों के लिए आहार की समस्या उत्पन्न हो गई । लोग शीत निवारण के लिए जलावन ढूँढ़ने निकले । सबके शरीर अकड़ रहे थे । कष्ट निवारण का उपाय किसी से बन नहीं पड़ रहा था । वृक्ष से यह सब देखा न गया । इन कष्ट पीड़ितों की सहायता के लिए उसे कुछ तो करना ही चाहिए । पर करे भी तो क्या ? उसके पास न बुद्धि थी, न पुरुषार्थ, न धन, न अवसर । फिर भी वह सोचता ही रहा-क्या मेरे पास कुछ भी नहीं है ? भला ऐसा कैसे होगा । सर्वथा साधनहीन तो इस सृष्टि में एक कण भी नहीं रचा गया है ? गहराई से विचार किया तो लगा कि वह भी साधनहीन नहीं है । पत्र-पल्लवों की प्रचुर सम्पदा प्रकृति ने उसे उन्मुक्त हाथों से प्रदान की है । वृक्ष ने संतोष की साँस ली । पुलकन उसके रोम-रोम में दौड़ गई । वृक्ष ने अपने सारे पत्ते जमीन पर गिरा दिये । रेंगने वालों ने आश्रय पाया, पशुओं को आहार मिला, जलावन को समेट कर मनुष्यों ने आग तापी और जो रहा बचा सो खाद के गड्ढे में डाल दिया । कुछ समय उपरान्त बसन्त आया । उसने ठूँठ बनकर खड़े हुए वृक्ष को दुलारा और पुराने पके पत्तों के स्थान पर नई कोपलों से उसका अंग प्रत्यंग सजा दिया । यह तो उसके दान का प्रतिदान था । अभी उपहार का अनुदान शेष था । सो भी बसन्त ने नये बसंती फूलों से, मधुर फलों से लादकर पूरा कर दिया । वृक्ष गौरवान्वित था और संतुष्ट भी ।

विद्रुथ का चयन

सेवा साधना का तो आनंद ही कुछ और है । ऐसे सेवा धर्मी संतों के समक्ष स्वर्ग का वैभव भी तुच्छ है ।

महापराक्रमी और पुण्यात्मा विद्रुथ समयानुसार दिवंगत हुए और अपने सत्कर्मों के फलस्वरूप स्वर्ग में सुखोपभोग करने लगे । वहाँ सुख साधन बहुत और परमार्थ का अवसर तनिक भी नहीं, ऐसे स्वर्ग में उनका दम घुटने लगा । निरंतर खिन्न रहने लगे ।

देवराज इन्द्र ने एक दिन उनकी खिन्नता का कारण पूछा तो उनने अपने मन की व्यथा सुनाई । उन्हें सुख नहीं शांति चाहिए । वे विलास में नहीं परमार्थ में संतोष अनुभव करेंगे । उन्हें धरती पर जाकर व्याप्त दुष्प्रवृत्तियों के निवारण में जो शांति मिलेगी-उसमें जो आनंद मिलेगा, वह स्वर्ग में नहीं ।

सुर गुरु बृहस्पतिजी ने विद्रुथ को देव सभा में बहुत सराहा और कहा-'सुख-सुविधा से भरे हुए स्वर्ग की अपेक्षा तपस्वियों का तप लोक अधिक श्रेष्ठ है । ऐसे व्यक्ति ही वरिष्ठ, देवमानव कहे जाने चाहिए । इन्हें सेवा-साधना के बिना चैन ही नहीं मिलता ।'

देवदूत द्वारा देने की शिक्षा

जो देता है, उसे ही मिलता है इसका अनुभव एक व्यक्ति को अपने जीवन के अन्तकाल में हुआ । एक बार एक व्यक्ति ने अपना सर्वस्व परोपकार में लगा कर संन्यास ग्रहण किया । वह सभी प्रकार से ईश्वर में शरणागत हो गया । उसके योग-क्षेम का भार स्वयं उठाने के लिए भगवान को सहर्ष बाध्य होना पड़ा । उसके लिए एक देवदूत एक थाली में बड़े सुस्वादु भोजन लाता था और उसे खिलाकर लौट जाता था । यह देख एक व्यक्ति भी अपना सब कारोबार लड़कों को सौंपकर, गेरुए वस्त्र पहनकर उसी के निकट तप करने लगा ।

अब देवदूत दो थाली लाने लगा-एक में सूखी रोटी तथा दूसरी में वही सुस्वादु भोजन । दूसरे व्यक्ति ने लगातार सूखी रोटी आते देख कहा-'मुझे ही क्यों सूखी रोटी मिल रही है ।' देवदूत ने उत्तर दिया-'भगवन् ! यह फल तो संचित पुण्य के अनुसार मिल रहा है । उसने पुण्य में सर्वस्व लगा दिया और आपने जीवन भर में केवल एक बार बड़े अहंकार से एक व्यक्ति को सूखी रोटी दी थी । उसी के ब्याज स्वरूप यह रोटियाँ मिल रही हैं । अब आपकी सूखी रोटी भी समाप्त होने को है, फिर कुछ न मिलेगा ।' अब इस व्यक्ति को चेतना आई और उसने बाकी बची रोटी देवदूत से मँगाकर दान कर दी और आप भूखा रहा । दूसरे दिन जब देवदूत भोजन लेकर आया तो दोनों थाली सुस्वादु पकवानों से भरी थीं ।

ईश्वरे दृढविश्वासा ये ते कर्मफलस्य हि ।
विधाने विश्वसन्त्येवं क्रियाया याः प्रतिक्रिया ॥ ४९॥
उत्पद्यन्ते विलम्बेन ततो विचलिता न ते ।
सन्मार्गे प्रस्थितानां सधीचिविश्वास ईश्वरे ॥ ५०॥
चिन्तयन्ति न तेऽनिष्टं भीता नैव विरोधिनः ।
असहाया हताशा न बलिष्ठा ईश्वराश्रिताः ॥ ५१॥
न याचन्ते न कामयन्ते भक्तास्ते क्षुद्रतां निजाम् ।
महत्तया तु युञ्जन्ति तत्साम्यं प्राप्नुवन्ति च ॥ ५२॥
स्तवोपचारपणमनन्ताः कामनास्ततः ।
वञ्चकास्तु प्रकुर्वन्ति नहि भक्ताः कदाचन ॥ ५३॥

टीका-ईश्वर विश्वासी उसके कर्म फल विधान पर भी विश्वास करते हैं । अस्तु, वे क्रिया की प्रतिक्रिया उत्पन्न होने में देर लगने से भी विचलित नहीं होते । सन्मार्ग पर चलते हुए जिन्हें ईश्वर के साथ होने का विश्वास रहता है, वे न अनिष्ट की बात सोचते हैं, न विरोधी से भयभीत होते हैं, न एकाकी होने की बात सोचकर हताश ही होते हैं । ईश्वर भक्त सच्चे अर्थों में बलिष्ठ होते हैं । भक्त न याचना करते हैं, न कामना । वे अपनी क्षुद्रता को महानता के साथ जोड़ते और तत्सम बन जाते हैं । स्तवन-उपचार के बदले असीम मनोकामनायें पूरी करने की बात प्रपञ्चक करते हैं-भक्त जन नहीं ॥ ४९-५३ ॥

व्याख्या-आस्तिकता का अर्थ है-ईश्वर के नियम-अनुशासन में दृढ़ विश्वास । ऐसे दृढ़ विश्वासी जानते हैं कि कर्म का परिपाक-पारितोषिक बनता है । इसमें समय अवश्य लग सकता है पर उसके लिए धैर्य खोने की आवश्यकता नहीं । वे जानते हैं कि हर क्रिया लौटकर अपने ही ऊपर प्रतिक्रिया करती है । दुष्कर्म में निरत होने वाला व्यक्ति इस तथ्य को भुलाकर तात्कालिक सुख बटोरने में जुटा रहता है, कालान्तर में रोग, शोक, पतन के रूप में जब वे फलित होते हैं तो उसे प्रतिक्रिया का सिद्धांत ज्ञात होता है । सन्मार्ग पर चलने वाला मन में यह दृढ़ विश्वास रखता है कि वर्तमान में भले ही यह घाटे का सौदा प्रतीत होता है, आगे चलकर जब भी इसके परिणाम आयेंगे वे सुखद ही होंगे ।

क्रिया की प्रतिक्रिया-एक शाश्वत नियम

एक लड़का जंगल में गया हुआ था । चारों ओर सुनसान उस बियाबान जंगल में हवाओं और पेड़ों के झूमने की ही आवाज आती थी । वह लड़का डरा और चिल्लाया-'भूत ।' उसकी आवाज पहाड़ियों से टकराकर लौट आयी और उसे सुनाई दिया-'भूत ।' लड़का समझा सचमुच भूत है । अब की बार उसने मुट्ठियाँ कसीं और जोर से चिल्लाया-'तू मुझे खायेगा ।' पहाड़ों से टकराकर उसकी आवाज फिर लौट आयी और उसने यही समझा कि भूत मुझसे पूछ रहा है, तब वह बोला-'हाँ मैं तुझे खाऊँगा ।' यही आवाज जब फिर उस तक लौटी तो लड़का अपने घर चला गया, डर कर और वहाँ उसने अपनी माँ से सारी बात कह दी । माँ ने वस्तुस्थिति समझ कर कहा-'बेटा, अब की बार जंगल में जाओ तो उस भूत से कहना मेरे प्यारे दोस्त, मैं तुझे प्रेम करता हूँ । दुबारा जब वह जंगल में गया तो चिल्लाया-'मेरे अजीज दोस्त ।'

पहाड़ों से उन्हीं शब्दों की प्रतिध्वनि सुनाई दी और लड़के ने समझा इस बार भूत उसे डरा नहीं रहा है । फिर वह बोला-'मैं तुझे प्यार करता हूँ ।' पहाड़ों से यही बात फिर टकराकर लौटी तो लड़का खुशी से नाच उठा ।

द्रौपदी की रक्षा फलित कर्म द्वारा

दया, दण्ड और अनुदान मनुष्य को ईश्वर से जो भी कुछ मिलता है उसके प्रारब्ध कर्म का प्रतिफल होता है । कौरवों की राज-सभा लगी हुई थी । एक ओर कोने में पाण्डव भी बैठे थे । दुर्योधन की आज्ञा पाकर दुःशासन उठा और द्रौपदी को घसीटता हुआ राज-सभा में लाया । आज दुष्टों के हाथ उस अबला की लाज लूटी जाने वाली थी ।

द्रौपदी अपने साथ होने वाले अपमान से दुःखी हो उठी । उधर सामने दुष्ट दुःशासन आ खड़ा हुआ । द्रौपदी ने सभा में उपस्थित सभी राजा-महाराजाओं, पितामहों को रक्षा के लिए पुकारा, किन्तु दुर्योधन के भय से उसका नमक खाकर जीने वाले कैसे उठ सकते थे । द्रौपदी ने भगवान् को पुकारा, अन्तर्यामी घट-घटवासी कृष्ण दौड़े आये । द्रौपदी को दर्शन दिया और कहा-'किसी को वस्त्र दिया हो तो याद करो ?' द्रौपदी को एक बात याद आई और बोली-'भगवन् ! एक बार पानी भरने गई थी तो तपस्या करते ऋषि की लँगोटी नदी में बह गई । तब उसे धोती में से आधी फाड़कर दी थी ।' कृष्ण भगवान् ने कहा-'द्रौपदी ! अब चिन्ता मत करो । तुम्हारी रक्षा हो जायेगी' और जितनी साड़ी दुःशासन खींचता गया उतनी ही बढ़ती गई । दुःशासन हार कर बैठ गया, किन्तु साड़ी का छोर ही नहीं आया । इस प्रकार द्रौपदी की लाज बच गई ।

सांसारिक जीवन में पुण्य, उत्तरार्द्ध खाली

एक प्रसिद्ध संत मृत्यु के उपरान्त स्वर्ग लोक पहुँचे । वहाँ द्वार पर चित्रगुप्त अपने हिसाब की बहियाँ लेकर बैठे थे । उन्होंने साधु का नाम पता ठिकाना पूछा । इस पर साधु गर्व सहित बोले 'क्या आप नहीं जानते कि मैं धरती का प्रसिद्ध अमुक संत हूँ ।' 'आपने जीवन में क्या किया ?'-चित्रगुप्त ने पूछा ।'मैं जीवन के प्रारम्भिक आधे भाग में तो लोगों से प्रेम करता रहा और दुनियादारी के चक्कर में डूबा रहा । जीवन के अन्तिम आधे भाग में मैंने सब कुछ छोड़कर तपस्या की और पुण्य लाभ किया ।' चित्रगुप्त बोले-'भाई, तुम्हारे पुण्य तो जीवन के प्रारम्भिक भाग में ही हुए हैं । पिछले भाग में तो कुछ भी नहीं है ।' संत ने कहा-'यह तो उल्टी बात है । प्रारम्भिक जीवन तो मैंने संसार से प्रेम करने में बिताया, जहाँ तक हो सका सबकी सहायता की । लेकिन अंतिम जीवन में एकान्त में रहकर परमात्मा की आराधना, तपस्या की ।' चित्रगुप्त ने समझाते हुए संत से कहा-'भाई ! धरती पर प्रेम, आत्मीयता एवं दूसरों के हित में लगे रहना ही पुण्य है, पूजा है और उसी के कारण तुम्हें स्वर्ग की प्राप्ति हुई है ।'

जैसे पाप, वैसी व्याधि-'चरक'

व्यक्तिगत-व्याधियाँ ही नहीं प्रकृति के सामूहिक दण्ड भी मनुष्य के सामूहिक पतन के दुष्परिणाम होते हैं । एक बार जिज्ञासु अग्निवेश ने आचार्य चरक से पूछा-'संसार में जो अगणित रोग पाये जाते हैं, उनका कारण क्या है ?' आचार्य ने उत्तर दिया-'व्यक्ति के पास जिस स्तर के पाप जमा हो जाते हैं, उसी के अनुसार शरीरिक एवं मानसिक व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं । कर्मफल सिद्धांत पर ही समस्त संसार का व्यापार चल रहा है, सम्पूर्ण सृष्टि इस मर्यादा से बँधी हुई है । जो समझदार हैं, वे इस शाश्वत तथ्य को समझते तथा कर्मों के फल को सहर्ष स्वीकार करते हैं ।'

महामानवों-अवतारों का कर्मफल पर विश्वास

स्वयं महापुरुष अपने लिए कुछ भी नहीं माँगते । वे अपने कष्ट हरण के लिए भगवान की शरण में नहीं जाते । परहित के लिए अपना तप तक लगा देते हैं, भले बदले में कर्मफल विधान के अनुसार कष्ट भुगतना पड़े ।

श्री रामकृष्ण परमहंस के गले में नासूर हो गया था । इसी समय शशिधर चूड़ामणि उनके पास आये और बोले-'स्वामीजी ! यदि आप अपने मन को एकाग्र करके कहें कि "रोग चला जा" तो आपका रोग अवश्य मिट जायेगा ।' परमहंस बोले-'जो हृदय मुझे सच्चिदानन्द माँ का स्मरण करने हेतु मिला है, उसे मैं सांसारिक कार्य में क्यों लगाऊँ ?' इस पर अनेक शिष्यों को संतोष नहीं हुआ । उन्होंने मिल-जुलकर आग्रह किया कि आप माँ ही से कहें कि वह आपको रोग-मुक्त कर दें ।

इस पर रामकृष्ण परमहंस मुस्करा कर बोले-'मैं ऐसी मूर्खता क्यों करूँ ? माँ ! दयामयी, सर्वज्ञ और सर्व-समर्थ है । उन्हें मेरे कल्याण के लिए जो उचित लगा वही किया, फिर मैं उनकी व्यवस्था में छिछोरापन क्यों

लाऊँ ? अपना ओछापन क्यों बताऊँ ?' देव शक्तियाँ अपनी सम्पदाओं को लोक हित में अर्पण करने के कारण ही महान् बनती हैं ।

आद्य शंकराचार्य भगन्दर के फोड़े के रोगी थे । पर उस रोग मुक्ति के लिए उन्होंने कभी परम पिता से याचना नहीं की । उसे अपना कर्म माना तथा सारी सामर्थ्य लोक हित में लगा दी ।

वैद्य का काम इष्ट से क्यों करायें ?

आचार्य महीधर एक बार बीमार पड़े । उन्होंने भगवान से प्रार्थना की कि मुझे अच्छा होने का वर दो । दूसरे दिन उनकी बीमारी अच्छी हो गयी । कुछ दिन पीछे वे फिर बीमार पड़े । वे उस दिन, रात्रि को भगवान से मात्र अपने आरोग्य की प्रार्थना करते रहे । उन्हें नींद आयी तो लगा भगवान् स्वयं आ उपस्थित हुए । बोले-'अश्वलोमा के पास जा, उपचार करा । भेजा था, मेरा कुछ काम करेगा पर उल्टे तू मुझसे ही माँगने लगा ।'

आचार्य महीधर को बड़ी ग्लानि हुई । जो काम एक वैद्य कर सकता है उसके लिए भी भगवान । उन्होंने क्षुद्रता छोड़ी और उसी दिन से वेद-भाष्य का श्री गणेश कर दिया ।

परमात्मा की उपासना के साथ कामनायें जोड़ना ओछापन है । सच्चे संत उससे अपने आपको सदैव बचाकर रखते हैं, यही उनकी महानता की पहचान होती है ।

पाठ से नहीं, पुरुषार्थ से गाड़ी चली

यदि मनुष्य का स्वयं का कुछ किया हुआ न हो तो स्वयं विधाता भी उसकी सहायता नहीं कर सकता, क्योंकि सृष्टि का विधान अटल है । जिस प्रकार विधान बनाने वाले विधायकों को स्वयं उसका पालन करना पड़ता है, वैसे ही ईश्वरीय अवतार महापुरुष तो क्या स्वयं भगवान भी अपने बनाये विधानों का उल्लंघन नहीं कर सकते । इससे तो उनका सृष्टि संचालन ही अस्त-व्यस्त हो जायगा । इस सम्बन्ध में उन लोगों को सचेत होकर अपना कर्म करना चाहिए जो सोचते हैं कि भगवान् सब कर देंगे और स्वयं हाथ पर हाथ धरे बैठे रहें ।

एक आदमी हनुमान का उपासक था । एक बार वह बैलगाड़ी लिए कहीं जा रहा था । गाड़ी कीचड़ में फँस गई, वह वहीं खड़ा होकर हनुमान चालीसा पाठ करने लगा और गाड़ी बाहर निकलने की कामना करने लगा । तभी उधर से आये एक पंडित जी ने कहा-'मित्र, हनुमान जी पता न चलने पर पहाड़ ही उखाड़ लाये थे, तुम कम से कम गाड़ी को हाथ तो लगाओ ।' आदमी ने थोड़ी ताकत लगाई और बैलगाड़ी बाहर खींच ले गये ।

देवता हों या महापुरुष तब तक फल नहीं देते जब तक मनुष्य स्वयं उन आदर्शों के परिपालन के लिए समुद्यत नहीं होता । कर्म विधान पर भी यही सिद्धांत लागू होता है । ईश्वर उनका फल तब दे जब मनुष्य अन्तः को बलवान बनाये, याचना भाव नहीं समर्पण भाव बढ़ाये ।

सेवक से समर्पण सीखा राजा ने

भक्त की उपमा तो उस सेवक से दी जा सकती है, जिसकी अपनी कोई चाह नहीं होती । प्रभु की, मालिक की चाह ही उसके लिए आदेश होता है । एक राजा के पास एक सेवक आया । उन्होंने उससे पूछा-"तेरा नाम क्या है ?" उसने कहा-"मालिक ! जिस नाम से पुकारें-वही मेरा नाम होगा ।" राजा ने फिर पूछा-"तू क्या खायेगा और क्या पहनेगा ?" उसने कहा-"जो आप खिला दें, पहनने को दें ।" "क्या काम करेगा ?" सेवक का उत्तर था-"जो आप करायेंगे ।" राजा बोल उठा-"आखिर तू चाहता क्या है ?" "मालिक ! दास की भी कोई चाह होती है । वह तो समर्पित होता है"- उत्तर था ।

राजा गद्दी से उतरा और उसे गले लगा लिया । वह बोल उठा-"तू आज से मेरा गुरु हुआ । आज तक भगवान् से माँगते रहकर मैंने अपनी दीनता ही बढ़ाई है । उसकी महानता का कृपा, का लाभ लेना तो तूने मुझे सिखाया है ।"

श्वेतकेतो जगत्यत्र भौतिके दृश्यतामय ।
शरीरस्य बलं शस्त्रबलं सङ्घबलं तथा ॥ ५४॥
बलं बुद्धेर्धनस्यापि कलाकौशलजं बलम् ।
आत्मिके जगति प्रोक्तमेकमात्मबलं त्वलम् ॥ ५५॥

तस्योपार्जनमीशस्य भक्तिक्षेत्रे तु सम्भवम् ।
सच्चिन्तनेन सत्क र्मं बीजस्यारोपणेन च ॥ ५६॥

टीका-हे श्वेतकेतु ! भौतिक जगत् में शरीर-बल, शस्त्र-बल, संगठन-बल, बुद्धि-बल, धनबल, कला-कौशल जैसी अनेक सामर्थ्य हैं, किन्तु आत्मिक जगत् में एक ही बल है-आत्मबल । उसका उपार्जन ईश्वर भक्ति के क्षेत्र में सच्चिंतन और सत्कर्म का बीजारोपण करते हुए सम्भव होता है ॥ ५४-५६ ॥

व्याख्या-थोड़ा सा धन जमा हो तो कालान्तर में ब्याज के साथ बढ़ता चला जाता है । मनुष्य के पास बहिरंग जगत की सम्पदाओं से भी बढ़कर एक ऐसी आत्मिक सम्पदा है जिसे चिंतन में श्रेष्ठता तथा क्रियाकलापों में उत्कृष्टता का समावेश कर बढ़ाया जा सकता है । अन्तर्जगत की यह खेती दिव्य विभूतियों की फसल के रूप में पकती व व्यक्ति को विभूतिवान बनाती है । आत्मबल एक ऐसी विशिष्ट सम्पदा है जो मात्र मनुष्य को ही मिली है । यह बात अलग है कि इस रत्न भण्डार को बहुत कम पहचान पाते व उपयोग कर पाते हैं ।

नानक की खेती

कालूराम ने पुत्र को खेती करने का आदेश दिया । कई दिन बाद पूछा-"बेटा ! तेरी खेती का क्या हुआ ?" "खूब लहलहा रही है पिताजी !" बालक ने उत्तर दिया-"मैंने शरीर रूपी खेत में सत्कर्म का हल चलाया, उसमें ईश-भजन के बीज बोये, सत्संग की खाद और संतोष के जल से सींचा है-अब क्या है सर्वत्र आनंद का अन्न उग रहा है ।" उत्तर सुनकर पिता अवाक् रह गया । धर्म की खेती करने वाला यही बालक आगे चलकर नानक हुआ ।

आत्मबलातिरिक्ता तु विभूतिर्नहि जीवने ।
मनुष्यस्य मता श्रेष्ठा विशालात्मा तु यो नरः ॥ ५७॥
सामर्थ्यवान् स एवास्ति सम्पत्या युक्त एव च ।
उपार्जनमिदं भुक्तावकृत्वा सावधानतः ॥ ५८॥
महत्सूद्देश्यकेष्वेव योजनं महतामिदम् ।
वैशिष्ट्यं वर्तते येन जगत् सन्मंगलं भवेत् ॥ ५९॥

टीका-आत्मबल से बढ़कर मनुष्य जीवन में और कोई बड़ी विभूति नहीं है । जो इसका धनी है, उसे सामर्थ्यवान् पाया जाता है और सम्पत्तिवान् भी । इस उपार्जन को विलास में न खर्च करके सावधानी से महान् उद्देश्यों में नियोजित करना महामानवों की विशेषता है, जिससे जगत् मंगलमय बन जाता है ॥ ५७-५९ ॥

व्याख्या-भौतिक सामर्थ्य की अपनी महत्ता है, उपयोगिता है पर आत्मिक विभूति से उसकी कोई तुलना नहीं की जा सकती । जहाँ भौतिक सम्पत्ति को सम्पदा माना जाता है, वहाँ आत्मिक सम्पत्ति को विभूति कहते हैं । एक सिद्धि है और दूसरी ऋद्धि । इसे भगवान ने इसलिए नहीं दिया कि इसका दुरुपयोग व्यर्थ अहं प्रदर्शन, बाजीगरी, सिद्धि-चमत्कार आदि में किया जाय । महामानव देवदूत इसी लिए इसे मंगलकारी कार्यों के लिए नियोजित रखते हैं, व्यर्थ नष्ट नहीं करते ।

चिड़िया जलाने वाला तपस्वी

नरोत्तम पेड़ के नीचे बैठा आराम कर रहा था कि ऊपर से पक्षी ने उस पर बीट कर दी । क्रोध से उसने ऊपर देखा तो चिड़िया जलकर भस्म हो गई । युवक को तपबल का अहंकार हो गया । अपनी भूख को मिटाने के लिए उसने एक ग्रामीण के दरवाजे पर जाकर भोजन की याचना की । गृहस्वामिनी अपने पति की सेवा कर रही थी । थोड़ी देर रुकने को कहा तो नरोत्तम को बड़ा क्रोध आया । स्त्री बात समझ गई और बोली-'महात्मा जी, मैं चिड़िया नहीं हूँ जो जलकर भस्म हो जाऊँगी । मैंने भी तुलाधार से योग विद्या सीखी है ।' नरोत्तम तुलाधार के पास पहुँचा । तुलाधार ने जाते ही इसका अभिप्राय और पिछली घटनायें सुना दीं । आश्चर्य करने पर नरोत्तम को शिवाक चाण्डाल के पास जाने को कहा । नरोत्तम चाण्डाल के पास

गया तो उसने भी पहले की सारी बातें बिना पूछे बता दीं । नरोत्तम ने पूछा-"आप लोगों ने किस साधना विधि से यह योग विद्या पाई है ?" शिवाक का उत्तर था-'महाराज ! हमने अपनी आत्म शक्ति से ही यह विभूति अर्जित की है पर इसका कभी दुरुपयोग नहीं किया । हमेशा कर्तव्य को भगवान माना है व श्रम देवता की पूजा की है । आप इसी का फल इसे मान सकते हैं ।'

आत्मबली सामर्थ्यवान-सम्पत्तिवान भी

ब्रह्मतेजस् जिनका जागा हुआ है ऐसे महामानव अपनी सामर्थ्य सम्पदा को समय आने पर प्रयुक्त करते और वह भी जन मानस को आत्म बल की सामर्थ्य व महत्ता समझाने के लिए न कि अहंता के प्रदर्शन हेतु ।

हैहयवंशी सम्राट् कार्तवीर्य विंध्य प्रदेश को जीतकर मित्र राजाओं और विजयी सेना सहित स्वदेश लौट रहे थे । प्रथम विराम उन्होंने नर्मदा तट पर महर्षि जमदग्नि के आश्रम में किया । विजय के अहंकार में डूबे कार्तवीर्य उस समय राजसी वैभव से पूर्णतः अलंकृत थे । अपराह्न वे चलने को समुद्यत हुए तो महर्षि ने शिष्टाचारवश स्वयं उपस्थित होकर कहा-"राजन् ! आप लोग थके हैं आज रात यहीं विश्राम करें ।"

सम्राट् हँस पड़े, बोले-तपोनिधि आपका आग्रह ठीक है, पर हमारे साथ इतनी विशाल सेना और आपकी विपन्न स्थिति, दोनों में सामंजस्य कैसा?

महर्षि उनके अहंकार को ताड़ गये । उन्होंने कहा-"तात ! आप उसकी चिन्ता न करें, तपस्वी का धन भगवान है, भगवान तो सारे संसार को खिलाता है, आपकी सेवा है ही कितनी ।"

कार्तवीर्य ठहर गये । दृश्य बदला । दूसरे ही क्षण आश्रम ने अपना रूप बदला । मंदार, करवीर, यूथिका, लौध्र, कुन्द, चंपक आदि नाना प्रकार के फूलों से सुसज्जित हो गया आश्रम । भोज्य, भक्ष्य, पेय, लेह्य तथा चोष्य सभी प्रकार के सुस्वाद युक्त व्यंजन, हर अतिथि के लिए राजमहलों को भी कान्तिहत करने वाले सुंदर भवन और राजसी वेष धारण किए परिचारक । यह सब देखकर कार्तवीर्य स्तब्ध रह गये । उन्हें सहसा विश्वास नहीं हुआ कि यह सब कोइ सम्मोहन है अथवा स्वप्न या सचमुच ही महर्षि की योग सिद्धि ।

विशाल सेना आतिथ्य पाकर कृतकृत्य हुई । कल तक कार्तवीर्य की प्रशंसा के स्वर गूँज रहे थे पर आज हर व्यक्ति के मुख में गुणानुवाद था महर्षि की ब्राह्मी शक्ति का । स्वयं महाराज कह रहे थे-"भगवन् ! आज क्षत्रिय-बल, ब्रह्म-बल के सम्मुख हार मानता है और श्रद्धावनत शीश झुकाता है ।"

इसी प्रकार भरतजी के श्रीरामचन्द्रजी से मिलने के लिए जाते समय ऋषिवर भारद्वाज ने अयोध्यावासियों का अपने आश्रम में राजसी स्वागत-सत्कार किया था । धर्मतन्त्र के प्रतिनिधि भारद्वाज का राजतन्त्र के प्रतिनिधि, औदार्य के प्रतीक, भ्रातृप्रेम की सजीव साकार मूर्ति भरत जी के प्रति यह सम्मान भर था ।

पितामह ब्रह्मा को सृष्टि के निर्माण की प्रेरणा-आत्मबल सम्पादन की स्फुरणा हुई और उन्होंने सृष्टि रचकर जीवधारियों के लिए एक महत्वपूर्ण सन्देश दिया-"कुछ अर्जित करना हो तो आत्मदेव की शरण में जाओ और उसी से पाने का प्रयास करो ।"

तप कर ! तप कर !!

ब्रह्माजी कमल के फूल पर बैठे हुए चिंतन में लीन थे । वे सोच रहे थे कि सृष्टि का निर्माण कैसे करूँ ? इसी असमंजस में पड़े हुए ब्रह्मा को एक आकाशवाणी सुनाई दी जो कह रही थी 'तप कर ! तप कर !!' ब्रह्माजी आकाशवाणी को ईश्वरीय आदेश मानकर तप में संलग्न हो गये । उन्होंने लम्बे समय तक घोर तप किया और उसी के बल पर उन्हें सृष्टि के निर्माण की क्षमता प्राप्त हुई । पुरुषार्थ और साहस करके ही ब्रह्माजी ने कुछ पाया था । यही मार्ग ब्रह्मा द्वारा रचे गये प्रत्येक प्राणी के लिए है । उद्योगी मनुष्य उन्नति करते एवं सुख पाते हैं और अकर्मण्य व्यक्ति भाग्य को दोष देकर रोते-झींकते जिन्दगी पूरी करते हैं । प्रगतिशीलों के लिए आज भी ईश्वर की आकाशवाणी का एक ही संदेश है-तप कर ! तप कर !!

राजा विश्वामित्र ब्रह्मर्षि बने

विश्वामित्र एक राजा थे । वशिष्ठ मुनि के आश्रम पर वे एक बार सेना सहित पहुँचे । अपनी कामधेनु की शक्ति से महर्षि ने उनका यथोचित सत्कार किया । उस गौ का प्रभाव देखकर राजा विश्वामित्र ने उसे लेना चाहा । स्वेच्छा से देने से इन्कार करने पर वे बलात् ले जाने लगे । कामधेनु ने महर्षि से अनुमति प्राप्त कर अपने शरीर से लाखों सैनिक प्रकट करके इनकी सेना को पराजित कर दिया ।

ब्रह्मतेज का यह बल देखकर उन्होंने क्षात्र धर्म त्यागकर ब्राह्मणत्व प्राप्त करने का निश्चय किया । जीवन की दिशा धारा ही बदल गयी ।

''धिक् बलं क्षत्रिय बलं ब्रह्मतेजो बलं बलम्''

कहते हुए उन्होंने महान तप किया । बार-बार तप के नाश से भी वे निराश नहीं हुए । तपस्या के प्रभाव से वे नयी सृष्टि रच सकने में समर्थ हुए । ब्रह्मा ने इसे रोककर उन्हें अपनी तपः शक्ति को जन-कल्याण में नियोजित करने का आदेश दिया । उनकी 'अहं' पर विजय तथा तपोबल से अर्जित सामर्थ्य ने उन्हें 'ब्रह्मर्षि' पद से सम्मानित किया । यही विश्वामित्र थे जिन्होंने राक्षसों द्वारा अपने यज्ञ में विध्वंस किए जाने पर भी उन्हें शाप न देकर उस कार्य को भगवान राम से करवाया । कहने का आशय यही है कि एक बार जब इस सामर्थ्य का ज्ञान हो जाता है व सुनियोजन की दिशा मिल जाती है तो महामानव-ऋषि जन इसे लोकमंगल के अतिरिक्त और किसी कार्य में व्यर्थ नष्ट नहीं करते ।

बुद्ध को मिला आत्मबल वर्षों की साधना की परिणति था । चाहते तो मुक्ति भी पा सकते थे । पर उन्होंने अनेक को मुक्ति दिलाना इससे अधिक श्रेयस्कर माना । यही देवदूतों की, अवतारों की विशेषता है ।

जीवनं देवता नूनं प्रत्यक्षं तस्य लभ्यते ।
अभ्यर्थनाभिरेतत्सत्परिणामपरम्परा ॥ ६०॥
जीवनं नोपहारोऽस्ति प्रभोःप्रतिनिधिस्तु तत् ।
जीवनोपासनामूला सिद्ध्यतीशस्य साधना ॥ ६१॥
प्रतिफलानि तस्यास्तु सामान्यं कुर्वते जनम् ।
असामान्यं ध्वजत्येतज्जीवो ब्रह्मैव नापरः ॥ ६२॥

टीका-जीवन प्रत्यक्ष देवता है । उसकी अभ्यर्थना करने से हाथों-हाथ सत्परिणामों की प्राप्ति होती है । जीवन को ईश्वर का उपहार नहीं, प्रतिनिधि कहा गया है । जीवन-साधना से ही ईश्वर-साधना सधती है, उसी के प्रतिफल सामान्य-असामान्य बनाते हैं । 'जीवो ब्रह्मैव नापरः' कथन इसी को ध्वनित करता है ॥ ६०-६२॥

व्याख्या-जीवन भगवत् सत्ता की साकार प्रतिमा है । जो भी कुछ प्राप्त किया जा सकना सम्भव है, इसी देवता की उपासना से अर्जित किया जा सकता है । इसी तथ्य को ऋषि ने पहले भी अध्यात्म दर्शन प्रकरण में स्पष्ट किया है । यहाँ वे और भी सशक्त स्वर में जीवन साधना को अपने आप में महान् बनाने की तपश्चर्या पर बल देते हुए कहते हैं कि जीव-ब्रह्म का ही अंश होने से हमेशा उसे ब्रह्म जैसा ही सशक्त, सामर्थ्यवान, गुण सम्पन्न होने की बात सोचनी चाहिए । इसी साधना ने सामान्य से व्यक्तियों को असामान्य बनाया है । पर बहुसंख्य व्यक्ति इस देवता-को चेतना की प्रतीक सत्ता को जान नहीं पाते और हेय सा जीवन बिताते रहते हैं ।

अन्धे को नोट कागज जैसा

एक अन्धा भीख माँगा करता था । मिलने वाले पैसों से ही अपना गुजारा चलाता था । एक धनी एक दिन उधर से निकला । फटेहाल अंधे पर दया कर उसने पाँच रुपये उसके हाथों पर रख दिये व आगे बढ़ गया । अंधे ने कागज को टटोला, समझा किसी ने मजाक की है व अंधा समझकर बेवकूफ बनाया है । उसने उसे फेंक दिया । एक सज्जन ने उठाकर वह नोट अंधे को दिया, उसका मूल्य बताया । तब उसे ज्ञान हुआ कि ७ दिन में एकत्र हो सकने वाली निधि वह पा गया था जिसे वह दूसरे ही पल गँवा भी चुका था । परमात्मा के दिए अनुदान को व्यक्ति अनायास ही पहचान नहीं पाता तथा सद्यः पाये को मूल्यहीन समझ खोता रहता है ।

जीवन से सुन्दर और कुछ नहीं

एक दिन देवलोक से एक विशेष विज्ञप्ति निकाली गई, जिसने आकाश, पाताल तथा पृथ्वी तीनों लोकों में हलचल मचा दी । प्रसारण इस प्रकार था-'अगले सात दिन तक लगातार श्री चित्रगुप्त जी की प्रयोगशाला के मुख्य द्वार पर कोई भी प्राणी असुन्दर वस्तु देकर उसके स्थान पर सुन्दर वस्तु प्राप्त कर सकेगा । शर्त यही है कि वह विधाता की सत्ता में विश्वास रखता हो । इसकी परीक्षा वहीं कर ली जावेगी ।'

बस फिर क्या था । सभी अपनी-अपनी बदलने वाली वस्तुओं की सूची तैयार करने लगे । याद कर-करके सबों ने अपनी उन वस्तुओं को लिख लिया जो उन्हें अरुचिकर या असुंदर लगती थीं । निश्चित तिथि पर देवलोक से कई विमान भेजे गये, जो सुविधापूर्वक सबों को देवलोक पहुँचाने लगे । जब सब लोग वहाँ आ गये तो विधाता ने अपने तीसरे नेत्र की योग दृष्टि से तीनों लोकों का अवलोकन किया कोई बचा तो नहीं आने से । उन्होंने पाया कि स्वर्ग तथा पाताल में कोई शेष नहीं रहा । केवल पृथ्वी पर एक मनुष्य आराम से पड़ा अपनी मस्ती में डूबा आनंद मग्न है । पास जाकर उससे पूछा-'तात ! तुमने हमारा आदेश नहीं सुना क्या ? तुम भी चित्रगुप्त के दरबार में क्यों नहीं चले जाते और अपने पास जो कुरूप, कुरुचिपूर्ण वस्तुएँ हैं, उन्हें बदलकर अच्छी वस्तुएँ ले आते, जानते नहीं कि अच्छाई की वृद्धि से सम्मान बढ़ता है ।'

वह व्यक्ति नम्रता और गम्भीरता से बोला-'भगवन् ! सुना तो था-मैंने सर्वत्र तलाश भी की किन्तु मनुष्य जीवन से बढ़कर सुंदर मुझे और कुछ लगा नहीं । भगवान ने वह दे दिया फिर और पाना ही क्या शेष रहा ।' कहते हैं भगवान् ने और सबको मनोवाँछित वस्तुयें दी और उसे सबका राजा बना दिया ।

ब्रह्म के प्रतीक जीवन देवता के आराधक

प्रह्लाद को देवर्षि नारद ने यही भान कराया था कि उसकी सत्ता ब्रह्मसत्ता से अलग नहीं । उसे असुरत्व को स्वीकार न कर देवत्व का वरण करना चाहिए । यह परामर्श और प्रह्लाद की साधना उन्हें स्वयं तो असामान्य बना ही गयी, असुरता के संहार हेतु प्रभु के साकार अवतरण का कारण भी बनी ।

भर्तृहरि राज्य कार्य में व्यस्त अपनी आत्म गरिमा को भुला चुके थे । उनके गुरु ने आकर उन्हें स्मरण दिलाया और उन्हें उस मार्ग पर चलने को प्रवृत्त किया जिस पर पद रखकर वे योगिराज कहलाये ।

मीरा ने अपने गिरधर गोपाल को प्रतीक बनाकर ब्रह्मसत्ता की-अपने में संव्याप्त जीवन सत्ता की ही अभ्यर्थना, उपासना की । उसी का प्रतिफल था कि वे सामान्य सी राजपूत रानी से ईश्वर की कृपा का पात्र बनीं, असंख्यों के लिए आस्तिकता का प्रेरणा स्रोत बनीं ।

श्वेतकेतो ! मानवोऽयं महान् पूर्णादयतोध्रुवम् ।
उत्पन्नस्तथ्यतस्तेन सोऽपिपूर्णोऽस्ति मन्यताम् ॥ ६३ ॥
कषायकल्मषावृत्तो दरिद्रो दीन एव च ।
शिथिलीकरोति यावच्च मालिन्यभवबन्धनम् ॥ ६४ ॥
सामीप्यं सरलं तस्य तावदीशस्य संभवेत् ।
ईश्वरस्य समीपे यः सामर्थ्यमधितिष्ठति ॥ ६५ ॥

टीका-हे श्वेतकेतु, मनुष्य निश्चय ही महान् है । वह ईश्वर से उत्पन्न होने के कारण तथ्यतः पूर्ण ही है, कषाय-कल्मषों से आवृत्त होकर ही वह दीन-दरिद्र बनता है । मलीनता के भव-बन्धनों को जो जितना शिथिल करता है उसके लिए ईश्वर की समीपता उतनी ही सरल बनती जाती है । जो ईश्वर के निकट है, उसे सामर्थ्य का अधिष्ठाता माना जाता है ॥ ६३-६५ ॥

व्याख्या-मनुष्य महान है, अपने में समग्र है । यह मात्र इस कारण है कि वह ब्राह्मी सत्ता का ही एक अंश है । जिस प्रकार बुझती आग को प्रदीप्त करने के लिए राखरूपी मलीन आवरण हटाना पड़ता है, उसी प्रकार मनुष्य पर भी दैनंदिन जीवन में छाये कषाय-कल्मष को मिटाने की आवश्यकता पड़ती है । ये आवरण अमरबेल की तरह होते हैं जो वृक्ष से पोषण लेती हैं और उसके ऊपर छाकर उसे शुष्क कर डालती हैं । यदि जीव सत्ता को परमपिता के सामीप्य का लाभ पाना हो तो उसे इन बंधन की जंजीरों को तोड़ना ही होगा । मनुष्य दीन-हीन बनता है, अपने ही कारण, ईश्वर के समकक्ष बनने का श्रेय पाता है तो वह भी मात्र अपने ही बलबूते ।

राजा को कीट काया से मोह

महाराज प्रद्युम्न अपने राजवंश पर बड़ा स्नेह रखते थे । एक बार किसी असाध्य बीमारी ने उन्हें मृत्युपाश में घेर लिया । कुटुम्बियों ने उपचार के लिए महर्षि पुरन्ध्र को बुलाया । महर्षि ने देखा

महाराज किसी तरह बच नहीं सकते । परिजन विलाप कर बैठे और बोले-'भगवन ! आप तो सर्व-समर्थ हैं । किसी भी तरह महाराज को बचाइये ।' प्रस्न्ध्र ने अन्तर्दृष्टि से देखकर बताया-'यह शरीर छोड़ते ही महाराज काष्ठकीट के रूप में राजोद्यान के एक वृक्ष में जन्म ले लेंगे । यदि उस कीड़े को पकड़ कर मार दिया जायेगा तो महाराज पुनर्जीवित हो उठेंगे ।' यह बात सबने मान ली ।

प्राण छूट गये । उधर एक वृक्ष में काष्ठकीट ने जन्म ले लिया । कुटुम्बी उसे पकड़ने के लिए पेड़ पर चढ़ गये । पर वे इस डाली पर जाते तो कीड़ा दूसरी डाली पर भाग जाता, दूसरी से तीसरी पर । कई बार तो छेद बनाकर काठ में घुस जाता और दूसरी तरफ निकलता । दिन भर प्रयत्न करने पर भी कीड़ा हाथ न लगा । पुरन्ध्र ने समझाया-'आसक्ति में पड़कर कीड़ा अपने मानवीय सुविधा सम्पन्न जीवन को भूल गया है, इसी तरह मनुष्य मोह और वासनाओं की आसक्ति में पड़कर अपने ईश्वरीय स्वरूप को भूल जाते हैं ।'

आम, जिसने सड़ना स्वीकार कर लिया

पेड़ का मालिक पके आमों की खोज-बीन करने वृक्ष पर चढ़ा भी पर एक आम पत्तों की झुरमुट में ऐसा छिपा कि हाथ आया ही नहीं । दूसरे दिन उसने देखा कि उसके सब पड़ौसी जा चुके हैं, उसका अकेले ही रहने का मोह नहीं टूटा था पर अब मित्रों की विरह व्यथा सताने लगी थी । आम कभी तो सोचता नीचे कूद जाऊँ और अपने मित्रों में जा मिलूँ फिर उसे मोह अपनी ओर खींचता । आम उसी उधेड़-बुन में पड़ा रहा । संशय का यही कीड़ा धीरे-धीरे फल को खाने लगा और एक दिन उसका सारा रस समाप्त हो गया । मात्र रूखी बोंड़ी नरकंकाल के समान पेड़ में लगी रही ।

वृद्ध का मोह-यथार्थ से टूटा

लोग वृद्ध हो जाते हैं-उस स्थिति में पके आम की तरह यदि घर से निकलकर लोक-सेवा को अपना कर्तव्य बना लें तो बड़े उपयोगी सिद्ध हो सकते हैं, सम्मान और श्रेय भी कमा सकते हैं । घर वाले तिरस्कार भी करते हैं, तो भी इसी आसक्ति के कारण ही वे कुटुम्बियों से चिपके रहते हैं । एक बार एक वयोवृद्ध को जो अन्य कार्यों से निवृत्त हो व्यर्थ में समय नष्ट करता था, एक साधु ने यही सलाह दी । समझाया-"तात ! अब तुम्हें लोक कल्याण की साधना में जुट जाना चाहिए, घर का मोह त्यागकर समाज को अपने अनुभवों का लाभ देना और लोक श्रद्धा का आनंद लेना चाहिए ।" लेकिन बुड्ढे के मन में नाती, पोतों का मोह समाया था । बोला-"महात्मन् ! मेरे बिना बच्चे कैसे रहेंगे ।" वृद्ध घर लौटा, वृद्धावस्था का शरीर, रात नींद जल्दी टूट गयी, उसे लगा कि बगल के कमरे में कोई बात कर रहा है । ध्यान देकर सुना तो पता चला उसी का लड़का और बहू बात कर रहे हैं-बुड्ढा दिन-रात खाँसता है, मरता भी नहीं, अपनी टाँग अड़ाता रहता है । अपमान सहकर बुड्ढे को समझ आई और तब उसने घर त्यागा ।

मनुष्य का मन ही है जो सदा सांसारिकता के मोह में पड़ा रहता है और भगवान जैसी महान अपनी आत्मसत्ता से मिल नहीं पाता । जीवन भर के तुच्छ अभ्यास जड़ आदतें-आसक्तियाँ मृत्यु के समय भी पीछा नहीं छोड़ते । कई बार तो शिक्षित और विचारशील लोगों को भी इसी तरह की इंद्रियों की लिप्सा में पड़े देखते हैं तो आश्चर्य होता है । मनुष्य अपने ऐश्वर्यवान स्वरूप को भूलकर किस तरह पाप पंक में फँसा पड़ा रहने में आनन्द अनुभव करता है ।

दुर्गन्धयुक्त झोंपड़ी में रमा राजा

राजा परीक्षित को भागवत सुनाते हुए जब शुकदेव जी को छः दिन बीत गये और सर्प के काटने से मृत्यु होने का एक दिन रह गया तब भी राजा का शोक और मृत्यु भय दूर न हुआ । कातर भाव से अपने मरने की घड़ी निकट आती देखकर वह क्षुब्ध हो रहा था ।

शुकदेवजी ने परीक्षित को एक कथा सुनाई-'राजन् ! बहुत समय पहले की बात है, एक राजा किसी जंगल में शिकार खेलने गया । संयोगवश वह रास्ता भूल कर बड़े घने जंगल में जा निकला । रात्रि हो गई, वर्षा पड़ने लगी । सिंह, व्याघ्र बोलने लगे । राजा बहुत डरा और किसी प्रकार रात्रि बिताने के लिए विश्राम का स्थान ढूँढ़ने लगा । कुछ दूर पर उसे दीपक दिखाई दिया । वहाँ पहुँचकर उसने एक गन्दे बीमार बहेलिये की झोंपड़ी देखी । वह चल फिर नहीं सकता था इसलिए झोंपड़ी में ही एक ओर उसने मल-मूत्र त्यागने का स्थान बना रखा था । अपने खाने-पीने के लिए जानवरों का मांस उसने झोंपड़ी की छत पर लटका रखा था । झोंपड़ी गन्दी, छोटी, अँधेरी और दुर्गन्ध युक्त थी । पहले तो राजा ठिठका पर अन्य कोई आश्रय न देखकर बहेलिये से उसी में ठहर जाने की प्रार्थना करने लगा । बहेलिये ने उसे समझाया-"राजन ! आप इस स्थान पर रह नहीं पाएँगे । पर, एक दिन रह लेगें तो इस

गंध के आदी होकर छोड़ेंगे भी नहीं ।" राजा बोले-"यह तो आज भर की विवशता है । मैं सबेरे अवश्य चला जाऊँगा ।" हुआ वही जो होना था । राजा ने सबेरे उस स्थान से जाने से मना कर दिया ।'

यह कथा चल ही रही थी कि परीक्षित बोल पड़े-"वह कैसा मूर्ख राजा था ।" शुकदेव बोले-'परीक्षित ! वह मूर्ख तुम्हीं हो जो मल-मूत्र की इस कोठरी को छोड़ने से डर रहे हो । अवधि पूरी हो जाने पर भी तू झंझट फैला रहा है ।" परीक्षित का ज्ञान जाग पड़ा और वे मृत्यु के लिए सहर्ष तैयार हो गये ।

चींटी को शक्कर की दावत

भगवान् का सामीप्य पाने के लिए पुराने कुसंस्कारों का परित्याग भी आवश्यक है । विन्ध्याचल की पर्वत शिखा पर दो चीटियाँ रहती थीं एक उत्तर में, एक दक्षिण में । उत्तर वाली के पास चीनी की खान थी, दक्षिण वाली के पास नमक की । एक दिन शक्कर की खान वाली चींटी ने दूसरी चींटी को निमंत्रण दिया-"बहिन ! कहाँ इस नमक की खान में पड़ी हो । मेरे वहाँ शक्कर ही शक्कर है । खाकर मुँह मीठा करो और अपना जीवन सफल करो ।" दूसरी चींटी ने निमंत्रण स्वीकार कर लिया । बड़े सबेरे नहा धोकर पहली चींटी के घर जा पहुँची । चींटी ने उसे घूम-घूमकर शक्कर की खान दिखाई और कहा-"बहन ! जी चाहे जितना शक्कर खाओ । यहाँ किसी बात की कमी नहीं है ।"

चींटी दिन भर इधर-उधर भागती फिरी और शाम को पहली चींटी से यह कह कह चली गयी बहिन तुमने मुझे बड़ा धोखा दिया । यदि शक्कर तुम्हारे पास न थी तो मुझे निमंत्रण ही क्यों दिया ?

पास ही एक कुटिया में एक संत और उनका शिष्य निवास करते थे । शिष्य ने पूछा-"गुरुदेव ! शक्कर के पहाड़ में घूमने पर भी चींटी को शक्कर का पता क्यों न चला ।" संत बोले-"बात यह थी वत्स, चींटी अपने मुँह में नमक का टुकड़ा दाबे हुए थी । इसी से उसे मिठास का आभास नहीं हो पाया ।" इसी प्रकार जो लोग अपने पुराने संस्कार नहीं बदलते, आत्मशोधन द्वारा अपनी बुराइयाँ नहीं हटाते वे परमात्मा के समीप होते हुए भी उसकी कृपा से वंचित रह जाते हैं । नया पाने के लिए पुराना हटाने का नियम अनिवार्य और अटल है ।

अरण्यसाधनायां हे ब्रह्मविद्याभिसाधनाः ।
ब्रह्मवेत्तार ! आत्मीयं सामर्थ्यं ज्ञायतां भृशम् ॥ ६६ ॥
विश्वासस्तत्र कर्तव्यः तच्च वर्धयतानिशम् ।
बलिष्ठतायै साहाय्यं यद्यपेक्षेत भिक्ष तत् ॥ ६७ ॥
सहैवात्र च विज्ञेयस्त्वैश्वरोऽनुग्रहः सदा ।
अनुरूपः पात्रताया लभ्यते नात्र संशयः ॥ ६८ ॥

टीका-हे आरण्यकसाधना में, ब्रह्मविद्या की साधना में निरत ब्रह्मवेत्ताओं ! आत्मा की सामर्थ्य को समझो, उस पर विश्वास करो और बढ़ाओ । बलिष्ठता के लिए यदि सहायता की आवश्यकता पड़े तो ईश्वर से माँगों । साथ ही ध्यान रखो पात्रता के अनुरूप ही दैवी अनुग्रह उपलब्ध होता है, इसमें सन्देह नहीं ॥ ६६-६८ ॥

व्याख्या-ऋषि यहाँ पूर्व कथन की समीक्षा करते हुए कहते हैं कि अध्यात्म पथ पर चलने वाले हर जिज्ञासु को एक ही तथ्य याद रखना चाहिए-अपनी सामर्थ्य पर दृढ़ विश्वास रखो, वह मूल बीज है जो वृक्षरूप में फलित होकर कृतकृत्य करता है । उसे भुलाकर प्रभु से याचना मत करो । अपनी सामर्थ्य जब चुक जाये तो प्रभु से माँगो । आत्म विश्वास को याद कर कभी गर्व भी मत करो । यदि तुम सुयोग्य न हुए, उसकी कृपा के पात्र सिद्ध न हो सके तो उसकी कृपा कभी नहीं मिलेगी ।

पहले जूझें तो सही

इस कथन का सबसे सुन्दर उदाहरण राम के सखा रीछ-वानरों के रूप में देखने को मिलता है । वे अपनी पूरी शक्ति से दुर्धर्ष शत्रु के विरुद्ध जूझ पड़ते थे । जब माया का प्रयोग असुर गण करते तो अपनी सामर्थ्य सीमित मानकर प्रभु को याद करते थे जो सहायतार्थ आगे आकर उसे क्षण मात्र में नष्ट कर देते थे । वानरों की इसी शक्ति ने उन्हें इतिहास में अमर ही नहीं किया, उनके जीवन भी रामकाज में प्रवृत्त होने से धन्य हो गए । भगवान से जब-जब भी सत्कार्य के लिए अपनी पूरी शक्ति लगा कर माँगा गया है, प्रचुरता में मिला है ।

आद्य शंकराचार्य धर्म तन्त्र का परिशोधन करना चाहते थे । वे अनाचार से लड़े और उन्हें दैवी अनुग्रह के रूप में मान्धाता की सम्पदा एवं जनता का सहयोग, श्रद्धा प्रचुर मात्रा में मिली । कठिनाई तब होती है जब व्यक्ति अपनी इस सामर्थ्य को पहचान नहीं पाता । जब दृष्टि खुलती है तो सारा स्वरूप ही बदल जाता है ।

राजकन्या के लिए तप से दृष्टि खुली

एक दरिद्र मनुष्य एक सुन्दरी राजकन्या पर मुग्ध हो गया और उसे पाने के लिए पुरुषार्थ करने लगा । असम्भव लक्ष्य, पर संकल्प दृढ़ । अन्त में सोचा-'साधु होकर तपस्या करूँगा व जो आत्मबल अर्जित करूँगा, उससे राजकन्या प्राप्त हो जावेगी ।' इस प्रकार संसार त्यागकर तपस्या करने लगा । सारे राज्य में उसकी ख्याति बढ़ी । धनी-दरिद्र सभी उसके दर्शनों के लिए आने लगे । एक दिन वह स्वयं राजकन्या तपस्वी के दर्शनार्थ आयी । उसे अपने सामने पाकर तपस्वी के अंतःचक्षु खुल गये । उसने सोचा जिस प्रभु के प्रति श्रद्धावश यह मेरे दर्शनार्थ आयी है, उसे मैं छोड़ दूँ तो मेरी क्या गति होगी ? तपस्वी ने वास्तविकता को जाना और अपनी सामर्थ्य को शाश्वत सौन्दर्य, परमात्म शक्ति को पाने हेतु नियोजित कर दिया ।

पहले आत्मबल- तब वरदान

कुछ व्यक्ति एक वट के नीचे बैठे वार्तालाप कर रहे थे । सभी दुनियाँ के झँझटों से परेशान होकर भाग आये थे और साधु होने जा रहे थे । तब एक ने कहा-'हम सब मिलकर जंगल में रहेंगे और तपस्या करेंगे, लेकिन यह तो सोचो कि जब ईश्वर वरदान माँगने को कहेगा तो माँगोगे क्या ?' दूसरे ने कहा-'अन्न माँगेंगे । उसके बिना जीवित रहना संभव नहीं ।' तीसरे ने कहा-'बल माँगेंगे । बल के बिना सभी कुछ निरर्थक है ।' चौथे ने कहा-'बुद्धि माँगना ज्यादा उचित है । बुद्धि की आवश्यकता प्रत्येक कार्य को करने पूर्व होती है ।' पाँचवाँ बोला-'ये सब वस्तुएँ तो सांसारिक हैं । आत्म-शांति माँगेंगे, जो अंतिम लक्ष्य है मनुष्य का ।'

तब पहले व्यक्ति ने कहा-'तुम सब मूर्ख हो । क्यों न हम स्वर्ग ही माँग लें । वहाँ समस्त उपलब्धियाँ एक साथ ही हो जायेंगी ।' यह सुनके विशाल वट वृक्ष ठहाका लगाता हुआ बोला-'मेरी बात मानों, तुम लोगों से न तपस्या होगी, न उपलब्धियाँ प्राप्त होंगी, क्योंकि यदि इतना ही मनोबल होता, तो संसार से घबरा कर न भागते । भगवान के पास जाने के लिए असाधारण आत्म बल चाहिए, पहले उसकी साधना करो । फिर आगे की बात सोचना ।'

बढ़ई के बसूले

आत्मबल हो और उसका सदुपयोग करने लायक पात्रता न हो तो व्यक्ति पाने की जगह खोता ही है । कसौटी पर कसे बिना तो भगवान किसी को कुछ देता भी नहीं । एक बढ़ई का बसूला नदी में गिर गया । बढ़ई ने निश्छल हृदय से भगवान को पुकारा । पहले नदी से सोने का बसूला निकला-उसने कहा-'यह मेरा नहीं है भगवन् !' वह अन्दर चला गया । फिर चाँदी का निकला । उसने कहा-'प्रभु ! यह भी मेरा नहीं है ।' तभी नदी से आवाज आई-'वत्स ! तेरी ईमानदारी व पवित्रता के इनाम में यह दोनों बसूले भी तुझे देता हूँ ।' तीनों लेकर वह चला । रास्ते में उसके एक मित्र बढ़ई ने सोने, चाँदी के बसूले देखे और उनके मिलने का हाल सुना तो उसी जगह आकर अपना बसूला नदी में डाल ईश्वर को पुकारने लगा । तभी सोने का बसूला निकला उसने खुशी से कहा-'यही मेरा है ।' नदी से आवाज आई-'तू बेईमान है, यह बसूला तेरा नहीं है । नदी में घुसकर अपना बसूला ले ले ।' और इसके साथ ही सोने का बसूला नदी में समा गया ।

भगवान इसी प्रकार व्यक्ति के अंतरंग की परीक्षा लेता है । जो पात्र होता है उसे देता भी है और जो उससे भी छल करने लगता है, उससे दिये हुए अधिकार भी छीन लेता है ।

दिव्य थाल किसान के पास गया

देव मंदिर में शिवरात्रि के दिन एक बार एक सोने का थाल उतरा । उसमें लिखा था कि 'सच्चे भक्त को ही थाल मिलेगा ।' काशीराज ने ढिंढोरा पिटवाकर अपनी शक्ति की परीक्षा देने के लिए आह्वान किया ।

सर्वप्रथम एक पुजारी आगे बढ़े । उन्होंने कहा-'मैंने सच्चे मन से ईश्वर की उपासना की है । इसलिए थाल का अधिकारी मैं हूँ ।' राजा ने थाल पुजारी को दिया । हाथ में लेते ही सोने का थाल पीतल का हो गया । पुजारी ग्लानि से भर उठे और एक किनारे हट गये । पुनः थाल सोने का हो गया । तत्पश्चात् एक तपस्वी पहुँचे । उन्होंने अपने योग-तप की दुहाई दी । पर थाल उनके हाथ में भी लेते ही पीतल का हो गया ।

उसी समय एक किसान भी देवदर्शन के लिए दूर स्थान से पहुँचा । ईश्वर के प्रति उसकी अटूट निष्ठा थी । जितना समय मिलता परमात्मा का नाम ले लेता । बाकी समय में पूरे परिश्रम से कृषि करता । किसी तरह उसने थोड़े पैसे बचाये थे । उसी के सहारे शिवरात्रि के दिन देव दर्शन के लिए आ रहा था । एक गठरी में थोड़ा-सा सत्तू बँधा था । रास्ते में भूख प्यास से तड़पता रुग्ण एक मनुष्य पड़ा था । उसकी ओर किसी का ध्यान नहीं जा रहा था । सोने का थाल प्राप्त करने की आतुरता में भीड़ मन्दिर की ओर चली जा रही थी । किसान ने तड़पते व्यक्ति को उठाया, पानी पिलाया और सत्तू खिलाकर उसकी क्षुधा मिटायी । निकटवर्ती एक धर्मशाला के संचालक को सुपुर्द करके मन्दिर में दर्शन के लिए पहुँचा । किसान का पहुँचना था कि सोने का थाल काशी नरेश के हाथों से चला और किसान के हाथों में आ गया । सब सचाई देखने लगे । आकाशवाणी हुई कि 'जो आत्म-सामर्थ्य का सही उपयोग करता है, वही मेरा सच्चा भक्त है, सुपात्र है ।'

विडम्बनाऽथ दारिद्र्यं वैपन्यं च विभीषिकाः ।
दृश्यन्ते सङ्कटादीनि संसारे यानि तानि तु ॥ ६९॥
निकृष्टतोदितानीह चिन्तनस्याथ मन्यताम् ।
दुश्चानिष्योदितान्येव भ्रष्टतामूलकानि च ॥ ७०॥

टीका-संसार में दरिद्रता, विपन्नता, विडम्बना, विभीषिका के जो अनेकानेक संकट दृष्टिगोचर होते हैं, वे मात्र चिन्तन में निकृष्टता और चरित्र में भ्रष्टता बढ़ जाने के कारण ही हैं ॥ ६९-७० ॥

व्याख्या-पूर्व में पूछे गये जिज्ञासु श्वेतकेतु के प्रश्न का समाधान करते हुए व्यावहारिक पक्ष पर आते हुए ऋषि पिप्पलाद कहते हैं कि सूक्ष्म जगत का विक्षोभ मानव जन्य ही है जो दरिद्रता एवं दैवी प्रकोपों के रूप में दृष्टिगोचर होता है । चिन्तन में जब तक परिवर्तन न होगा, व्यवहार जब तक नहीं सुधरेगा, संव्याप्त परिस्थितियाँ और भी विषम होती चली जायेंगी । इसी धरती पर स्वर्ग और नरक देखना हो तो चिन्तन-चरित्र की इन प्रतिक्रियाओं के रूप में देखा जा सकता है ।

गुरु शिष्य स्वर्ग में

व्यक्ति की मनःस्थिति बदलने का अभ्यास न किया जाये तो वह कहीं भी दुखद परिणाम ही देती है । एक गुरु के दो शिष्य थे । दोनों किसान थे । भगवान का भजन, पूजन भी दोनों करते थे । स्वच्छता और सफाई पर भी दोनों की आस्था थी, किन्तु एक बड़ा सुखी था, दूसरा बड़ा दुःखी । गुरु की मृत्यु पहले हुई पीछे दोनों शिष्यों की भी । दैवयोग से स्वर्ग-लोक में तीनों एक ही स्थान पर आ मिले, पर स्थिति यहाँ भी पहले जैसी ही थी । जो पृथ्वी में सुखी था, यहाँ भी प्रसन्नता अनुभव कर रहा था और जो आये दिन क्लेश-कलह आदि के कारण पृथ्वी में अशान्त रहता, यहाँ भी अशांत दिखाई दिया । दुःखी शिष्य ने गुरुदेव के समीप जाकर कहा-'भगवन ! लोग कहते हैं, ईश्वर भक्ति से स्वर्ग में सुख मिलता है पर हम तो यहाँ भी दुःखी के दुःखी रहे ।' गुरु ने गम्भीर होकर उत्तर दिया-'वत्स ! भक्ति से स्वर्ग तो मिलता है पर सुख और दुःख मन की देन है । मन शुद्ध हो तो नर्क में भी सुख ही है और मन शुद्ध नहीं तो स्वर्ग में भी कोई सुख नहीं है ।'

प्रताप भानु की कथा

प्रतापभानु कैकय देश के राजा श्वेतकेतु के पुत्र थे । उन्होंने अपने समस्त शत्रुओं को पराजित कर वैभव बटोरा और सम्पन्नता को सारे राज्य के नागरिकों हेतु बिखेर दिया । इस सीमा पर पहुँचकर उन्हें अपने कीर्तिवान, यशस्वी होने का अहंकार हो गया । चिन्तन की यही विकृति उन्हें ले डूबी । उनका शत्रु कालकेतु व अन्य राजा कपट से उन्हें अपने वश में कर ब्राह्मणों का श्राप दिलाने में सफल हो गये और उन्हें अगली योनि में रावण बनना पड़ा । उनके मंत्री व छोटे भाई ने कुम्भकरण व विभीषण के रूप में जन्म लिया । लगभग सभी असुरों का इतिहास यही बताता है कि उन्हें चिंतन और चरित्र की विकृतियों ने ही गिराया है । देवगणों ने इस विभूति को कभी खोया नहीं अतः जब भी वे संगठित हुए, विजयी हुए ।

तीनों वरदान व्यर्थ गए

यदि मन में निकृष्टता भरी पड़ी हो तो स्वयं प्रभु भी आ जायें तो सहायता नहीं कर सकते । उनका प्रवेश तो निश्छल मन में ही होता है ।

एक बार एक वृद्ध और एक वृद्धा अपने नन्हें बालक को लिए भिक्षा माँग रहे थे । पार्वतीजी ने उन असहायों को देखा तो करुणार्द्र हो उठीं । शिवजी से बोलीं-'आपकी सृष्टि में भी कैसे असहाय लोग हैं । आप उनका

दुःख भी दूर नहीं कर सकते ?' शिवजी ने बहुतेरा समझाया यह लोग अपनी आंतरिक दुर्बलता के कारण दुःखी हुए, असहाय बने हैं । पार्वतीजी को संतोष नहीं हुआ तो शिवजी को उनके सम्मुख प्रकट होना पड़ा । उन्होंने तीनों से वरदान माँगने को कहा । सबसे पहले वृद्धा ने कहा-'भगवन् ! मुझे तो बीस वर्ष की नवयौवना बना दें ।' उसकी आसक्ति काम में जो थी । शिवजी ने कहा-'तथास्तु !' और वह नवयौवना बन गई । यह देखकर वृद्ध कुण्ठित हो उठा, बोला-'दुष्टे ! मैं तो पहले ही जानता था तू कितनी कुटिल है मुझे वृद्धावस्था में छोड़कर यह राग रंग ?' उसका सारे जीवन का विद्वेष उमड़ उठा । शंकरजी बोले-'परेशान क्यों है आप भी वरदान माँग लें ।' क्षोभ से भरे वृद्ध ने कहा-'इसे शूकरी बना दें ।' शिवजी ने कहा-'तथास्तु !' और अब बुढ़िया सुअरिया बन गई । यह देखकर बच्चा रोया-'भगवन् ! आपने यह क्या किया ।' शिवजी बोले-'बेटे ! दुःखी मत हो, तू भी कुछ माँग ले ।' लड़के ने कहा-'भगवन् ! मुझे तो मेरी माँ ही वापस कर दीजिए ।' शिवजी ने कहा-'तथास्तु !' शूकरी फिर वृद्धा रूप में प्रकट हो गई । 'सबको वरदान मिल गया और सब जैसे के तैसे रहे न पार्वती !' यह कहकर वे चल पड़े । पार्वतीजी ने इतना ही कहा-'आपका ही कहना सच निकला । तीनों श्रेष्ठ वस्तुएँ माँग सकते थे । पर माँगते कैसे ? जो मन में था वही बाहर आया ।

सुन्द-उपसुन्द सुन्द और उपसुन्द सगे भाई थे । दोनों के पराक्रम का कोई ठिकाना न था । पर सबसे बड़ी बात थी-'दोनों का प्रेम और संगठन ।' इसी बूते पर दोनों ने बड़े-बड़े देवताओं तक को जीत लिया था । पर तिलोत्तमा नामक सुन्दरी को देखते ही दोनों की कामवासना भड़क उठी । दोनों ही उसे प्राप्त करने के प्रयत्न में आपस में ही लड़ मरे और जो किसी के द्वारा नष्ट नहीं हो सके थे वे अपने आप नष्ट हो गये ।

यद्यात्मशोधनेनाथ चात्मनिर्माणकेन च ।
व्यक्तित्वं विकसेत्तर्हि पलायन्त इमान्यपि ॥ ७१ ॥
यथा सूर्योदये जाते न ज्ञायन्ते निशाचराः ।
कथं ब्रह्मोदये जाते भ्रष्टा माया विमोहयेत् ॥ ७२ ॥

टीका-यदि आत्म-शोधन और आत्म-निर्माण द्वारा व्यक्तित्व को विकसित किया जा सके, तो फिर समस्त संकट उसी प्रकार पलायन कर जाते हैं जैसे सूर्य उदय होने पर निशाचरों का कहीं अता-पता नहीं लगता । भला ब्रह्मज्ञान हो जाने पर भ्रष्टाचार की माया कैसे टिकेगी ॥ ७१-७२ ॥

व्याख्या-अपना व्यक्तित्व ऊँचा उठाने के लिए पुरुषार्थ करना होता है । यह पुरुषार्थ किसी भी सांसारिक पराक्रम से बढ़कर है । अपने चिन्तन की निकृष्टता का निवारण और सद्विचारों की स्थापना उसी प्रकार है जैसे प्रातःकाल होते ही अन्धतमिस्रा का मिट जाना । भगवान प्रकाश का पुञ्ज है । उसके और जीवात्मा के बीच जो अन्धेरा है, गहरी खाई है उसे मिटाना व पाटना-यह पराक्रम-पुरुषार्थ सम्पादित किये बिना उसकी एक किरण पाने की आशा करना भी व्यर्थ है ।

छः पत्थर लेकर पहाड़ की चढ़ाई एक चोर किसी संत के पास जाया करता था और रोज ही उनसे ईश्वर दर्शन का उपाय पूछा करता था । महात्मा जी कभी अवसर आने पर बताने की बात कहकर उसे टाल दिया करते थे । एक दिन चोर ने बहुत आग्रह किया तो महात्मा जी ने पहाड़ की ऊँची चोटी की ओर इशारा करते हुए कहा तुम वहाँ तक मेरे साथ छः पत्थर सिर पर रखकर चल सको तो वहाँ पहुँचकर मैं तुम्हें उपाय बता सकता हूँ ।

चोर तैयार हो गया । संत जी ने छः पत्थर उसके सिर पर रख दिये और पीछे-पीछे चले आने का इशारा करके वे आगे चलने लगे । कुछ ही दूर चला कि चोर हाँफने लगा । उसने महात्मा जी से कहा-'भगवन् ! बोझा बहुत है । इतने भार को लेकर मैं आगे नहीं चल सकता ।' संत ने एक पत्थर उतार दिया । चोर चलने लगा । पर कुछ दूर जाकर वह फिर लड़खड़ाने लगा । एक पत्थर और उतारना पड़ा । यही क्रम आगे भी चला । कुछ दूर चलने पर चोर थक गया और संत जी को एक पत्थर और उतारना पड़ा । अंत में सभी पत्थर उतार देने पड़े तब कहीं वह चोटी तक साथ चल सकने में सफल हो सका ।

चोटी पर पहुँचकर संत ने कहा-'भाई ! जिस प्रकार तुम छः पत्थर सिर पर रखकर चोटी तक पहुँच सकने में समर्थ न हुए, उसी प्रकार जीव काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मत्सर जैसे मनोविकारों का भार ढोता हुआ ईश्वर दर्शन में

सफल नहीं हो सकता । यदि ईश्वर तक पहुँचना हो तो वह मनोविकारों के पत्थर उतार कर फेंकने ही पड़ेंगे । जिस दिन यह पत्थर हटे जीव स्वत: आनन्दित हो उठेगा ।'

सोने की ईंट कुएँ में

नव-दीक्षित शिष्य ने कहा-'गुरुदेव ! उपासना में मन नहीं लगता । भगवान् की ओर चित्त दृढ़ नहीं होता ।' गुरु ने गम्भीर दृष्टि डालकर शिष्य को देखा और जैसे कोई बात समझ में आ गई हो, बोले-'सच ही कहते हो वत्स ! यहाँ ध्यान लगेगा भी नहीं । अन्यत्र चलकर साधना करेंगे, वहाँ ध्यान लगेगा । आज सायंकाल ही यहाँ से प्रस्थान करेंगे ।'

"सायंकाल !" शिष्य कुछ चिन्तित स्वर में प्रश्न कर बैठा, जिसका गुरु ने कोई उत्तर न दिया । सूर्यास्त के साथ ही वे दोनों एक ओर चल पड़े । गुरु के हाथ में एक कमण्डल था, शिष्य के हाथ में थी एक झोली जिसे वह बहुत यत्नपूर्वक सम्भाले हुए चल रहा था । मार्ग में एक कुआँ आया । शिष्य ने शौच की आशंका व्यक्त की । दोनों रुक गये । बहुत सावधानी से उसने झोला गुरु के पास रखा और शौच के लिए चल दिया । जाते-जाते उसने कई बार झोले पर दृष्टि डाली ।

"गड़ाम् !" एक तीव्र प्रतिध्वनि भर सुनाई दी और झोले में पड़ी कोई वस्तु कुयें में जा समाई । शिष्य दौड़ा हुआ आया और चिन्तित स्वर में बोला-"भगवन् ! झोले में सोने की ईंट थी सो क्या हुई ?" गुरु बोले-"कुयें में चली गई, अब कहो तो आगे चलें, कहो तो फिर वहीं लौट चलें जहाँ से आये हैं, अब ध्यान न लगने की चिन्ता कहीं न रहेगी ।"

एक दीर्घ श्वांस छोड़ते हुए शिष्य ने कहा-सच ही गुरुदेव ! आसक्ति का मन से परित्याग किये बिना कोई भी ईश्वर में मन नहीं लगा सकता ।

काकभुशुण्डि की कथा

काकभुशुण्डि को ऋषि के बराबर सम्मान दिया जाता है । 'वायस' योनि में रहते हुए भी वे अमर माने जाते हैं । पिछला इतिहास पतन का होते हुए भी उनकी आत्मशोधन की वृत्ति ने ही उन्हें वह श्रेय दिलाया ।

काकभुशुण्डि मानवयोनि में भटके और वायस योनि में मर्मज्ञ बन गये । अयोध्या में ये जन्मे पर अपने ज्ञान पर अहंकार कर बैठे और उनका पतन हो गया । अपने गुरु का अपमान करने केकारण उन्हें हजार बार कीट-पतंग आदि योनियों में जन्म लेना पड़ा । अन्तिम योनि में वे ब्राह्मण बने पर महर्षि लोमश के आश्रम में कुतर्क व दुराग्रह के कारण उन्हें श्राप-वश कौए की योनि मिली । वायस योनि पाकर उन्हें भटकाव से मुक्ति मिली और महर्षि के आशीर्वाद से भगवान राम का प्रगाढ़ प्रेम भी । ज्ञान और वैराग्य का उपदेश वे वायस योनि में देते रहे ।

अम्बपाली ने अपना जीवन बदला । राजनर्तकी से वह भिक्षुणी बन गयी पर बुद्ध का उन्हें आदेश मिला-'एक वर्ष तक आत्म-निर्माण हेतु सेवा-साधना करो ।' तपश्चर्या द्वारा आत्म-शोधन कर, जनमानस की सेवा से पात्रता अर्जित कर वह भी बुद्ध की सहयोगी बन गयी ।

रुग्णता निवारण व स्वास्थ्य संवर्धन-आचार्य अग्निदेव से उनके शिष्य ने पूछा-"भगवन् ! आप बताते हैं कि रोग निवारण अकेला ही काफी नहीं, दुर्बलता मिटाने हेतु स्वास्थ्य संवर्धन भी जरूरी है ? क्या ऐसा नहीं हो सकता कि मात्र स्वास्थ्य को बढ़ाकर रोग को समूल मिटाया जा सके ।" आयुर्वेद के मर्मज्ञ विद्वान आचार्य गम्भीर स्वर में बोले-"वत्स ! किसी भी पोषक तत्व की उपयोगिता तभी है जब विजातीय द्रव्यों को शरीर से हटा दिया गया हो । इसलिए आयुर्वेद में शोधन को प्राथमिकता और स्वास्थ्य निर्माण को द्वितीयता दी जाती है । शोधन न किया गया तो रोग अपनी जड़ जमाए बैठा रहेगा और शेष बाह्योपचार मात्र बनकर रह जायेंगे ।"

ऋषिभिर्मानवानां तु दु:खदारिद्र्यकारणम् ।
पतनस्य पराभूतेर्भिन्नत्वं लोकितं द्वयो: ॥ ७३ ॥
न्यूनतां तामपाकर्तुं स्वस्मादन्येभ्य एव च ।
व्यचारयन् विभिन्नांस्तानुपायान् विश्वमङ्गलान् ॥ ७४ ॥

टीका-मुनष्यों के दु:ख-दारिद्र्य का, पतन-पराभव का कारण आत्मा और परमात्मा की विलगता को ऋषियों ने जाना और वे उस कमी को अपने में से तथा दूसरों में से हटाने के लिए कल्याणकारी विभिन्न उपाय सोचने लगे ॥ ७३-७४ ॥

व्याख्या-महर्षि पिप्पलाद की ब्राह्मी चेतना, आत्मतत्व एवं दैवी अनुदान सम्बन्धी व्याख्या से सभी जिज्ञासुओं को स्पष्ट भान हो गया कि मानवी पतन के लिए परिस्थितियाँ नहीं, आत्मतत्व पर छाये कषाय-कल्मष ही उत्तरदायी हैं । ऋषियों ने समझ लिया कि विपन्नताओं का मूल स्रोत हमारा अपना आपा ही है । यदि अन्तः क्षेत्र की कालिमा को धोया जा सके तो परमात्मा का प्रकाश अंदर पहुँचा सकना हर किसी के लिए सहज सम्भव है । हम अपनी कमियों को पहचानें और इन्हें हटाने और उनके स्थान पर सत्प्रवृत्तियाँ स्थापित करने का उपाय सोचें, इसी में अपना व मानव मात्र का कल्याण है ।

दूरीभूतस्तु सन्देहोऽयं समेषां विपत्तयः ।
अन्योत्पादिताः सन्ति यतः पातोत्थिती तथा ॥ ७५ ॥
मनुष्यभूमिकाजन्ये तन्मनुष्यस्यं स्वां दिशाम् ।
शोधयित्वानुकूल्ये च प्रातिकूल्यं विवर्तितुम् ॥ ७६ ॥
कठिनं नेति तथ्यं स पिप्पलादो महामतिः ।
सगाम्भीर्यं सथाऽवोचत्ततस्तेषां स्वामान्यता ॥ ७७ ॥
पुष्टा सात्मनि संयुक्ते परमात्मनि निश्चितः ।
संकटानां समाधाने विश्वासः सर्वथा ततः ॥ ७८ ॥
द्वितीयाह्निकचर्चायां सर्वे जिज्ञासवश्च ते ।
यथार्थतायुतं पूर्णं समाधानं च लेभिरे ॥ ७९ ॥
तृमा तथापि जिज्ञासा तेषां नैव तथा च ते ।
सन्दर्भेऽस्मिन्ननेकाश्च पपृच्छा हृदि विभ्रतः ॥ ८० ॥
साधकाः सत्रपूर्तौ ते नित्यनैमित्तिकां ततः ।
साधनां कर्तुकामास्ते गताः संतति पूर्वकम् ॥ ८१ ॥

टीका-सभी का यह संदेह दूर हो गया कि विपत्तियाँ दूसरों द्वारा थोपी जाती हैं । मनुष्य जब उत्थान-पतन के लिए स्वयं ही भूमिका बनाता है, तो उसे अपनी दिशाधारा सुधार कर प्रतिकूलता को अनुकूलता में बदलना तनिक भी कठिन नहीं होना चाहिए । यह तथ्य महाप्राज्ञ पिप्पलाद ने जिस गम्भीरता के साथ समझाया उससे उनकी पूर्व मान्यताओं को और भी अधिक बल मिला और आत्मा को परमात्मा से मिला देने पर उनका सुनिश्चित विश्वास हो गया । दूसरे दिन भी चर्चा से सभी जिज्ञासुओं को यथार्थता से भरा पूरा समाधान मिला । इतने पर भी उनको सर्वथा तृप्ति न मिली । इस संदर्भ की कई और भी बातें कल पूछने की इच्छा मन में रखते हुए साधकगण सत्र अवसान होने पर नित्य-नैमित्तिक साधना के लिए अभिवादन पूर्वक विसर्जित हो गये ॥ ७५-८१ ॥

व्याख्या-मनुष्य का यह भ्रम कि हमारी प्रतिकूलताओं का कारण बहिरंग जगत है-इस तथ्य से मिट जाता है कि जैसी मनःस्थिति एवं आचरण वह बनाता है, वैसा ही उसका संसार होता है । जब भौतिक जगत में बड़ी-बड़ी नदियों की धारा को बदल कर इनकी दिशा बदली जा सकती है तो अन्तर्जगत के इस भागीरथी पराक्रम द्वारा जीव को ब्रह्म से मिलाना, स्वयं को उत्कृष्टता से जोड़ सकना पूरी तरह सम्भव है । दो तार मिलते ही दोनों दिशाओं में प्रवाह आरम्भ हो जाता है । एक बार सम्पर्क जुड़ते ही दैवी अनुदान अजस्र मात्रा में बरसने लगता है । फिर मनुष्य देवात्मा-देवदूत, ऋषि स्तर का हो जाता है । यह किस विधा द्वारा किया जाय, इसकी जानकारी महर्षि पिप्पलाद ने दी और सबकी इस सम्बन्ध में बनायी मान्यताओं को और दृढ़ बनाया ।

इति श्रीमतप्रज्ञापुराणे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः
श्री पिप्पलाद-श्वेतकेतु ऋषि सम्वादे "ब्रह्मक्षेत्रादजस्रमनुदानोपलब्धि"
रितिप्रकरणो नाम तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

।। अथ चतुर्थोऽध्यायः ॥

卐 संयमशीलता-कर्तव्यपरायणता प्रकरण 卐

तृतीये दिवसे सत्र आरण्यक ऋषिः स तु ।
शृङ्गी पूर्वं प्रसंगं तं स्मारयन्नाह्निकं ततः ॥ १॥

शृङ्गी उवाच-

प्रास्तौषीत् स्वां नवीनां तां जिज्ञासा नतिपूर्वकम् ।
का सा देवता यस्या नरस्तूपासनेन हि ॥ २॥
प्रत्यक्षं फलमाप्नोति सुखी भवति सोन्नतः ।
महाप्राज्ञो पिप्पलादो जगाद मानवस्य हि ॥ ३॥

टीका-तीसरे दिन आरण्यक सत्र में शृंगी ऋषि ने पिछले दिन के प्रसंग का स्मरण दिलाते हुए अपनी नई जिज्ञासा नम्रतापूर्वक प्रस्तुत की । शृंगी ने पूछा-"वह कौन सा देवता है जिसकी उपासना से मनुष्य प्रत्यक्ष फल पाता और सुखी समुन्नत बनता है ?" महाप्राज्ञ पिप्पलाद ने कहा- ॥ १-३॥

व्याख्या-प्रज्ञासत्र के पहले दो दिनों में जो चर्चा हुई वह जीव की अपने आप में पूर्णता व ईश्वर-जीव सम्बन्धों के गूढ़ विवेचन से सम्बन्धित थी । इस तत्व दर्शन का व्यावहारिक स्वरूप जानने की जिज्ञासा शृंगी ऋषि यहाँ प्रकट करते हैं ।

पिप्पलाद उवाच-

जीवनं देवता नूनं प्रत्यक्षमन्यदेवताः ।
परलोके कृपां कुर्वन् सात्मनो जीवनं परम् ॥ ४॥
सुसंस्कृतं च सज्जं च कर्तुं चेत्क्रियते भृशम् ।
उपासना ततस्तस्या लाभास्त्वस्मिन् हि जीवने ॥ ५॥
प्राप्यन्ते परलोकेऽपि सन्देहो नाणुरप्यहो ।
अत आवश्यकं यत्तज्जीवनं संस्कृतं भवेत् ॥ ६॥

टीका-मनुष्य का जीवन स्वयं ही प्रत्यक्ष देवता है । अन्य देवताओं की कृपा तो परलोक में मिलती है पर अपने जीवन को सुघड़, सुसंस्कृत बनाने की उपासना के लाभ तो इस जीवन में भी मिलते हैं, परलोक में भी । इसमें रत्ती भर सन्देह नहीं । अतः जीवन को सुसंस्कृत बनाना आवश्यक है ॥ ४-६॥

व्याख्या-महाप्राज्ञ पिप्पलाद कहते हैं कि यह स्वाभाविक है कि मनुष्य अध्यात्म विद्या की समुचित जानकारी होते हुए भी वह प्रतिफल न पा सके जो सहज ही अन्य मनुष्य व्यावहारिक ज्ञान के नाते पा लेते हैं । ईश्वर तो निराकार है । वे प्रेरणा भर देते हैं । उनकी उपासना, उनके समीप बैठने से क्या आशय है, उस असमंजस को खोलते हुए वे कहते हैं कि बिना शरीर धारण किए प्रत्यक्षतः कुछ देना सम्भव है भी नहीं । इसीलिए परमात्मसत्ता स्वयं जीवन देवता के रूप में विराजती है और साधना किए जाने पर समुचित परिणाम भी देती है । अन्य देवी-देवताओं की पूजा-उपासना के शास्त्रोक्त माहात्म्य तो परलोक में पुण्य प्राप्ति इत्यादि से सम्बन्धित हैं पर जीवन में सुसंस्कारिता का समावेश मनुष्य को इसी जीवन में समृद्धि और सामर्थ्य के अनुदान देकर उसे धन्य बनाता है । मनुष्य अपने ही चर्म चक्षुओं से इन सत्परिणामों को जीवन में सार्थक होते देखता है । दर्शन में इसी देवता को 'अयमात्मा ब्रह्म' कहकर उपासना की जाती है । ऐसे जीव-ब्रह्म की साधना प्रत्यक्ष और परोक्ष दोनों ही रूपों में फलित होती है ।

स्वर्ग के देवता बनाम जीवन देवता

एक बार स्वर्ग के देवता धरती पर विचरण करने आये । उन्हें आशा थी कि धरती के निवासी उनका विपुल स्वागत करेंगे । उन दिनों खेतों में अनाज के पौधे लहलहा रहे थे । कलियाँ और बालें निकल रही थीं । लोग उन्हें देखकर फूले नहीं समा रहे थे । देवताओं की तरफ किसी ने आँख उठाकर भी नहीं देखा । उन्होंने धरती से पूछा-"तुम्हारे पुत्र, किस उपलब्धि में हर्षविभोर हो रहे हैं ? ये हमसे क्यों कोई याचना करने नहीं आते ?" धरती ने बताया-"तात ! हमारे बच्चों का जीवन स्वतः देवता है उन्हें जो कुछ आवश्यक होता है उसी से ले लेते हैं ।"

"सो कैसे ?" देवताओं ने फिर पूछा । धरती उन्हें एक स्थान पर ले गई, एक आदमी की हथेलियाँ दिखाकर कहा-इसके हाथ इसे अन्न देते हैं । इसके हृदय में उमंग उमड़ती है, मन में प्रसन्नता भरी है । आप लोग यही तो दिया करते हैं, जबकि उसे यह उपलब्धियाँ आरोग्य, सौन्दर्य, सहकार जैसी अनेक उपलब्धियाँ ब्याज में ही दे जाती हैं । देवताओं ने जीवन देवता की सामर्थ्य समझ ली । तब से उन्होंने पृथ्वी का साम्राज्य मनुष्य को ही सौंप दिया ।

शृङ्गी उवाच-

सोत्सु कंज्ञातुमैच्छत् स ऋषिः शृङ्गी कथं च सः ।
देवो जीवनरूपी तु पूज्योऽभ्यर्च्यो विबोधय ॥ ७॥
उपचारः कोऽत्र ग्राह्यो यद् वरदानं ददातु सः ।
प्रसन्नः कानि चैवायं वरदानानि यच्छति ॥ ८॥
उपेक्षया च रुष्टश्चेत्ततो हानिश्च कीदृशी ।
आपतत्यपि, चेत्क्रुद्धो दुराचारफलेन सः ॥ ९॥
कस्याशङ्का ह्यनिष्टस्य महाभाग विबोधय ।
मर्मप्रसङ्गमेतं तु विस्तरादृषिपुङ्गव ! ॥ १०॥
विधेस्तस्य नहि ज्ञानं सर्वसाधारणस्य तु ।
मर्मस्पर्शिनाऽनेन प्रश्नेन स ऋषीश्वरः ॥ ११॥
महाप्राज्ञः पिप्पालादः सगाम्भीर्यं जगाद च ।

टीका-शृंगी ऋषि ने उत्सुकतापूर्वक जानना चाहा-"जीवन देवता की पूजा अभ्यर्थना कैसे की जाय ? उसे वरदान देने के लिए प्रसन्न करने के निमित्त क्या उपचार अपनाया जाय ? जीवन देवता प्रसन्न होने पर क्या वरदान देते हैं ? उपेक्षा करने पर यदि वे रुष्ट होते हैं तो क्या हानि उठानी पड़ती है ? यदि वे दुर्व्यवहार के फलस्वरूप क्रुद्ध हो उठें तो किस अनिष्ट की आशंका रहती है ? हे महाभाग ऋषीश्वर ! इस मर्म प्रसंग को हमें विस्तारपूर्वक समझाएँ । उसके विधि-विधान की सर्व-साधारण को जानकारी है भी नहीं ।" मर्मस्पर्शी इस प्रश्न से वह ऋषिश्रेष्ठ महाप्राज्ञ पिप्पलाद गम्भीर होकर बोले ॥ ७-११ ॥

व्याख्या-जिज्ञासु ऋषि जीवन देवता की उपासना की महत्ता महाप्राज्ञ के श्रीमुख से सुनकर अपनी उत्सुकता और भी गहन करते हैं । बिना नियम (विधि) और क्रम (विधान) जाने कैसे अनायास ही इस साधना को आरम्भ कर दिया जाय ? जन साधारण को तो यह भी ज्ञात नहीं है कि ये देवता रुष्ट भी होते हैं व प्रसन्न भी । ऐसे में चूक कहाँ व किस प्रकार होती है, उससे कैसे बचा जाय, इसका समाधान लोकहित को दृष्टिगत रख पूछा जाना उचित ही है ।

देवों की पूजा उनके अनुरूप

अन्यान्य देवताओं के विषय में सब जानते है कि वे समर्थ होते हैं । समर्थ की प्रसन्नता से लाभ और अप्रसन्नता से हानियाँ भी असमान्य होती हैं । देवताओं को प्रसन्न करने के लिए क्या किया जाय, अप्रसन्नता से कैसे बचें, यह देवता विशेष के आदर्शों को समझकर ही सम्भव है । यह तत्व कोई मर्मज्ञ ही बतला पाता है । फूल, चन्दन, रोली से तो सभी की पूजा की जाती है, परन्तु उतने मात्र से देवता प्रसन्न-अप्रसन्न नहीं होते । माँ सरस्वती की प्रसन्नता कला और ज्ञान के सदुपयोग से होती

है । हनुमानजी प्रभु समर्पित जीवन से हर्षित होते हैं । दुर्गा शौर्य और संगठन से प्रभावित होती है । शिवजी कल्याणकारी कृत्यों से द्रवित होते हैं । जो इन प्रकरणों को जानते हैं वे उनका लाभ लेते हैं, अन्य नहीं उठा पाते । ऐसी ही स्थिति जीवन देवता के प्रकरण में आती है । उनकी प्रसन्नता-अप्रसन्नता किस आधार पर प्रकट होती है, यह तथ्य जाने बिना कोई उनका लाभ कैसे पा सकता है ।

बिना जोते खेत में बीज

विधि-विधान की महत्ता सर्वविदित है । अधूरी जानकारी हो तो किया हुआ प्रयास भी निष्फल जाता है ।

किसान ने अपने बच्चों को बताया-"बेटे ! अगली फसल बरसात में बोई जाती है ।" बेटे ने बात गाँठ बाँध ली । कुछ दिनों में वर्षा ऋतु आई । एक मूसलाधार वर्षा हुई । युवक अगले दिन तड़के ही उठकर अपने खेतों में गया और बीज बिखेर आया । किसान को मालूम हुआ तो माथा पीटकर रह गया, बोला-"बेटे ! वर्षा होने के बाद खेत को साफ करना, उसे जोतना भी आवश्यक था । तभी बीज उगकर पौधे बनते और फल देते हैं ।

पिप्पलाद उवाच-

जिज्ञासवः इह शृङ्गियुता मान्या मनीषिणः ॥ १२॥
ध्यानेन श्रूयतां देवः जीवने फलदायकः ।
प्रत्यक्षं तेन सार्धं च व्यवहारो यथा-यथा ॥ १३॥
हस्तामलकवत्स स्वं प्रभावं परिचाययेत् ।
प्रभावं तस्य माहात्म्यं द्रष्टुं सर्वत्र सम्भवेत् ॥ १४॥
जीवनं भरितं नूनमनुदानैरजस्रगैः ।
येषां सदुपयोगेन परिणामाः समुत्सहाः ॥ १५॥

टीका-पिप्पलाद बोले-जिज्ञासु शृंगी ऋषि समेत सभी उपस्थित मनीषीगण ! ध्यानपूर्वक सुनो जीवन देवता प्रत्यक्ष फलदायक है । उसके साथ किया गया व्यवहार हस्तामलकवत् अपने प्रभाव का तत्काल परिचय देता है । उनका प्रभाव माहात्म्य हर कहीं दृष्टि पसार कर तत्काल देखा जा सकता है । जीवन अजस्र अनुदानों से लदा है । उनका सदुपयोग करने भर से उत्साहवर्द्धक परिणाम प्राप्त होते हैं ॥ १२-१५ ॥

व्याख्या-किसी भी बहुमूल्य वस्तु को शृंगारदान में सजाकर सुरक्षित रख दिया जाय तो उसकी उपयोगिता कहाँ रही ? यदि इसके बदले में इससे प्राप्त धन को कहीं परमार्थ कार्य हेतु खर्च किया जाय तो पुण्य और यदि मूलधन के रूप में जमा कर दें तो ब्याज के रूप में राशि मिलने लगती है । जीवन देवता हर मनुष्य के भीतर बैठे हैं पर उनका प्रभाव व परिणाम तभी देखा जा सकता है जब अपनी दृष्टि चौड़ी की जाय । जीवात्मा की दूरदर्शिता एवं प्रामाणिकता इसी आधार पर परखी जाती है कि वह इस अनुदान को कितनी जिम्मेदारी व ईमानदारी के साथ प्रयुक्त करता है । जो परीक्षा में उत्तीर्ण होता है, उसी की पदोन्नति होती है । जीवन सम्पदा के सदुपयोग की कसौटी पर खरे उतरने वाले ही भौतिक-आत्मिक जगत में श्रेय के भागी बनते हैं ।

प्रसुप्त सम्पदा

एक माली के लड़के बड़े आलसी थे । वे काम काज से जी चुराते और व्यर्थ की बातों में अपना समय नष्ट करते रहते । जब वह मरने लगा तो उसने लड़कों को बुलाया और कहा-"तुम आलस्य में पड़े रहकर घर में जो कुछ है उस सबको बर्बाद कर दोगे । पर मैंने तुम्हारे भविष्य का ध्यान रखा है और बाग में प्रत्येक पेड़ के नीचे थोड़ा-थोड़ा सोना गाड़ रखा है, जब जरूरत हो तब निकाल लेना ।" यह कहकर माली मर गया । घर में जो थोड़ी सी पूँजी थी वह समाप्त हो गई । लड़के भूखों मरने लगे । उनने सोचा चलो पेड़ों के नीचे से सोना निकालें । जुट गये और एक-एक करके सब पेड़ों को खोदते गये । पर किसी के नीचे कुछ न निकला । लड़के जानते थे कि हमारा बाप कभी झूँठ नहीं बोलता था । फिर भी उसकी यह सोने वाली बात कैसे झूँठ निकली इसका उन्हें आश्चर्य था । कुछ दिन बाद वर्षा हुई, पेड़ों के नीचे मिट्टी खुद जाने से जड़ों में काफी पानी पहुँचा और हर पेड़ ने भारी

तादाद में फल दिये । आमदनी इतनी हुई कि हर पेड़ के नीचे सोना निकलने वाली बात सच हो गई ।

भेड़ों के झुण्ड में पले सिंह के भेड़ों की तरह रहने की कथा प्रसिद्ध है । एक व्यक्ति का सोने का कण्ठा गले में बँधा था और उसका विस्मरण हो जाने के कारण वह उसे खोया अनुभव करता था । उसी तरह हर व्यक्ति अपनी आंतरिक सम्पदा को भुलाये बैठा है । अपनी शक्तियों और सम्भावनाओं के सम्बन्ध में अनजान रहने के कारण व्यक्ति गया गुजरा जीवन बिताता है और यह मान बैठता है कि उनके भाग्य में उतना ही लिखा है । उनकी योग्यता इन्हीं परिस्थितियों में रहने की है । महाप्राज्ञ इसी अवसाद एवं भ्रम को दूर करने की प्रेरणा देते हैं ।

प्रह्लाद द्वारा शील दान

इन्द्र का वैभव नष्ट हो चला । वे बड़े चिन्तित हुए और राजर्षि प्रह्लाद के पास जाकर उसका कारण पूछा । प्रह्लाद ने बताया–"राजन् ! तुमने अहिल्या जैसी सती साध्वी का शील नष्ट किया है । जब तक उसका प्रायश्चित कर पुनः शील संग्रह नहीं करोगे अपने वैभव को भी बचा नहीं सकोगे । लोभी इन्द्र ने अपने को प्रह्लाद का अतिथि बताकर उन्हीं का शील माँग लिया । प्रह्लाद ने अपना शील दान कर दिया । उनके शरीर से तीन ज्योति पुरुष निकले और बोले–"हम सत्य, धर्म और वैभव हैं, तात ! जहाँ चरित्र (शील) नहीं रहता वहाँ हम भी नहीं रहते ।"

प्रह्लाद ने कहा–"मैंने इन्द्र को नेक सलाह देकर सत्य का तथा अतिथि को याचित वस्तु दान कर धर्म का ही पालन किया है । अतः आपका जाना उचित नहीं । फिर मैंने शीलदान ही तो किया है । जिस जीवन देवता की आराधना से मैंने शील अर्जित किया था, वैसे ही मैं पुनः संग्रह कर लूँगा ।" जाते हुए सत्य, धर्म और वैभव के चरण रुक गये और प्रह्लाद को अपने खोये चारों देव वापस मिल गये ।

महामानव हर स्थिति में नगद भुनाने योग्य इस बहुमूल्य जीवन सम्पदा को नष्ट नहीं करते । इसी कारण वे सम्मान पाते हैं तथा प्रतिकूल परिस्थितियों में दैवी अनुदान भी । जीवन देवता के अनुदान पाने वाले इसी शताब्दी के कुछ नरपुंगवों में महामना मदनमोहन मालवीय, लोकमान्य तिलक, श्रीपाद पं० दामोदर सातवलेकरजी आदि का नाम बड़ी श्रद्धा से लिया जाता है ।

महामना मदनमोहन मालवीय का नाम हमेशा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के साथ याद रखा जाता रहेगा । अभाव और अज्ञान को मिटाने को कृत संकल्प उन्होंने अपनी बहुमुखी प्रतिभा को सुनियोजित कर जीवन देव की समग्र रूप से आराधना की । हिन्दू संस्कृति के संरक्षक और समाजोद्धारक के रूप में उनका नाम लिया जाता है तो एक ऐसे व्यक्ति के रूप में भी जो अंग्रेजों के विरुद्ध संघर्ष में क्रान्तिकारी की तरह लड़ा । अपने जीवन के पटाक्षेप के दिनों में उन्होंने वाराणसी हिन्दू विश्वविद्यालय को जन्म देकर वह संरक्षण–पोषण दिया जो किसी नवजात पौधे को दिया जाता है । ऐसे महामानव कभी–कभी ही आते हैं व अपने समय को धन्य बना जाते हैं ।

लोकमान्य तिलक प्रखर, संघर्षशील, अग्रणी नेता रहे हैं जिनका स्वाधीनता संग्राम में महत्वपूर्ण योगदान था । जीवन देव का उपासक सच्चा आस्तिक यह व्यक्ति उन विपत्ति से भरे क्षणों में भी जेल में बैठे 'गीता रहस्य' जैसे ग्रन्थ की रचना कर गया ।

पं० श्रीपाद दामोदर सातवलेकर ने जीवन का सदुपयोग उन दिनों करना आरम्भ किया जब सामान्यतया व्यक्ति की शक्ति क्षीण हो गयी मान ली जाती है । ६० वर्ष की आयु में उन्होंने विभिन्न भाषाओं तथा विषयों का अध्ययन आरम्भ किया और वेदों सहित आर्ष वाङ्मय का अनुवाद कर डाला । स्वयं अपने ऊपर स्वास्थ्य सम्बन्धी कई प्रयोग किए व नैसर्गिक उपचार पद्धति से दीर्घायुष्य होने की शिक्षा अनेकों को दी ।

भ्रान्तेर्वशानुगास्तस्य महत्वं नैव मानवाः ।
जानन्ति याः समाश्रित्योपलब्धीर्दैवजीवनम् ॥ १६ ॥
जीव्यतेऽत्रामृतं यच्च प्रापयन्त्यस्तां तु तत् ।
असंयमस्य छिद्रेभ्यश्च्यावयन्तस्तु हन्त ते ॥ १७ ॥
निम्बुकं च्युतनोरं तेऽनुगच्छन्तस्तथैव च ।
कंकालशेषकामास्ते दारिद्र्यं दूषयन्ति तु ॥ १८ ॥

टीका–भ्रान्तिवश लोग उसका महत्व नहीं समझते और जिन उपलब्धियों के सहारे देव जीवन जिया जा सकता था, कितने दुःख की बात है उस अमृत को ऐसे ही असंयम के छिद्रों द्वारा बहाकर अस्त–व्यस्त करते रहते हैं । निचोड़े हुए नीबू की तरह वे छूंछ बनकर रह जाते हैं और दरिद्रता का रोना रोते रहते हैं ॥ १६–१८॥

व्याख्या-यह एक विडम्बना ही है कि जिस अमृत को अपने अन्दर मनुष्य धारण किए है उसे सतत् गँवाता है और फिर अपने इस अभाव-दुर्भाग्य पर पछताता, रोता भी है । भगवान ने तो इसे यह सम्पदा इसलिए दी थी कि संयम द्वारा इसे संचित कर, उसका सदुपयोग सुनियोजित कर वह अपना जीवन धन्य बनाता पर उस अज्ञान-भ्रांति को क्या कहें जो मनुष्य को पशुओं जैसा शिश्नोदर परायण जीवन जीने को विवश कर देती है ।

कमण्डल क्यों डूबा

आदमी जब असंयम अपनाता है तो पतनोन्मुख हो डूब जाता है, यह एक शाश्वत नियम है, इसे समझाते हुए तीर्थंकर महावीर ने दो कमण्डल एक साथ जल धारा में छोड़े । एक जिसमें छेद थे, धीरे-धीरे पानी भरने के कारण वहीं डूब गया एवं दूसरा जो सही सलामत था–दूर तक तैरता चला गया । मनुष्य इसी प्रकार जीवन धारा में बहकर अपनी नाव भी पार लगा सकता है और डूब भी सकता है । इसमें परिस्थितियों का कहीं कोई हस्तक्षेप नहीं । मन ही है, जो इन्द्रियों को गुलाम इस प्रकार बना देता है कि जीवन क्रम ही अस्त–व्यस्त हो जाता है ।

मक्खियों के स्वभाव

रामकृष्ण परमहंस कहा करते थे–दो प्रकार की मक्खियाँ होती हैं । एक तो शहद की मक्खियाँ, जो शहद के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं खातीं और दूसरी साधारण मक्खियाँ, जो शहद पर भी बैठती हैं और यदि सड़ता हुआ घाव दिखलायी पड़े, तो तुरन्त शहद को छोड़कर उस पर भी जा बैठती हैं । इसी प्रकार दो तरह के स्वभाव के लोग होते हैं एक जो ईश्वर में अनुराग रखते हैं, वे ईश्वर की चर्चा के सिवाय कोई दूसरी बात करते ही नहीं और दूसरे जो संसार में आसक्त जीव हैं, वे ईश्वर की बात सुनते-सुनते यदि किसी स्थान पर विषय की बातें होती हों तो तुरन्त भगवान की चर्चा छोड़कर उसी में संलग्न हो जाते हैं ।

पतन एक सहज गति क्रम है, उठना पराक्रम है । अचेतन की पाशविक प्रवृत्तियाँ बार–बार मनुष्य को घसीट कर विषयी बनने की ओर प्रवृत्त करती हैं । यह मनुष्य पर निर्भर है कि वह इन पर किस प्रकार अंकुश लगा पाता है व प्राप्त सामर्थ्य का सदुपयोग कर पाता है ।

जीवनं कामधेनुर्गौः पातुं दुग्धं तदीयकम् ।
काठिन्यं नो सरन्ध्रेषु पात्रेषु यदि दुह्यते ॥ १९॥
तर्हि सौभाग्यलाभस्तु कथं तस्यासुमिष्यते ।
असंयमस्य छिद्राणि रोद्धुं शक्यानि चेत्तदा ॥ २०॥
हानिः सा न भवेद् यस्या कारणदीश्वरेण ना ।
निर्मितः सर्वसम्पन्नो दरिद्रातीह दीनवत् ॥ २१॥
संघर्षस्थायशक्तिः इयं क्षीयते तु यतस्ततः ।
मानवः सहते कष्टान्यनेकानि च सर्वतः ॥ २२॥

टीका–जीवन कामधेनु गौ है । उसका दूध पीने में कोई कठिनाई नहीं है, किन्तु यदि छेदों वाले पात्र में दुहा जायेगा तो उस सौभाग्य का लाभ किस प्रकार मिल सकेगा ? असंयम रूपी छिद्रों को बन्द कर देने से उस हानि से बचा जा सकता है, जिसके कारण ईश्वर द्वारा सर्वसम्पन्न बनाया हुआ मनुष्य दीन–दरिद्र बन कर रहता है और संघर्ष में खड़ा रहने की स्थिति समाप्त हो जाने के कारण अनेकानेक कष्ट सहता है ॥ १९–२२॥

व्याख्या-मनुष्य को विधाता ने प्रतिकूल से प्रतिकूल परिस्थितियों में भी जी सकने योग्य बनाया

है । यह सामर्थ्य जीवट कहलाती है और इसका संचय कर सकना हर किसी के लिए सम्भव है । जीवन एक युद्धस्थली है जिसमें मनुष्य को सतत् कामुक-प्रतिकूल विचारों से लेकर चिर संचित प्रवृत्तियों तक एवं ऋतु काल की बदलती परिस्थितियों से लेकर वातावरण में अस्वाभाविक परिवर्तन से जूझना पड़ता है । जीवनी शक्ति, जो उसे मानसिक रूप से लड़ सकने योग्य, साहसी एवं उसके शरीर संस्थान को रोगी होने से बचाती है एक ही अनुदान की परिणति है-संयम । जो इसे अपनाता है, वह न रोगी होता है न दुःखी, जीवन-संग्राम में कभी पराजित नहीं होता तथा विच्छृंखलित अस्त-व्यस्त विचार उसे प्रभावित नहीं कर पाते ।

संयम एवं संघर्ष एक दूसरे के पर्यायवाची हैं तथा असंयम की परिणति ही दीन-दरिद्रता, रोग-शोकों के रूप में होती है । जीवन देवता की उपासना तब ही भली प्रकार सम्भव है जब अपने जीवन-रसों को व्यर्थ बहाना छोड़कर मनुष्य उन्हें सृजनात्मक चिन्तन व कर्तृत्व में नियोजित करे ।

मनुष्य दीन-हीन क्यों ?

विषयी मनुष्य कैसा होता है, इसकी उपमा रामकृष्ण परमहंस इस प्रकार देते थे-विषयी पुरुषों का मन गोबर के कीड़े की भांति होता है । यदि गोबर छोड़कर उसे और कुछ दिया जाय, तो उसे पसन्द नहीं आता । यदि जबरदस्ती उसे कुछ दिया भी जाय, तो भी उसे अच्छा नहीं लगता । यदि गोबर की जगह पद्म में रख दिया जाय, तो छटपटाया करता है । विषयी पुरुषों का मन इसी प्रकार विषय-वासना की बातों के सिवाय अन्य किसी प्रकार की वार्ता में नहीं लगता । इसी कारण वह विद्या, बुद्धि, स्वास्थ्य, सम्मान सभी दृष्टि से दीन-हीन जीवन जीने को बाध्य हो जाता है ।

महर्षि पिप्पलाद ने यहाँ जीवन की उपमा उस गौ के समान दी है जो सतत् दूध दे सकने में समर्थ है पर पात्र जब उसे सँजो ही न सके, छिद्रों के माध्यम से वह सतत् बहता रहे तो न तो इसका संचय सम्भव है, न ही सदुपयोग । जीवन रस ही यह दुग्ध है एवं असंयम रूपी अनेकानेक छिद्र जिनकी चर्चा ऋषि आगे करते हैं, इसे सतत् क्षरित करते रहते हैं । यह एक सर्वमान्य तथ्य है कि ऊँचा उठने के लिए पहले गिराने वाले कदम रोकने पड़ते हैं । पूर्वार्द्ध है अपव्यय रोकना, उत्तरार्द्ध है अर्जित सामर्थ्य का उपयोग करना ।

पेड़ गिरा-छिद्र के कारण

दो सन्त तीर्थ यात्रा पर जा रहे थे । एक विशालकाय वृक्ष के नीचे उन्होंने आश्रय लिया और आगे बढ़े । पर्यटन के उपरान्त अगले वर्ष जब वे वापस लौटे तो उन्होंने पाया कि जिस सघन वृक्ष की छाया में उन्होंने भोजन किया था, विश्राम किया था, गिरा पड़ा है । पहले ने अपने से वयअनुभव में वरिष्ठ संत से पूछा-"महात्मन् ! यह कैसे हुआ कि इतनी अल्प अवधि में यह वृक्ष गिर गया ?" सन्त बोले-तात ! यह वृक्ष छिद्रों के कारण गिरा है । प्राण था-इसका जीवन रस जो गोंद रूप में सतत बहता रहा । उसे पाने की लालसा में मनुष्य ने उसमें छेदकर उसे खोखला बना दिया । खोखली वस्तु कभी खड़ी नहीं रह सकती । झंझावातों को सहन न कर पाने के कारण ही इसकी यह गति हुई है ।"

रोगी की भ्रांति निवारण

एक रोगी राजवैद्य शार्ङ्गधर के समक्ष अपनी गाथा सुना रहा था । अपच, बेचैनी, अनिद्रा, दुर्बलता जैसे अनेक कष्ट व उपचार में ढेरों राशि नष्ट कर कोई लाभ न मिलने के कारण ही वह राजवैद्य शार्ङ्गधर के पास आया था । वैद्यराज ने उसे समय युक्त जीवन जीने व आहार-विहार के नियमों का पालन करने को कहा । रोगी बोला-'यह सब तो कर चुका हूँ । आप तो मुझे कोई औषधि दीजिए ताकि मैं कमजोरी पर नियंत्रण पा सकूँ । पौष्टिक आहार आदि भी बता सकें तो लूँगा पर आप मुझे फिर वैसा ही समर्थ बना दीजिए ।' वैद्यराज बोले-'वत्स ! तुमने संयम अपनाया होता तो मेरे पास आने की स्थिति ही नहीं आती । तुमने जीवन रस ही नहीं, जीने की सामर्थ्य एवं धन-सम्पदा भी इसी कारण खोई है । बाह्योपचारों से, पौष्टिक आहार आदि से ही स्वस्थ बना जा सका होता तो विलासी-समर्थों में कोई भी मधुमेह, अपच आदि का रोगी न होता । मूल कारण तुम्हारे अंदर है, बाहर नहीं । पहले अपने छिद्र बन्द करो, अमृत का संचय करो और फिर देखो वह शरीर निर्माण में किस प्रकार जुट जायेगा ।' रोगी ने सही दृष्टि पायी और जीवन को नये सांचे में ढाला, अपनी बहिरंग व अंतरंग की अपव्यय वृत्तियों पर रोकथाम की और कुछ ही माह में स्वस्थ-समर्थ हो गया ।

शृंङ्गी उवाच-

ऋषिः शृंङ्गी पप्रच्छातः परं कातिविधानि तु ।
असंयमस्य छिद्राणि भगवन्नभिमतानि ते ॥ २३॥
कथं तेभ्यो जीवनस्य रसश्च्योतति मानवाः ।
गृह्णन्त्यसंयमं किं ते परिणामान् विदन्ति नो ॥ २४॥
विबोधय रहस्यं मे भूतलं स्वर्गतां व्रजेत् ।
समाप्तिं दुःखदारिद्र्यं येन गच्छेच्च सर्वथा ॥ २५॥

टीका-शृंगी ऋषि ने पूछा-भगवन् ! वे असंयम रूपी छिद्र कितने प्रकार के हैं और उनमें होकर किस प्रकार का जीवन रस निचुड़ जाता है ? इस असंयम को लोग किस निमित्त अपनाते हैं और उसके दुष्परिणामों को क्यों नहीं समझ पाते ? इस रहस्य को समझायें ताकि यह भूतल स्वर्ग हो जाय तथा दुःख-दारिद्र्य सर्वथा समाप्त हो जाय ॥ २३-२५ ॥

व्याख्या-ऋषि की आतुरता मानव मात्र को सुखी तथा धरती को स्वर्गोपम परिस्थितियों से परिपूर्ण देखने की है । इसी जिज्ञासावश वे पूछते हैं कि मनुष्य क्यों और किस प्रयोजन से इस गर्त में जा गिरता है । बुद्धिबल, शरीर बल से सम्पन्न होते हुए भी वह असंयमजन्य हानियों को क्यों नहीं समझता ?

ऐसी ही जिज्ञासा असुरों द्वारा बारम्बार पराजित होने पर देवगणों ने प्रजापति से की थी ।

देवो ! संयम सीखो, समर्थ बनो'

इन्द्र को असुरों से अनेक बार परास्त होना पड़ा । भगवान् की विशेष सहायता से ही ये बड़ी कठिनाई के साथ अपना इन्द्रासन लौटाने में सफल हो सके । इस बार-बार की पराजय का कारण एक दिन प्रजापति से पूछा-तो उन्होंने कहा कि ऐश्वर्य की रक्षा संयम से होती है । जो वैभव पाकर प्रमाद में फँस जाते हैं, उन्हें पराभव का मुँह देखना पड़ता है । वे तुम विलासी देवताओं की तरह ठोकरें खाते रहते हैं । यह मानव शरीर अपरिमित ऐश्वर्य पूर्ण है । जो इसका संयमपूर्वक सदुपयोग कर लेते हैं, वे ही पराभव का मुँह देखने से बच जाते हैं ।

देवता यदि कहीं हैं तो हमारे ही अन्दर सत्प्रवृत्तियों के रूप में व असुर हैं तो वे भी हमारे ही अन्दर पाशविक प्रवृत्तियों के रूप में । जो समर्थ विवेकशील होते हैं वे विलास उपभोग के माया जंजाल में न पड़कर पाशविक प्रवृत्तियों को हावी नहीं होने देते ।

परन्तु जन साधारण तो उस मूढ़ समुदाय के समान है जो सब कुछ स्वयं करते हुए भी अनजान बना हुआ है और अपने दुःख-पराभव का कारण बाहर ढूँढ़ता फिरता है । ऐसों का समाधान समग्ररूप में हो सके, वे उन छिद्रों की जानकारी पा सकें जिससे जीवनी शक्ति क्षरित होती है, तो फिर कारणों को जानकर रोकथाम की योजना भी बनायी जा सकनी सम्भव है ।

पिप्पलादः प्रशमयन्नौत्सुक्यं सारगर्भितम् ।
उत्तरं प्राददात्तत्र वाचा संयतया ततः ॥ २६॥

पिप्पलाद उवाच-

प्रसन्नमुद्रयोवाच सम्पदो जीवनस्य तु ।
क्षेत्राणि संति चत्वारि श्रूयतां तन्मुनीश्वराः ॥ २७॥
शक्तिरिन्द्रियसम्बद्धा शक्तिः समयसंयुता ।
विचारशक्तिस्तुर्या च शक्तिः साधनरूपिणी ॥ २८॥
आद्यास्तिस्रः प्रदत्तास्ता ईश्वरेण प्रयत्नतः ।
तिसृणां भौतिके क्षेत्रे तुर्याऽर्ज्या पौरुषाश्रया ॥ २९॥

टीका-पिप्पलाद ने उत्सुकता को समाधान करने वाला सारगर्भित उत्तर सुसंयत वाणी में दिया । महाप्राज्ञ पिप्पलाद प्रसन्नमुद्रा में बोले-जीवन सम्पदा के चार क्षेत्र हैं, उन्हें सुनिये-(१) इन्द्रिय शक्ति,

(२) समय शक्ति,(३) विचार शक्ति और (४) साधन शक्ति । प्रथम तीन ईश्वर प्रदत्त हैं, चौथी को इन तीनों के संयुक्त प्रयत्न से भौतिक क्षेत्र में पुरुषार्थ द्वारा अर्जित किया जाता है ।

व्याख्या-जीवन सम्पदा के दो मूल विभाजन महाप्राज्ञ बताते हैं कि इन्द्रिय, समय, विचार शक्ति के रूप में जीवन देवता के माध्यम से मनुष्य को दैवी विभूतियाँ मिली हैं । जो भी इन्हें दैवी सम्पदा मानता है, वह उन्हे महत्व भी देता है, कभी अपव्यय नहीं करता । साधन शक्ति न भी हो तो वह इन तीन के माध्यम से अर्जित की जा सकती है । शारीरिक सामर्थ्य, वाणी का सही उपयोग, समय सम्पदा का सुनियोजन तथा विचारों के बिखराव को रोककर एक ही उद्देश्य पर केन्द्रित करने पर अभावों से भरे संसार में रहते हुए भी व्यक्ति साधन एकत्र कर लेता है । साधन शक्ति इसी कारण भौतिक-लौकिक सामर्थ्य मानी गयी है तथा शेष तीन मनुष्य की अपनी विशिष्ट विरासत है जो भगवान ने उसे बड़ा सोच समझकर सदुपयोग करने के लिए ही प्रदान की हैं ।

सम्पदा बनाम सम्पत्ति

शिष्य ने गुरु से पूछा-'देव ! आप कहते हैं कि सारी सम्पदा इस जगती में भगवत् प्रदत्त है । पर हम दैनंदिन जीवन में देखते हैं कि व्यक्ति अपने पुरुषार्थ से सम्पत्ति एकत्र करता है जब कि भगवान की उपासना, पूजा अर्चना, प्रार्थना, मनुहार का तो उसमें कोई योगदान भी नहीं होता ।' गुरु बोले-'वत्स ! यदि मनुष्य के पास भगवान की दी हुई दैवी सम्पदा समय, श्रम व सुदृढ़ स्वास्थ्य न हो तो वह सम्पत्ति जिसे तुम पुरुषार्थ जन्य कह रहे हो, कभी एकत्र नहीं कर सकता । यदि पूर्व में दैवी सम्पत्ति का उपयोग कर साधन सम्पन्न बन भी जाता है तो यह नहीं मानना चाहिए कि वह अपना उद्देश्य पा गया । जरा सा भी भटकने पर ऐश्वर्य में प्रमाद, श्रम से जी चुराना, इन्द्रिय असंयम, विचारों की कुमार्गगामिता अथवा बिखराव एवं समय की हानि इनमें से एक घुन भी लग जाने पर वह फिर खोखला हो जाता है और अर्जित सम्पदा खो देता है ।' सम्पत्ति और सम्पदा संबंधी अपनी जिज्ञासा का समाधान तर्क-तथ्य पूर्ण सुनकर शिष्य संतुष्ट हो गया ।

बुद्ध के साधनहीन परिव्राजक

आनन्द ने पूछा-"भगवन् ! आप परिव्रज्या हेतु विश्व भर में दूत भेज रहे हैं पर उनके पास साधन तो हैं ही नहीं । वे कैसे रहेंगे, किस प्रकार धर्म धारणा का प्रसार कर पायेंगे-यह प्रश्न मेरे मन में अभी भी विद्यमान है ?"

तथागत कह उठे-"भदन्त ! ये दूत एक विशिष्ट सम्पत्ति अपने साथ लेकर जा रहे हैं जो ईश्वर प्रदत्त है । अपनी इन्द्रिय, समय, विचारशक्ति रूपी विभूतियों के माध्यम से ये पुरुषार्थ द्वारा जहाँ जायेंगे, जन सहयोग, साधन, सम्पदा तथा श्रद्धा अर्जित करेंगे और विश्व भर में विचार क्रान्ति के अग्रदूतों के रूप में फैल जायेंगे । यथार्थ सम्पदा वही है जो ये ले जा रहे हैं-चौथी तो इनकी परिणति है ।"

आज हम देखते हैं कि बुद्ध के ये साधनहीन परिव्राजक किस प्रकार दिग्-दिगन्त में व्याप्त हो गये तथा साधन-वैभव की दृष्टि से भारत से भी अधिक उच्च कोटि के बिहार, संघाराम, बौद्ध स्तूप विदेशों में है तथा विस्तार की दृष्टि से यहाँ की तुलना में चीन, जापान, कम्बोडिया व सुदूरपूर्व तक बौद्ध धर्म की ही प्रधानता देखी जा सकती है । कुमारजीव, महेन्द्र, संघमित्रा एवं अन्य अनेकानेक अविज्ञात दूतों का इसमें अविस्मरणीय योगदान रहा है ।

विवेकानन्द द्वारा साथियों का समाधान

रामकृष्ण परमहंस के अवसान के तुरन्त बाद शिष्यगणों में व्याप्त अवसाद को विवेकानन्द ने अपनी विवेक दृष्टि से देखा और उनका समाधान करते हुए कहा-"भाईयों ! हमारे गुरु हमें कोई आश्रम, मठ, सम्पत्ति, ट्रस्ट देकर नहीं गए पर एक दृष्टि दे गये हैं कि हमें कैसा जीवन जीना चाहिए । यदि हमें सामर्थ्यवान, वैभववान बनना है तो लोककल्याण के लिए, गुरु के संदेश को विश्वव्यापी बनाने के लिए गुरुदेव ने जो संयम रूपी शिक्षा हमें दी है, वही हमारे लिए बहुत है । संस्कृति के पुनर्जीवन हेतु अनिवार्य साधन हम उसी से एकत्र कर लेंगे ।"

गुरुभाई के संदेश में जैसे जादू था-अवसाद दूर हुआ व सभी संगठित हो जुट पड़े, समय आने पर अलग-अलग दिशाओं में फैल गए और प्रत्येक ने एक वैभव साम्राज्य खड़ा कर दिया जो देश-विदेश में रामकृष्ण मिशन नाम से समग्र रूप में जाना जाता है ।

साधन फिर जुट गये

माहिष्मती के प्रथम नागरिक 'करुणाकर' स्वास्थ्य, विवेक और सम्पन्नता के प्रेरणा स्रोत माने जाते थे। वे प्रचुर सम्पदा के स्वामी थे तथा उसका उपयोग लोकहित में भी करते थे। एक बार वे एक वर्ष की कल्प साधना के लिए अंगिरा के पास गये। वहाँ साधना में डूबे रहे और जनहिताय तीर्थयात्रा में दूर देशों तक यात्रा करते रहे। उनके मित्र उनकी सम्पदा की रक्षा न कर सके, चोरों ने उनकी सारी सम्पत्ति चुरा ली। मित्र दुःखी थे, पर लाचार थे। सोचते थे करुणाकर आयेंगे तो जीवन भर की कमाई सम्पदा चली जाने से कितने दुःखी होंगे ?

करुणाकर आये, सारी बात सुनी और मुस्कुरा दिए। बोले-"मित्रों ! चिन्ता न करो। मैं यहाँ नंगा, असमर्थ बालक के रूप में आया था। परिजनों के स्नेह, सहयोग और अपने विचार एवं पुरुषार्थ के सहारे ही तो सम्पत्ति कमाई थी। प्रभु कृपा से मेरी इन्द्रियाँ अभी ठीक काम करती हैं, विचारों में परिपक्वता आ चुकी है, जीवन का समय अभी समाप्त नहीं हुआ और आप सबके स्नेह सहयोग का पात्र भी हूँ। फिर मुझे क्या कमी है ? सम्पदा फिर आ जायेगी।"

और सचमुच करुणाकर पुनः यश वैभव के स्वामी बन गये। कोई उनकी सराहना करता तो वे कहते-"बन्धु यह कुछ नहीं है, मात्र प्रभु द्वारा प्रदत्त साधनों के सदुपयोग की प्रतिक्रिया है। धन्य मैं नहीं वह प्रभु है जिसने ऐसी अनमोल सम्पदाएँ हमें दी हैं।"

इन्द्रियेषु दशस्वेव प्रधाने द्वे तथेन्द्रिये।
जिह्वोपस्थेति संज्ञे चाऽऽहारं जिह्वा विवेकतः ॥ ३०॥
गलाधश्चारयत्येषा शब्दानुच्चारयत्यपि।
रतिकर्मास्त्युपस्थस्य सन्ततेः कारणात्तथा ॥ ३१॥
स्त्रावत्यागः, संयमस्तु जिह्वायास्तनुस्वाध्यदः।
मनोबलं तथाऽक्षुण्णं जननेन्द्रियसंयमात् ॥ ३२॥
जिह्वाऽसंयमजोऽजीर्णो दौर्बल्यं वर्धते यतः।
रतिकर्मणि तथाऽऽतुर्यमयोग्यां संततिं तथा ॥ ३३॥
यौनरोगाँश्चिन्तनं च विकृतं वर्धयत्यलम्।
उभयासंयमे स्वास्थ्यं शारीरं मानसं पतेत् ॥ ३४॥

टीका-दस इन्द्रियों में दो प्रधान हैं-एक जिह्वा दूसरी जननेन्द्रिय। जिह्वा आहार को जाँच परख कर गले के नीचे उतारने और वार्तालाप के लिए शब्दोच्चारण के काम आती है। जननेन्द्रिय का कार्य सन्तोत्पादन के लिए रतिकर्म तथा स्रावों का परित्याग है। जिह्वा संयम शारीरिक स्वास्थ्य के लिए उत्तरदायी है और जननेन्द्रिय संयम से मनोबल अक्षुण्ण रहता है। जिह्वा के असंयमी होने से अपच होता है और दुर्बलता व रुग्णता बढ़ती है। रतिकर्म में आतुरता होने से अनुपयुक्त सन्तान, यौन रोग एवं विकृत चिन्तन का दौर बढ़ता है। दोनों का असंयम रहे तो शारीरिक, मानसिक स्वास्थ्य नष्ट होकर रहता है ॥ ३०-३४॥

व्याख्या-जिह्वा से हम स्वाद को दृष्टि में रख भोजन ग्रहण करते हैं तथा बोलते समय क्या सही, क्या गलत इसका ध्यान नहीं रखते तो यह रसना का असंयम एवं वाणी का असंयम कहलाता है। जिह्वा का शरीरगत स्वास्थ्य से सीधा सम्बन्ध है। जिह्वा स्वाद को प्रधानता देकर ऐसे पदार्थ खाती रहती है जो अनावश्यक ही नहीं, हानिकारक भी हैं। स्वाद में मात्रा बढ़ती है-फलतः पेट खराब होता है व असंख्यों रोग खड़े होते हैं।

आहार और स्वास्थ्य

एक कथा है कि धन्वन्तरि एक बार पक्षी बनकर काशी में वाग्भट्ट को उपदेश देने आये थे। जब उन्होंने पूछा-'कोऽरुक्' स्वस्थ कौन रहता है ? तो पक्षी रूप में धन्वन्तरि बोले-मितभुक्, ऋतभुक्, हितभुक् अर्थात् कम, ऋतु के अनुकूल और उपयोगी भोजन करने वाला स्वस्थ रहता है।

मिताहार की आरोग्य विज्ञान एवं अध्यात्म विद्या दोनों में ही समान महत्ता है। आहार उतना ही करें जितना शरीर निर्वाह के लिए जरूरी है। 'जैसा खाये अन्न वैसा बने मन' की उक्ति सर्वविदित है। आहार से रक्त, माँस ही नहीं

विचार संस्थान और अन्तःकरण भी प्रभावित होता है । चित्त की चंचलता, मनोविकार उभारने, अनीति की ओर बढ़ाने में अनुपयुक्त आहार की प्रधान भूमिका रहती है ।

भीष्म पर अन्न का प्रभाव

शरशैया पर पड़े हुए पितामह उत्तरायण सूर्य आने पर प्राण त्यागने की तैयारी में लगे थे । कुरु और पाण्डु कुल के नर-नारी उन्हें घेरे बैठे थे । पितामह ने उचित समझा कि उन्हें कुछ धर्मोपदेश दिया जाय । वे धर्म और सदाचार की विवेचना करने लगे ।

सब ध्यानपूर्वक सुन रहे थे पर द्रोपदी के चेहरे पर व्यंग्य-हास की हल्की सी रेखा दौड़ रही थी । भीष्म ने उसे देखा और अभिप्राय को समझा । वे बोले-बेटी ! मेरी कल की करनी और आज की कथनी में अन्तर देखकर तुम आश्चर्य मत मानो । जिन दिनों राज सभा में तुम्हारा अपमान हुआ था उन दिनों कौरवों का कुधान्य खाने से मेरी बुद्धि मलीन हो रही थी इसलिए तुम्हारे पक्ष में न्याय की आवाज उठा न सका । इन दिनों मुझे लम्बी अवधि का उपवास करना पड़ा है सो भावनायें स्वतः वैसी हो गईं जैसा कि मैं इस समय धर्मोपदेश में व्यक्त कर रहा हूँ ।

चोरी के अन्न ने चोर बनाया

एक बार एक बड़े त्यागी महात्मा कहीं धर्मोपदेश करने गये और वहाँ से एक सोने का हार चुरा लाये । तीसरे दिन वे बड़े दुःखी मन से वहाँ पहुँचे और हार लौटाते हुए क्षमा माँगी । गृहस्थ को बड़ा आश्चर्य हुआ कि इतने त्यागी और विद्वान होते हुए भी क्यों इन्होंने हार चुराया और क्यों लौटाने आये ?

महात्माजी ने बताया कि उस दिन उनने जिस व्यक्ति के यहाँ से भिक्षा ली थी वह चोर था, उसका अन्न भी चोरी से लाया हुआ था । उसे खाने से मेरी बुद्धि में चोरी के संस्कार पैदा हुए । इसके बाद दस्त शुरू हो गए और अन्न पेट से बाहर निकल गया । तब सुबुद्धि लौटी, आपके हार को लौटाने आया ।

जिह्वा वाणी की भी भूमिका सम्पन्न करती है । वाणी का स्तर ही मनुष्य के गुण, कर्म, स्वभाव का परिचायक होता है । वाणी सुसंस्कृत हो तो जीवन देवता का शृंगार कर देती है ।

हृदय और जीभ-असुर भी, देव भी

एक जिज्ञासु ने पूछा-'भगवन् ! मनुष्य जीवन अलंकृत करने वाले देवता कौन है ?' ज्ञानी ने उत्तर दिया-(१) हृदय, (२) जीभ ।'और पतित वाले ।''दो असुर''वे दो असुर कौन हैं ?'' ज्ञानी ने इस बार भी वही उत्तर दिया-(१) हृदय, (२) जीभ ।

"सो कैसे ?"-जिज्ञासु ने समाधान जानना चाहा । ज्ञानी ने कहा-"मधुर सम्भाषण और सुसंस्कृत आचारण जीभ और हृदय के ही अनुदान हैं । यदि वह जीवन को यह दो वस्तुएँ दे देते हैं तो जीवन कृतार्थ हो जाता है । पर यदि जीभ बोलने लगे कटु और हृदय में छा जाये कुत्सा, तो वही मनुष्य को नारकीय परिस्थितियों में झोंक सकते हैं ।

वाणी से नौकर मन्त्री राजा की परख

वन-विहार के लिए आये हुए राजा का जहाँ पड़ाव था, उसी के पास एक कुँए पर एक अन्धा यात्रियों को कुँए से निकाल कर जल पिलाया करता था । राजा को प्यास लगी उसने सिपाही को पानी लाने भेजा । सिपाही वहाँ जाकर बोला-'ओ रे अन्धे एक लोटा जल इधर दे ।' सूरदास ने कहा-'जा भाग, तुझ जैसे मूर्ख नौकर को पानी नहीं देता ।' सिपाही खीझकर वापस लौट गया । अब प्रधान सेनापति स्वयं वहाँ पहुँचे और कहा-'अन्धे भाई, एक लोटा जल शीघ्रता से दे दो ।' अन्धे ने उत्तर दिया-'कपटी मीठा बोलता है । लगता है पहले वाले का सरदार है । मेरे पास तेरे लिए पानी नहीं ।' दोनों ने राजा से शिकायत की, महाराज बुड्ढा पानी नहीं देता । राजा उन दोनों को लेकर स्वयं वहाँ पहुँचा और नमस्कार कर कहा-'बाबाजी ! प्यास से गला सूख रहा है, थोड़ा जल दें तो प्यास बुझायें ।' अन्धे ने कहा-'महाराज ! बैठिये अभी जल पिलाता हूँ ।'

राजा ने पूछा-'महात्मन् ! आपने चक्षुहीन होकर भी यह कैसे जाना कि एक नौकर, दूसरा सरदार और मैं राजा हूँ ।' बुड्ढे ने हँसकर कहा-'व्यक्ति की वाणी से उसके व्यक्तित्व का पता लग जाता है ।'

जीभ में घुसी लानत का दण्ड

अशुभ वाणी बोलने वालों को अन्ततः धिक्कार एवं लानत ही सहनी होती है । बुढ़िया के इकलौते लड़के का ब्याह था । उत्सव के बीच एक थका माँदा साधु कहीं से आ निकला । उसने आश्रय और भोजन माँगा । बुढ़िया ने कहा-'सन्तजी ! खुशी से ठहर जाइये । यह चावल लीजिए और पकाकर खा लीजिए, मैं ब्याह में उलझी हूँ । पर एक बात ध्यान रखिये कोई अशुभ वचन मुँह से न

निकालिए ।' साधु ने उस दिन चावल पकाया, खाया । दूसरे दिन वह हाँड़ी पका ही रहा था कि बुढ़िया उधर से आ निकली और हालचाल पूछने लगी ।

साधु ने बुढ़िया को बिठा लिया और कहा-'माताजी ! आपके इकलौते लड़के का ब्याह है सो तो ठीक है, पर कदाचित् इन्हीं दिनों लड़का बीमार पड़े और मरणासन्न हो जाय तो आप पर कैसी बीतेगी ?' साधु अपनी आदत से मजबूर था, उसे अप्रिय कहे बिना चैन कहाँ ?

बुढ़िया ने कहा-"मुझ पर जो बीतेगी सो भुगत लूँगी, पर आप इसी समय अपना चावल लेकर विदा हूजिए ।" साधु ने कपड़े में अधपका चावल समेटा और वहाँ से चल पड़ा । रास्ते में कपड़े में से माँड टपकता देखकर राहगीरों ने साधु से पूछा-"यह क्या टपक रहा है ।" साधु ने कहा-"यह मेरी आदत और जीभ में घुसी हुई लानत है जो इस घिनौने रूप में अपनी असलियत हर किसी को बताती-जताती जा रही है ।"

जिह्वा को उपवास एवं मौन के अभ्यास से संयमित किया जाता है । उपवास का प्रभाव शरीर पर तथा मौन का मन पर पड़ता है । इससे शरीरबल, मनोबल दोनों समर्थ बनते हैं ।

जिह्वा के बाद जननेन्द्रियों को दस इन्द्रियों में प्रमुख माना गया है । इसका मनोगत लिप्सा से सीधा सम्बन्ध है । रति कर्म एक सामान्य प्राकृतिक प्रक्रिया है जिसे सीमा बद्ध करके शरीरगत जीवनी शक्ति के भण्डार की रक्षा की जाती है । जननेन्द्रियों के दुरुपयोग के माध्यम से उस मानसिक उत्तेजना का परिचय भर मिलता है जो कामुकता के रूप में मानस में जन्म लेती है । ब्रह्मचर्य की महत्ता इसी कारण बतायी गई है ताकि शरीरगत जीवनी शक्ति और मनोगत प्रतिभा शक्ति का क्षय बचाया जा सके । यह पूँजी व्यक्तित्व को भौतिक और आत्मिक जगत में समान रूप से सुविकसित बनाने में सहायक सिद्ध होती है ।

दयानन्द ने बग्घी रोकी

शक्ति का स्रोत तो संयमी ही उपलब्ध करते हैं । महर्षि दयानन्द की बीकानेर महाराज से मित्रता थी । वे अक्सर स्वामी जी से अपने ब्रह्मचर्य की शक्ति का प्रदर्शन की बात कहा करते थे पर स्वामी जी उसे हँसकर टाल देते थे । एक दिन महाराज चार घोड़ों की बग्घी जोतकर प्रातः भ्रमण के लिए तैयार हुए । कोचवान ने घोड़ों को चलने के लिए बहुतेरा चाबुक फटकारा, घोड़े पूरी ताकत लगाकर बढ़े किन्तु एक इन्च भी आगे न बढ़ सके । बात क्या है यह देखने के लिए नरेश ने पीछे मुड़कर देखा तो पाया कि महर्षि ने एक हाथ से बग्घी पकड़ रखी है । वे संयम की इतनी शक्ति देखकर आश्चर्यचकित रह गये ।

शिवाजी ने सुन्दरी में माँ को देखा

शिवाजी के सैनिक शत्रु पक्ष की एक युवा विवाहिता को पकड़ कर लाये और उसे शिवाजी के सामने प्रस्तुत किया ।

बदला चुकाने के लिए वही तरीका अपनाना चाहिए जो शत्रु अपनाता रहा है, यह सोचकर वे उसे लाये थे ।

शिवाजी ने ध्यानपूर्वक युवती को देखा, मुस्काये और ससम्मान उसके घर तक पहुँचा आने की सैनिकों को आज्ञा दी । बिदा करते हुए शिवाजी ने अपने दरबारियों से कहा-"काश, मेरी माता जीजाबाई इतनी ही सुन्दर होतीं तो आज मैं भी ऐसा ही सुंदर होता ।"

अर्जुन और उर्वशी

असुरों के युद्ध में देवताओं की सहायता करने के लिए अर्जुन स्वर्गलोक गये और वहाँ उन्होंने देवताओं को विजयी बनाया ।

अर्जुन के पराक्रम से प्रसन्न होकर सुरपुर की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी उर्वशी उन पर मुग्ध हुई और नाटकीय ढंग से स्वयं को दीन-दुखी बताकर अर्जुन से सहायता का वचन लिया । कष्ट पूछने पर उसने बताया कि मैं आपके द्वारा आपके जैसा ही पुत्र चाहती हूँ ।

अर्जुन उर्वशी का प्रयोजन समझ गये । उनने गम्भीर होकर कहा-'पुत्र के लिए प्रतीक्षा की क्या आवश्यकता है । मैं स्वयं आपके पुत्र रूप में आज से ही मौजूद हूँ । मुझे ही आप पुत्र रूप में मानें ।' अर्जुन का सदाचरण और दृढ़ता देखकर उर्वशी अवाक् रह गई ।

असंयम की परिणति

विभिन्न सिद्धियाँ संयम की ही चमत्कार होती हैं । असंयमी सिद्धियों से तो वंचित रहते ही हैं अपना सामान्य जीवन भी गिरते पड़ते जी पाते हैं । ययाति को अपने पुत्र

का यौवन लेकर जीना पड़ा था । कीचक उसी कारण मारा गया । सूर्पनखा का पतन उसके असंयम और सुंद-उपसुंद का संहार असंयम के कारण ही हुआ । पाण्डु का देहावसान कामुक असंयम के कारण ही हुआ ।

देवों और असुरों में घोर युद्ध हो रहा था । राक्षसों के शस्त्र-बल और युद्ध कौशल के सन्मुख देवता टिक ही नहीं पाते थे । वे हारकर जान बचाने भागे, सब मिलकर महर्षि दत्तात्रेय के पास पहुँचे और उन्हें अपनी विपत्ति की गाथा सुनाई । महर्षि ने उन्हें धैर्य बँधाते हुए पुनः लड़ने को कहा । फिर लड़ाई हुई । किन्तु देवता फिर हार गये और फिर जान बचाकर भागे महर्षि दत्तात्रेय के पास । अब की बार असुरों ने भी उनका पीछा किया । वे भी दत्तात्रेय के आश्रम में जा पहुँचे । असुरों ने दत्तात्रेय के आश्रम में उनके पास बैठी हुई एक नवयौवना स्त्री को देखा । बस, दानव लड़ना तो भूल गये और उस स्त्री पर मुग्ध हो गये । स्त्री जो रूप बदले हुए लक्ष्मीजी ही थीं, को पकड़कर असुर ले भागे । दत्तात्रेय जी ने देवताओं से कहा-'अब तुम तैयारी करके फिर से असुरों पर चढ़ाई करो ।' लड़ाई छिड़ी और देवताओं ने असुरों पर विजय प्राप्त की । असुरों का पतन हुआ ।

विजय प्राप्त करके देवता फिर दत्तात्रेय के पास आये और पूछने लगे-"भगवन् ! दो बार पराजय और अंतिम बार विजय का रहस्य क्या है ? महर्षि ने बताया जब तक मनुष्य सदाचारी, संयमी रहता है तब तक उसमें उसका पूर्ण बल विद्यमान रहता है और जब वह कुपंथ पर कदम धरता है तो उसका आधा बल क्षीण हो जाता है । पर-नारी का अपहरण करने की कुचेष्टा में असुरों का बल नष्ट हो गया था, इससे उन्हें जीतना सुगम हो गया ।"

नहुष का पतन

नहुष को पुण्य फल के बदले इन्द्रासन प्राप्त हुआ । वे स्वर्ग में राज्य करने लगे । ऐश्वर्य और सत्ता का मद जिन्हें न आवे ऐसे कोई बिरले ही होते हैं । नहुष भी सत्ता मद से प्रभावित हुए बिना न रह सके । उनकी दृष्टि रूपवती इन्द्राणी पर पड़ी । वे उसे अपने अन्तःपुर में लाने की विचारणा करने लगे । प्रस्ताव उनने इन्द्राणी के पास भेज ही तो दिया ।

इन्द्राणी बहुत दुःखी हुई । राजाज्ञा के विरुद्ध खड़े होने का साहस उसने अपने में न पाया तो एक दूसरी चतुरता बरती । नहुष के पास उसने संदेश भिजवाया कि वह ऋषियों को पालकी में जोतें और उस पर चढ़कर मेरे पास आवें तो प्रस्ताव स्वीकार कर लूँगी । आतुर नहुष ने अविलम्ब वैसी व्यवस्था की । ऋषि पकड़ बुलाये, उन्हें पालकी में जोता गया, उस पर चढ़ा हुआ राजा जल्दी-जल्दी चलने की प्रेरणा करने लगा ।

दुर्बलकाय ऋषि दूर तक इतना भार लेकर तेज चलने में समर्थ न हो सके । अपमान और उत्पीड़न से वे क्षुब्ध हो उठे । एक ने कुपित होकर शाप दे ही तो डाला-"दुष्ट ! तू स्वर्ग से पतित होकर पुनः धरती पर जा गिर ।" शाप सार्थक हुआ । नहुष स्वर्ग से पतित होकर मृत्यु लोक में दीन-हीन की तरह विचरण करने लगे ।

संयमे समयस्यापि शैथिल्ये मानवस्ततः ।
अलसश्च प्रमादी च भवत्येतदवेहि तु ॥ ३५॥
क्रियतेऽनियमितं यत्तदपूर्णं शिष्यते ध्रुवम् ।
समयस्योपयोगस्तु योजितेन श्रमेण हि ॥ ३६॥
अलसो व्यस्त व्यक्तित्वो दीर्घजीवी भवन्नपि ।
आत्मजीविसमानैव भवन्त्यस्योपलब्धयः ॥ ३७॥

टीका-समय संयम में शिथिलता रहने से मनुष्य आलसी प्रमादी बनता है-ऐसा समझो । आलसी अस्त-व्यस्त बहुत दिन जीने पर भी आत्म-जीवियों जितनी उपलब्धियाँ अर्जित नहीं कर पाता है । नियमितता न रहने से जो किया जाता है वह आधा-अधूरा रहता है । समय का सदुपयोग सुनियोजित श्रम से ही किया जा सकता है ॥ ३५-३७॥

व्याख्या-आलस्य का अर्थ है शारीरिक श्रम से बचना तथा प्रमाद मानसिक जड़ता का नाम है । शरीर बल होते हुए भी व्यक्ति श्रम से जी चुराये तो उसे प्रमादी कहेंगे । हमारे समीपवर्ती शत्रु यही हैं, जो काल देवता की अवहेलना स्वरूप जन्म लेते हैं और जीवन सम्पदा का क्षय करते रहते हैं । समय का असंयम ही दोनों का मूल कारण है ।

शैतान का सर्वस्व आलस्य

आलस्य अकेला नहीं होता, इसके सहचर-सहोदर और भी कई दुर्गुण होते हैं । एक बार शैतान का मन अपने काम से ऊबा तो उसने संन्यास लेने की ठानी । अपनी सारी सम्पत्ति और सवारियाँ उसने बेचनी शुरू कर दी । हाट के दिन झुण्ड के झुण्ड लोग आये और उन्हें खरीदने लगे ।

नशेबाजी, चुगली, ईर्ष्या, बेईमानी, कुढ़न, शौकीनी, ऐय्याशी, जल्दबाजी, बदहवासी जैसी चीजें लोगों को खूब पसन्द आईं और लोगों ने मनमाने दाम देकर इन्हें खरीदा । जो न खरीद सके वे हाथ मलते रह गये ।

देखते-देखते शैतान का सारा असबाब बिक गया । अब उसके पास एक ही चीज बची जिसे वह बेचना न चाहता था । खरीददारों में से एक ने कहा-"जब आप सब कुछ छोड़ रहे हैं तो इस एक चीज से इतनी ममता क्यों ? इसे भी बेचकर निश्चिन्त हो जाइए न ?"

शैतान ने कहा-"यही मेरी सबसे प्रिय, कीमती और करामाती चीज है । जो कुछ मैंने बेचा वह इसके जरिये मैं हासिल का सकता हूँ । संन्यास में भी मन न लगा तो इसी के सहारे अपना कारोबार फिर शुरू करूँगा । इसे बेच दूँ तो मेरा अस्तित्व खतरे में पड़ जायगा ।"

उत्सुक लोगों ने शैतान से पूछा-कृपया इस वस्तु का नाम तो बता दीजिए । उसने गर्व के साथ कहा-यह है आलस्य । आलस्य के रहते वह सब मिलता ही रहेगा जो मैं चाहता हूँ ।

कलि की सभा

सतयुग धरती की ओर बढ़ रहा था । यह देखकर कलयुग ने अपने सहायकों की सभा बुलाई । किसी ने कहा-मैं पृथ्वी पर जाकर धन का लालच फैला दूँगा, किसी ने कहा-हम लोगों को कामनाओं में फँसा देंगे । किसी ने कामिनी का दर्प दिखाया, पर कलि को सन्तोष न हुआ । एक बुड्ढा सहायक एक कोने में बैठा था वह बोला-मैं जाकर लोगों में निराशा और आलस्य पैदा कर दूँगा । उनके साहस को नष्ट कर दूँगा, बस फिर वे किसी काम के न रहेंगे । न वे किसी बुराई को दूर करने के लिए संघर्ष कर सकेंगे और न किसी अच्छाई को उपार्जित करने का साहस उनमें रहेगा । इस वृद्ध सहायक की बात कलि महाराज को बहुत पसन्द आई और उसे अपना प्रधानमंत्री बना दिया । आज के निराश और आलसी लोग कलि महाराज की प्रजा बने हुए हैं । इन परिस्थितियों में बेचारा सतयुग ठहरता ही कहाँ ।

सांड बनाम निकम्मा

एक व्यक्ति बड़ा निकम्मा था । हालाँकि वह खूब मोटा-ताजा, शक्तिशाली और स्वस्थ था परन्तु काम कुछ नहीं करता इसलिए लोग उसे साँड कहकर पुकारते थे । एक दिन वह कहीं जा रहा था । सामने से आता दिखाई दिया एक साँड (नन्दी) । उसके पीछे ही साँड का मालिक बाबाजी भी आ रहे थे । उस निकम्मे व्यक्ति ने साँड को देखकर मौज से कहा-'आओ मित्र, भाई, हम तुम गले मिलें । हम दोनों में अन्तर ही क्या है ।'

'और तो सब बराबर है पर एक अन्तर है । वह यह कि इसे समय पर घास मिल जाती है और तुम्हारी भगवान् जाने'-बाबाजी बोले । वस्तुतः निकम्मे तथा आलसियों से पशु-जानवर भी अच्छे रहते हैं ।

गुरुभाई और टैक्स माफी

एक संत के त्याग से प्रभावित होकर एक राजा ने भी उनसे गुरु दीक्षा ली । पहले भी हजारों लोग उनसे दीक्षा ले चुके थे । उनने राजा को दीक्षितों में देखा तो सबने जाकर कहा-"महाराज ! अब तो आप हमारे गुरु भाई हैं, अब हमसे राज्य कर नहीं माँगना । राजा ने दुविधा में सबका कर माफ कर दिया । परिणाम यह निकला कि राज्य व्यवस्था के लिए धन मिलना बन्द हो गया । व्यवस्था चरमराने लगी ।

सबने श्रम करना बन्द कर दिया और संचित पूँजी से पेट भरने लगे । यह स्थिति देख राजा घबराया और अपने गुरु के पास पहुँचा । उन्होंने स्थिति का विवरण सुनकर कहा-'दीक्षा को आचरण में न उतारें तो वह असफल ही रहती है । जिन्हें तुम गुरु भाई मानते हो, वे सब तो आलसी हैं पर तुम प्रमादी हो । तुम अपनी व्यवस्था नियमानुसार चलाओ नहीं तो उनके साथ तुम भी पाप के भागी बनोगे ।

सोचने-विचारने में जब उपेक्षा इस प्रकार की बरती जाती है, विशेष कर सूत्र संचालकों द्वारा, तो फिर उसकी परिणति अव्यवस्था में ही होती है ।

योजनाबद्धरूपेण कार्यनिर्धारणं यदि ।
तत्कालेन च निर्वाहाद् विज्ञाः साफल्यमाययुः ॥ ३८ ॥
समयाऽसंयमा ये तु ते भवन्त्यल्पजीविनः ।
वरमायुः किमप्यास्तां तेषां नृणां विचार्यताम् ॥ ३९ ॥
ईश्वरेण प्रदत्तेयं समयस्य तु सम्पदा ।
योजयेत्तां श्रमेणार्थं मनोयोगेन भूयसा ॥ ४० ॥
विभिन्नाः सम्पदाश्चापि विभूतीरर्जितुं क्षमाः ।
समयो जीवनं तच्च नाशयन्नश्यति स्वयम् ॥ ४१ ॥

टीका-योजनाबद्ध कार्य निर्धारण करने और उसका तत्परता पूर्वक निर्वाह करने से ही विज्ञजन अनेकानेक सफलताएँ अर्जित करते हैं । समझ लो कि समय के असंयमी ही अल्पजीवी कहलाते हैं, भले ही उनकी आयु कुछ भी हो । समय ईश्वर प्रदत्त सम्पदा है । उसे श्रम में मनोयोगपूर्वक नियोजित करके विभिन्न प्रकार की सम्पदायें, विभूतियाँ अर्जित की जाती हैं । जो समय गँवाता है उसे जीवन गँवाने वाला कहा जाता है ॥ ३८-४१ ॥

अल्पजीवी बनाम दीर्घजीवी समय ही जीवन और श्रम ही वैभव है । कौन कितने दिन जिया इसका लेखा-जोखा जन्म दिन से लेकर मरण पर्यन्त के दिन गिनकर नहीं वरन् इस आधार पर लगाया जाना चाहिए कि किसने अपने समय का उपयोग महत्वपूर्ण प्रयोजनों के लिए किया । आद्य शंकराचार्य मात्र बत्तीस वर्ष जिए । विवेकानन्द ने छत्तीस वर्ष जितनी स्वल्प आयु पाई । रामतीर्थ तैंतीस वर्ष की आयु में ही चले गये । ऐसे ऐसे अनेकानेक व्यक्ति इस संसार में हुए हैं जिन्हें लम्बी अवधि तक जीने का अवसर नहीं मिला पर उन्होंने अपने समय का श्रेष्ठतम प्रयोजनों के लिए तत्परतापूर्वक उपयोग किया और उसी के बलबूते इतनी उपलब्धियाँ अर्जित कर सके जितनी सौ दो सौ वर्ष जीकर भी नहीं पाई जाती । कितने ही लोग लम्बी आयु तक जीते हैं पर उस अवधि का लेखा-जोखा लेने पर प्रतीत होता है कि वे पेट भरने, प्रजनन के जंजाल में उलझे रहने तथा दुर्गुणों के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाले विक्षोभों से जलने-झुलसने में ही फँसे रहकर अन्त में मौत के मुँह में चले गये । प्रायः आधा समय कुचक्रों की उलझन में और लगभग उतना ही आलस्य-प्रमाद में लगाने वाले को लम्बी आयु तक जीने का क्या सन्तोष आनन्द मिला, इसे वे उनींदी अवस्था में तो जान नहीं पाते, किन्तु जब बिदाई के दिन आते हैं तो आँखें खुलती हैं और हाथ मलते हुए रुँधे कण्ठ और भरी आँखों से इतना ही कह पाते हैं कि उन्होंने बहुमूल्य अवसर निरर्थक कामों में गँवाया और जिससे काल का त्रास देने वाला अंधकार भरा भविष्य कमाया ।

जो क्रमबद्ध योजना बनाकर जीता है, वही काल देवता का सच्चा पुजारी है । ऐसे व्यक्ति एक क्षण भी नष्ट नहीं होने देते और दिनचर्या को सुव्यवस्थित बनाकर चलते हैं । 'कालबोध' के आधार पर ही महामानव विभिन्न प्रकार की भौतिक और आत्मिक सम्पदाएं अर्जित कर पाते हैं । समय के साथ यदि मनोयोग न जुड़े तो समझना चाहिए कि यह सम्पदा ऐसे ही आवारागर्दी में अस्त-व्यस्त होती रहेगी और अंत में कहने को हाथ में कुछ नहीं होगा ।

रावण ने काल को बाँधा उस पौराणिक कथानक में सन्निहित तथ्य अक्षरशः सही है जिसमें रावण ने काल को पाटी में बाँध कर असीम वैभव प्रदान करने के लिए विवश कर दिया था । सचाई को सामान्य जन नहीं समझ पाते हैं और समय को जैसे-तैसे काट कर जिन्दगी के दिन पूरे करते रहते हैं । सफल और श्रेयाधिकारी महामानवों में से प्रत्येक ने समय का महत्व समझा है और क्रमबद्ध दिनचर्या पर आरूढ़ रहकर अपने एक-एक क्षण को हीरे-मोतियों से तोलने लायक मानकर उसका सदुपयोग किया है ।

बापू की वेदना महात्मा गाँधी के जीवन की एक घटना है । एक बार एक परिषद् की कार्यवाही आरम्भ करने में उन्हें ४५ मिनट की प्रतीक्षा करनी पड़ी । कारण था एक अन्य नेताजी जिन्हें कार्यक्रम की अध्यक्षता करनी थी, का देरी में आना । उनके मंच पर आते ही गाँधीजी कह उठे-"यदि हमारे अग्रगामी नेतागणों की यही स्थिति रही तो स्वराज्य ४५ मिनट देरी से आयेगा ।" समय के पाबन्द, कर्त्तव्यनिष्ठ बापू की यह

अभिव्यक्ति अन्तःकरण से सहज ही स्फुरित हुई ।

समय की कमी का अर्थ

जगद्गुरु शंकराचार्य सत्कार्यों में समय लगाने की बात पर बहुत जोर दिया करते थे । एक बार एक श्रद्धालु धनिक ने उनसे पूछा-"प्रभु ! श्रेष्ठ कार्यों में समय लगाना तो आवश्यक है किन्तु यदि कोई समयाभाव से वैसा न कर सके तो क्या करे ?" आचार्य रहस्य भरी मुस्कान बिखेरते हुए बोले-"श्रेष्ठि ! मुझे तो कोई व्यक्ति आज तक नहीं मिला जिसे विधाता ने एक दिन में २४ घण्टे में एक पल भी कम समय दिया हो । फिर समय की कमी से आपका क्या अभिप्राय है ?"

सेठ सकपकाकर चुप ही रह गये । आचार्य प्रवर ने स्पष्ट किया-"वत्स ! जिसे समयाभाव तुम कहते हो वह समय की कमी नहीं समय की अव्यवस्था है । उसी कारण समय अनुपयोगी कार्यों में लग जाता है, उपयोगी के लिए रह ही नहीं जाता । जो समय का सदुपयोग नहीं कर पाते वे जीवन जीते नहीं-काटते हैं, नष्ट करते हैं । कोई कितने वर्ष जिया यह जीवन नहीं, किसने-कितने समय का सदुपयोग कर लिया वही जीवन की लम्बाई है ।"

कुआँ गहराई में नहीं खोदा

किसी व्यक्ति ने सुना-बीस फुट मिट्टी खोद लेने से पानी निकल आता है, कुँआ बन जाता है । वह कुँआ खोदने में लग गया । बीस की अपेक्षा पच्चीस फुट खुद गया फिर भी पानी नहीं निकला । वह व्यक्ति उस आदमी के पास गया और पानी न निकलने की शिकायत की ।

अगले दिन उस व्यक्ति ने जाकर देखा तो पाया कुआँ खोदा तो गया पर गहराई में नहीं लम्बाई में । उसने कहा-"भाई ! इतना परिश्रम करने की अपेक्षा पहले विधि पूछ लेते तो अच्छा था । ज्ञान की सार्थकता उसे पूरी तरह समझ लेने में ही है । अधूरी वार्ता सुनकर कृत्य करने वाले धोखा ही खाते हैं ।"

काम की जब भी योजना बनायी जाय, दूरगामी चिन्तन के आधार पर एवं व्यावहारिक । शेखचिल्ली जैसी कपोल कल्पना तो अनगिनत कर सकते हैं पर जीवन में वही सही उत्तर पाते हैं जो कदम सँभाल-सँभाल कर रखते हैं, एक पल गँवाते नहीं, काल को भगवान् मानते हैं । दैवी सम्पदा का दुरुपयोग वास्तव में भगवान को नाराज कर शाप स्वयं अपने ऊपर लेने के समान है ।

सूक्ष्मस्तरस्य कर्मास्ति विचारः कार्यरूपकः ।
युञ्यात्सत्सु विचारणां प्रवाहं समयं यथा ॥ ४२॥
उपयोगिनां विचाराणामुत्कृष्टानां च सीम्नि चेत् ।
चिन्त सीमितं याति ह्युद्देश्ये सृजनात्मके ॥ ४३॥
महात्वपूर्णान्येतानि भूयः प्रतिफलानि च ।
उत्पादयन्ति गृह्णन्ति दिशां यां जितमानसाः ॥ ४४॥
सफलास्तत्र जायन्ते विचाराणाममूलता ।
अस्तव्यस्तता चापि विक्षिप्तत्वं हि मन्यताम् ॥ ४५॥

टीका-विचार सूक्ष्म-स्तर का कर्म है । कार्य का मूल रूप विचार है । समय की तरह विचार-प्रवाह को भी सत्प्रयोजनों में निरत रखा जाय । उपयोगी-उत्कृष्ट विचारों को मर्यादा में, चिन्तन को सीमाबद्ध रखने से वे सृजनात्मक प्रयोजनों में लगते हैं और महत्वपूर्ण प्रतिफल उत्पन्न करते हैं । मनोनिग्रह के अभ्यासी जिस भी दिशा को अपनाते हैं, उसी में सफल होकर रहते हैं । विचारों की अनगढ़ अस्त-व्यस्तता एक प्रकार की विक्षिप्तता ही है ॥ ४३-४५ ॥

व्याख्या-जिस प्रकार समय को योजनाबद्ध कर सफलता पायी जाती है, उसी प्रकार विचार प्रवाह को भी सुनियोजित कर, लक्ष्य विशेष से जोड़ कर लौकिक व आत्मिक जगत में लाभान्वित हुआ जा सकता है । मनुष्य के जो भी बहिरंग में कर्म दिखाई देते हैं वे विचारों की ही परिणति हैं । 'जो जैसा सोचता है और करता है, वह वैसा ही बन जाता है'-इस उक्ति को सदैव स्मरण रखना चाहिए ।

एकाग्रता एवं तन्मयता

विचार संयम का सही स्वरूप है-चिन्तन की एक-एक लहर को रचनात्मक दिशाधारा में प्रवाहित करने हेतु किया गया कठोर पुरुषार्थ । यही यथार्थ में मनोनिग्रह

है । अनगढ़ पशुओं की तरह मस्तिष्क रूपी झाड़ियों में उछल कूद मचाते अनावश्यक विचारों को एकाग्रता के द्वारा अथवा उच्चस्तरीय उद्देश्यों में तन्मयता सम्पादन द्वारा सही दिशा दी जा सकती है । इस प्रकार समीक्षा करने पर हम पाते हैं कि विचार संयम के दो भाग हैं-एक है निग्रह-बिखराव को समेट कर एक दिशा में लगा देना-एकाग्रता सम्पादन भी इसी में आता है । दूसरा है-विचारों को निकृष्ट चिन्तन से हटाकर सदुद्देश्यों में नियोजित कर देना, अपने कर्मों में उत्कृष्टता को मुखरित होने देना । विचारों का असंयम ही इन्द्रिय, वाणी, समय तथा अर्थ के असंयमों-शक्ति अपव्यय का मूल कारण होता है ।

अर्जुन को मात्र आँख दिखी

लक्ष्य के प्रति तन्मयता सच्चे साधक की विशेषता है । यह विचार एकीकरण का ही परिणाम है । द्रोणाचार्य ने प्रश्न किया-"दुर्योधन ! सामने क्या दिखाई दे रहा है ?" "आकाश, वृक्ष, पत्तियाँ और चिड़िया जिस पर निशाना लगाना है ।" द्रोणाचार्य ने कहा-"तुम्हारा निशाना सही न लगेगा, बैठ जाओ ।" एक-एक करके सारे शिष्य असफल होते गये । अब अर्जुन का नम्बर आया । आचार्य ने वही प्रश्न दुहराया । अर्जुन ने कहा-"गुरुदेव ! मुझे पक्षी की आँख के अतिरिक्त और कुछ दिखाई नहीं देता ।" 'बाण चलाओ'-आचार्य ने आदेश दिया । तीर सही ठिकाने पर जा लगा । द्रोणाचार्य ने शिष्यों को बताया, जिसे लक्ष्य के अतिरिक्त कुछ दिखाई न दे उसी की साधना सफल होती है ।

प्रतिभाएँ परमात्मा की देन होती है-ऐसा माना जाता है । इसी कारण हजारों में एक वैज्ञानिक, दार्शनिक अथवा विषय विशेष का निष्णात प्रकाण्ड पण्डित बन जाता है । वस्तुतः परमपिता की यह कृपा बरसती सब पर एक साथ है, लाभ वे ही उठाते हैं जो अपने विचारों को रचनात्मक चिंतन एवं कर्तृत्व में नियोजित कर लेते हैं ।

महर्षि पतंजलि ने विचारों की एकाग्रता का महत्व समझा, उसे जीवन में उतारा एवं योगदर्शन के रूप में एक महान ग्रन्थ मानवता को दे सके ।

ऋषि जैमिनि सात दिन कक्ष में बन्द रहे

प्रख्यात आर्ष दार्शनिक जैमिनि जिन्होंने 'मीमांसा' की रचना की, के साथ एक घटना ऐसी जुड़ी है जो विचारों की शक्ति भी बताती है व इस ग्रन्थ-रचना की पृष्ठभूमि थी । जब वे मीमांसा दर्शन के सूत्रों को क्रमबद्ध कर रहे थे, अपनी धर्मपत्नी को उन्होंने कह दिया 'जब तक वे न कहें, कक्ष का द्वार न खोला जाय । चाहे रात्रि का आगमन हो जाय एवं अगले दिन का अरुणोदय, कोई उनके कार्य में व्यवधान न डाले ।' बिना आहार लिए वे उसी कक्ष में ७ दिन तक बन्द रहे । बाहर निकले तो चेहरे पर अभूतपूर्व तेज था एवं सफलता की मुस्कान थी । वे महत्वपूर्ण सूत्रों को क्रमबद्ध करके ग्रन्थ की रचना पूरी कर चुके थे । 'मीमांसा दर्शन' नामक यह ग्रन्थ अध्यात्म के मूल सिद्धांतों का आधार बना ।

विचार शक्ति के चमत्कार

विचार अपने आप में एक चिकित्सा है । शुभ कामना, सत्परामर्श रूपी विचारों का बीजारोपण यही प्रयोजन सिद्ध करते हैं । विचार संप्रेषण, विचारों से वातावरण का निर्माण, विचार विभीषिका इसी सूक्ष्म विचार शक्ति के स्थूल परिणाम हैं । महर्षि अरविंद व रमण ने मौन साधना की व अपनी विचार शक्ति को सूक्ष्म स्तर पर क्रियान्वित किया जिसका परिणाम था कि वातावरण में संव्याप्त विक्षोभ मिटाया जा सका तथा स्वतंत्रता आन्दोलन की लहर फैली । सारी क्रांतियाँ विचारों के स्तर से ही आरम्भ हुई हैं । साम्यवाद-प्रजातन्त्र विचार संयमजन्य सामर्थ्य की देन हैं । विचारों की आँधी जब आती है तो प्रचण्ड तूफान की तरह सबको अपनी लपेट में ले लेती है । बुद्ध और गाँधी के समय भी इसी प्रकार आँधी आयी जिसने सूक्ष्म स्तर पर जन-जन को प्रभावित किया व परिवर्तन ला दिया ।

अनगढ़ विचार बनाम विक्षिप्तता

अस्त-व्यस्त विचार-शक्ति व्यक्ति को जल्दबाज बनाते हैं व ऐसे व्यक्ति दूरगामी निर्णय न लेकर ऐसे कदम उठा सकते हैं जिन्हें प्रकारान्तर से विक्षिप्तता ही कहा जा सकता है ।

बिना सोचे नेवले को मार डाला

देवशर्मा के घर पुत्र ने जन्म लिया । उसी दिन एक नेवली ने नेवले को भी जन्म दिया । दयावश ब्राह्मणी ने उस बच्चे को पाल लिया । दोनों बच्चों में बड़ा प्रेम था । एक दिन ब्राह्मणी पानी भरने चली गई । बच्चा सो रहा था । नेवला भी पास ही बैठा था । दैवयोग से उधर एक सर्प निकला और बच्चे को काटने लपका । नेवले ने यह देखा तो साँप के टुकड़े-टुकड़े कर डाले । उसके मुँह में खून लग

गया । वह इसी अवस्था में मालकिन को देखने कुँए की ओर दौड़ा । द्वार पर ही ब्राह्मणी मिल गई । नेवले के मुँह में खून लगा देखकर उसने सोचा यह बच्चे को काटकर आया है । यह विचार आते ही उसने भरा हुआ घड़ा नेवले के ऊपर दे मारा, नेवला मर गया । घर जाकर ब्राह्मणी ने सारी बात समझी तो उसे बड़ा पश्चात्ताप हुआ । इसलिए बिना विचारे कोई काम नहीं करना चाहिए ।

संयम मन से भी करें

विचारों का संयम न हो तो वाणी, इन्द्रिय, धन आदि का अपव्यय न करते हुए भी व्यक्ति कुछ पाता नहीं, सतत खोता ही है । एक ग्रामीण ने संत ज्ञानेश्वर से पूछा-"संयमित जीवन बिताकर भी मैं रोगी हूँ, महात्मन ! ऐसा क्यों ?" दृष्टा संत बोले-"पर मन में विचार तो निकृष्ट हैं । भले ही तुम बाहर से संयम बरतते रहो-मन में कलुष भरा हो, विचार गन्दे हों तो वह अपव्यय रोगी बनायेगा ही ।"

क्षीवानिव शुनो नैव विचारान्मनुजः क्वचित् ।
अचिन्त्यचिंतने व्यर्थं दिशाहीनान्नियोजयेत् ॥ ४६ ॥
तान् सदैवोपयोगिन्या दिशया धारयाऽपि च ।
नियोजयेद् विचारैश्चामूलैर्योद्धुमनैतिकैः ॥ ४७ ॥
सद्विचारचमूः काचिद् भवेद् याऽचिन्त्यचिन्तनैः ।
विचारैर्युद्धयमानेव तांस्तु विद्रावयेद् द्रुतम् ॥ ४८ ॥

टीका-विचारों को आवारा कुत्तों की तरह अचिन्त्य-चिंतन में भटकने न दिया जाय । उन्हें हर समय उपयोगी दिशा-धारा के साथ नियोजित करके रखा जाय । अनगढ़-अनैतिक विचारों से जूझने के लिए सद्विचारों की एक सेना बनाकर रखी जाय, जो अचिन्त्य-चिंतन उठते ही जूझ पड़ें और उन्हें निरस्त करके भगा दें ॥ ४६-४८ ॥

व्याख्या-विचार संयम का सबसे अच्छा तरीका है, उन्हें बिखराव से रोककर उत्कृष्ट उद्देश्य के साथ जोड़ दिया जाय । इसके लिए अपने अन्दर भी एक विरोधी विचारों की सेना उसी प्रकार खड़ी करनी होगी जैसी कि विजातीय द्रव्यों के शरीर में प्रविष्ट होने पर रक्त के कण खड़ी कर देते हैं । निकृष्ट विचारों व उत्कृष्ट चिंतन की परस्पर लड़ाई ही अन्तर्जगत का देवासुर संग्राम है । विचारों की विचारों से काट एक बहुत बड़ा पुरुषार्थ है । इसलिए अनिवार्य है कि कुविचारों को सद्विचारों से काटने का महाभारत अहर्निश जारी रखा जाय । विचारों के लिए उपयोगी मर्यादा एवं दिशाधारा निर्धारित की जाय जिनमें अभीष्ट प्रयोजन अथवा मनोरंजन के लिए परिभ्रमण करते रहने की छूट रहे । चिड़ियाघरों में जानवरों का बाड़ा होता है । उन्हें घूमने-फिरने की छूट तो रहती है, पर उस बाड़े से बाहर नहीं जाने दिया जाता । ठीक यही नीति विचार वैभव के बारे में भी बरती जाय । उसे जहाँ-तहाँ बिखरने न दिया जाय ।

कल्पवृक्ष के नीचे उलटे विचार

विचार यदि अस्त-व्यस्त हों तो उसके क्या परिणाम होते हैं, इसे समझाते हुए संत एकनाथ ने एक कथा सुनाई-

एक मनुष्य किसी गाँव को जा रहा था । धूप-प्यास का मारा वह एक पेड़ के नीचे विश्राम करने को लेट गया । पेड़ की ठण्डी छाया में उसका मन बड़ा प्रसन्न हुआ । वह कल्पना करने लगा 'काश ! यहाँ पीने के लिए पानी होता ।' इतने में ही उसने देखा कि एक ठण्डा पानी का झरना फूट पड़ा । उसने पानी पिया, प्यास बुझाई । फिर उसने सोचा कुछ खाने को होता तो कैसा रहता । इतने में ही एक स्वादिष्ट पदार्थों से भरा हुआ थाल आ गया । उसने भोजन करके सोने के लिए शैय्या की कल्पना की तो एक पलंग वस्त्र बिछा हुआ दिखाई दिया । इन सब घटनाक्रमों से उसे भय हुआ कि कहीं यहाँ कोई मायावी राक्षस तो नहीं है । इतने में ही एक राक्षस सामने आ खड़ा हुआ । 'यह मुझे खा न जाय' इस विचार के साथ ही वह राक्षस उस यात्री को खा गया । वस्तुतः वह वृक्ष कल्पवृक्ष था, जो मन की इच्छा के अनुसार फल देता था । मनुष्य का चिंतन एवं मनोबल एक प्रकार से कल्पवृक्ष ही है । उसका सदुपयोग करने वाला जीवन लक्ष्य की प्राप्ति का अभीष्ट उद्देश्य पूर्ण कर सकता है ।

है । अनगढ़ पशुओं की तरह मस्तिष्क रूपी झाड़ियों में उछल कूद मचाते अनावश्यक विचारों को एकाग्रता के द्वारा अथवा उच्चस्तरीय उद्देश्यों में तन्मयता सम्पादन द्वारा सही दिशा दी जा सकती है । इस प्रकार समीक्षा करने पर हम पाते हैं कि विचार संयम के दो भाग हैं-एक है निग्रह-बिखराव को समेट कर एक दिशा में लगा देना-एकाग्रता सम्पादन भी इसी में आता है । दूसरा है-विचारों को निकृष्ट चिन्तन से हटाकर सदुद्देश्यों में नियोजित कर देना, अपने कर्मों में उत्कृष्टता को मुखरित होने देना । विचारों का असंयम ही इन्द्रिय, वाणी, समय तथा अर्थ के असंयमों-शक्ति अपव्यय का मूल कारण होता है ।

अर्जुन को मात्र आँख दिखी

लक्ष्य के प्रति तन्मयता सच्चे साधक की विशेषता है । यह विचार एकीकरण का ही परिणाम है । द्रोणाचार्य ने प्रश्न किया-"दुर्योधन ! सामने क्या दिखाई दे रहा है ?" "आकाश, वृक्ष, पत्तियाँ और चिड़िया जिस पर निशाना लगाना है ।" द्रोणाचार्य ने कहा-"तुम्हारा निशाना सही न लगेगा, बैठ जाओ ।" एक-एक करके सारे शिष्य असफल होते गये । अब अर्जुन का नम्बर आया । आचार्य ने वही प्रश्न दुहराया । अर्जुन ने कहा-"गुरुदेव ! मुझे पक्षी की आँख के अतिरिक्त और कुछ दिखाई नहीं देता ।" 'बाण चलाओ'-आचार्य ने आदेश दिया । तीर सही ठिकाने पर जा लगा । द्रोणाचार्य ने शिष्यों को बताया, जिसे लक्ष्य के अतिरिक्त कुछ दिखाई न दे उसी की साधना सफल होती है ।

प्रतिभाएँ परमात्मा की देन होती है-ऐसा माना जाता है । इसी कारण हजारों में एक वैज्ञानिक, दार्शनिक अथवा विषय विशेष का निष्णात प्रकाण्ड पण्डित बन जाता है । वस्तुतः परमपिता की यह कृपा बरसती सब पर एक साथ है, लाभ वे ही उठाते हैं जो अपने विचारों को रचनात्मक चिंतन एवं कर्तृत्व में नियोजित कर लेते हैं ।

महर्षि पतंजलि ने विचारों की एकाग्रता का महत्व समझा, उसे जीवन में उतारा एवं योगदर्शन के रूप में एक महान ग्रन्थ मानवता को दे सके ।

ऋषि जैमिनि सात दिन कक्ष में बन्द रहे

प्रख्यात आर्ष दार्शनिक जैमिनि जिन्होंने 'मीमांसा' की रचना की, के साथ एक घटना ऐसी जुड़ी है जो विचारों की शक्ति भी बताती है व इस ग्रन्थ-रचना की पृष्ठभूमि थी । जब वे मीमांसा दर्शन के सूत्रों को क्रमबद्ध कर रहे थे, अपनी धर्मपत्नी को उन्होंने कह दिया 'जब तक वे न कहें, कक्ष का द्वार न खोला जाय । चाहे रात्रि का आगमन हो जाय एवं अगले दिन का अरुणोदय, कोई उनके कार्य में व्यवधान न डाले ।' बिना आहार लिए वे उसी कक्ष में ७ दिन तक बन्द रहे । बाहर निकले तो चेहरे पर अभूतपूर्व तेज था एवं सफलता की मुस्कान थी । वे महत्वपूर्ण सूत्रों को क्रमबद्ध करके ग्रन्थ की रचना पूरी कर चुके थे । 'मीमांसा दर्शन' नामक यह ग्रन्थ अध्यात्म के मूल सिद्धांतों का आधार बना ।

विचार शक्ति के चमत्कार

विचार अपने आप में एक चिकित्सा है । शुभ कामना, सत्परामर्श रूपी विचारों का बीजारोपण यही प्रयोजन सिद्ध करते हैं । विचार संप्रेषण, विचारों से वातावरण का निर्माण, विचार विभीषिका इसी सूक्ष्म विचार शक्ति के स्थूल परिणाम हैं । महर्षि अरविंद व रमण ने मौन साधना की व अपनी विचार शक्ति को सूक्ष्म स्तर पर क्रियान्वित किया जिसका परिणाम था कि वातावरण में संव्याप्त विक्षोभ मिटाया जा सका तथा स्वतंत्रता आन्दोलन की लहर फैली । सारी क्रांतियाँ विचारों के स्तर से ही आरम्भ हुई हैं । साम्यवाद-प्रजातन्त्र विचार संयमजन्य सामर्थ्य की देन हैं । विचारों की आँधी जब आती है तो प्रचण्ड तूफान की तरह सबको अपनी लपेट में ले लेती है । बुद्ध और गाँधी के समय भी इसी प्रकार आँधी आयी जिसने सूक्ष्म स्तर पर जन-जन को प्रभावित किया व परिवर्तन ला दिया ।

अनगढ़ विचार बनाम विक्षिप्तता

अस्त-व्यस्त विचार-शक्ति व्यक्ति को जल्दबाज बनाते हैं व ऐसे व्यक्ति दूरगामी निर्णय न लेकर ऐसे कदम उठा सकते हैं जिन्हें प्रकारान्तर से विक्षिप्तता ही कहा जा सकता है ।

बिना सोचे नेवले को मार डाला

देवशर्मा के घर पुत्र ने जन्म लिया । उसी दिन एक नेवली ने नेवले को भी जन्म दिया । दयावश ब्राह्मणी ने उस बच्चे को पाल लिया । दोनों बच्चों में बड़ा प्रेम था । एक दिन ब्राह्मणी पानी भरने चली गई । बच्चा सो रहा था । नेवला भी पास ही बैठा था । दैवयोग से उधर एक सर्प निकला और बच्चे को काटने लपका । नेवले ने यह देखा तो साँप के टुकड़े-टुकड़े कर डाले । उसके मुँह में खून लग

गया । वह इसी अवस्था में मालकिन को देखने कुँए की ओर दौड़ा । द्वार पर ही ब्राह्मणी मिल गई । नेवले के मुँह में खून लगा देखकर उसने सोचा यह बच्चे को काटकर आया है । यह विचार आते ही उसने भरा हुआ घड़ा नेवले के ऊपर दे मारा, नेवला मर गया । घर जाकर ब्राह्मणी ने सारी बात समझी तो उसे बड़ा पश्चात्ताप हुआ । इसलिए बिना विचारे कोई काम नहीं करना चाहिए ।

संयम मन से भी करें

विचारों का संयम न हो तो वाणी, इन्द्रिय, धन आदि का अपव्यय न करते हुए भी व्यक्ति कुछ पाता नहीं, सतत खोता ही है । एक ग्रामीण ने संत ज्ञानेश्वर से पूछा-"संयमित जीवन बिताकर भी मैं रोगी हूँ, महात्मन ! ऐसा क्यों ?" दृष्टा संत बोले-"पर मन में विचार तो निकृष्ट हैं । भले ही तुम बाहर से संयम बरतते रहो-मन में कलुष भरा हो, विचार गन्दे हों तो वह अपव्यय रोगी बनायेगा ही ।"

क्षीवानिव शुनो नैव विचारान्मनुजः क्वचित् ।
अचिन्त्यचिंतने व्यर्थं दिशाहीनान्नियोजयेत् ॥ ४६ ॥
तान् सदैवोपयोगिन्या दिशया धारयाऽपि च ।
नियोजयेद् विचारैश्चामूलैर्योद्धुमनैतिकैः ॥ ४७ ॥
सद्विचारचमूः काचिद् भवेद् याऽचिन्त्यचिन्तनैः ।
विचारैर्युद्धयमानेव तांस्तु विद्रावयेद् द्रुतम् ॥ ४८ ॥

टीका-विचारों को आवारा कुत्तों की तरह अचिन्त्य-चिंतन में भटकने न दिया जाय । उन्हें हर समय उपयोगी दिशा-धारा के साथ नियोजित करके रखा जाय । अनगढ़-अनैतिक विचारों से जूझने के लिए सद्विचारों की एक सेना बनाकर रखी जाय, जो अचिन्त्य-चिंतन उठते ही जूझ पड़ें और उन्हें निरस्त करके भगा दें ॥ ४६-४८ ॥

व्याख्या-विचार संयम का सबसे अच्छा तरीका है, उन्हें बिखराव से रोककर उत्कृष्ट उद्देश्य के साथ जोड़ दिया जाय । इसके लिए अपने अन्दर भी एक विरोधी विचारों की सेना उसी प्रकार खड़ी करनी होगी जैसी कि विजातीय द्रव्यों के शरीर में प्रविष्ट होने पर रक्त के कण खड़ी कर देते हैं । निकृष्ट विचारों व उत्कृष्ट चिंतन की परस्पर लड़ाई ही अन्तर्जगत का देवासुर संग्राम है । विचारों की विचारों से काट एक बहुत बड़ा पुरुषार्थ है । इसलिए अनिवार्य है कि कुविचारों को सद्विचारों से काटने का महाभारत अहर्निश जारी रखा जाय । विचारों के लिए उपयोगी मर्यादा एवं दिशाधारा निर्धारित की जाय जिनमें अभीष्ट प्रयोजन अथवा मनोरंजन के लिए परिभ्रमण करते रहने की छूट रहे । चिड़ियाघरों में जानवरों का बाड़ा होता है । उन्हें घूमने-फिरने की छूट तो रहती है, पर उस बाड़े से बाहर नहीं जाने दिया जाता । ठीक यही नीति विचार वैभव के बारे में भी बरती जाय । उसे जहाँ-तहाँ बिखरने न दिया जाय ।

कल्पवृक्ष के नीचे उलटे विचार

विचार यदि अस्त-व्यस्त हों तो उसके क्या परिणाम होते हैं, इसे समझाते हुए संत एकनाथ ने एक कथा सुनाई-

एक मनुष्य किसी गाँव को जा रहा था । धूप-प्यास का मारा वह एक पेड़ के नीचे विश्राम करने को लेट गया । पेड़ की ठण्डी छाया में उसका मन बड़ा प्रसन्न हुआ । वह कल्पना करने लगा 'काश ! यहाँ पीने के लिए पानी होता ।' इतने में ही उसने देखा कि एक ठण्डा पानी का झरना फूट पड़ा । उसने पानी पिया, प्यास बुझाई । फिर उसने सोचा कुछ खाने को होता तो कैसा रहता । इतने में ही एक स्वादिष्ट पदार्थों से भरा हुआ थाल आ गया । उसने भोजन करके सोने के लिए शैय्या की कल्पना की तो एक पलंग वस्त्र बिछा हुआ दिखाई दिया । इन सब घटनाक्रमों से उसे भय हुआ कि कहीं यहाँ कोई मायावी राक्षस तो नहीं है । इतने में ही एक राक्षस सामने आ खड़ा हुआ । 'यह मुझे खा न जाय' इस विचार के साथ ही वह राक्षस उस यात्री को खा गया । वस्तुतः वह वृक्ष कल्पवृक्ष था, जो मन की इच्छा के अनुसार फल देता था । मनुष्य का चिंतन एवं मनोबल एक प्रकार से कल्पवृक्ष ही है । उसका सदुपयोग करने वाला जीवन लक्ष्य की प्राप्ति का अभीष्ट उद्देश्य पूर्ण कर सकता है ।

महर्षि नृत्योत्सव में विचारों में यदि विकृति न हो तो बहिरंग हमेशा पवित्र रहेगा, चाहे आस-पास का वातावरण कैसा भी हो । सम्राट् पुष्यमित्र का अश्वमेध सानन्द सम्पन्न हुआ और दूसरी रात को अतिथियों की विदाई के उपलक्ष्य में नृत्योत्सव रखा गया । यज्ञ के ब्रह्मा महर्षि पतंजलि उस उत्सव में सम्मिलित हुए । महर्षि के शिष्य चैत्र को उस आयोजन में महर्षि की उपस्थिति अखरी । उस समय तो उसने कुछ न कहा पर एक दिन जब महर्षि योग दर्शन पढ़ा रहे थे तो चैत्र ने उपालम्भपूर्वक पूछा-"गुरुवर ! क्या नृत्य-गीत के रस-रंग चित्तवृत्तियों के निरोध में सहायक होते हैं ?"

महर्षि ने शिष्य का अभिप्राय समझा । उन्होंने कहा-'सौम्य ! आत्मा का स्वरूप रसमय है । रस में उसे आनन्द मिलता है और तृप्ति भी । वह रस विकृत न होने पावे और अपने शुद्ध स्वरूप में बना रहे, इसी सावधानी का नाम 'संयम' है । विकार की आशंका से रस का परित्याग कर देना उचित नहीं । क्या कोई किसान पशुओं द्वारा खेत चर लिए जाने के भय से कृषि करना छोड़ देता है ? यह तो संयम नहीं पलायन रहा । रस रहित जीवन बनाकर किया गया संयम प्रयत्न ऐसा ही है जैसे जल को तरलता और अग्नि को ऊष्मा से वंचित करना । सो हे भद्र ! भ्रम मत करो ।' रस हेय नहीं, हेय और त्याज्य तो उसकी विकृति है ।

परिश्रममनोयोगस्यास्ति वित्तं फलं ध्रुवम् ।
प्रत्यक्षं, नीतियुक्तं तु वित्तमेतदुपार्जयेत् ॥ ४९ ॥
देशवासिजनानां च स्तरं हि प्रति पूरुषम् ।
गृह्णन् स्वकीयनिर्वाहः स्वीकर्त्तव्यः सदैव च ॥ ५० ॥
मितव्ययित्वमागृह्णन् योग्यतामत्र वर्धयन् ।
सदाशयत्वमार्गेण भरितव्यास्तु दुर्बलाः ॥ ५१ ॥

टीका-परिश्रम एवं मनोयोग का प्रत्यक्ष फल धन है । नीतिपूर्वक कमाया और औसत देशवासी के स्तर का निर्वाह अपनाते हुए बचत की योग्यता को बढ़ाने, सदाशयता को अपनाने एवं असमर्थों को सहायता करने में लगाना चाहिए ॥ ४९-५१ ॥

व्याख्या-भौतिक हो या आत्मिक प्रगति, दोनों ही क्षेत्र के पथिक को अपव्यय की तनिक भी छूट नहीं है । प्रश्न यह नहीं कि पैसा अपना है या पराया, मेहनत से कमाया या मुफ्त में मिला है, उसे हर हालत में जीवनोपयोगी, समाजपयोगी सामर्थ्य मानना चाहिए और एक-एक पाई का उपयोग मात्र सत्प्रयोजनों हेतु ही होना चाहिए ।

श्रम, समय एवं मनोयोग-ये तीन सूक्ष्म सम्पदाएँ भगवत् प्रदत्त हैं, इन्हीं का प्रत्यक्ष-स्थूल फल है । तथ्यतः धन को काल देवता एवं श्रम देवता का सम्मिलित अनुदान मानना चाहिए । जैसी दूरदर्शिता समय के अपव्यय के लिए बरतने को कहा जाता है, वैसी ही धन की बर्बादी पर भी लागू हो । बचाया धन सदैव परमार्थ में लगे ।

पिसनहारी का कुआँ मथुरा के समीप एक छोटे गाँव की बाल विधवा ने सारे दिन चक्की चलाकर दो आना रोज कमाने और गुजारा करने का नियम बनाया था । वह जीवन भर निभा । उन दिनों के दो आनों की कीमत आज कई गुना मानी जा सकती है । दो पैसा रोज उसने इसी दो आना में से नियमित रूप से परमार्थ के बचाये और वृद्धावस्था तक एक हजार की राशि से मथुरा-देहली मार्ग पर एक पक्का कुँआ बना दिया । मधुर, शीतल, आरोग्यवर्द्धक जल वाला यह कुआँ 'पिसनहारी का कुआँ' नाम से प्रख्यात है । जो इसका इतिहास सुनता है, शीतल जल पीता है, उसकी अन्तरात्मा अनायास ही उस स्वर्गस्थ उदार देवात्मा की स्मृति में शत-शत नमन से संयुक्त भावभरी श्रद्धांजलि पुलकित मन से चढ़ाती चली जाती है । यदि भावना हो, अन्तः से उदारमना वृत्ति प्रकट हो सके तो परमार्थ के लिए क्या कुछ नहीं किया जा सकता ।

भिखारी से उद्यमी, दानी फिर लोकसेवी स्मार्त देश में 'निर्धन-बखरी' नाम का एक ऐसा स्थान था जहाँ प्रतिदिन जो भी व्यक्ति पहुँचता उसे पेट भर भोजन मिलता । इस स्थान पर कभी एक निर्धन भिक्षु रहा करता

था । एक दिन एक स्त्री की प्रताड़ना से दुःखी होकर उसने भिक्षा वृत्ति त्याग दी और श्रम करने लगा । कुछ ही दिन में परिश्रम से काफी सम्पत्ति हो गई । वह व्यापार करने लगा । अथाह धन एकत्र हो गया । एक दिन वही स्त्री भीख माँगती उसके पास पहुँची जिसने उसे प्रताड़ित किया था । भिक्षु का मन भर आया । उसने अपनी सारी सम्पत्ति क्षुधार्तों के लिए दान कर दी और लोकसेवी हो गया ।

पति की सम्पत्ति का सुनियोजन

असमर्थों की सहायतार्थ नियोजित धन मेघों के रूप में दाता के ऊपर बरस कर उसे भावनाशीलों की भावांजलियों से कृतार्थ कर देता है ।

गुजरात के एक गाँव की सत्य घटना है । तीस वर्ष की आयु में ही पति परलोक वासी हो गये । पीछे छोड़ गये तीस बीघा जमीन और हल-बैल । पत्नी ने सोचा यह पति की सम्पदा है । इस पर मेरा क्या अधिकार । मुझे भगवान ने दो हाथ इसीलिए दिये हैं, उन्हीं की कमाई खाऊँ । फिर पति की सम्पत्ति का क्या उपयोग हो ?

उसने देखा गाँव में पानी की बड़ी कमी है । स्त्रियों को एक मील दूर के कुएँ से पानी लाना पड़ता है । पशुओं को पानी पिलाने की बड़ी दिक्कत पड़ती है । सो उसने पति की जमीन, हल, बैल सब बेचकर गाँव के एक समझदार सज्जन की देख-रेख में एक कुआँ खुदवा दिया । पशुओं के पानी पीने के लिए एक पक्की हौदी भी बनवा दी ।

भिन्न कार्यों के भिन्न दीपक

नीतिपूर्वक कमाना व उस धन को अपना नहीं समाज का मानकर औसत स्तर का जीवन जीना ही महामानवों की विशेषता रही है । मनीषी जीलानी के जीवन का एक प्रसंग है । वे रात्रि के पहले प्रहर में राज्य के आदेशानुसार एक पुस्तक लिखा करते थे और चौथे प्रहर को अपनी पूजा आराधना में लगाते थे । दोनों काम वे रात में ही करते थे । दिन दूसरे कामों में बीत जाता था । उनके पास दो दीपक थे । जब पुस्तक लिखते तो एक दीपक जलाते और जब पूजा का समय आता तो दूसरे को जलाया करते थे ।

एक मित्र ने कारण पूछा तो उनने बताया कि 'पुस्तक राज्य के लिए लिखी जाती है, इसलिए उसमें तेल राज्य का जलता है और पूजा मेरी व्यक्तिगत है इसलिए इसमें निजी तेल जलाता हूँ ।' सच्चे मन और धर्म से उपार्जित साधनों से सम्पन्न किए गये सत्कर्म ही फलित होते हैं ।

अपव्ययेन चैवाथानावश्यकसुसंग्रहैः ।
नैकधौत्पद्यते भूयो दुष्प्रवृत्तिस्ततः क्रमात् ॥ ५२ ॥
अपव्ययेन मन्ये ते दुष्प्रवृत्तीरनेकधा ।
क्रीणन्ति चात्मनोऽन्येषामहितं कुर्वते भृशम् ॥ ५३ ॥

टीका-अपव्यय एवं अनावश्यक संग्रह से अनेक प्रकार की दुष्प्रवृत्तियाँ पनपती हैं । अपव्यय करने वाले मानो बदले में दुष्प्रवृत्तियाँ खरीदते हैं और उनसे अपना तथा दूसरों का असीम अहित करते हैं ॥ ५२-५३ ॥

व्याख्या-बुद्धिमानी की सही परख यही है कि जो भी कमाया जाय, उसका अनावश्यक संचय अथवा अपव्यय न हो । जो उपार्जन को सदाशयता में नहीं नियोजित करता वह घर में दुष्प्रवृत्तियाँ आमंत्रित करता है । लक्ष्मी उसी घर में बसती है, फलती है जहाँ उसका सदुपयोग हो । आडम्बर युक्त प्रदर्शन, फैशन परस्ती, विवाहों में अनावश्यक खर्च, जुआ जैसे दुर्व्यसन ऐसे ही घरों में पनपते हैं, जहाँ उपार्जन के उपयोग पर ध्यान नहीं दिया जाता, उपभोग पर नियंत्रण नहीं होता । भगवान की लानत किसी को बदले में लेनी हो तो धन को स्वयं अपने ऊपर अनाप-शनाप खर्च कर अथवा दूसरों पर अनावश्यक रूप से लुटाकर सहज ही आमंत्रित कर सकता है ।

ऐसे उदाहरण आज के भौतिकता प्रधान समाज में चारों ओर देखने को मिलते हैं । परिवारों में कलह तथा सामाजिक अपराधों की वृद्धि का एक प्रमुख कारण अपव्यय की प्रवृत्ति भी है ।

समुद्र संचय नहीं करता, मेघ बनकर बरस जाता है तो बदले में नदियाँ दूना जल लेकर लौटती हैं । यदि वह भी कृपण हो संचय करने लगता तो नदियाँ सूख जातीं, अकाल छा जाता और यदि अत्यधिक उदार हो घनघोर बरसने लगता तो अतिवृष्टि की विभीषिका आ जाती । अतः समन्वित नीति ही ठीक है ।

जहाँ सुमति तहाँ सम्पत्ति

एक सेठ बहुत धनी था । उसके कई लड़के भी थे । परिवार बढ़ा पर साथ ही सबमें मनोमालिन्य, द्वेष एवं कलह रहने लगा । एक रात को लक्ष्मीजी ने सपना दिया कि मैं अब तुम्हारे घर से जा रही हूँ । पर चाहो तो चलते समय का एक वरदान माँग लो । सेठ ने कहा-'भगवती आप प्रसन्न हैं तो मेरे घर का कलह दूर कर दें, फिर आप भले ही चली जाँय ।'

लक्ष्मीजी ने कहा-'मेरे जाने का कारण ही गृह कलह था । जिन घरों में परस्पर द्वेष रहता है, मैं वहाँ नहीं रहती । अब जब कि तुमने कलह दूर करने का वरदान माँग लिया और सब लोग शांतिपूर्वक रहोगे तब तो मुझे भी यहीं ठहरना पड़ेगा । सुमति वाले घरों को छोड़कर मैं कभी बाहर नहीं जाती ।'

दो मित्र की गति-परिणति

दो मित्र एक साथ खेले, बड़े हुए । पढ़ाई में भी दोनों आगे रहते थे । एक धनी घर का था और उसे खर्च की खुली छूट थी । दूसरा निर्धन पर संस्कारवान घर से आया था व सदैव सीमित खर्च करता । धनी मित्र जब तक साथ रहा उसे अपनी फिजूलखर्ची में साथ रहने को आमंत्रित करता रहा । पर उसने उसकी यही बात न मानी शेष बातों पर सदैव परामर्श लेता भी रहा और उसे सुझाव देता भी कि अक्षय सम्पदा होते हुए भी तुम्हें खर्च अनावश्यक नहीं करना चाहिए ।

दोनों कालान्तर में अलग हुए । निर्धन मित्र ने अध्यापक की नौकरी स्वीकार कर ली व धनी मित्र ने व्यापार में धन लगाकर अपना कारोबार अलग बना लिया । १० वर्ष बाद दोनों की सहसा मुलाकात एक औषधालय में हुई । धनी मित्र अपना धन तो चौपट कर ही चुका था, अन्य दुव्यर्सनों के कारण जिगर खराब होने से औषधालय में चिकित्सार्थ भर्ती था । दूसरी ओर उसका मित्र अब एक विद्यालय का प्रधानाचार्य था । पति-पत्नी व एक बालक सीमित खर्च में निर्वाह करते थे । प्रसन्न उल्लास युक्त जीवन जीते थे । दोनों ने एक दूसरे की कथा-गाथा सुनी । धनी मित्र की आँखों से आँसू लुढ़क पड़े-"मित्र ! मैंने तुम्हारा कहा माना होता तो आज मेरी यह स्थिति न होती । अनावश्यक खर्च की मेरी वृत्ति ने आज मुझे यहाँ तक पहुँचा दिया ।" दूसरे ने सहानुभूमि दर्शायी, यथा सम्भव आर्थिक सहयोग देकर उसे नये सिरे से जीवन जीने योग्य बना दिया ।

धनार्जने यथा बुद्धेरपेक्षा व्ययकर्मणि ।
ततोऽधिकैव सापेक्ष्या तत्रौचित्यस्य निश्चये ॥५४॥

टीका-धन कमाने में जितनी बुद्धिमत्ता की आवश्यकता पड़ती है, उससे अनेक गुनी व्यय के औचित्य का निर्धारण करते समय लगनी चाहिए ॥५४॥

व्याख्या-सही तरीके से कमाना व सही कामों में औचित्य-अनौचित्य का ध्यान रखकर खर्च करना ही लक्ष्मी का सम्मान है । इसलिए अर्थ संतुलन के मितव्ययिता पक्ष को प्रधानता दी जाती है । ध्यान यही रखा जाय कि जो भी बचाया जाय उसको उचित प्रयोजनों में नियोजित कर दें ।

रत्नों से श्रेष्ठ-चक्की

एक राजा ने महात्मा को अपने हीरे-मोतियों से भरा खजाना दिखाया । महात्मा ने पूछा-'इन पत्थरों से आपको कितनी आय होती है ?' राजा ने कहा-'आय नहीं होती बल्कि इनकी सुरक्षा पर व्यय होता है ?' महात्मा राजा को एक किसान की झोंपड़ी में ले गया । वहाँ एक स्त्री चक्की से अनाज पीस रही थी । महात्मा ने उसकीओर संकेत कर कहा-"पत्थर तो चक्की भी है और तुम्हारे हीरे मोती भी । परन्तु इसका उपयोग होता है और यह नित्य पूरे परिवार का पोषण करने योग्य राशि दे देती है । तुम्हारे हीरे-मोती तो उपयोग हीन हैं । उन्हें यदि परमार्थ में खर्च करोगे तो सुरक्षा-व्यय तो बचा ही लोगे, बदले में जन श्रद्धा, दैवी अनुदान अजस्र मात्रा में पाओगे ।"

अशोक द्वारा सूबेदारों को इनाम

सम्राट् अशोक ने अपने जन्म-दिवस पर राज्य के सब सूबेदारों को बुलाकर कहा कि-'मैं इस वर्ष सबसे अच्छे काम करने वाले सूबेदार को आज इनाम दूँगा । सब लोग अपने सूबे का हाल सुनाते जायें ।'

उत्तरी प्रदेश के सूबेदार ने कहा-'सम्राट् ! मैंने इस साल अपने सूबे की आमदनी तिगुनी कर दी है ।' दक्षिण के सूबेदार ने आगे आकर कहा-'राज्य के खजाने में प्रतिवर्ष जितना सोना भेजा जाता था, इस साल मैंने उससे दूना सोना भेजा है ।' पूरब के सूबेदार ने कहा-'महाराज ! पूर्व की बदमाश प्रजा को मैंने पीस डाला है ।

अब वह कभी मेरे सामने आँख नहीं उठा सकती ।' पश्चिम का सूबेदार बोला-'मैंने प्रजा से लिया जाने वाला कर बढ़ा दिया है और राज्य के नौकरों का खर्च कम करके राजकीय आय में काफी उन्नति की है, खजांची यह बात जानता है ।'

अन्त में मध्य प्रान्त के सूबेदार ने कहा-"महाराज ! क्षमा कीजिएगा । मैं इस वर्ष राज्य की आमदनी में कुछ भी वृद्धि नहीं कर पाया हूँ, बल्कि राज्य के खजाने में हर साल की अपेक्षा कम रुपये भेजे हैं क्योंकि मैंने अपने प्रदेश में आपकी प्रजा को शिक्षित करने के लिए नये-नये स्कूल खोले हैं । किसानों की सुविधाओं के लिए बहुत से कुएँ खुदवाये हैं । सार्वजनिक धर्मशाला तथा दवाखाने बनवाने में भी बहुत धन खर्च हो गया है ।" मध्य प्रान्त के सूबेदार की अपनी प्रजा के प्रति ऐसी सच्ची लगन देखकर सम्राट् ने उसी को इनाम दिया ।

शेष सबको यही कहा-'आप सब यही परम्परा अपनाते तो सारा राज्य ही सुखी-समुन्नत हो उठता ।'

तीन प्रकार के धनिक

एक बार एक भक्त ने नानक से पूछा-'आप कहते हैं कि सब पैसे वाले एक से नहीं होते । इसका क्या तात्पर्य है ।' नानक बोले-'उत्तम लोग वे हैं जो उपार्जन को सत्प्रयोजनों के निमित्त खर्च कर देते हैं । मध्यम श्रेणी के व्यक्ति वे हैं जो कमाते हैं, जमा करते हैं पर सदुपयोग करना भी जानते हैं । तीसरी श्रेणी उनकी है जो कमाते नहीं, कहीं से पा जाते हैं और उड़ा जाते हैं । ऐसे लोग संसार में पतन का कारण बनते हैं ।'

उपेक्षा नार्जने कार्या न चानीतिर्व्यये तथा ।
सामान्यता-साधुता-सत्परिणामान् विचिन्तयेत् ॥ ५५ ॥
अन्यथा घातका सिद्धयत्यलं सम्पन्नता तु सा ।
दारिद्र्यापेक्षया नूनं समाजस्तेन दूष्यते ॥ ५६ ॥

टीका-कमाने में न उपेक्षा की जाय, न अनीति बरती जाय । खर्च करने में सादगी, सज्जनता एवं सत्परिणामों की जांच पड़ताल रखी जाय । अन्यथा सम्पन्नता दरिद्रता से भी अधिक घातक सिद्ध होती है और इससे समाज में दूषित परम्परायें पनपती हैं ॥ ५५-५६ ॥

व्याख्या-यह सोचना कि हम भगवान के पुत्र हैं-कहीं न कहीं से वह हमारी व्यवस्था करेगा ही, अतः कमाना जरूरी नहीं, गलत दृष्टिकोण है । इसी प्रकार अधिक के लालच में नीति-अनीति का ध्यान न रख चाहे जैसे उपार्जन-उपभोग समाज के लिए भी दुष्परिणाम उत्पन्न करने वाला होता है ।

धन को लक्ष्मी भी कहते हैं, माया भी । सत्प्रवृत्ति में लगे तो ही लक्ष्मी नाम सार्थक है । अपव्यय किया जाय-अनीति के कार्यों में खर्च हो तो यह माया है । माया का नाश भी सदैव ऐसे ही होता है ।

धन के लोभ में तीनों चोर मरे

तीन चोरों को एक जगह चोरी करने पर काफी धन मिला । जंगल में जाकर उसे बाँटने का तय हुआ । लेकिन तीनों ही कई दिनों के भूखे-प्यासे थे, इसलिए बँटवारा करने से पूर्व भोजन की बात तय हुई । एक व्यक्ति पास के नगर से खाद्य-पदार्थ लेने गया, दूसरा पास के सरोवर से जल । एक धन की रखवाली के लिए ठहर गया । तीनों के मन में लोभ की दुर्भावना बढ़ी, प्रत्येक सोचने लगा-"क्यों न दो का सफाया करके मैं स्वयं ही धन का मालिक बन जाऊँ ?" अब क्या था-एक ने भोजन में विष मिला दिया, दूसरे ने पानी में और तीसरे ने शस्त्र का सहारा लिया । उसने एक-एक करके भोजन और पानी लाने वाले साथी को आते ही तलवार से मौत के घाट उतार दिया । वह स्वयं भोजन करने लगा और कुछ ही समय में विष के प्रभाव से मर गया । तीनों मर गये, धन पड़ा ही रह गया ।

अनीति का खाया भी गलत

अनीति करने वाले ही नहीं, अनीति से उपार्जित धन को प्रकारान्तर से लेने अथवा आहारादि के रूप में ग्रहण करने वाले भी कष्ट पाते हैं । एक बार एक शिष्य की अशांति बढ़ी और बढ़ती ही चली गई । जब चित्तवृत्तियां अनियंत्रित हो उठीं तो वह अपने गुरुदेव के चरणों में जा गिरा । प्रार्थना करते हुए उसने निवेदन किया-'भगवन् ! आज मन बड़ा अस्थिर है । लगता है इतने दिनों की साधना और तप सब आज ही भंग हो जायेगा ।' आचार्य प्रवर कुछ देर तक निश्चल बैठे विचार करते रहे फिर बोले-'मन का सीधा सम्बन्ध अन्न से है, कहीं तुमने कुछ चुराकर तो नहीं खा लिया ।'

'नहीं, नहीं देव ! ऐसा तो नहीं है किन्तु आज मैं एक नगर भोज में अवश्य सम्मिलित हुआ था । कहते हैं जिस सेठ ने यह भोज दिया वह बहुत धर्मात्मा पुरुष है । नगर में उसका अन्न क्षेत्र चलता है, धर्म-कर्म में अत्यन्त रुचि

है, वह देव पूजा, अतिथि पूजा आदि शुभ कर्मों में संलग्न रहता है, उसके द्वार से याचक निराश नहीं लौटता । आज के भोज में अनेक लोग सम्मिलित थे । सेठ ने सभी का बड़ा आदर-सत्कार कर उनको भोज के साथ दान-दक्षिणा भी दी और सबका उचित सम्मान भी किया ।'

आचार्य हँसे और बोले, 'ठीक है अब समझ में आया कि जो तुमने खाया वह बिना परिश्रम का ही नहीं था वरन् अनीति का भी था । जिस सेठ ने यह भोज दिया है, उसने वृद्धावस्था में भी एक गरीब घर की लड़की से विवाह किया और वह भी धन देकर । यह भोज उसने उस पाप से बचने के लिए ही किया है । अब जब तुमने खाया ही पाप का है तो उसका फल तो भुगतना ही पड़ेगा ।' इसीलिए कहते हैं आत्म-कल्याण के इच्छुक को सदैव अपने परिश्रम और ईमानदारी से कमाया हुआ अन्न ही ग्रहण करना चाहिए ।

नीति-अनीति की कमाई

महामानव, भगवान के दूत भी समय-समय पर जन समुदाय को ईमानदारी और बेईमानी की कमाई का अन्तर समझा जाते हैं ।

गुरु नानक के भोजन के लिए एक धनी के यहाँ से षट्रस व्यंजनों का थाल आया । एक गरीब ने भी सूखी रोटी भेजी । गुरु अमीर का भोजन न खाकर गरीब का खाने लगे । शिष्यों ने इसका कारण पूछा तो उन्होंने दोनों थालों की रोटियों को निचोड़कर दिखाया । एक में से दूध जैसी और एक में से खून जैसी धार निकली । गुरुदेव ने कहा-'ईमानदारी और परिश्रम से कमाई गई रोटी अमृततुल्य है और जिसे अनीतिपूर्वक कमाया गया हो, वह विष तुल्य है ।'

अनर्थ का विरोध

अनीतिजन्य सम्पन्नता समाज को दूषित करती है अतः उससे बचना चाहिए । ऐसी परम्पराएं और न आरम्भ हों, इसके लिए सत्साहस अपनाना चाहिए । एक बार गुरु नानक देव एक गाँव में पधारे । उस गाँव का एक साठ वर्षीय धनिक एक सोलह वर्षीय लड़की से विवाह करने की तैयारी कर रहा था जबकि सात स्त्रियाँ उसके पहले से ही थीं । धन जो अपने जीवन निर्वाह और जरूरतमन्दों के लिए सहायता करने का साधन है, दुराचारी व्यक्ति उसे अपनी तथा दूसरों की हानि करने का साधन बना लेते हैं । नानक को जब इस बात का पता चला तो वे दुःखी हुए और उन्होंने उस धनिक को बुलाया । धनिक प्रणाम करके पास ही बैठ गया । तब सब लोगों के बीच नानक ने उससे कहा-"क्या इस गाँव के सभी लोग मर गये जो अपनी अर्थी उठाने के लिए एक लड़की को खरीद रहा है ।" यह बात सुनकर धनिक का सिर नीचे हो गया । सभी गाँव वाले यह बात सुनकर धनिक के विरोध में खड़े हो गये और एक बालिका का जीवन खराब होने से बच गया ।

पराये धन को धूलि समान समझने वाले, अपने ही श्रम पर निर्भर रहने वाले, साधारण दीखने वाले भक्त भी उन लोगों से अनेक गुने श्रेष्ठ हैं जो संत-महन्त का आडम्बर बनाकर पराये परिश्रम के धन से गुलछर्रे उड़ाते हैं । वे जानते हैं कि अनीति की कमाई से अत्यन्त विनाशकारी परिणाम ही भुगतने पड़ते हैं । दुष्टता और दुर्भावनायें ऐसे ही धन से पनपती हैं ।

शृंग्यृषी उवाच-

महाभाग यथा प्रोक्तं भवता तच्चतुष्टयम् ।
असंयमस्य रूपं यत्तन्निवर्तेत चेत्तदा ॥ ५७॥
आराधना जीवनस्य देवताया समग्रताम् ।
गच्छत्यभीष्टसिद्धिः किं ततः प्राप्नोति मानवः ॥ ५८॥
अतोऽतिरिक्तं वा किंचित्कर्तव्यमवशिष्यते ।
तन्नः शुश्रूषमाणानां भवानर्हति शंसितुम् ॥ ५९॥

टीका-शृंगी ऋषि ने फिर पूछा-"हे महाभाग ! क्या आपके द्वारा बताये गये चार प्रकार के असंयम रुक जाने से जीवन देवता की आराधना समग्र हो जायेगी और उससे अभीष्ट फल मिलने लगेगा या इसके अतिरिक्त कुछ और भी करना होगा ? यह आप हम सुनने को उत्सुक व्यक्तियों को बतावें ॥ ५७-५९ ॥

पिप्पलाद उवाच-

अयं त्वपव्ययस्यास्ति निरोधः केवलं यतः ।
उपलब्धसम्पदा गर्ते पतेन्नापव्ययात्मके ॥ ६०॥
विनाशकारिणोनैव परिणामान् समुत्सृजेत् ।
उपयोगोऽर्जितस्यापि महत्वं सत्सुयोजनम् ॥ ६१॥
सामर्थ्यपरिणामैस्तांस्ततः श्रेयोविधारयकान् ।
उत्पादयति चेदस्तव्यस्तताया: सुरक्षितम् ॥ ६२॥
अनुपयुक्तताया श्च यदि तद्रक्षितं भवेत् ।
प्रयोजनेषु सत्सूपयुज्येत सृजकेषु चेत् ॥ ६३॥

टीका-महाप्राज्ञ पिप्पलाद ने कहा-"भद्र ! यह तो अपव्यय की रोकथाम भर कही गई है ताकि उपलब्ध सम्पदा अपव्यय के गर्त में गिरकर विनाशकारी परिणाम उत्पन्न न करे । महत्वपूर्ण कार्य तो इस बचत के सदुपयोग और सुनियोजन का है । सामर्थ्य तभी श्रेयस्कर परिणाम उत्पन्न करती है, जब उसे अस्त-व्यस्तता एवं अनुपयुक्तता से बचाकर सृजनात्मक सत्प्रयोजनों के लिये प्रयुक्त किया जाय ॥ ६०-६३॥

व्याख्या-संयम निषेधात्मक नहीं विधेयात्मक गुण है । इसका एक पक्ष जहाँ अनावश्यक अपव्यय को रोकना है वहाँ दूसरी ओर उसे सृजनात्मक कार्यों हेतु नियोजित करना भी है । एक पूर्वार्ध है, दूसरा उत्तरार्ध । निरोध न हो व सुनियोजन के प्रयास चलें तो व्यर्थ हैं । निरोध हो व नियोजन कहीं न हो तो वह संचय भी बेकार है ।

जिज्ञासु शृंगी ऋषि का समाधान करते हुए महर्षि पिप्पलाद कहते हैं कि संयम पर टिक न पाने का कारण है, उसका स्वरूप न समझ पाना । स्वरूप न समझ पाने से लोग उसी तरह फँस जाते हैं जैसे अँधेरी रात में मार्ग में भरे पानी को सूखी जमीन समझ कर व्यक्ति उसमें पैर फँसा देता है । स्वरूप समझना कठिन नहीं है, परन्तु उसके लिए मनुष्य पूरा प्रयास नहीं कर पाता क्योंकि उसका महत्व नहीं समझता । स्वरूप और महत्व समझने के लिए आवश्यक उद्योग न कर पाना भी असंयम की वृत्ति की ही प्रतिक्रिया है । अस्तु 'जो संयम का लाभ लेना चाहें वे उसका स्वरूप और महत्व समझें ।'

बिखराव का सुनियोजन

सूर्य की किरणें फैलती रहती हैं और ताप-गर्मी देने का सामान्य प्रयोजन पूरा करती हैं । यदि इसी शक्ति को किसी संग्राहक द्वारा एक स्थान पर एकत्र किया जाय तो ढेरों ऊर्जा प्राप्त हो सकती है । आतिशी शीशे से किरणों को एक बिन्दु पर केन्द्रित कर आग तक उत्पन्न की जा सकती है ।

वैज्ञानिक, कलाकार, पहलवान, धनी अपनी सामर्थ्य के सुनियोजन से ही अपनी क्षमता को बनाये रख पाते हैं । नदियाँ पहाड़ से निकलती हैं, मैदान में फैल जाती हैं, उसका प्रवाह रोककर बाँध-बाँधने के उपरान्त उससे विद्युत उत्पादित करते हैं व नहरें निकालते हैं । पानी की तीव्र धारा तो बाढ़ में भी बहती है, पर जब सामान्यावस्था में बह रहे जल को दिशा दे दी जाती है तो रचनात्मक प्रयोजन सधने लगते हैं ।

यूं तो हवा सतत् बहती रहती है पर जब उसे पवन चक्की के माध्यम से सुनियोजित कर लेते हैं तो कई प्रयोजन सध जाते हैं । समुद्र से ढेरों भाप निकलती है, वातावरण में फैल जाती है । पर इसी प्रकार की भाप को रोककर यंत्रों को चला लिया जाता है तो इस चमत्कार से आश्चर्यचकित हुए बिना नहीं रहा जाता । मनुष्य को प्राप्त शक्तियाँ यदि निरोध के बाद सुनियोजित कर दी जाँय तो इसी काया से अनगिनत चमत्कारी परिणाम उपलब्ध होते हैं ।

संत का त्याग, धर्मराज की दृष्टि में

एक संत अपने त्याग के बदले सद्गति चाहते थे, जब कि चित्रगुप्त के हिसाब में उन्हें केवल कुलीन कुल में जन्म देने की व्यवस्था थी । चित्रगुप्त के यहाँ समाधान न हो पाने से समस्या धर्मराज के सामने लायी गयी । धर्मराज ने विवरणों का निरीक्षण किया और बोले-'संतजी आपका यह कथन ठीक है कि आपने सांसारिक पद-प्रतिष्ठा का मोह नहीं किया और समय एवं

शक्ति उसमें नष्ट नहीं की । त्याग के इस साहस के पुण्य से आपको श्रेष्ठ कुल में सत्परिस्थितियों में जन्म मिलेगा । किन्तु आपने त्याग के द्वारा बचायी ईश्वरीय विभूतियों को किसी ईश्वरीय उद्देश्य में लगाया नहीं, उन्हें सही दिशा में गति नहीं दी इसलिए आप सद्गति के अधिकारी नहीं बने ।' संत का समाधान हो गया और अगले जीवन में त्याग के साथ शक्तियों के सुनियोजन का संकल्प लेकर विदा हुए ।

वरदराज बुद्धू से विद्वान् बने

लक्ष्य का निर्धारण ठीक हो तो असफलता भी सफलता में बदल जाती है । बिखराव से असफलता हाथ लगती है और दृढ़ संकल्प व सुनियोजन से सफलता ।

संस्कृत का उद्भट विद्वान् वरदराज कभी विद्यालय का सबसे बुद्धू लड़का था । बहुत पढ़ने पर भी उसे कुछ याद न होता । दुःखी होकर वह घर से भाग गया । रात एक सराय में बिताई । वहाँ उसने देखा एक टूटे पंखों वाला पतिंगा दीवार पर चढ़ता और गिर जाता है । बीस बार असफल रहने के बाद इक्कीसवीं बार वह दीवार पर चढ़ गया । इस दृश्य से वरदराज को एक नई हिम्मत मिली । वह घर लौटा और फिर पढ़ने में जुट गया । इस बार उसकी असफलता सफलता में बदल गई ।

गड़ा धन चोरी गया

यह बात जीवन के हर क्षेत्र पर लागू होती है । धन का उपार्जन भर किया जाय व कहीं लोक-मंगल हेतु प्रयुक्त न हो तो अन्ततः उस सेठ की तरह पश्चाताप करना पड़ता है, जिसके पास बहुत धन था, पर स्वभाव से वह था कंजूस । न स्वयं खा पी सका और न किसी को दे ही सका । घर में अपने धन को इसलिए नहीं रखना था कि कोई चोर-डाकू न चुराले । अतः गाँव के बाहर एक जंगल में गड्ढा करके अपना सारा धन गाड़ आया । दूसरे-तीसरे दिन जाता और उस स्थान को चुपचाप देख आता । उसे अपने पर बड़ा गर्व था ।

एक बार एक चोर को शक हुआ, वह कंजूस के पीछे-पीछे चुपचाप गया और छिपकर देख आया । उसे समझते देर न लगी कि इस स्थान पर अवश्य कोई मूल्यवान् वस्तु दबी है । जब कंजूस चक्कर लगाकर घर चला आया तो उस चोर ने खुदाई करके सारा धन प्राप्त कर लिया और वहाँ से रफूचक्कर हो गया ।

दूसरे दिन जब वह कंजूस फिर अपने छिपे धन को देखने गया तो उसे जमीन खुदी हुई दिखाई दी । आसपास मिट्टी का ढेर लग रहा था और बीच में एक खाली गड्ढा था । उसका सारा धन जा चुका था । इतनी बड़ी हानि वह सहन नहीं कर सका । माथा पकड़कर जोर से रोने-चिल्लाने लगा-"हाय ! मैं तो लुट गया, मेरे सारे जीवन की कमाई चोर ले गये ।"

रोना-चिल्लाना सुनकर जंगल में रहने वाले आस-पास के कई आदमी आ गये । उन्होंने पूछकर सारी स्थिति जानी । एक आदमी ने समझाते हुए कहा-'सेठ जी ! धन तो आपके काम पहले भी न आया था और न आपके जीवन में आ सकता था । हाँ उस पर आपका अधिकार अवश्य था और उसे यहाँ छिपाकर रख छोड़ा था । अब यदि यहाँ से कहीं और जगह चला गया तो आपको कौन सी हानि हो गई, क्योंकि आपके लिए तो वह बेकार ही था । ऐसी स्थिति में दुःखी होने की क्या आवश्यकता है ?'

धन का सही उपयोग बताया

एक बार पं० महामना मदनमोहन मालवीय जी के पास एक धनी सेठ आये । उनके बारे में प्रसिद्ध था कि वे अपना धन भिखारियों में बाँट सकते हैं, पुण्यार्जन की दृष्टि से चींटियों को दाना खिलाने के लिए कर्मचारियों को ढेरों की संख्या में लगा सकते हैं पर लोक-मंगल के लिए उन्होंने न कभी कुछ खर्च किया है, न करेंगे । आये तो थे वे अपनी बच्ची के विवाह हेतु सम्मिलित होने का आमंत्रण देने, परन्तु उलटे मालवीय जी से सशर्त जुड़कर चले आए । मालवीय जी उन दिनों काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का निर्माण करा रहे थे । संयोग से जिस लड़के से उनकी लड़की का विवाह था, वह उनका विद्यार्थी भी था । उन्होंने कहा, 'आप विवाह में जो राशि खर्च कर रहे हैं, मैंने सुना है वह लाखों में है । उसके बदले आप लड़के के नाम कुछ राशि जमा कर दें व उसे स्वावलम्बी बनने दें । वह मेहनती है अपना संसार खुद बना लेगा । पर जो राशि आप उस पर तथा प्रदर्शन में खर्च करेंगे उससे तो किसी का लाभ न होगा, आपकी कन्या के लिए विवाहोपरान्त कष्ट का कारण अवश्य बन सकता है । इस राशि को आप हमें 'दहेज' में दे दें ताकि उससे हिन्दू विश्वविद्यालय का बाकी काम पूरा हो सके । लड़के का गुरु होने के नाते मैं यह दक्षिणा लोक-मंगल के लिए आपसे माँग रहा हूँ ।' उनका कहना भर था कि उस कंजूस सेठ का मन बदल गया । न केवल आदर्श विवाह उन्होंने किया, कई भवन विश्वविद्यालय के बनवा

भी दिये । धन का ऐसा सुनियोजन ही श्रद्धा, जन सम्मान के रूप में फलित होता है ।

जीवनं त्वथ कार्यं च पूरकं तु परस्परम् ।
दृष्ट्वा कार्यस्तरं मेयं साफल्यं जीवनस्य हि ॥ ६४॥
श्रममात्रं न पर्याप्तं तं तु चौराश्च गर्दभाः ।
अपि कुर्वन्त्यथोच्चैस्तु सदुद्देश्यैर्हि यान्यहो ॥ ६५॥
कर्तव्यानि निबद्धानि तेषामेवानुपालनम् ।
कर्मयोग इति प्रोक्तः येन विश्वम्भरो भवेत् ॥ ६६॥

टीका-जीवन और कार्य एक दूसरे के पूरक हैं । कार्य के स्तर को देखकर ही जीवन की सफलता आँकी जाती है । मात्र श्रम पर्याप्त नहीं, वह तो गधे और चोर भी करते हैं । उच्च उद्देश्यों से जुड़े हुए कर्तव्यपालन का ही दूसरा नाम कर्मयोग है, जिससे मानव विश्वम्भर कहलाता है ॥ ६४-६६ ॥

व्याख्या-किसी भी काम की सफलता का मापदण्ड यह नहीं कि उसकी परिणति क्या हुई, वरन् यह है कि वह किस प्रकार सम्पादित हुआ और उसमें मनोयोग लगाया या नहीं । समुचित तत्परता और स्फूर्ति ही श्रम को सार्थक तथा हाथ में लिए कार्य को सफल बनाते हैं ।

श्रम की महत्ता व पत्नी का स्नेह

एक किसान था । स्वभाव से था काहिल । दिन भर में चार बार घर लौटता, बार-बार खाना माँगता । पत्नी न तो कुछ उत्साह दिखाती और न ही हर बार खाना देती । उसकी इस टाल-मटोल और उपेक्षा से किसान बड़ा दुःखी रहता था । यह बात उसने अपने मित्र को बताई । मित्र ने उसके कानों में कुछ कहा । किसान खुशी होकर चल पड़ा । उस दिन वह घर नहीं गया । सूर्यदेव सिर पर चढ़ आये तो देखा पत्नी स्वयं ही भोजन लिए खेतों पर आ उपस्थित हुई । यही नहीं उसने सत्कार भी जताया, प्यार भी । उस दिन का भोजन उसे विशेष तृप्तिदायक लगा । उसने पत्नी से पूछा-'प्रिये ! पहले तुम उपेक्षा दिखाती थी और आज स्नेह । श्रम तो मैं पहले भी करता था, आज भी, फिर तुम्हारे व्यवहार में अंतर क्यों ?' पत्नी बोली-''स्वामी ! आपने श्रम को मनोयोगपूर्वक करने की महत्ता समझ ली । हमारी समृद्धि और प्रसन्नता का मूल भी वही है । बस समझ लें-यह उसी की प्रतिक्रिया है ।''

काम नहीं, उद्देश्य की महत्ता

स्वामी विवेकानन्द अपने शिष्यों के साथ संध्याकाल में पैदल भ्रमण को निकले । निर्माणाधीन मंदिर के पास उनकी तीव्र दृष्टि तीन मजदूरों पर पड़ी । उन्होंने उत्सुकतापूर्वक पहले से पूछा-'क्यों भाई, क्या कर रहे हो ?' उसने उत्तर दिया-'गधे की तरह जुटे हुए हैं, देख नहीं रहे हैं । दिन भर काम करने पर थोड़ा बहुत मिल पाता है पर इतने केलिए ठेकेदार मानो जान निकाल लेता है ।' यही प्रश्न दूसरे से करने पर वह बोला-'मंदिर बन रहा है । हमारी तो किस्मत में यही था कि मजूरी करें सो कर रहे हैं ।' तीसरे ने भाव भरे हृदय से उत्तर दिया-'भगवान का घर बन रहा है । मुझे तो प्रसन्नता है कि मेरी पसीने की कुछ बूँदें भी इसमें लग रही हैं । जो भी मिलता है उसी में मुझे खुशी है । गुजारा भी चल जाता है और प्रभु का काम भी हुआ जा रहा है ।'

स्वामीजी ने शिष्यों से कहा-'यह अंतर है तीनों के काम करने के ढंग में । भवन तो तीनों बना रहे हैं पर एक गधे की तरह मजदूरी करते हुए, दूसरा यन्त्रवत् भाग्य के नाम पर दुहाई देता हुआ व तीसरा समर्पण भाव से काम में जुटा है । यही अंतर इनके काम की गुणवत्ता में भी देखा जा सकता है । कार्य किया क्या जा रहा है, यह महत्वपूर्ण नहीं-उसे किस उद्देश्य से, किस भावना से किया जा रहा है, यह मायने रखता है ।'

श्रम की कमाई-चोरी

माँ ने बेटे से कहा-'बेटे, तुम्हें कर्म करना चाहिए । काम न करोगे तो हम खायेंगे क्या ?' बेटा आज्ञा शिरोधार्य कर चल पड़ा । सारी रात वह गायब रहा । दूसरे दिन रुपयों की थैली और स्वर्ण आभूषणों का ढेर माँ के सामने जमा था । माँ को आश्चर्य हुआ, पूछा-'बेटे इतना धन एक रात में कहाँ से लाया ?' लड़के ने उत्तर दिया-सेंध काटकर । माँ तू कहती थी कि मनुष्य को परिश्रमी होना चाहिए ।

तुझे नहीं मालूम मुझे सेंध काटने में कितना अधिक परिश्रम करना पड़ा ।'

माँ ने एक चपत लगाया और डाँटते हुए कहा-'बेटे, परिश्रम के साथ ईमानदारी का होना भी आवश्यक है । इस धन को वापिस जिसका है उसे दे आ ।' लड़के को अपनी भूल ज्ञात हुई । धन को महाजन को लौटाते हुए क्षमा माँगी और उस दिन से कर्म योग की साधना में लग गया ।

श्रमशील व्यक्ति जीवन को मधुर सुगन्ध से भर देते हैं । यही वह विभूति है जिस कारण मनुष्य विश्वम्भर कहलाता है-अर्थात् विश्व को अपनी कर्मनिष्ठा से भरने वाला, उसे रीता न रहने देने वाला, सभी को उससे लाभ देने वाला । श्रम-निष्ठा से किया गया हो तो ही सार्थक है ।

पसीने के फूल

वर्षा ऋतु के आगमन से पूर्व महर्षि कणाद ने यह उचित समझा कि आश्रम में यज्ञ तथा नित्य के भोजन हेतु समिधा तथा सूखी लकड़ी एकत्र कर लेनी चाहिए । बरसात के दिनों में न तो आश्रमवासी ही जंगल का चक्कर लगा सकेंगे और न सूखी लकड़ी ही मिलेंगी । अतः अपने शिष्य को साथ लेकर एक दिन सुबह ही सुबह वह चल पड़े । किसी के हाथ में लकड़ी काटने की कुल्हाड़ी थी तो कोई रस्सी लिए जा रहा था ।

जंगल में पहुँचकर सबके सामूहिक प्रयत्नों से लकड़ी का ढेर लग गया । सब रस्सी में बाँध-बाँधकर गट्ठे आश्रम को ले आये । अगले दिन नित्य की भाँति सब शिष्य स्नान के लिए नदी की ओर चल पड़े । राह में वही जंगल पड़ता था, जिसमें से एक दिन पूर्व परिश्रम पूर्वक लकड़ियाँ एकत्र की थीं । सभी को ऐसा अनुभव होने लगा कि जंगल में एक मधुर सुगंधि बिखरी हुई है । महर्षि को भी आश्चर्य हुआ । वह भी शिष्यों से पूछ बैठे 'सूखे जंगल में यह मधुर गंध कैसी ?' शिष्यों ने आस पास जाकर देखा तो उन्हें पता चला कि लकड़ी काटते समय तथा गट्ठा उठाकर चलते समय जहाँ-जहाँ पसीने की बूँदें गिर गयीं थीं वहाँ मधुर सौरभ बिखेरने वाले पुष्प खिल उठे हैं ।

उदुद्देश्यसुपूर्त्यर्थं योगसाधनवत् सदा ।
कर्म कर्तव्यमत्रास्ति नहि चेत्सफलस्ततः ॥ ६७॥
सदुद्देश्य सुपूर्णं यत्तद्धि कर्तव्यपालनम् ।
कुर्वन्नरः सुसन्तोषं लभते चात्मगौरवम् ॥ ६८॥
प्रयोजनेषु साफल्यं दूषितेषु लभेत चेत् ।
तथापि सहते लोकभर्त्सनामात्मताडनम् ॥ ६९॥

टीका-कर्म को सदुद्देश्य की पूर्ति के लिए योग-साधना की तरह किया जाना चाहिए । असफल रहने पर भी सदुद्देश्यपूर्ण कर्तव्य-पालन से संतोष और गौरव मिलता है, जब कि दुष्ट प्रयोजनों में सफलता मिलने पर भी आत्म-प्रताड़ना और लोक-भर्त्सना सहनी पड़ती है ॥ ६७-६९ ॥

व्याख्या-कर्म तो सभी करते हैं पर जब वह सदुद्देश्यों से जुड़ जाता है तो योग बन जाता है । मनोयोगपूर्वक किया गया यही कर्म योगसाधना के समतुल्य है । जागरूकता, तत्परता एवं श्रेष्ठता को लक्ष्य रूप में वरण-इसी को कर्तव्य पालन कहते हैं, सफलता इसका मापदण्ड नहीं है ।

सूर्य की कर्मनिष्ठा

अंतरिक्ष ने सूर्य से पूछा-'देव ! आप सतत् ताप की ज्वाला में जलते रहते हैं, एक क्षण भी विश्राम नहीं लेते इससे आपको क्या मिलता है ?' सूर्यदेव मुस्कराये और बोले-'तात ! मुझे स्वयं जलते हुए भी दूसरों को प्रकाश, ताप और प्राण देते रहने में जो आनंद आता है उसकी तुलना किसी भी सुख से नहीं की जा सकती ।' अंतरिक्ष को अपनी भूल ज्ञात हुई तथा मालूम हुआ कि जीवन की सच्ची सफलता स्वयं कष्ट उठाकर भी दूसरों को प्रकाश-प्रेरणा प्रदान करते रहने में है ।

दीपक द्वारा प्रेरणा

दीपक का तेल चुक गया था । केवल रुई की बत्ती जलकर मन्द-मन्द प्रकाश बिखेर रही थी । उसके अंतिम समय को निकट आया देखकर एक गृहस्थ ने पूछ ही लिया-'तुम जीवन भर आलोक बिखेर कर दूसरों का पथ प्रदर्शन करते रहते हो, संसार के साथ इतनी भलाई करते रहते हो, फिर भी तुम्हारा इस प्रकार दुःखद अन्त देखकर मेरा हृदय विदीर्ण हुआ जा रहा है ।'

बुझते दीपक ने पूर्ण शक्ति के साथ अंतिम बार अपनी आभा बिखेरते हुए कहा-'भाई ! इस भौतिक जगत् में जिसका जन्म होता है उनका अन्त भी होता है । हम प्रयास करने पर भी उससे बच नहीं सकते । हाँ, इतना अवश्य कर सकते हैं कि अपने जीवन की मूल्यवान् घड़ियों को व्यर्थ ही नष्ट न होने दें ।'

सफल पर भर्त्सना के पात्र कार्य में मिली सफलता यह सिद्ध नहीं करती कि यह कर्म योग ही है । दुष्प्रयोजनों में तो चोर-डाकू भी सफल होते हैं, पर अन्ततः उन्हें दुष्परिणाम भुगतना ही पड़ता है । प्रताप के समय राजा मानसिंह, पृथ्वीराज के समय जयचन्द्र और अंग्रेजों के शासन के समय मीरजाफर व अमीचन्द्र सफल माने जा सकते हैं पर दुष्टता से जुड़े होने के कारण उन्हें जीवन भर भर्त्सना सहनी पड़ी और अन्त भी दुःखद ही रहा ।

जयचन्द का देश-द्रोह जयचन्द्र ने मुहम्मद गौरी के साथ मिलकर पृथ्वीराज का पतन कराया, लेकिन वह स्वयं भी सुरक्षित न रह सका । आक्रमणकारियों ने उसका भी राज छीन लिया और बन्दी बना लिया । काश पृथ्वीराज के साथ मिलकर जयचन्द्र आक्रमणकारियों का सामना करते तो देश को गुलामी के दिन नहीं देखने पड़ते ।

मीरजाफर द्वारा विश्वासघात सन् १७५७ की बात है, अंग्रेज धीरे-धीरे अपने पैर भारतवर्ष में जमा रहे थे । छल, बल, कौशल जैसे भी बने वे अपना विस्तार कर रहे थे । उन दिनों सिराजुद्दौला बंगाल के नवाब थे, इनका सेनापति था-मीरजाफर । मीरजाफर को अंग्रेजों ने अपनी ओर मिलाने के लिए उसे बंगाल का नवाब बनाने का प्रलोभन दिया और वह विश्वासघाती अंग्रेजों से मिल गया । अंग्रेजों ने बंगाल पर चढ़ाई की लेकिन मीरजाफर ने सेना की व्यवस्था बिगाड़ दी जिससे नवाब के सिपाही अंग्रेजों का सामना न कर सके और सिराजुद्दौला हार गया । लेकिन कुछ समय बाद मीरजाफर भी कैद करके मार दिया गया ।

सेठ अमीचन्द सेठ अमीचन्द भारत के बड़े धनपतियों में से थे । अंग्रेज उन दिनों भारत में अपनी नींव जमा रहे थे । उन्हें लड़ाई के लिए सैनिक और साज-सामान जुटाने के लिए धन की आवश्यकता पड़ी तो सेठ अमीचन्द से कर्ज के रूप में धन माँगा । देश के हित का ध्यान न रखने वाले सेठ जी ने ब्याज के लोभ में बहुत बड़ी सम्पत्ति अंग्रेजों को कर्ज में दे दी और उसके बल पर उन्होंने सैनिक तैयारियाँ करके बड़े-बड़े युद्ध लड़े और अपना शासन जमा लिया । जब अमीचन्द ने रुपया माँगा तो अंग्रेजों ने मना कर दिया जिसके गम में सेठजी मर गये ।

असफल पर श्रद्धा भाजन महारानी झाँसी व तात्या टोपे ने अंग्रेजों से लड़कर राज्य खोया एवं अंततः दुःख झेलते वीर गति को प्राप्त हुए । स्वाधीनता १०० वर्ष बाद मिली पर उन्हें असफल होते हुए भी कर्म योगी, श्रद्धास्पद माना जाता रहेगा ।

तात ! मानव आबद्धो दायित्वैर्बहुभिर्यथा ।
शारीरं स्वास्थ्यमेतत्तन्मनः सन्तुलनं तथा ॥ ७० ॥
परिवारसुसंस्कारित्वं समाजस्य तत्तथा ।
प्रतिदानं सुरक्षा च कौलीन्यस्याथ संस्कृतेः ॥ ७१ ॥
दायित्वैर्बहुभिर्बद्ध एभिर्मानव एष तु ।
निर्वाह एषां कर्त्तव्यपालनं परिकीर्तिमम् ॥ ७२ ॥
पारायण्यं तु कर्तव्यस्यास्ति धार्मिकता ध्रुवम् ।
एतत्तु धर्मवेतृणां परिभाषितमुत्तमम् ॥ ७३ ॥

टीका-हे तात ! मनुष्य अनेक उत्तरदायित्वों से बँधा है । शारीरिक-स्वास्थ्य, मानसिक-संतुलन, परिवार की सुसंस्कारिता, समाज का ऋण चुकाना, संस्कृति और शालीनता की सुरक्षा जैसे अनेक जिम्मेदारियों से मनुष्य बँधा है । इनके निर्वाह को कर्तव्य पालन कहते हैं । कर्तव्य-परायणता ही धार्मिकता है । यही धार्मिकता की धर्मवेत्ताओं द्वारा की गई उत्तम परिभाषा है ॥ ७०-७३ ॥

व्याख्या-धर्म का अर्थ है अपने सांसारिक और आध्यात्मिक दायित्वों का भली भाँति निर्वाह । धर्म 'सम्प्रदाय' का पर्यायवाची नहीं जैसा कि बहुसंख्य व्यक्तियों ने समझ रखा है । धर्म का शाब्दिक अर्थ है- 'धारण करना ।' किसे ? श्रेष्ठता को जीवन में, ताकि लौकिक जीवन में समृद्धि, सामूहिक विकास और आत्म कल्याण का मार्ग प्रशस्त हो ।

व्यर्थ का संन्यास

जो अपने कर्तव्यों से विमुख होते हैं, वे पलायनवादी कहलाते हैं । बहिरंग में भले ही उन्होंने संत महात्मा जैसा स्वरूप बना लिया हो, पर उन्हें धार्मिक नहीं कहा जा सकता है ।

एक व्यक्ति ने भरी जवानी में पारिवारिक उत्तरदायित्वों से विमुख होकर संन्यास ले लिया और वह जीवन भर भगवान का नाम भर जपता रहा, लोक-कल्याण की कभी बात विचारी ही नहीं । मरने पर चित्रगुप्त ने उसके कर्मों का लेखा-जोखा देखा तो यही कहा-"आपका पुण्य तो उतने ही दिन का है जितने दिन तक परिवार में रहे और अपने परिश्रम से अपना तथा परिवार का पोषण करते रहे । जब संन्यास लिया और दूसरों की रोटी पर गुजर की तो जो थोड़ा-सा पुण्य था वह उन रोटी देने वालों के पास चला गया ।" व्यक्ति बहुत दुःखी हुआ और सोचने लगा । यदि श्रमपूर्वक गुजारा करके संसार का उपकार करता रहता तो उस व्यर्थ के संन्यास से वही अच्छा रहता ।

आ० महीधर को माँ का आशीर्वाद

आचार्य महीधर आत्म ज्ञान की इच्छा से घर छोड़कर विरक्त हो गये । उनकी माँ घर में कष्ट उठा रही है, इसका भी ध्यान न रहा । बहुत दिन तप-साधना करने पर भी उन्हें पूर्णता प्राप्त न हुई तब वे घर लौट आये । बेटे को पाकर माँ के हर्ष का ठिकाना न रहा । उन्होंने कहा-"बेटा ! तूने दुःखी का दुःख पहचान लिया, तुझे पूर्णता प्राप्त होगी ।" माँ के आशीर्वाद का ही फल था कि महीधर को वेद ज्ञान प्राप्त हुआ । उन्होंने चारों वेदों का भाष्य करने का गौरव प्राप्त किया ।

महर्षि कर्वे ने नारी उत्थान का संकल्प लेकर एक बाल विधवा से विवाह किया और जीवन भर विरोध सहते हुए भी उस कर्तव्य को पूर्णरूपेण निभाया । उन्हीं के प्रयत्नों से महाराष्ट्र आज नारी प्रगति में अग्रणी है । उनकी संस्था में सहस्रों नारियाँ उच्च शिक्षा प्राप्त कर समाज सुधार की दिशा में गतिशील हैं ।

जमनालाल बजाज ने ऐश्वर्य को नहीं राष्ट्र-निर्माण के प्रति कर्तव्य को महत्व दिया । अपना सारा धन महात्मा गाँधी के हवाले कर समाज ऋण जीवन भर चुकाते रहे । गाँधीजी इसीलिए उन्हें अपना पाँचवा पुत्र मानते थे ।

कुमारिल भट्ट, संघमित्रा व महेन्द्र ने संस्कृति विस्तार का लक्ष्य लेकर अपने दायित्व को पूरी तरह निभाया और बुद्ध के धर्म चक्र प्रवर्त्तन को विश्व व्यापी विस्तार दिया ।

मेरा कर्तव्य अपने स्थान पर

गोपाल कृष्ण गोखले निर्धन अवस्था में पलकर बड़े हुए । आरम्भिक शिक्षा तो पूरी हुई । कॉलेज की ऊँची पढ़ाई करने का प्रश्न आया । ऐसे में भाई-भाभी मदद को आगे आये । उन्होंने आभूषण बेचकर प्रारम्भिक फीस भर दी । स्वयं भाई को पन्द्रह रुपये मासिक वेतन मिलता था । ऐसे में निर्वाह के लिए आठ रुपये रखकर शेष सात वे छोटे भाई को दे देते थे । पढ़ाई पूरी हुई । गोखले को नौकरी मिली व ३५ रुपये प्रतिमाह पर वे अध्यापक बने । रोम-रोम तक उपकार से भरे गोपाल ने कृतज्ञता पूर्वक मात्र १० रुपये अपने खर्च को रख बीस रुपये प्रतिमाह उन्हें जीवन भर भेजे-कर्ज चुकाने के लिए नहीं, समय पर निबाहे कर्तव्य-ममता की प्रतिक्रया स्वरूप श्रद्धांजलि रूप में । ऐसा भाई जिसे मिला और ऐसा अध्यवसायी, नैतिकतापूर्ण जिसका जीवनक्रम रहा, वह व्यक्ति आगे चलकर स्वतंत्रता संग्राम में महत्वपूर्ण भूमिका निभा सका ।

निष्ठा की धनी ये वीरांगनाऐं

दशरथ और मायासुर का युद्ध हो रहा था । मायावी राक्षस से सभी राजा परास्त हो चुके थे । दशरथ को अपनी विजय में संदेह ही दिखाई दे रहा था । तब एक नारी संग्राम में उतरी । दशरथ की अर्धांगिनी । कैकय सुता ने सारथी का पद सम्भाला । उस दिन दशरथ ने घोर संग्राम कर असुरों के छक्के छुड़ा दिये । इसी बीच रथ के एक पहिए की धुरी टूट गयी, रथ ने हिलने-डुलने से जबाव दे दिया । उस समय कैकेयी ने उँगली पहिये में लगा दी और तब तक उस स्थिति में बनी रही जब तक उस दिन का युद्ध समाप्त नहीं हो गया । वह युद्ध कहते हैं दशरथ ने जीता था । पर यदि सच्चाई की अभिव्यक्ति होने का अवसर दिया जाय तो यह कहना पड़ेगा कि यह विजय पत्नी की कर्तव्यपरायणता की विजय थी ।

सुलोचना ने जीवन भर पतिव्रत की कठोर साधना द्वारा मेघनाद को वह बल प्रदान किया था कि उसके आगे

देवता भी नहीं टिक सकते थे । ऐसे अपराजेय योद्धा को मारने वाले महारथी लक्ष्मण को भी यह सौभाग्य उनकी महान पतिव्रता उर्मिला ने ही प्रदान किया था । उर्मिला भारतीय नारी के गौरवमय इतिहास का चन्द्रमा, जिसने चौदह वर्ष तक अपने पति की अनुपस्थिति में पलक ऊपर उठाकर किसी पुरुष के दर्शन भी नहीं किये थे । उसने राज्य-भोग, आभूषण और स्वाद युक्त भोजनों का केवल इसलिए परित्याग कर दिया था क्योंकि उसके पति वनवासी थे । ऐसी निष्ठायें भारतीय समाज को वह शक्ति प्रदान करती रही हैं जिनकी यश गाथायें आज भी विश्व इतिहास के अन्तरिक्ष में सूर्य की भाँति देदीप्यमान हैं ।

भीम, हनुमान आदि ने अपने स्वास्थ्य को सम्भाले रखने का कर्तव्य पूरा किया, इसी नाते उन्हें अगणित अवसर श्रेय एवं पुण्य पाने के मिले । विभीषण तथा भरत ने विपरीत परिस्थितियों में भी मानसिक संतुलन बनाये रखने की दक्षता के फलस्वरूप परम श्रेय प्राप्त किया । मदालसा और कुन्ती जैसी माताओं का सबसे बड़ा पुण्य परिवार को सुसंस्कारी बनाने के कारण मिला । समाज का ऋण चुकाने के लिए मण्डन मिश्र और आचार्य शंकर विश्ववन्द्य बने । संस्कृति और शालीनता की रक्षा करने का कर्तव्य पूरा करके जटायु जैसों ने भगवान का श्रेष्ठतम सन्मान पाया ।

विद्यार्थी जल में कूद गये

यह वह समय था जब भारत के तत्व ज्ञान का आलोक विश्व के कोने-कोने में फैला हुआ था । दूर देशों से यात्री आते और भारत से ज्ञान ले जाकर अपने देशवासियों को उसका मर्म समझाते । इसी क्रम में लगभग दो हजार वर्ष पूर्व एक बौद्ध मतावलम्बी संत ज्ञानार्जन के लिए भारत आया । उसने केवल विद्यापीठों और विश्वविद्यालयों में रहकर भारतीय दर्शन शास्त्र का अध्ययन किया । वह आया तो केवल कुछ ही समय के लिए था किन्तु जब उसमें उसे भारतीय ज्ञान के स्तर खुलते मिले तब उसकी ज्ञान-जिज्ञासा इतनी बलवती हो उठी कि भारत में जमकर लगभग बारह साल तक दर्शन का अध्ययन पूरा करने के बाद वह अनेक दुर्लभ ग्रन्थों की पाण्डुलिपियाँ अपने साथ लेकर अपने देश चीन लौट चला । वह नाव द्वारा जल मार्ग से अपने देश चीन को वापस जा रहा था । लगभग आधी यात्रा के बाद तूफान आ गया । नाव में पानी भर गया और बोझिल होकर बैठने लगी ।

उस संत के साथ आने वाले भारतीय छात्र उस आसन्न अन्त के समय भी अधीर न होकर ज्ञान ग्रन्थों तथा विद्वान् अतिथि की रक्षा का उपाय सोचने लगे । पूछने पर मल्लाह ने बतलाया यदि एक-आध को छोड़कर बाकी सब लोग नाव को रिक्त कर दें तो नाव पार लग सकती है । बस फिर क्या था, सारे छात्रों ने सिन्धु के अथाह जल में कूद कर आत्म बलिदान कर दिया ।

समाज, देश और संस्कृति के ऐसे रक्षक ही जनमानस के सच्चे प्रेरणा स्रोत हैं । इनकी परमार्थ निष्ठा से ही समाज और संस्कृति सुविकसित होते, फूलते और फलते हैं ।

कर्ममात्रं श्रमो नास्ति तेनोच्चैस्तरकस्य हि ।
मनोयोगस्य भाव्यं च समावेशेन तद्वता ॥ ७४॥
उत्कृष्टता तु कार्यस्य कृते तु स्वाभिमानिनः ।
गर्वस्य गौरवस्यापि विषय इति बोध्यताम् ॥ ७५॥
उपेक्षयोन्मनस्केन कृतं कार्यं निरर्थकम् ।
भवत्येव तथा कर्तुरपकीर्तिकरं च तत् ॥ ७६॥
कर्तव्य यदमुष्मिंश्चेत्समावेशो द्वयोरपि ।
एकाग्रताभरुच्योस्तत्कर्मेतीशार्चनास्तरम् ॥ ७७॥

टीका-कर्म मात्र श्रम नहीं, उसके साथ उच्चस्तरीय मनोयोग का तन्मय समावेश होना चाहिए । कार्य की उत्कृष्टता हर स्वाभिमानी के लिए गर्व-गौरव का विषय है-यह समझ लो । उपेक्षापूर्वक अन्यमनस्क होकर किया गया काम निरर्थक ही नहीं जाता, कर्त्ता को बदनाम भी करता है । जो भी किया जाय उसमें पूरी अभिरुचि और एकाग्रता का समावेश हो तभी वह उस स्तर का कार्य कहा जा सकेगा, जिसे ईश्वर पूजा के समतुल्य माना जाता है ॥ ७४-७७॥

व्याख्या-कर्म कौशल हर स्वाभिमानी के लिए गौरव का विषय होता है । हर अच्छे काम ऐसे ही व्यक्तियों द्वारा सम्पन्न हुए हैं जिन्होंने अपनी क्रिया-कुशलता को उत्कृष्टता की सीमा तक पहुँचा कर श्रम किया है ।

संत रैदास की चमड़ा भिगोने की कठौती में गंगा प्रकट हुई थीं, उसका कारण यही था कि वे अपने कार्य में ईश्वर आराधना जितनी ही तन्मयता और सरसता अनुभव करते थे । कबीर कपड़ा बुनते हुए यही अनुभव करते थे कि आयु की हर साँस और समय का हर क्षण मिलाकर जीवन की चादर बुनती है । उनकी यह तन्मयता कार्य को भी उपासना बना देती थी । गाँधीजी चाहे प्रार्थना सभा में हों, चाहे शौचालय साफ करें दोनों में पूरी तरह तन्मय हो जाते थे इसीलिए निर्मल जीवन के अधिकारी बने ।

दर्जी की कर्मनिष्ठा

सन्त-महात्माओं को उनके शिष्य तथा अनुयायी समय-समय पर मूल्यवान वस्तुएँ भेंट में देते रहते हैं और महात्मा उन वस्तुओं को समाज के व्यक्तियों में वितरित करवा देते हैं । स्वामी नारायण सम्प्रदाय के अनुयायी स्वामी सहजानन्द के चरणों में सूरत निवासी आत्माराम नामक दरजी ने एक सुन्दर अँगरखा भेंट किया तो उपस्थित भक्तगण उसे देखते ही रहे गये ।

पास में ही भावनगर के राजा विजयसिंह जी बैठे थे । उन्हें वह अँगरखा बहुत पसन्द आया । उन्होंने दर्जी से कहा-'क्या तुम इससे भी अच्छा एक अँगरखा मेरे लिए बना सकते हो ।' दर्जी ने कहा-'राजन ! इससे अच्छा बन सका होता तो पहले ही बना दिया होता । मैं जो भी काम करता हूँ सर्वश्रेष्ठ जानकर पूरा करता हूँ ।'

सर्वश्रेष्ठ हथौड़ा ही बनाता हूँ

एक लुहार बढ़िया हथौड़े बनाने के लिए प्रसिद्ध था । एक व्यापारी उसके पास आया और बोला-'जैसे हथौड़े आप बनाते हैं उनसे भी अच्छा मेरे लिए बना दें, मैं उसकी अधिक कीमत देने को तैयार हूँ ।' लुहार ने उत्तर दिया-'मान्यवर ! मैं उससे और अच्छा हथौड़ा नहीं बना सकता । यदि बन सकता होता तो और भी अच्छे हथौड़े मेरे पास होते । मैं हथौड़ों की उत्कृष्टता को अपनी उत्कृष्टता मानता हूँ और उनमें किसी प्रकार की कमी रहने देना पसन्द नहीं करता । कर्मों की उत्कृष्टता ही मेरी पूजा है ।'

ध्वंसःसरल एनं च लघुरग्निकणोऽपि सः ।
ग्लपितं कीलकं चापि कर्तुं तत्प्रभवेदलम् ॥ ७८ ॥
सृजनात्मककार्येषु गौरवं परिकीर्तितम् ।
चिन्तनं मानवस्याथ प्रयासः सर्जकेसु हि ॥ ७९ ॥
प्रयोजनेषु निरतः सदा स्याज्जीवनस्य तु ।
गरिम्णोऽनुमितिस्तत्र निकषोपमिते भवेत् ॥ ८० ॥
किं स्तरं कियदेतच्च कार्यं तु सृजनात्मकम् ।
सम्पन्नं प्रतिभा या तु क्रियाकौशलजा तथा ॥ ८१ ॥
प्रखरता द्वयोस्त्र प्रशंसाऽस्मिंस्तु वर्तते ।
सत्प्रवृत्तिविवृद्धौ तु ताभ्यामुपकृतं न वा ॥ ८२ ॥

टीका-ध्वंस सरल है । उसे छोटी चिनगारी एवं सड़ी कील भी कर सकती है । गौरव सृजनात्मक कार्यों में है । मनुष्य का चिन्तन और प्रयास सृजनात्मक प्रयोजनों में ही निरत रहना चाहिए । जीवन की गरिमा इस कसौटी पर आँकी जाती है कि उसमें किस स्तर पर कितना सृजनात्मक कार्य सफल हुआ । क्रिया-कौशल की जो भी प्रतिभा-प्रखरता है, उसकी प्रशंसा इस बात में है कि उसके द्वारा सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन में सहायता मिली या नहीं ॥ ७८-८२ ॥

व्याख्या-मनुष्य अपनी सृजनात्मक शक्ति के कारण ही वह पद-गौरव पा सका है जो सृष्टि के अन्यान्य जीवधारियों को अप्राप्य है । कार्य का स्तर व क्रिया-कौशल जब उत्कृष्ट-सृजनशीलता से जुड़ जाते हैं तो करने वाले की गरिमा को और बढ़ा देते हैं । मनुष्य इस धरती को सुव्यवस्थित-सुन्दर बनाने आया है, बिगाड़ने, मिटाने नहीं । इस मूल प्रतिज्ञा से हटना मानवी गरिमा को गिराना है ।

तोड़ना सरल है–जोड़ना कठिन

भगवान बुद्ध एक बार निविड़ वन को पार करते हुए कहीं जा रहे थे । रास्ते में उनकी भेंट अँगुलिमाल डाकू से हो गई । वह सदैव अनेक निर्दोषों का वध करके उनकी उँगलियों की माला अपने गले में धारण किया करता था । आज सामने आये हुए साधु को देखकर उसकी बाछें खिल उठीं । 'आज आप ही मेरे पहले शिकार होंगे'–अँगुलिमाल ने बुद्ध से कहा और अपनी पैनी तलवार म्यान से बाहर निकाली ।

तथागत मुस्कराये, उनने कहा–'वत्स ! तुम्हारा मनोरथ पूर्ण होगा । मैं कहीं भागने वाला नहीं हूँ । दो क्षण का विलम्ब सहन कर सको तो मेरी एक बात सुन लो ।' डाकू ठिठक गया । उनने कहा–'सामने वाले वृक्ष से एक पत्ता तोड़कर जमीन पर रख दो ।' डाकू ने वैसा ही कर दिया । उन्होंने फिर कहा–'अब इसे पुनः पेड़ में जोड़ दो ।' डाकू ने कहा–'यह कैसे सम्भव है । तोड़ना तो सरल है, पर उसे जोड़ा नहीं जा सकता ।'

बुद्ध ने गम्भीर मुद्रा में कहा–'वत्स ! इस संसार में मार-काट, तोड़-फोड़, उपद्रव और विनाश यह सभी सरल हैं । इन्हें कोई तुच्छ व्यक्ति भी कर सकता है फिर तुम इसमें अपनी क्या विशेषता सोचते हो और किस बात का अभिमान करते हो ? बड़प्पन की बात निर्माण है–विनाश नहीं । तुम विनाश के तुच्छ आचरण को छोड़कर निर्माण का महान् कार्यक्रम क्यों नहीं अपनाते ?

ये शब्द अँगुलिमाल को तीर की तरह बेध गये । बुद्ध की करुणा व सत्परामर्श ने उसका जीवन बदल दिया । दस्यु कर्म छोड़कर उसने परिव्रज्या ले ली ।

विनाश तो घास के ढेर में डाली गयी एक छोटी-सी चिनगारी भी कर देती है । विषाणु एक छोटी-सी शारीरिक चोट से शरीर में पहुँच कर फैल जाते हैं व मृत्यु का संकट सामने आ खड़ा होता है । आयुध अस्त्रों से आज की दुनियाँ में क्षण मात्र में बिना धन की हानि के व्यापक जन समुदाय का संहार सम्भव है, पर यह तो मनुष्य को सौंपा गया कर्तव्य नहीं था । फिर भटकाव क्यों ? उसे तो अपनी गरिमा के अनुरूप सृजन में लगाना चाहिए । किसने कितना श्रम किया, यह महत्वपूर्ण नहीं बल्कि यह अधिक महत्वपूर्ण है कि किसका श्रम सत्प्रवृत्तियों के विस्तार में नियोजित हुआ । पसीने की बूँदें तो भार ढोने वाले मजदूर भी बहाते हैं पर जो लोक कल्याणकारी प्रयोजनों में पसीना गिराते हैं उनका जीवन ही सफल माना जाता है ।

बाबा राघवदास ने स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में सच्चे तपस्वी की भूमिका निभाई । आत्मकल्याण से अधिक लोककल्याण को श्रेष्ठ साधना मानते हुए जन-साधारण हेतु वे साक्षरता विस्तार कार्यक्रम में जुट गए । पूर्वांचल के पिछड़े इलाके में, पूना में जन्मा यह साधु ऐसे छा गया, जैसे उन दिनों पूरे राष्ट्र पर गाँधी जी का जादू था । उन्होंने हरिजनों, अछूतों के बीच जाकर काम किया तथा कुष्ठ पीड़ितों के लिए एक विशाल औषधालय भी बन गया ।

हीरालाल शास्त्री ने जयपुर राज्य का मुख्यमंत्री पद छोड़कर पिछड़े गाँव वनस्थली में ग्रामोत्थान का अपना कार्य आरम्भ किया । वहाँ बैठकर उन्होंने दर्जनों रचनात्मक कार्यकर्त्ता तैयार किए । यह मण्डली ही अग्रदूतों के रूप में अगले दिनों जयपुर राज्य का कार्यभार सम्भाल सकी । यही स्थली आज एक विशाल विश्वविद्यालय स्तर की विद्यापीठ है । शास्त्री जी का समर्पण इस आश्रम के पत्ते-पत्ते में संव्याप्त है ।

हरिबाबा ने बाढ़ की विभीषिका को हर वर्ष घटते देखा और लगा कि जन सहयोग के अतिरिक्त सरकार से कुछ आशा करना व्यर्थ है । उत्तर प्रदेश के तराई के इलाके को गंगा व घाघरा नदी की बाढ़ से हर वर्ष त्रस्त होना पड़ता था । आधुनिक भागीरथ की तरह वे लग पड़े और जब पूजा पाठ करने वाले, रामयण की चौपाई से जन-जन में धर्म धारणा का विस्तार करने वाले बाबा को लोगों ने कुदाल-फावड़ा लिए बाँध बनाते व नदी की धारा मोड़ने हेतु प्रवृत्त होते देखा तो सारा गाँव जुट पड़ा । देखते-देखते कुछ ही दिनों में एक ऐसा निर्माण हो गया कि जल की तेज धारा भी उसे काटकर फसल व गाँव को नुकसान न पहुँचा सकी । बाद में उसे पक्का बनवा दिया । यह मात्र बाबा की लगन व लोक मंगल से प्रेरित श्रम था जिसने असम्भव को सम्भव कर दिखाया ।

धनपति व निर्धन का दिया

एक धनपति था । वह नित्य ही एक घृत दीप जलाकर मंदिर में रख आता था । एक निर्धन था । वह सरसों के तेल का एक दीपक जलाकर नित्य अपनी गली में रख देता था । वह अँधेरी गली थी । दोनों मर कर यमलोक पहुँचे तो धनकुबेर को निम्न स्थिति की सुविधायें दी

गई और निर्धन को उच्च श्रेणी की । यह व्यवस्था देखी तो धनकुबेर ने धर्मराज से पूछा-'यह भेद क्यों जबकि मैं भगवान के मंदिर में दीपक जलाता था, वह भी घी का ।'

धर्मराज मुस्कराये, बोले-'पुण्य की महत्ता मूल्य के आधार पर नहीं, कार्य की उपयोगिता के आधार पर होती है । मंदिर तो पहले से ही प्रकाशवान् था । उस व्यक्ति ने ऐसे स्थान पर प्रकाश फैलाया जिससे हजारों व्यक्तियों ने लाभ उठाया । उसके दीपक की उपयोगिता अधिक थी ।'

फूल का गौरव-सौरभ विस्तार मनुष्य की गरिमा उस पुष्प के समान विकसित-संगठित होने में है जो कभी बदले में अपेक्षा नहीं रखता, हमेशा सौरभ बाँटता है ।

प्रातःकाल की पवन लहरी आई और गुलाब को स्पर्श कर चली गई । पत्ते ने हँसते गुलाब को देखा तो आग-बबूला हो गया । बोला-'यह भी कोई जीवन है, माली आता है और असमय में ही तुम्हारी जीवन लीला समाप्त कर देता है । इतने अल्प जीवन में भी क्या आनंद ! मैं रोज देखता हूँ, कितने ही फूल खिलते हैं और मुरझा जाते हैं ।'

गुलाब ने बड़े शान्त स्वर में उत्तर दिया-'भाई ! जीवन का अर्थ है सच्ची सुगन्ध । इस प्रकार चारों ओर सुगन्धि फैलाते हुए आमंत्रित मृत्यु ही जीवन और अमरता है ।'

प्रतिभा या रता ध्वंसे तस्यास्तु तुलना विधौ ।
प्रशस्ता कथिता विज्ञैर्मूर्खता मन्दबुद्धिजा ॥ ८३ ॥
यतोऽनयान कस्यापकार आचरितः क्वचित् ।
सृजितं किंचिदेवाथ संशोधितमुतापि च ॥ ८४ ॥
पुरातनकुसंस्काराभ्यासान्निरसितुं नवैः ।
उत्साहैः साहसैश्चापि युतं साधुप्रयोजनम् ॥ ८५ ॥
क्रियाकलापकेष्वेव दैनिकेषु सुमीलयेत् ।
भूयो भूयोऽभिबर्द्धन्तीः प्रवृत्तीः पशुजास्तथा ॥ ८६ ॥
निरसितुं श्रमस्तूग्रः स्वीकर्तव्यो भवेत्तु ताः ।
आत्मनाऽऽत्मनि संघर्ष अयमित्यभिमन्यताम् ॥ ८७ ॥
सर्वैरेवार्जुनस्येयं ग्राह्या सद्भूमिका सदा ।
महाभारतसंग्रामे कर्मक्षेत्रेऽत्र मानवैः ॥ ८८ ॥

टीका-ध्वंसरत प्रतिभा की तुलना में विज्ञजनों के मतानुसार मन्दबुद्धि मूर्खता अच्छी, जिनने किसी का बिगाड़ा नहीं कुछ न कुछ बनाया, सुधारा ही । पुराने कुसंस्कारी अभ्यासों को निरस्त करने के लिए नये उत्साह, नये साहस पूर्वक सत्प्रयोजनों को दैनिक क्रिया-कलाप में सम्मिलित करना पड़ता है और बार-बार उभरने वाली पशु-प्रवृत्तियों को निरस्त करने के लिए कड़ा रुख अपनाना पड़ता है । यह अपने आप से जूझना है-ऐसा जान लो । अर्जुन की भूमिका इस महाभारत में हर कर्मयोगी को निभानी पड़ती है ॥ ८३-८८ ॥

व्याख्या-जो प्रतिभाशाली हैं पर जिनकी बुद्धि कुमार्गगामी है, ध्वंस में नियोजित है, उनसे तो वह व्यक्ति श्रेष्ठ है जो कम से कम अल्पज्ञता के कारण किसी का कुछ बिगाड़ता तो नहीं । इन्हें सही दिशा देकर कम से कम उपकार की ओर प्रवृत्त किया जा सकता है पर विनाश की ओर प्रेरित बुद्धि तो हर समय कुटिल चाल ही सोचती रहती है ।

यह मात्र इस कारण है कि हम अपने अन्तर्जगत के संग्राम में दुष्प्रवृत्तियों से मोर्चा ले नहीं पाते । पाशविक वृत्तियों का उभारना तो एक सहज प्रक्रिया है । इन्हें पल-पल पहचानना, समूल उखाड़ना पड़ता है । जिस प्रकार माली क्यारी की निराई-गुड़ाई करता है तो व्यर्थ उग आने वाले खर-पतवारों को पहले उखाड़ता है, उसी प्रकार मनुष्य को भी अन्तर्जगत के इस महाभारत में कठोर संघर्ष करना ही

पड़ता है । कुसंस्कार समीपस्थ होने, अभ्यास का अंग होने के कारण इतने प्रिय लगते हैं कि सहज छूटते नहीं ।

फूलों से प्रिय मछली की गन्ध

रास्ते में चलते-चलते रात हो जाने से तथा आसमान में बादल और तूफानी हवा देखकर किसी मछली वाली ने एक मालिन के घर आश्रय लिया । मालिन ने उसे पुष्प-गृह के बरामदे में ठहराया और यथायोग्य उसकी सेवा की, परन्तु मछली वाली को किसी प्रकार नींद नहीं आई । अन्त में वह समझ गई कि पुष्पगृह में रखे हुए नाना प्रकार के खिले हुए फूलों की महक से ही उसे नींद नहीं आ रही है । तब उसने मछलियों की टोकरी में जल छिड़ककर उसे सिरहने रख लिया और फिर सुख से सो गई । इसी प्रकार मछली वाली की भाँति विषयी और बद्ध मनुष्यों को संसार की सड़ी दुर्गन्ध को छोड़कर और कुछ अच्छा नहीं लगता ।

बर्तन को नित्य मिट्टी, पानी से साफ करना पड़ता है, न माँजने पर वह काला पड़ जाता है । घर की सफाई, शरीर की सफाई नित्य करनी पड़ती है, इसी प्रकार वातावरण के प्रभाव से मन पर पड़ने वाली मलीनता के पर्वत को हटाने के लिए नित्य प्रयास करना पड़ता है ।

भगवान् का नाम जपते चलो

जिनसे बुराइयाँ एक झटके के साथ नहीं छूटतीं उनके लिए अधिक अच्छा है छोटे-छोटे संकल्प लें और उन पर आरूढ़ रहें । क्रमशः एक-एक करके सबको छोड़ा जा सकता है ।

एक मनुष्य ने किसी महात्मा से पूछा-महात्मन् ! मेरी जीभ तो भगवान का नाम जपती है, पर मन उस ओर नहीं लगता । महात्मा बोले-'भाई ! कम से कम भगवान की दी हुई एक विभूति तो तुम्हारे वश में है । इसी पर प्रसन्नता मनाओ । जब एक अंग ने उत्तम मार्ग पकड़ा है तो एक दिन मन भी निश्चित रूप से ठीक रास्ते पर आयेगा । भगवान का नाम जपते चलो ।'

शुभारम्भ यहीं से हो तो धीरे-धीरे मन सत्पथ पर चलने को राजी हो जाता है । जब मात्र तोते को राम नाम पढ़ाने से एक वेश्या का जीवन बदल सकता है, नारायण नाम लेकर उनकी प्रेरणानुसार जीवन जीने से 'अजामिल' तर सकता है, तो कोई कारण नहीं कि मनुष्य अपनी दुष्प्रवृत्तियों को नियंत्रित न कर सके ।

पाप प्रकटीकरण से सुधार

एक चोर संत नानक के पास पहुँचा और इस बुरी आदत से छुटकारा पाने का उपाय पूछा । नानक ने जो उपाय बताये वे उससे निभते न थे । एक के बाद एक उपाय बदलते-बदलते जब बहुत दिन बीत गये और किसी प्रकार से भी वह आदत न छूटी तो उन्होंने चोर को बताया कि तुम अपने पाप सब के सामने प्रकट करने लगो । चोर का बार-बार आना और पूछना समाप्त हो गया और आदत भी सुधर गई । पाप प्रकट करने में उसे लज्जा लगती थी, सो उसने चोरी करना बन्द कर दिया ।

भजन गाते सुधरा

महर्षि दयानन्द के एक शिष्य थे अमीचन्द्र । वे गाते भी बहुत अच्छा थे व तबला भी बजाते थे । पर उन्हें शराब पीने की बुरी लत थी । और शिष्यों ने कहा-'भगवन् ! इन्हें आप अपने साथ न रखें । इनसे हम सबकी प्रतिष्ठा गिरती है ।' स्वामीजी बोले-'पहले यह गाता था, पेट के लिए व मनोरंजन के लिए । अब कुछ समय से जब से हमसे जुड़ा, भगवान की ख्याति उन्हीं को सुनाकर गीत गाता है । यह स्वयं बदलेगा ।' हुआ भी यही । प्रेरक प्रभु के संदेश को फैलाने वाले गीत सुनाते-सुनाते अमीचन्द्र बदल गए, उनकी आदत भी छूट गयी और समाज सुधार के कार्य में स्वामीजी के सहयोगी बने ।

आरण्यकस्य सत्रस्य समाधानं तृतीयकम् ।
सर्वेभ्योऽरोचतालं तद्देवं च जीवनं प्रति ॥ ८९ ॥
श्रद्धोद्गता च संकल्पः श्रोतृणां हृदये ततः ।
समुत्पन्नः जीवनं तु परमं दैवमित्यहो ॥ ९० ॥
मत्वा परिष्कृतं पूर्णं प्रसन्नं कर्मशक्तितः ।
प्रसंगः ईदृशोऽयं तु ज्ञातुं तत्राऽधिकाधिकम् ॥ ९१ ॥

औत्सुक्यं हि महर्षीणां तीव्रतामभजत्ततः ।
श्वोऽधिकं ज्ञास्यते साशाः कालेऽयुः सौत्रिकाज्ञया ॥ ९२॥

टीका-आरण्यक सत्र का तीसरा समाधान सभी को बहुत रुचा । जीवन देवता के प्रति सभी श्रोताओं में श्रद्धा उमँगी और संकल्प उभरा कि जीवन को परमदेव मानकर उसे प्रसन्न परिष्कृत करने में कुछ कमी न रखी जायेगी । प्रसंग ऐसा था जिसे अधिकाधिक जानने के लिए सम्मिलित ऋषियों की उत्सुकता अधिकाधिक प्रचंड होती जा रही थी । कल और अधिक सुनने को मिलेगा इस आशा के साथ नियत समय पर सभी सूत्र-संचालक की आज्ञानुसार विसर्जित हो गये ॥ ८९-९२॥

इति श्रीमत्प्रज्ञापुराणे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः
श्री पिप्पलाद-श्वेतकेतु ऋषि-सम्वादे "संयमशीलताकर्त्तव्यपरायणता चे," ति
प्रकरणो नाम चतुर्थोऽध्यायः ॥ ४॥

।। अथ पंचमोऽध्यायः ।।

⊙

卐 उदार भक्तिभावना प्रकरण 卐

चतुर्थे दिवसे तत्र सङ्गता ऋषयः पुनः ।
आरण्यकस्य सत्रे तु ब्रह्मविद्यात्मकेऽन्वहम् ॥ १ ॥
ऋषयः पंक्तिबद्धास्ते पिप्पलादस्य पूर्ववत् ।
तत्वावधाने तत्त्वस्य विवेचनमभूत्क्रमात् ॥ २ ॥
सूक्ष्मबुद्धिबलश्चाद्य तार्किकः प्रथमासने ।
उद्दालकः स्थितो यस्यौत्सुक्यमासीन्महत्तमम् ॥ ३ ॥

टीका–चौथे दिन आरण्यक के ब्रह्म–विद्या सत्र में पहले की तरह फिर ऋषिगण एकत्र हुए, पंक्तिबद्ध बैठे और महर्षि पिप्पलाद के तत्वावधान में तत्व–विवेचन का प्रवाह–क्रम चल पड़ा । आज सूक्ष्म–बुद्धि के धनी, तर्क प्रवीण उद्दालक अग्रिम–पंक्ति में बैठे । उन्हें उत्सुकता अधिक थी ॥ १–३ ॥

उद्दालक उवाच–

समयोपयोगे यः प्रोक्तो महाभागाऽत्र कर्मणा ।
तत्रैकोदेव ! सन्देहः सर्वेषां समुदेति यत् ॥ ४ ॥
समयक्षेपवल्लाभप्राप्तिस्तु तत्समन्वयात् ।
किं भविष्यथैतावन्मात्रेणात्मिकप्रोन्नतेः ॥ ५ ॥
कृते त्वावश्यकः सेत्स्यत्यात्मनो विस्तरः कथम् ।
सीमाबन्धनमात्रं तु नियतेः कर्म भाग्यवत् ॥ ६ ॥

टीका–उद्दालक पूछने लगे–हे महाभाग ! समय का दुरुपयोग कर्म के माध्यम से होने की विवेचना में एक सन्देह उठता है कि उस समन्वय से मात्र समयक्षेप जितना ही लाभ मिलकर तो नहीं रह जायेगा ? उतने भर से आत्मिकप्रगति के लिए आवश्यक आत्म–विस्तार का प्रयोजन कैसे सधेगा ? हे महाभाग ! कर्म तो नियति का मर्यादा–बन्धन मात्र है ॥ ४–६ ॥

व्याख्या-प्रथम तीन सत्रों की विषय-विवेचना सुनकर भी सभी जिज्ञासु ऋषि मण्डली का समाधान पूरी तरह हुआ नहीं । कर्मयोग और जीवन साधना, आत्म तत्व और दैवी अनुदान जैसे प्रसंगों को उन्होंने सुना, आत्मसात किया । पर यह दुविधा उद्दालक ऋषि के मन में यथावत् बनी रही कि जीव की, आत्म विस्तार की चरम इच्छा का लक्ष्य किस प्रकार सधेगा ? कर्म तो विधि की व्यवस्थानुसार जीव करते ही रहते हैं । पर इससे उस लक्ष्य की सिद्धि कहाँ हुई जिसे आत्मिक प्रगति का अनिवार्य क्रम माना जाता है । अहं का विसर्जन तथा उसका महानता में विलय किस प्रकार बने, यह एक ऐसी जिज्ञासा है जिसका समग्र रूप में समाधान हुए बिना चर्चा अधूरी ही रह जाती है ।

शृंखलायां तु तस्यामाबद्धा हेतुना सदा ।
अस्तव्यस्ततायास्तदनौचित्यं निरुध्यते ॥ ७ ॥
क्रमप्राप्तानिदा यित्वान्युचितं वोढुमेव तु ।
सम्भवेयुस्तथा तस्यां सीमायां ये स्थितः प्रभोः ॥ ८ ॥
तरङ्गः कथमापूर्तिस्तेषां कर्तुं तु सम्भवेत् ।
आत्मानं भक्तिभावेन विदधात्यनुप्राणितम् ॥ ९ ॥

तदमृतं कथं पातुं शक्यतेति सविस्तरम् ।
सर्वसाधारणस्यालं कल्याणं येन सम्भवेत् ॥ १० ॥

टीका–उस शृंखला में आबद्ध रहने से अस्त–व्यस्तता का अनौचित्य रुकता है और लदे हुए उत्तरदायित्वों को ठीक प्रकार वहन कर सकना बन पड़ता है । उतनी सीमा में रहने वाले पुण्य परमार्थ की उन उमंगों की आपूर्ति कैसे कर सकेंगे, जो आत्मा को भक्ति–भावना से अनुप्राणित करती है । उस अमृत का रसास्वादन कैसे किया जाय ? यह विस्तार से बतावें, जिससे सर्वसाधारण का कल्याण हो सके ॥ ७–१० ॥

व्याख्या–सुव्यवस्थित रीति से किए गये कर्म एवं दायित्वों का निर्वाह जीवन के व्यवहार पक्ष को तो पूरा कर देते हैं, परन्तु इसके अतिरिक्त भी एक ऐसी धारा शेष रह जाती है जिसे जीवन में मिलाये बिना वह एक शुष्क स्वचलित व्यवस्था मात्र रह जाता है । वह धारा है-हृदय से निस्सृत होने वाली उमंगें, उच्चस्तरीय संवेदनाएँ, लोकमंगल युक्त परमार्थपरक भावनाएँ जो आत्मा को एक शाश्वत आनन्द की गंगोत्री सिद्ध करते हैं । परमात्मा का यही एक ऐसा गुण है जो आत्मा में कूट-कूट कर भरा है । पर इस अमृत को कैसे जीवन में घोला जाय, इससे स्वयं तथा औरों को कैसे लाभान्वित किया जाय, यह जाने बिना अध्यात्म दर्शन की विवेचना अधूरी है, ऐसा ऋषि समझते हैं ।

मनुष्य को प्रकृति से जो सम्पदाएँ मिली हैं उन्हें वह संयमपूर्वक सम्भाले और सही ढंग से खर्च करे, यह आवश्यक है । स्थूल दृष्टि वाले यहीं तक मनुष्य के विकास की कल्पना करते हैं किन्तु प्रश्नकर्त्ता उद्दालक सूक्ष्म बुद्धि के धनी हैं । इसलिए उनसे आगे की बात उठायी । मनुष्य मात्र कुशलता और व्यवस्था में सीमित नहीं हो जाता । यदि ऐसा होता तो संवेदना, आत्मीयता जैसे भावों तथा कला एवं संगीत जैसी विद्याओं की आवश्यकता ही नहीं पड़ती । देखते हैं कि माँ पुत्र के प्रेम में अपने सारे सुखों की बलि चढ़ा देती है । बेटा माँ के वक्ष से चिपटकर संसार के सारे अभाव भूल जाता है । पति-पत्नी एक दूसरे के प्रेम के सहारे बड़े-बड़े खतरे हँसते-हँसते पार कर जाते हैं । इसके विपरीत सम्पन्न घरों के, सारी सुविधाओं से घिरे बालक स्नेह के अभाव में रूखे, चिड़-चिड़े देखे जाते हैं ।

यह सब उसी अन्तःक्षेत्र से प्रवाहित अमृत धारा की बहिरंग में अभिव्यक्ति ही तो है ।

कर्मणः समयस्यापि कुर्वन्तस्ते समन्वयम् ।
महत्वाकांक्षिणो मोहग्रस्ता दृश्यन्त एव हि ॥ ११ ॥
श्रमशीला अनेके च प्रयासपरितत्पराः ।
प्राप्यन्ते भिन्नमेतन्न सन्ति ते कर्मयोगिनः ॥ १२ ॥
पुरुषार्थिनस्तु प्रोच्यन्ते सम्पन्नाः सफला अपि ।
प्राप्नुन्ते कृतयोगास्ते नैवजीवनसम्पदाम् ॥ १३ ॥
मीयते समयस्याथ कर्मणस्तु समसन्वयात् ।
अतिरिक्तं किमप्यास्ते तथ्यं गुप्तं सदैव तु ॥ १४ ॥
यद्येवं कृपयोद्बोधय रहस्यं नः कृपानिधे ! ।
मूर्धन्यस्तत्ववेतृणां सत्रसूत्रस्य चालकम् ॥ १५ ॥
ब्रह्मज्ञः पिप्पलादस्तां जिज्ञासां ध्यानपूर्वकम् ।
श्रुत्वा प्रसन्नतां यातो विपुलां संजगाद च ॥ १६ ॥

टीका–समय और कर्मका समन्वय करते तो मोहग्रस्त–महत्वाकांक्षी भी देखे जाते हैं । कर्मयोगी न सही, श्रमशील और प्रयास तत्पर तो अनेक पाये जाते हैं, उन्हें पुरुषार्थी तो कहा जाता है, किन्तु वे जीवन–सम्पदा को कृत–कृत्य करने वाले कहाँ होते हैं ? लगता है समय और कर्म के समन्वय के अतिरिक्त भी कोई तथ्य छिपा रह गया है । यदि ऐसा हो, तो कृपया उस रहस्य का उद्घाटन कीजिए ।

तत्ववेत्ताओं में मूर्धन्य इस सत्र के सूत्र संचालक ब्रह्मवेत्ता पिप्पलाद ने जिज्ञासा को ध्यानपूर्वक सुना, बहुत प्रसन्न हुए और बोले ॥ ११-१६॥

व्याख्या-सामान्यतया जीवन व्यापार में यन्त्रवत कर्म को सफलता का जन्मदाता माना जाता है । देखा भी जाता है कि समय का सुनियोजन और कर्म की तत्परता का समावेश कर भौतिक जगत में सामान्य जन वैभव भी पाते हैं तथा श्रेय भी । परन्तु जिस कारण मनुष्य का मानव शरीर पाना सार्थक कहा जाता है, उसका कहीं नाम देखने को नहीं मिलता । उमंगों-संवेदनाओं से रहित जीवन किस प्रकार उद्देश्य की सफलता का कारण बन सकता है, एक बहुत सूक्ष्म जिज्ञासा ऋषिवर उद्दालक के समक्ष है । श्रमशीलता, कर्त्तव्य परायणता तथा सुव्यवस्था के अतिरिक्त भी जीवन में कोई ऐसा तत्व समाविष्ट होना रह गया है, जिसके बिना जीवन साधना अधूरी है, ऐसा वे मानते हैं । इसे एक अनिवार्य आवश्यकता मानकर वे उस पक्ष को विस्तार से जानने की अपनी व सभी उपस्थित श्रोता विद्वानों की उत्कण्ठा को इस सारगर्भित प्रश्न से व्यक्त करते हैं ।

युवराज में संवेदना का अभाव

काशिराज युवराज सन्दीप के विकास से संतुष्ट थे । वे प्रातः ब्रह्म मुहूर्त में उठ जाते, व्यायाम, घुड़सवारी आदि में प्रवृत्त रहते । समय पर अध्ययन और राज दरबार के कार्यों में रुचि लेना आदि सभी प्रवृत्तियाँ ठीक थीं । एक क्षण भी न गँवाते और न किसी दुर्व्यसन में उलझते । किन्तु राज पुरोहित बार-बार आग्रह करते कि उन्हें कुछ वर्षों के लिए किसी सन्त के सान्निध्य में, आश्रम में रखने की व्यवस्था बनाई जाय । काशिराज सोचते थे कि राजकुमार को इसी क्रम में राजकार्य का अनुभव बढ़ाने का अवसर दिया जाय ।

तभी एक घटना घटी । राजकुमार नगर भ्रमण के लिए घोड़े पर निकले । जहाँ वे रुकते स्नेह भाव से नागरिक उन्हें घेर लेते । एक बालक कौतूहल वश घोड़े के पास जाकर पूँछ सहलाने लगा । घोड़े ने लात फटकारी और बालक दूर जा गिरा । उसके पैर की हड्डी टूट गयी । राजकुमार ने देखा, हँसकर बोले-"असावधानी बरतने वालों का यही हाल होता है", और आगे बढ़ गये । सिद्धांततः बात सही थी, पर लोगों को व्यवहार खटक गया । काशिराज को सारा विवरण मिला तो वे दुःखी हुये । राज पुरोहित ने कहा-"महाराज ! स्पष्ट हुआ कि युवराज में संवेदनाओं का अभाव है । मात्र सतर्कता-सक्रियता के बल पर वे जन श्रद्धा का अर्जन और पोषण न कर सकेंगे । हो सकता है कभी क्रूर कर्मी भी बन जाँय । अस्तु समय रहते भावी नरेश की इस कमी को पूरा कर लिया जाना चाहिए ।" राजा का समाधान हो गया तथा उन्होंने राजपुरोहित के मतानुसार व्यवस्था कर दी ।

ऋषि परम्परा-नारी की भूमिका

भाव संवेदनाओं के क्षेत्र में नारी हमेशा पुरुष से आगे रही है । भारत का सांस्कृतिक इतिहास बताता है कि जितने भी महामानव हुए हैं, उनका परिपालन-परिपोषण ऋषिकाओं द्वारा गुरुकुल में हुआ है । भरत का शकुन्तला द्वारा कण्व ऋषि के आश्रम में परिपालन, लवकुश का सीता द्वारा वाल्मीकि आश्रम में प्रशिक्षण, मदालसा द्वारा अपने बच्चों की शिक्षा व उन्हें भाव सम्पन्न ब्रह्मज्ञानी बनाना नारी शक्ति के ही हिस्से में आता है । इसके विपरीत जहाँ भी माँ का वरदहस्त बालक पर न रहा, वहाँ उसे भावना विहीन होता पाया गया है ।

महात्मा आनन्द स्वामी और दुःखी सेठ

एक बार महात्मा आनन्द स्वामी के पास एक धनपति आये । कई कारखाने थे उनके । सभी लड़के अपने काम में लगे थे । पत्नी का स्वर्गवास पहले ही हो चुका था । वैभव का साम्राज्य चारों ओर था पर वे अन्दर से एक बड़ा अभाव अनुभव करते । उनकी भूख चली गयी व रात की नींद भी । अपनी यह व्यथा, जीवन गाथा उन्होंने महात्मा जी को सुनाई । महात्मा आनन्द स्वामी जी ने कहा-"आपने जीवन में कर्म व श्रम को तो महत्व दिया पर भावना को नहीं । सत्संग, कथा श्रवण इत्यादि से तो विचारों को पोषण भर मिलता है । अन्दर की शुष्कता कम करने के लिए अब प्रेम, धन, श्रम लुटाना आरम्भ कीजिए । सबको स्नेह दीजिए, अनाथों, निर्धनों के बीच जाइये, उन्हें स्वावलम्बी बन सकने योग्य सहायता दीजिए, अपना शरीर श्रम भी जितना इस पुण्य कार्य में लगा सकें, लगाइए । फिर देखिये आपकी भूख लौट आएगी तथा नित्य चैन की नींद सोएँगे ।" सेठजी ने ऐसा ही किया व चमत्कारी परिवर्तन ने उन्हें जो शांति, प्रसन्नता दी वह पहले कभी मिली नहीं थी ।

पिप्पलाद उवाच-

अहं क्रमिकचर्चायां तस्मिन्नेव प्रसंगके ।
आसं चर्चितुकामस्तु साधु तत्स्मारितं त्वया ॥ १७॥
अधुना तत्प्रसंगे तु वक्तुमुत्साह एष मे ।
वृद्धिंगतो भवद्भिश्च श्राव्यमग्रे सचित्तकैः ॥ १८॥

टीका-महाप्राज्ञ पिप्पलाद ने कहा-क्रमिक चर्चा में उस उमंग पर चर्चा करने ही वाला था, किन्तु आपने उसका स्मरण दिलाकर अच्छा ही किया । अब उस संदर्भ में कुछ अधिक कहने का मेरा उत्साह बढ़ा है । आगे की बात आप सब ध्यानपूर्वक सुनें ॥ ७१-१८ ॥

त्रिधात्मिकायां विश्वस्य व्यवस्थायामृषीश्वराः ।
प्रकृतीश्वरजीवानामिव क्षेत्रे चितेरपि ॥ १९॥
तिस्त्रोनिर्धारणाः सन्ति प्रगतेस्तु क्रमस्य ताः ।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नाम्नोच्यन्ते मनीषिभिः ॥ २०॥
छात्राध्ययनसम्बन्धिविषयाणामिव क्रमात् ।
एकमेकं समादाय योजयेत् परिवर्धयेत् ॥ २१॥

टीका-हे ऋषियो ! इस त्रिधा व्यवस्था में ईश्वर-जीव-प्रकृति की तरह चेतना क्षेत्र के भी प्रगतिक्रम की तीन धारणायें हैं । विद्वान् लोग एक को ज्ञान, दूसरे को कर्म, तीसरे को भक्ति कहते हैं । इन्हें छात्रों के अध्ययन विषयों की तरह क्रमशः एक-एक करके जोड़ना-बढ़ाना पड़ता है ॥ १९-२१ ॥

व्याख्या-दो वस्तुओं के मिलने से तीसरी बनती है । दिन और रात्रि की मिलन वेला को 'संध्या' कहते हैं । संध्या न रात है, न दिन पर उसमें दोनों का अस्तित्व है । जीव भी इस प्रकार दो सम्मिश्रणों का तीसरा रूप है । पर ब्रह्म परमात्मा और पंचभौतिक प्रकृति-इन दोनों के सम्मिश्रण से जो तीसरी सत्ता उत्पन्न होती है उसका नाम 'जीव' है । चेतन ब्रह्म के गुण, आत्मिक चेतना, अन्तःकरण एवं भावना के रूप में हमारे अन्दर विद्यमान हैं । प्रकृति जड़ है इसलिए शरीर का सारा ढाँचा ही जड़ है । जीव की चेतना व जड़ से ही वह चलता है ।

सृष्टि की ऊपर वर्णित व्यवस्थानुसार चेतना जगत में भी सत्, चित्, आनन्द रूपी परब्रह्म की विशेषताएँ ज्ञान, कर्म व भक्ति की तीन धाराओं के रूप में जीव-सत्ता का प्रगति क्रम निर्धारित करती पाई जाती हैं । न्यूनाधिक मात्रा में व्यक्ति विशेष में इस क्रम में अन्तर पाया जाता है । तीनों ही महत्वपूर्ण हैं व एक दूसरे के बिना अपूर्ण भी ।

स्वर्ग का अधिकार

मरने के बाद एक व्यक्ति की आत्मा को मृत्यु दूत धर्मराज के सामने ले पहुँचे । दूतों ने बताया-"यह एक बड़ा महात्मा है । भरी युवावस्था में अपने माता-पिता और स्त्री-बच्चों को छोड़कर यह जंगल में चला गया और जीवन भर तप करता रहा ।"

धर्मराज ने कहा-"कर्तव्यों का त्याग कर कोई व्यक्ति धर्मात्मा नहीं बन सकता । परिवार के लोगों के साथ विश्वासघात करके इसने अधर्म ही कमाया, ऐसा भजन किस काम का जो कर्तव्यों को भुलाकर किया जाय । इसे पुनः धरती पर भेजो और कर्तव्यपालन के साथ भजन करने का आदेश करो, तभी इसे स्वर्ग में स्थान मिलेगा ।"

यमदूतों ने एक दूसरे व्यक्ति की आत्मा उपस्थित की और कहा-"व्यक्ति बड़ा कर्तव्यपरायण है । काम को ही सब कुछ समझता है । इसकी स्त्री बीमार पड़ी और मर गई पर यह उसकी कुछ भी परवाह न करके अपने कर्तव्य में ही लगा रहा ।"

धर्मराज ने कहा-"ऐसे हृदयहीन का स्वर्ग में क्या काम ? भावनापूर्वक किया गया कर्तव्य ही प्रशंसनीय हो सकता है । जिसे अपने नैतिक कर्तव्यों का ज्ञान नहीं, उसकी शारीरिक दौड़-धूप क्या महत्व रखेगी । इसे पृथ्वी पर

भेजो और कहो कि भावनापूर्वक जीवन जिए और दूसरों से प्रेम करना सीखे तभी उसे स्वर्ग में स्थान मिलेगा ।"

एक तीसरे व्यक्ति की आत्मा लाई गई । यमदूतों ने कहा-"यह एक साधारण गृहस्थ है । सदा आस्तिक रहा, पवित्र जीवन जिआ, प्रेमपूर्वक परिवार को सुविकसित किया और दूसरों के उत्थान के लिए निरन्तर प्रयत्न करता रहा ।" धर्मराज ने कहा-"स्वर्ग ऐसे ही लोगों के लिए बनाया गया है, इसे आदरपूर्वक ले जाओ और आनन्दपूर्वक यहाँ रहने की व्यवस्था कर दो ।"

भक्ति बिना सब सून ज्ञान, कर्म, भक्ति का समुच्चय जीवन के समग्र विकास के लिए अनिवार्य है । बहुसंख्य व्यक्ति भ्रम में पड़े रहकर एकांगी मार्ग पकड़ते हैं व स्वयं को जंजाल में उलझा लेते हैं । महाराजा अज के यहाँ यज्ञायोजन था । एक दिन महर्षि वशिष्ठ जब प्रधान पुरोहित का कार्य सम्भालने जा रहे थे तो मार्ग में उन्हें मंकी नामक व्यक्ति मिला । उसने अपना दुःख प्रकट करते हुए कहा-'देव ! मैंने श्रमशीलता में कोई कमी नहीं छोड़ी, सदैव सदाचरण किया तथा ज्ञानार्जन हेतु सभी ग्रन्थों का स्वाध्याय भी कर डाला परन्तु फिर भी अपने अन्दर अपूर्णता ही पाता हूँ । न तो मेरी कोई प्रशंसा करता है, न मुझे कोई स्नेह ही देता है ।' मुनिवर बोले-'तात ! तुमने कर्म व ज्ञान की दो धाराओं की तो उपासना कर ली पर भावपक्ष को तो भूल ही गए । तुम स्नेह बाँटो-बदले में दस गुना पाओगे । सब जीवधारियों में अपनी ही आत्मा समाई मानकर स्वयं को भक्ति प्रवाह में सराबोर कर डालो । अपनी धारा को परमात्मा के अक्षय आनन्द रूपी गंगा से मिला दो तो तुम सम्मान-श्रेय तो पाओगे ही, उस अभाव की पूर्ति भी होगी जो तुम्हें त्रास दे रही है ।' शीतल वचन सुनकर मंकी को दिशा मिली । वह अर्जित ज्ञान, धन, स्नेह बाँटने लगा और उसकी अपूर्णता समाप्त हो गयी ।

अध्यात्मनस्तु क्षेत्रस्य विकासक्रम पद्धतौ ।
सर्वप्रथममध्यात्मज्ञानस्यास्ति हि भूमिका ॥ २२ ॥
सा न चेन्मानवोजाड्यभवबन्धनपाशितः ।
तिरश्चामिव सम्बद्धः शिश्नोदरपरायणः ॥ २३ ॥
वासनायाश्च तृष्णाया अतिरिक्तमथापि च ।
अहंताया न ज्ञातुं स प्रभवेत् स्थितिरीदृशीः ॥ २४ ॥
आत्मज्ञानमिदं येन स्वरूपं मानवः स्वकम् ।
कर्तव्यं च भविष्यच्च द्रष्टुं पारयति ध्रुवम् ॥ २५ ॥
आधारेण स एतेन सुषुप्तिं तां विहाय हि ।
जागृतौ विशति प्रोक्तः देवजन्मात्मबोधकः ॥ २६ ॥

टीका-अध्यात्म क्षेत्र के विकास क्रम के मार्ग में सर्वप्रथम आत्म-ज्ञान की भूमिका है । वह न हो तो मनुष्य जड़ता के भव-बन्धनों में ही बँधा रहेगा । पाश-बद्ध तिर्यक् योनियों की तरह शिश्नोदर-परायण ही बना रहेगा । वासना, तृष्णा और अहन्ता के अतिरिक्त और कुछ सूझेगा ही नहीं तथा यही स्थिति बनी रहेगी । वह आत्म ज्ञान ही है, जिसके कारण मनुष्य को अपना स्वरूप, कर्तव्य और भविष्य दृष्टिगोचर होता है, उसी आधार पर वह सुषुप्ति छोड़कर जागृति में प्रवेश करता है । आत्मबोध को ही देवजन्म कहा गया है ॥ २२-२६ ॥

व्याख्या-सांसारिक और आध्यात्मिक क्षेत्र में ज्ञान की भूमिका अलग अलग है । बाह्य क्रिया कलापों, जीवन व्यवहार के विभिन्न क्षेत्रों की जानकारी से सर्वथा भिन्न अपने आप का ज्ञान है । 'ज्ञान' को 'प्रकाश दृष्टि' कहा गया है । जिसे वह मिल गयी वह पशु स्तर से ऊँचा उठकर मानव जीवन का लक्ष्य, अपने अवतरण का सही उद्देश्य समझ पाता है ।

अन्य जीवों व मनुष्यों में यही तो अन्तर है । मनुष्य के अन्तः चक्षु खुलने, अन्दर आलोक पहुँचने भर से वह पेट-प्रजनन वाली अपनी चिरसंचित प्रवृत्ति-प्रेरित क्रियाओं को छोड़कर आत्मिक प्रगति का महत्व समझने और उस दिशा में अग्रसर होने का प्रयास करने लगता है । आत्म ज्ञान का अभाव ही चेतन

प्राणधारी मनुष्य को जड़, चलता-फिरता पौधा सिद्ध करता है । जब आत्मज्ञान रूपी प्रकाश किरणें अन्दर प्रवेश करती हैं तो प्रसुप्त की स्थिति जागृति में बदल जाती है ।

मन अनाम तराजू रामकृष्ण परमहंस से इसी तथ्य को स्पष्ट करने का आग्रह करते हुए नरेन्द्र (स्वामी विवेकानन्द) ने पूछा-"भगवन् ! मनुष्य विचारशील और श्रेष्ठतम प्राणी जाना जाता है । फिर भी इसमें दो विभिन्नताएँ पायी जाती हैं । यह एक विरोधाभास ही है कि एक श्रेणी निष्कृष्टता को ही पसन्द करती है तो दूसरी उत्कृष्टता को, परमार्थ परायणता को । ऐसा क्यों ?" परमहंस ने उदाहरण द्वारा समझाते हुए कहा-तराजू का जिधर का पल्ला भारी है उधर को झुक जाता है, जिधर हल्का होता है उधर उठ जाता है । मनुष्य का मन भी तराजू की भाँति है । उसके एक ओर संसार है, दूसरी ओर भगवान् । जिसके मन में संसार, सुखोपभोग, मान-सम्मान का भार अधिक होता है, उसका मन भगवान् की ओर से उठकर संसार की ओर झुक जाता है । जिसके मन में वैराग्य, विवेक और आत्म-ज्ञान की प्रबल उत्कण्ठा का भार हो उसी का मन संसार की ओर से उठकर भगवान की ओर झुकता है ।"

संतुलित मार्ग महात्मा रामानुज से एक गृहस्थ ने प्रश्न किया-'महात्मन् ! क्या कोई ऐसा मार्ग नहीं है कि मुझे यह संसार भी न छोड़ना पड़े और स्वर्ग भी मैं पा सकूँ ।' रामानुज हँसे और बोले-'वत्स ! स्वर्ग कहीं और थोड़े ही है । तुम अपने अन्दर झाँको व सोये को जगाओ, अपने यथार्थ स्वरूप को पहचानकर मनुष्य जैसा व्यवहार करोगे तो स्वर्गीय आनन्द पाने के सुपात्र बनोगे ।' गृहस्थ ने संदेह व्यक्त करते हुए कहा-'पर भगवन ! कहा जाता है कि यह सब तो गृहस्थ को छोड़कर संन्यास लेने पर ही सम्भव है ।' रामानुजाचार्य बोले-'बेटा ! जिसे आत्म कल्याण की सच्ची लगन होती है वह गृहस्थाश्रम निबाहते हुए भी नर पशु सा नहीं, नर नारायण का जीवन जी सकता है । नारकीय यातनाओं से बचने की इच्छा का अभ्युदय ही आत्म जागृति है ।'

गौतमी का पुत्र-शोक निवारण अब उस मोह को क्या कहा जाय जो मनुष्य को मूर्छना में डाले रहता है । जब बोध होता है तो स्थिति बदल जाती है । गौतमी का इकलौता पुत्र मर गया । शोक से विह्वल होकर वह लाश को लिए हुए भगवान बुद्ध के पास पहुँची । उसे आशा थी कि तथागत बालक को पुनः जीवित कर देंगे । बुद्ध ने गौतमी को सान्त्वना देते हुए कहा-"किसी ऐसे घर से थोड़ा जल माँग लाओ, जिसके घर में कभी कोई मृत्यु न हुई हो । उस जल को अभिमंत्रित करके तुम्हारे पुत्र का अभिसिंचन करूँगा और वह पुनः जीवित हो उठेगा ।" गौतमी जल प्राप्त करने के लिए द्वार-द्वार पर घूमने लगी, पर कोई घर ऐसा न मिला जहाँ किसी की मृत्यु न हुई हो । निराश वह वापिस लौट आई ।

तथागत ने कहा-"भद्रे ! तुमने देखा, इस संसार में कोई घर ऐसा नहीं जिसमें किसी की मृत्यु न हुई हो । इसी प्रकार कोई व्यक्ति ऐसा नहीं जिसे मरना न पड़े । आज या कल, सभी अपने-अपने समय पर मरते हैं-फिर इस अपरिहार्य प्रकृति के फन्दे में फँसे हुए हम लोगों को क्यों किसी के लिए शोक करना चाहिए । गौतमी का बोध जग पड़ा । वह मृत पुत्र का संस्कार करके घर लौट गई । शोक को उसने आत्मज्ञान द्वारा शांत कर दिया ।

द्विज कौन ? वन पर्व (महाभारत) के अन्तर्गत यक्ष-युधिष्ठिर सम्वाद में यक्ष एक प्रश्न युधिष्ठिर से पूछते हैं जिसके समाधान में महाप्राज्ञ के इस विवेचन का सार निहित है । यक्ष पूछते हैं-'हे युधिष्ठिर ! ब्राह्मणत्व किससे सिद्ध होता है ?' युधिष्ठिर उत्तर देते हैं-'कुल, स्वाध्याय, शास्त्र श्रवण इनमें से कोई भी ब्राह्मणत्व का कारण नहीं है । आचार मात्र ही ब्राह्मणत्व का कारण है । जिसका सदाचार अक्षुण्ण है, उसने अपना आत्मबोध कर लिया है, अज्ञान से वह दूर है अतः उसे ही द्विज कहना चाहिए ।'

कृष्ण द्वारा अर्जुन को आत्मबोध गीता में कृष्ण-अर्जुन सम्वाद में जो चर्चा हुई है वह वस्तुतः हर व्यक्ति के अन्तरंग पर लागू होती है । अर्जुन के व्यामोह को देख सूत्र संचालक भगवान श्रीकृष्ण सचेत हुए और बाहर से प्राणवान दीखने पर भी भीतर से दीन, दयनीय, कृपण, कायर की तरह व्यवहार कर रहे अर्जुन को धिक्कारा, उसे आत्मबोध का ज्ञान कराया । वस्तुतः यही आत्मबोध अर्जुन का दूसरा जन्म था । गाण्डीवधारी अर्जुन ने जब श्रीकृष्ण से कहा-

नष्टोमोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान् मयाच्युत !
स्थितोऽस्मि गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव ॥

उनका अन्तः का ऊहापोह दूर हुआ और वे भगवान के निर्देशानुसार चलने को उद्यत हुए । यह आत्मबोध जन्य उपलब्धि है । अपना अन्तः जिसे कहे उसे आत्मज्ञान की प्राप्ति के बाद ईश्वरीय सन्देश मानकर जब मनुष्य चल पड़ता है तो ध्येय प्राप्ति सुनिश्चित है ।

फसल बेचने के लिए नहीं

स्वामी रामतीर्थ हमारे देश के एक प्रतिष्ठित विद्वान् संत हो गये हैं । उनकी विद्याध्ययन की रुचि और तेजस्वी बुद्धि से प्रभावित होकर लाहौर कालेज के प्रिंसिपल ने उनका नाम सिविल-सर्विस की परीक्षा के लिए देने का निर्णय किया ।

इस बात की सूचना जैसे ही उन्हें मिली वे तुरन्त ही प्रिंसिपल महोदय के पास जा पहुँचे और उनसे नम्रतापूर्वक बोले-'मैंने अपनी फसल से लाभ उठाने के लिए, उसे बेचकर टके गिनने के लिए मेहनत नहीं की है । मैंने तो उसे बाँटकर खाने के लिए तैयार की है । मैं कोई बड़ा अधिकारी नहीं बनना चाहता । मैं तो सेवक हूँ, अतः सेवा करना चाहता हूँ । इसलिए मैं अफसर बनने की बजाय अध्यापक बनना ही पसन्द करूँगा ।

प्रिंसिपल के समझाने पर भी वे अपने निर्णय पर दृढ़ ही रहे । ज्ञान व कर्म को जो भक्ति से मिला देता है, वह स्वामी रामतीर्थ की तरह फसल बोकर अनेक गुना होते उसे पाता है । अपने सम्बन्ध में यह आत्मबोध जिस जिस को हुआ है, वह महामानव-यशस्वी बना है ।

आत्मप्रेरणयोदेति कृपया च गुरोरयम् ।
यो हि जीवनक्षेत्रस्य प्रथमा भूतिरुच्यते ॥ २७॥
इमं ये प्राप्नुवन्त्यभ्युदयद्वारमनावृतम् ।
कुर्वन्त्यग्रे सरन्त्येते मुख्यलक्ष्यदिशि ध्रुवम् ॥ २८॥

टीका-यह आत्म-प्रेरणा और आत्मबोध गुरु कृपा से होता है । इसे जीवन क्षेत्र की प्रथम विभूति कहा गया है । जो इसे पाते हैं, अभ्युदय का द्वार खोलते और परम लक्ष्य की दिशा में अग्रसर होते हैं ॥ २७-२८ ॥

व्याख्या-अध्यात्म क्षेत्र में मार्ग दर्शक की महत्ता बड़ी महत्वपूर्ण है । पुरुषार्थ तो स्वयं ही करना पड़ता है पर उँगली पकड़ कर चौराहे के भ्रम जंजाल से मुक्ति दिलाना, लक्ष्य बोध करा देना गुरु द्वारा ही सम्भव है । गुरु की कृपा आत्म प्रेरणा के रूप में आती है तथा बोध कराती है कि क्या करना है, किस लिए जीवन मिला है, कैसे इसे सफल बनाना है ? यह हो जाना अर्थात् आत्मिक प्रगति का द्वार खुल जाना । फिर कोई अड़चन मार्ग में नहीं आती ।

संत कबीर ने कहा है-"बलिहारी गुरु आपनो गोविन्द दियो मिलाय ।" भगवान से सूत्र सम्बन्ध जोड़ने वाला भी गुरु ही है । ऐसे गुरु की जितनी प्रशस्ति की जाय कम ही है ।

रामकृष्ण परमहंस, चाणक्य, समर्थ गुरु रामदास, बुद्ध, प्राणनाथ महाप्रभु, गाँधी कभी-कभी ही मिलते हैं और जब शिष्य उनकी कृपा पाकर आत्म बोध को प्राप्त होते हैं तो विवेकानन्द, चन्द्रगुप्त, शिवाजी, आनन्द-अशोक, छत्रसाल, नेहरू-पटेल जैसे महामानव अवतरित होते हैं । गुरु वह पारसमणि है जो अलभ्य होती है पर सुपात्र लोहे के टुकड़े को छूकर उसे सोना बना देती है ।

गुरु को बुलाता है-प्रभु को नहीं ?

सन्त दादू अपने गृहस्थ जीवन में दुकान चलाते थे । एक दिन वे हिसाब में व्यस्त थे । वर्षा हो रही थी । थोड़ी देर में जब सिर उठाया तो उनने अपने गुरुदेव को दुकान के सामने पानी में भीगते हुए खड़ा देखा ।

दादूजी हड़बड़ा कर उठे, दुकान के भीतर लाये और उनकी ओर ध्यान न जाने के लिए क्षमा माँगी । गुरुदेव ने कहा-"बेटा ! तूने मुझे तो देखा पर भगवान तो कब का तेरे दरवाजे पर खड़ा है, उसे क्यों भीतर नहीं बुलाता ?" बात चुभ गई । दादू सन्त बने और उनने गुरुदेव की तरह भगवान् को भी अपने में बुलाकर दम लिया ।

कौन हूँ, यही तो जानने आया हूँ । स्वामी विरजानन्द अपनी कुटिया में ध्यानस्थ थे । इसी बीच बाहर आहट हुई । मूलशंकर (बाद में स्वामी दयानन्द) बाहर खड़े थे । अन्दर से आवाज आई-"कौन है ?" बाहर से उत्तर आया था-'मैं कौन हूँ, यही तो जानने आया हूँ ।' विरजानन्द ने कहा-'आओ ! कब से तेरा इन्तजार था ।' प्रज्ञाचक्षु सम्पन्न गुरु ने ऐसे जिज्ञासु साहसी व्यक्ति को अन्दर बुला लिया और यही वह पल था जब स्वामी दयानन्द का जन्म हुआ । गुरु ने उनकी हर तरह से परीक्षा ली-आत्मबोध कराया और फिर निर्देश दिया कि समाज में व्याप्त अनाचार, कुरीतियों, धर्म के नाम पर छाये आडम्बर को मिटाने अकेले निकल जाओ । गुरु की शक्ति लेकर शिष्य चल पड़ा और धीरे-धीरे दयानन्द सारे समाज पर छा गए ।

समर्थ गुरु और शिवाजी अनावृष्टि में संकटग्रस्त जनता की सहायता के लिए छत्रपति शिवाजी एक बाँध बनवा रहे थे । मजूरी करके सहस्रों व्यक्ति उदर पोषण का आधार प्राप्त कर रहे थे ।

शिवाजी ने एक दिन उन्हें देखा तो गर्व से फूले न समाये । सोचा कि वे ही उतने लोगों को आजीविका दे रहे हैं । यदि वे यह प्रयास न करते तो उतने लोगों को भूखा मरना पड़ता ।

समर्थ गुरु रामदास उधर से निकले । शिवाजी ने उनका सम्मान सत्कार किया और अपने उदार-अनुदान की गाथा कह सुनाई ।

समर्थ उस दिन तो चुप हो गए पर जब दूसरे दिन चलने लगे तो शान्त भाव से एक पत्थर की ओर संकेत करके शिवाजी से कहा-"इस पत्थर को तुड़वा दो ।"

पत्थर तोड़ा गया तो उसके बीच एक गड्ढा निकला, उसमें पानी भरा था और एक मेढ़की कल्लोल कर रही थी ।

समर्थ ने शिवाजी से पूछा-"इस मेंढकी के लिए सम्भवतः तुमने ही पत्थर के भीतर यह जीवन रक्षा की व्यवस्था की होगी ?"

शिवाजी का अहंकार चूर-चूर हो गया और वे समर्थ के चरणों पर गिर पड़े । समर्थ ने उन्हें अपनी भूमिका का बोध कराया और आततायियों से संघर्ष हेतु नीति बनाने के लिए बाध्य किया । समर्थ गुरु रामदास का मार्गदर्शन एवं कृपा ही थी जिसने शिवाजी को समय-समय पर सही सूत्र देकर आपत्ति से बचाया व श्रेय पथ पर अग्रसर किया ।

रामकृष्ण और विवेकानन्द नरेन्द्र स्वामी रामकृष्ण परमहंस के पास दक्षिणेश्वर अक्सर जाते थे । त्रिकालज्ञ परमहंस तो नरेन्द्र का भावी स्वरूप जानते थे पर अपने शिष्य को सांसारिक जाल से निकाल कर आत्मबोध कराने में उन्हें कुछ समय लगा । जब समय आ ही पहुँचा तो उन्हीं की प्रेरणावश नरेन्द्र ने अपनी नौकरी की समस्या उनके समक्ष रखी । परमहंस ने उन्हें काली की शरण में जाने का निर्देश दिया । काली के समक्ष जाकर उनका विराट् स्वरूप साक्षात् सामने देखकर वे मात्र आत्म-शक्ति व भक्ति की याचना के और कुछ नहीं माँग सके । काली के इस साक्षात्कार व रामकृष्ण के मार्गदर्शन ने नरेन्द्र को विवेकानन्द उसी दिन बना दिया था, शक्ति भले ही गुरु से उन्होंने अवसान के पूर्व पाई हो ।

यह एक तथ्य है कि सद्गुरु की प्राप्ति एक बहुत बड़ा सौभाग्य है । यह जिस-जिस को मिली है, वह परम लक्ष्य की ओर बढ़ सकने में सफल हुआ है, मार्ग में आने वाले अवरोधों से मोर्चा लेने की सामर्थ्य भी उसे उनकी ही मिलती रही है ।

आत्मप्रगतिसोपानं द्वितीयं कर्मचोच्यते ।
कर्मार्थात् कर्मयोगोऽयं कर्मयोगश्च सोऽर्थतः ॥ २९ ॥
मनुष्यतापक्षधरकर्त्तव्यानीति मन्यताम् ।
अथाप्युत्तरदायित्वपरिपालनमेव च ॥ ३० ॥
कर्मनिष्ठा सञ्चितैस्तु कुसंस्कारैः समागताः ।
दुष्प्रवृत्तीर्नियच्छन्ती सत्प्रवृत्तीः सुसंगता ॥ ३१ ॥
कुर्वन्ती प्रखरं मर्त्यं प्रामाणिकमथापि च ।
पुरुषार्थं दिशाबद्धं कुर्वन्तः कर्मयोगिनः ॥ ३२ ॥

पराक्रमं समाश्रित्य तं ततस्ते यशस्विनः ।
भवन्ति विविधास्ते सफलतां प्राप्नुवन्ति च ॥ ३३॥

टीका-आत्मिक प्रगति का दूसरा सोपान है कर्म । कर्म अर्थात् कर्मयोग । कर्मयोग अर्थात् मानवता के पक्षधर कर्तव्य उत्तरदायित्वों का परिपालन, कर्मनिष्ठा । संचित कुसंस्कारों के कारण उत्पन्न होने वाली दुष्प्रवृत्तियों पर नियंत्रण करती और सत्प्रवृत्तियों को स्वभाव में सम्मिलित करके मनुष्य को प्रामाणिक एवं प्रखर बनाती है । कर्मयोगी अपने पुरुषार्थ को दिशाबद्ध करते हैं, उस पराक्रम के आधार पर अनेकानेक सफलताएँ पाते और यशस्वी बनते हैं ॥ २९-३३॥

व्याख्या-प्रज्ञासत्र के तीसरे दिन संयमशीलता, कर्तव्यपरायणता प्रकरण के अन्तर्गत चर्चा करते हुए महाप्राज्ञ पिप्पलाद ने कर्म योग को संयम का पूरक बताते हुए कहा था कि उच्च उद्देश्यों से जुड़े कर्तव्यों का पालन करते हुए ही मनुष्य विश्वम्भर कहलाता है । आज मनुष्य के चेतना क्षेत्र की तीन धाराओं के अन्तर्गत चर्चा करते हुए वे आत्मज्ञान के बाद कर्मनिष्ठा की व्याख्या करते हैं । कर्म तो सभी करते हैं पर आत्मिक प्रगति के अन्तर्गत जब भी कर्मयोग की व्याख्या की जाती है, उसे मनुष्यता से जुड़ा तथा दिशाबद्ध होने पर ही समग्र एवं मानवी पुरुषार्थ को सफल बनाने वाला माना जाता है । ऐसे कर्मयोगी ईश्वर द्वारा बड़े विश्वास से सौंपी गयी जिम्मेदारियों का पूर्ण निर्वाह करते हुए आत्म-नियंत्रण का अभ्यास कर अपनी प्रखरता सत्प्रयोजनों में नियोजित कर देते हैं ।

शीमक का समर्पण

कर्मनिष्ठा जब आत्मज्ञान से संयुक्त होती है तो चमत्कार ही हो जाता है । व्यक्ति कुछ का कुछ बन जाता है । जैतवन के नगर श्रेष्ठ शीमक बड़े कंजूस कहलाते थे । उन्होंने इसी अवगुण के कारण कभी अपने बेटे-बहुओं तक का सम्मान नहीं पाया । उन्हीं दिनों आचार्य महीधर ने वेदों का भाष्य किया । बौद्ध प्रभाव को रोकने के लिए महीधर उन्हें घर-घर पहुँचाना चाहते थे किन्तु धन के अभाव में उनका प्रकाशन सम्भव नहीं हो पा रहा था । एक दिन पता चला शीमक कहीं विलुप्त हो गए और विलुप्त हो गई उन्हीं के साथ उनकी सारी सम्पदा भी । बहुत दिन बाद पता चला महीधर के भाष्य घर-घर पहुँच रहे हैं । जिस व्यक्ति ने उन्हें प्रकाशित कराया उसने अपना नाम नहीं बताया, पर उसकी आकृति-प्रकृति शीमक से मिलती थी ।

कर्मयोगी अपने पर नियंत्रण कर स्वयं कष्ट सहकर भी दूसरों को आनन्द देने में अपने जीवन की सार्थकता समझता है ।

चार यज्ञ-एक अक्षय यज्ञ

एक ब्राह्मण ने चार यज्ञ किए पर अन्तिम समय उसकी अवस्था बड़ी दयनीय हो गई । वह धर्मराज के पास अपना एक यज्ञ फल बेचने चल दिया । रास्ते में एक जगह वह भोजन करने बैठा, उसी जगह कई दिन का भूखा एक संत पड़ा था, ब्राह्मण ने आधा भोजन उसे दे दिया । पर इससे उसकी संतुष्टि नहीं हुई । इस पर ब्राह्मण ने उसे सारा भोजन खिलाया और धर्मराज के पास चल दिया । धर्मराज ने पूछा-'तुम्हारे चार यज्ञ और एक अक्षय यज्ञ जमा हैं, इसमें से कौन-सा यज्ञफल बेचते हो ?' ब्राह्मण पाँचवे यज्ञ की बात सुनकर आश्चर्यचकित हुआ । जब धर्मराज ने बताया कि स्वयं कष्ट सहकर दूसरों की सहायता करना यज्ञ नहीं वरन् अक्षय यज्ञ है तब ब्राह्मण ने शेष जीवन को परोपकार में लगाने का निश्चय कर लिया । वस्तुतः पिछड़े हुए और दुखियों की सहायता करना, गिरे हुये को उठाना सबसे बड़ा यज्ञ कार्य है ।

व्यायाम सिखाने वाला साधक

एक व्यक्ति बहुत-बहुत दिनों तक बाहर रहता और लौटता । कई बार तो पड़ौसियों को भी पता नहीं लगता कि वह कब चला गया । उनके पड़ौसी ने एक बार पूछा-'आजकल आप क्या कर रहे हैं ? यहाँ बहुत कम दिखाई देते हैं ।' उसने उत्तर दिया-'भाई ! अब शरीर की तीसरी अवस्था चल रही है । भगवान् की सेवा और पूजा-परमार्थ भी करना चाहिए ।'

पड़ौसी को सन्देह हुआ कि कहीं वह अनुचित काम तो नहीं कर रहा है । वह तो घर में रहकर भी की जा सकती है । उसने छिपकर तलाश की तो पता चला कि वह गाँव-गाँव जाकर व्यायामशालाएँ खुलवाता है । लौटने पर पूछा-'आप तो कहते हैं कि पूजा-पाठ करते हैं, जबकि तथ्य यह है कि आप लोगों को व्यायाम की शिक्षा देते हैं ।' जब यह चर्चा चल रही थी, उधर से समर्थ गुरु रामदास गुजर रहे थे । उन्होंने कहा-"भाइयों ! जो अपनी सामर्थ्य को

सत्प्रयोजनों में लगा देता है, राष्ट्र को समर्थ-सशक्त बनाने की पीड़ा अन्तः में लिए परमार्थरत् रहता है, वह भगवान् का सबसे बड़ा भक्त है । नाम जपने से भी बड़ा पुण्य इस पवित्र कार्य का माना गया है ।"

रखवाले का कर्मयोग-शिक्षण

एक बार एक व्यक्ति अकाल से पीड़ित अपने प्रान्त को छोड़ सपरिवार दूसरे प्रान्त पहुँचा । एक बगीचे के मालिक ने उसको भली-भाँति परखकर आमों के वृक्षों की रखवाली हेतु नियुक्त कर दिया । जैसी ईमानदारी और श्रम से वह बगीचे का ध्यान रखता था, उससे मालिक भी संतुष्ट था । रखवाली करने वाले ने उसी काम में वर्षों गुजार दिए । जितना मिलता उसी से संतुष्ट रहता । जो भी बचता वह आस-पास बस्ती में रहने वाले गरीबों में बाँट देता । कहता-'मैं भी इसी स्थिति से आया था, अब जितना सम्भव हो सकता है करता रहूँगा । तुम लोग भी स्वावलम्बी बनो, यही मेरी कामना है ।'

एक दिन मालिक ने नौकर से कहा-'कुछ मेहमान आये हैं, मीठे आम तोड़कर लाओ ।' नौकर गया और कुछ बड़े-बड़े पके आम एकत्र कर लाया । आम खट्टे निकले । मालिक बोला-"तुम्हें यहाँ वर्षों हो गए, तुम यह भी नहीं जानते कि किस पेड़ के आम खट्टे हैं, किसके मीठे ।" नौकर ने विनीत भाव से कहा-"मालिक ! मैं तो रखवाली करने वाला नौकर हूँ । किसी दूसरे को इसका एक फल भी नहीं चोरी करने देता तो स्वयं बिना किसी अधिकार के फल कैसे चख सकता हूँ ।"

मालिक ने गद्‌गद् भाव से कहा-'ईमानदार तो मैंने बहुत देखे हैं पर तुझ जैसा कर्मनिष्ठ, निर्लोभी मैंने पहली बार ही देखा है ।'

सृष्टि को सुव्यवस्थित बनाने और जो भी कुछ दिया गया है उसे कर्मयोगी के नाते सम्भाल-सँजोकर रखने का दायित्व हर मनुष्य का है । जो इसमें सफल होता है, वह उतना ही श्रेय का भागी होता है, सम्मान पाता एवं दूसरों के लिए प्रेरणा स्रोत बनता है ।

सम्राट् अशोक ने गठरी लादी

एक बार महाराजा अशोक के राज्य में अकाल पड़ा । जनता भूख तथा प्यास से त्रस्त हो उठी । राजा ने तत्काल राज्य में अन्न के भण्डार खुलवा दिये । सुबह से लेने वालों का ताँता लगता और शाम तक न टूटता । एक दिन संध्या हो गई । जब सब लेने वाले निबट गये तो एक कृशकाय बूढ़ा उठा और उसने अन्न माँगा । बाँटने वाले भी थक चुके थे । अतः उन्होंने उसे डाँटकर कहा-'कल आना आज तो अब खैरात बन्द हो गई ।'

तभी एक हृष्ट-पुष्ट शरीर के नवयुवक जैसा व्यक्ति उधर आया और बाँटने वालों से कहा-'बेचारा बूढ़ा है । मैं देख रहा हूँ बड़ी देर से बैठा है यह । शरीर से दुर्बल होने के कारण सबसे पीछे रह गया है । इसे अन्न दे दो ।' उसकी वाणी में कुछ ऐसा प्रभाव था कि बाँटने वालों ने उसे अन्न दे दिया । उस नवयुवक की सहायता से उसने गठरी बाँध ली । अब उठे कैसे ? तब वही युवक बोला-'लाओ, मैं ही पहुँचाये देता हूँ' और गठरी उठाकर पीछे-पीछे चलने लगा ।'

बूढ़े का घर थोड़ी दूर पर रह गया था । तभी एक सैनिक टुकड़ी उधर से गुजरी । टुकड़ी के नायक ने घोड़े पर से उतर कर गठरी ले जाने वाले को फौजी अभिवादन किया । उस व्यक्ति ने संकेत से आगे कुछ बोलने को मना कर दिया । फिर भी बूढ़े की समझ में कुछ-कुछ आ गया । वह वहीं खड़ा हो गया कहने लगा 'आप कौन हैं, सच सच बताइये ।' वह व्यक्ति बोला-'मैं एक नौजवान हूँ, और तुम वृद्ध हो, दुर्बल हो । बस इससे अधिक परिचय व्यर्थ है । चली बताओ तुम्हारा घर किधर है ।' पर अब तक बूढ़ा पूरी तरह पहचान चुका था । वह पैरों में गिर गया और क्षमा माँगते हुए बड़ी मुश्किल से बोला-'प्रजापालक ! आप सच्चे कर्मयोगी हैं ।'

अशोक के समान ही कर्मयोगी समृद्धि, यश और प्रतिष्ठा अनायास ही पा जाते हैं । यद्यपि उन्हें उसकी कामना नहीं होती ।

वर्द्धते चेद् विकासस्य क्रमो ज्ञानेन कर्म च ।
युज्यते प्रौढताऽऽयाति ततोभक्तिर्विजृम्भते ॥ ३४॥
क्रीडन्त्येवार्भकास्ते च क्रीडन्त्यपि किशोरकाः ।
प्रौढाः क्रीडन्ति कुर्वन्ति पौरुषोपार्जनान्यपि ॥ ३५॥

ज्ञानस्य कर्मणो भक्तेस्त्रिवेणी सेदृशं मता ।
गंगायमुनायोर्योगे यथा शुभ्रा सरस्वती ॥ ३६ ॥
ज्ञानस्य कर्मणश्चापि संयुक्तोऽभ्यास एष चेत् ।
दिशां शुद्धां क्रामतीत्थं तत्र भक्तेर्नवोदयः ॥ ३७ ॥
आत्मनस्तु विकासस्य प्रौढतायां तु कर्मणा ।
ज्ञानेन सह भक्तेः स उदयो नव उच्छलेत् ॥ ३८ ॥

टीका–विकासक्रम बढ़ता है, तो ज्ञान के साथ कर्म जुड़ता है । प्रौढ़ता आती है, तो कर्म के अतिरिक्त भावना की उमंगे भी उभरती हैं । बालक मात्र खेलते हैं, किशोर खेलते और पढ़ते हैं, प्रौढ़ खेलते भी हैं, पढ़ते भी हैं और उपार्जन पुरुषार्थ भी करने लगते हैं । ज्ञान, कर्म और भक्ति की त्रिवेणी ऐसी ही है, जैसे गंगा में यमुना का मिलन और इससे कुछ ही आगे उनके साथ सरस्वती का समन्वय । ज्ञान और कर्म का संयुक्त अभ्यास यदि सही दिशा में चल रहा होगा, तो उसमें भक्ति का नया उभार भी होगा । आत्म–विकास की प्रौढ़ता में ज्ञान–कर्म के साथ भक्ति का नया उभार उमँगता है ॥ ३४–३८ ॥

व्याख्या–सद्ज्ञान प्रेरित कर्मों में भावना का समावेश अतिरिक्त परिपक्वता का चिह्न है । यह आध्यात्मिक प्रगति की चरम सीमा है । भाव संवेदनाओं, श्रेष्ठता की उमंगों के जीवन में समावेश का अर्थ है श्रद्धा को, ईश्वर विश्वास को अपने अन्तः में स्थान दे देना । ज्ञान व कर्म को जिस व्यक्ति ने अपने जीवन में सत्प्रयोजनों से जोड़ दिया हो भक्ति की भाव तरंगें स्वतः ऊपर उमड़ आती हैं । ज्ञान, कर्म, भक्ति की यह त्रिवेणी व ऐसा तीर्थराज हम सबके अन्दर विद्यमान है जिसमें स्नान-अवगाहन कर हम अपने जीवन को कृत-कृत्य बना सकते हैं ।

पहले कर्मयोग, तब संन्यास

कौशलराज प्रसेनजित ने परिव्रज्या धर्म ग्रहण किया । उन्हीं दिनों गौतमी ने भी भिक्षु संघ में प्रवेश किया ही था । महिलाओं को साधना प्रशिक्षण देकर उन्हें कार्य क्षेत्र में उतारने का दायित्व उन्होंने लिया था । प्रयास उनका यह था कि राजा की बहन सुमना भी परिव्रज्या ग्रहण कर लें किन्तु उनके इस भावावेश को तथागत ने विराम देकर समझाया–"पहले उसे गृहस्थ धर्म का परिपूर्ण निष्ठा के साथ पालन करने दें । वहाँ रहते हुए भी वह संघाराम में जो सेवा कार्य कर लेती हैं वही अपने आप में काफी है । धीरे–धीरे इस कर्मनिष्ठा से जब भावनाएँ उभरेंगी, वे स्वतः परिव्रजा लेंगी ।" कालान्तर में वे अपना दायित्व पूराकर परिव्राजक बनीं और गौतमी से भी श्रेष्ठ स्तर पर प्रतिष्ठित हुईं । वस्तुतः परिपक्वता आने पर स्वतः वह स्फुरणा उठने लगती है, जो व्यक्ति की दिशा बदल देती है ।

श्रमशीलता का शिक्षण

क्रमिक सोपानों पर चढ़ते–चढ़ते ही वह स्थिति आती है, जब मनुष्य ईश्वर भक्ति को सही अर्थों में समझ पाता है । श्रम व कर्म की अवहेलना कर भक्ति की बात तो सोचना ही नहीं चाहिए ।

अश्वघोष को वैराग्य हो गया । संसार से विरक्त होकर उन्होंने घर–परिवार त्याग दिया तथा ईश्वर दर्शन की अभिलाषा से वह जहाँ–तहाँ भटके पर शान्ति न मिली । कई दिन अन्न के दर्शन न होने से क्षुधार्त और थके हुए अश्वघोष एक खलिहान के पास पहुँचे । एक किसान शान्ति व प्रसन्नमुद्रा में अपने काम में लगा था । उसे देखकर अश्वघोष ने पूछा–'मित्र ! आपकी प्रसन्नता का रहस्य क्या है ?'

'ईश्वर दर्शन'–उसने संक्षिप्त उत्तर दिया । 'मुझे भी उस परमात्मा के दर्शन कराइये ?' विनीत भाव से अश्वघोष ने याचना की । 'अच्छा', कहकर किसान ने थोड़े चावल निकाले । उन्हें पकाया, दो भाग किए, एक स्वयं अपने लिए, दूसरा अश्वघोष के लिए । दोनों ने चावल खाये, किसान अपने काम में लग गया । कई दिन का थका होने के कारण अश्वघोष सो गया । प्रचण्ड भूख में भोजन और कई दिन के श्रम के कारण गहरी नींद आ गई और जब वह सोकर उठा तो उस दिन जैसी शांति व हल्का–फुल्का उसने पहले कभी अनुभव नहीं किया था । किसान का दिया सन्देश अब उन्हें अच्छी तरह समझ में आ गया । क्षणिक वैराग्य मिटा और उन्होंने अनुभव किया कि अनासक्त कर्म ही

वह सीढ़ी है जिस पर चढ़कर ईश्वर साक्षात्कार का पथ प्रशस्त हो सकता है, कर्म से पलायन नहीं ।

मुद्गल ऋषि ने स्वर्ग नकारा

ऋषि मुद्गल कुरुक्षेत्र की धर्म भूमि में तपस्यारत थे । धर्माचरण, आराधना और उदार वृत्ति द्वारा जीवन निर्वाह उनके आदर्श थे । मास के पहले पक्ष में वे खेतों से धान बीनकर चावल एकत्र करते , दूसरे पक्ष में उसे यज्ञ और अतिथि सत्कार में व्यय कर देते । ऋषि दुर्वासा छह हजार शिष्यों सहित मुद्गल की परीक्षा हेतु उनके आश्रम पर कई बार गए और निस्पृह मुद्गल ने उन्हें हर बार आतिथ्य द्वारा पूर्णत: संतुष्ट कर दिया ।

दुर्वासा ऋषि मुद्गल पर कृपालु हुए । उन्होंने कुरुक्षेत्र के इस तपस्वी को स्वर्ग प्राप्ति का वरदान दिया । स्वर्ग ले जाने के लिए आये देवदूतों को नम्रतापूर्वक मना करते हुए कहा-"हे दूतों ! खेद है तुम्हें एकाकी ही स्वर्ग लौटना पड़ेगा । मैं तुम्हारा साथ नहीं दे सकूँगा । जिस लोक में कर्म को स्थान नहीं वहाँ केवल सुख भोगने मैं नहीं जाना चाहता । कर्म करते हुए ही मैं सौ वर्षों तक जीने की इच्छा रखता हूँ । मुझे अपना यह कर्म लोक ही प्रिय है, जहाँ कर्म साधना व भक्ति के अवलम्बन द्वारा मैं निर्वाण प्राप्त कर सकता हूँ ।" तपस्वी मुद्गल मृत्युलोक में ही लोक मंगल के लिए चिर साधना करते हुए निर्वाण को प्राप्त हुए ।

भक्ति रस की गंगोत्री बहाने वाले चैतन्य महाप्रभु

यह भारत की आर्ष परम्परा रही है कि ज्ञानार्जनोपरान्त कर्मभूमि में कदम रखते थे । प्रौढ़ता की स्थिति आने पर अन्दर से स्वत: भक्ति का उभार आता था व परिव्रज्या धर्म निभाने लोग घर छोड़कर निकल पड़ते थे । जब-जब जैसी स्थिति विनिर्मित हुई है, महामानव उस स्थिति के अनुसार जन समुदाय को दिशा देते आए हैं । चैतन्य महाप्रभु ने देखा कि भक्ति योग की धारा का तो लोप ही हो चुका है । भक्ति पर शृंगार रस अपने विकृत रूप में जन समुदाय पर छाया हुआ है । लक्ष्य प्राप्ति के स्थान पर वह कुत्सित मनोरंजन का साधन अवश्य बन गया है । उन्होंने बंगाल से वृन्दावन तक पद यात्रा की, रास्ते भर भक्ति की धारा प्रवाहित करते आये, शुष्क हृदयों से शून्य को मिटाया, उन्हें कर्म करने के बाद भक्ति योग का मार्गावलम्बन लेने हेतु प्रेरित किया तथा विकृत मान्यताओं का निवारण किया । वृन्दावन में उन्होंने भगवान श्रीकृष्ण की जीवन-गाथा को प्रेरणापरक मोड़ देकर उन स्थानों को जीवन्त तीर्थ बना दिया जहाँ भगवान ने कभी अपनी लीला रची थी । भक्ति का जीवन के साथ यह समन्वय ही इस अवतारी महाशक्ति की विशेषता थी ।

लोकमान्य तिलक का गीता रहस्य

बाल गंगाधर तिलक स्वतंत्रता संग्राम के सेनानी थे । जीवन भर कर्म में विश्वास रखने वाला यह योद्धा जब अँग्रेजों द्वारा जेल में बन्द कर दिया गया तो उसने वहाँ भी 'गीतारहस्य' लिख डाला । परिस्थितियों के प्रतिकूल होते हुए भी ज्ञान व भक्ति की समन्वित धारा पर ऐसी विस्तृत समीक्षा युक्त विवेचना जेल में लिखी जाना उनकी आंतरिक परिपक्वता का ही परिणाम था । अन्त: से जब प्रभु के प्रति समर्पण का उल्लास फूटता है तो वह यह स्वरूप भी ले लेता है और जब देश भक्ति के रूप में निकलता है तो भगतसिंह, आजाद जैसे फाँसी पर चढ़ जाने वाले वीर-बलिदानियों के त्याग-उत्सर्ग का स्वरूप ले लेता है । हैं ये सब विकास के क्रमिक सोपान व उनकी बहिर्अभिव्यक्तियाँ ही ।

प्रेमादर्शान् प्रतीत्थं तानुन्नेतुं चाप्युन्नतान् ।
वर्धमानजनाँश्चापि प्रोत्साहयितुमञ्जसा ॥ ३९॥
सहजा या समुत्कण्ठा तत्र भक्तेर्मनोरमा ।
सुषमा दृश्यन्ते दिव्या विशाला च महामुने ॥ ४०॥

टीका-आदर्शों के प्रतिप्रेम । पिछड़ों को उठाने की, बढ़तों को बढ़ाने की सहज उत्कण्ठा में भक्ति की झाँकी मिलती है, जो दिव्य व विशाल होती है ॥ ३९-४०॥

व्याख्या-भक्ति का अर्थ है-श्रेष्ठता से प्रगाढ़ स्नेह । भक्ति हमेशा सोद्देश्य होती है और उसमें देवत्व के अनुरूप ही आत्म विस्तार की भावना का समावेश होता है । सच्चा भक्त कभी भी अपने से छोटों-पिछड़ों को उठाये बिना अपने उत्कर्ष की बात नहीं सोचता । भक्ति का अर्थ विह्वल होकर भगवान का मात्र स्मरण करना नहीं अपितु अपने भीतर उमड़ने वाली श्रद्धा और करुणा से असंख्यों असमर्थों को अनुप्राणित करना है ।

सबसे जरूरी यही काम

मदनमोहन मालवीय किसी अँग्रेज अफसर से मिलने जा रहे थे । अभी थोड़ी ही दूर पहुँचे थे कि रास्ते में पड़ी हुई एक निर्धन स्त्री दिखाई दी । उसके पाँव में घाव हो गये थे । मक्खियाँ काट रही थीं, इससे उसे असह्य वेदना हो रही थी ।

मालवीय जी ने अपनी घोड़ा गाड़ी रुकवाई । स्वयं उतरे और उस स्त्री को उठाकर गाड़ी में बैठा कर अस्पताल की ओर चल पड़े । एक युवक ने यह देखा तो दौड़ा-दौड़ा आया और बोला-"पण्डित जी ! इस स्त्री को लाइये मैं अस्पताल पहुँचा देता हूँ । आप किसी आवश्यक कार्य में जा रहे हैं, वहाँ जाइये । आपका समय ज्यादा मूल्यवान है ।" मालवीय जी ने कहा-'यह कार्य ज्यादा आवश्यक है । मैं उसी के लिए जिन्दा हूँ' यह कहकर उन्होंने गाड़ी आगे बढ़वाई और उस स्त्री को स्वयं अस्पताल पहुँचा कर आये ।

कोट ही दान में दे दिया

दो भाई तीर्थ यात्रा पर निकले । रुपये-पैसे का उनके पास कोई अभाव न था । उनमें से एक भाई ने धन बाँटना प्रारंभ किया । वह हर भिखारी को धन बाँटता चला जाता था । अच्छे, बुरे, पवित्र, अपवित्र, इसे धन की आवश्यकता है अथवा नहीं-उसके मस्तिष्क में ऐसा कोई भी विचार न था । एक निर्धन गृहस्थ जो कई दिन के शीत के कारण व्याकुल था सामने से गुजरा, दूसरे भाई ने अपना कोट उतार कर उसे देते हुए कहा-'लो भाई ठण्डक से शरीर बचाओ । तुम्हारे पीछे एक परिवार लगा है ।'

पहला भाई नत-मस्तक हो गया । उसने अनुभव किया-'तीर्थ यात्रा का सही उद्देश्य तो भाई ने ही समझा है ।' जो पराये दुःख को अपना मानता है, उसे जो आकुलता दुःख बाँटने की बनी रहती है, वही सच्ची भक्ति है ।

सिद्धार्थ और घायल हंस

राजकुमार सिद्धार्थ और मंत्री पुत्र देवदत्त दोनों साथ-साथ बाग में घूमने जा रहे थे । सहसा सिद्धार्थ ने देखा दो सुन्दर राजहंस आकाश में जा रहे हैं । उन्हें देखकर वह प्रसन्न हो उठा, 'देवदत्त ! देखो ये कितने सुंदर पक्षी जा रहे हैं ।' देवदत्त ने ऊपर देखा और अपना धनुषबाण उठाया, एक पक्षी को मार गिराया । सिद्धार्थ की प्रसन्नता शोक और व्याकुलता में परिणत हो उठी । सिद्धार्थ दौड़े और रक्त से सने राजहंस को गोदी में उठा लिया और सीने से लगाकर रोने लगे ।

'इस पर मेरा अधिकार है सिद्धार्थ । देखते नहीं हो, इसे मैंने अपने बाण से मारा है ।' देवदत्त ने कहा । सिद्धार्थ बिना कुछ कहे-सुने पक्षी को लेकर चले गये अपने भवन में और वहाँ उसकी सेवा-सुश्रूषा करने लगे । देवदत्त ने उस समय राजकुमार समझ कर कुछ झगड़ा नहीं किया, एक बार पुनः उस पक्षी को माँगा किन्तु जवाब इन्कारी में ही मिला । सिद्धार्थ बड़े प्यार से उसकी सेवा करने लगे ।

देवदत्त ने न्याय प्राप्ति के लिए महाराज के पास जाकर शिकायत की । महाराज ने दोनों को राज दरबार में उपस्थित होने की आज्ञा दी । एक ओर देवदत्त खड़े थे, दूसरी ओर सिद्धार्थ अपनी गोद में पक्षी को लिए हुए । देवदत्त ने अपना तर्क प्रस्तुत किया-'महाराज मैंने पक्षी को बाण मारा, इसलिए इस पर मेरा अधिकार है ।' 'किन्तु मैंने इसे बचाया है । मारने वाला नहीं, बचाने वाला बड़ा होता है । इसलिए उसका ही अधिकार होना चाहिए ।' सिद्धार्थ ने बिना पूछे कहा । महाराज ने पक्षी को दोनों के बीच में छुड़वा दिया और वह स्वयं सिद्धार्थ के पास चला गया । यही है वह अन्तः की भावना जो बचपन में बीज रूप में जन्म लेकर बाद में आत्म विस्तार का स्वरूप लेती है और व्यक्ति को विश्व मानव बना देती है ।

मेरा कुछ नहीं, सब देश का

प्रसिद्ध साहित्यकार व 'मराठा' दैनिक के सम्पादक आचार्य प्रह्लाद केशव अत्रे ने अपनी जीवन भर की जमा पूँजी करीब ५० लाख रुपयों की अमानत को भारत की जनता के नाम वसीयत में लिख दिया । परिवार वालों को अपनी इस सम्पदा में से मात्र उतना ही लेने का प्रावधान रखा जितना कि विवेक सम्मत था । उनका यह मत था कि जो स्वयं हाथ से कमाने योग्य है उसका इस सम्पत्ति पर अपना कोई अधिकार नहीं है । अपनी सम्पदा का ट्रस्ट बनाकर विश्वस्त ट्रस्टी नियुक्त किये तथा पत्नी को पाँच सौ रुपये प्रतिमाह सारे खर्च सहित वसीयत में लिख दी । अपनी समृद्ध पुत्रियों को उन्होंने सम्पदा में से एक पैसा भी नहीं दिया । अपनी वसीयत में उन्होंने लिखा कि सारा देश मेरा कुटुम्ब है । इन्हें ही अपना स्वजन उत्तराधिकारी मानकर मैं सब कुछ उन्हें समर्पित कर जा रहा हूँ ।

स्वशरीरे कुटुम्बे च सीमितं प्रेम प्रोच्यते ।
मोहो, व्यापकतां यातो भक्तित्वेन प्रशस्यते ॥ ४१ ॥
उदारसेवारूपेऽथ साधनारूपकेऽपि वा ।
उदारा परिणतिस्तस्या स्वत्वं सर्वेषु वर्धते ॥ ४२ ॥
नहि तत्र परः कोऽपि दृश्यते तात् स्वकात् सदा ।
सुसंस्कृताँश्च सुखिनः कर्तुमाकुललतोचिता ॥ ४३ ॥
भक्तेषु मनुजेष्वेवमाकुलत्वं तु दृश्यते ।
ग्रहीतुं विस्मरन्तस्ते दातुमेव स्मरन्ति हि ॥ ४४ ॥

टीका-प्रेम जब शरीर, परिवार तक सीमित रहता है, तो उसे मोह कहा जाता है, किन्तु जब वह व्यापक आत्मीयता के रूप में प्रकट होता है तो भक्ति भावना के रूप में सराहा जाता है । उसकी परिणति उदार सेवा-साधना के रूप में होती है । सभी अपने लगते हैं । कोई बिगाना नहीं रहता । अपनों को सुखी और सुसंस्कृत बनाने के लिए आकुलता उत्पन्न होना स्वाभाविक है । भक्तजनों में ऐसी ही पारमार्थिक आकुलता पायी जाती है । वे लेने की बात भूल जाते हैं, देना ही स्मरण रहता है ॥ ४१-४४ ॥

व्याख्या-परिवार परिकर से प्रेम आरम्भ होता है एवं विश्व परिवार तक पहुँचकर विस्तृत बन जाता है । जो परिवार को स्नेह-सहकार से न भर सका, वह विश्व को क्या प्यार बाँट पायेगा ?

भक्त महिला को प्रभु का सन्देश

'मैं तो इतने दिनों से भगवान् की भक्ति कर रही हूँ'-एक स्त्री ने संत को बताया-'पर मुझे तो आज तक उन्होंने कभी स्वप्न में भी दर्शन नहीं दिया, आप कहते हैं कि वे आप से कभी अलग भी नहीं होते ?' बात यह थी कि वह स्त्री भक्ति तो करती थी पर अपने परिवार, पड़ौसी और सम्बन्धियों सबके साथ उसका व्यवहार बहुत रूखा, अहंकारपूर्ण था । घर वाले भी उसके आचरण से दुःखी थे ।

संत बोले-'आज भगवान् से पूछ कर बतायेंगे आप से क्यों नहीं मिलते ।' दूसरे दिन स्त्री मिली तो वह बोले-'भाई ! भगवान् तुम पर नाराज हैं । कह रहे थे वह हमारे बच्चों से लड़ती, मारती, पीटती और द्वेष रखती है । उससे मिलने का मन नहीं करता ।' स्त्री समझ गई । उस दिन से उसने अपना व्यवहार मीठा बना लिया । फलस्वरूप दूसरे लोग उसे इतना प्यार और आदर देने लगे कि वह शांति में ही भगवान की उपस्थिति अनुभव करने लगी ।

युधिष्ठिर को यक्ष का वरदान

यक्ष-युधिष्ठिर संवाद के पश्चात् वर माँगे जाने का अवसर आने पर युधिष्ठिर ने मोह से परे जो विशालहृदयता का परिचय दिया, वह हर व्यक्ति के लिए एक अनुकरणीय संदेश है ।

पाण्डव वन भ्रमण कर रहे थे कि उन्हें प्यास लगी । नकुल कुछ दूर पर बने तालाब से पानी लेने गये । तालाब पर यक्ष का आधिपत्य था । वह केवल उसी को जल लेने देता था जो उसके प्रश्नों का उत्तर दे सकता था । यक्ष ने नकुल से कुछ प्रश्न पूछे । वे उसका उत्तर न दे सके तो शाप से मूर्छित होकर गिर पड़े ।

नकुल को न आया देखकर एक-एक करके सब पाण्डव वहाँ गये और वे भी उसी प्रकार मूर्छित हो गये । अन्त में युधिष्ठिर गये और उनने यक्ष का समाधान पूरे सन्तोष से किया । इस पर यक्ष ने एक भाई को जीवित करा लेने को कहा । युधिष्ठिर ने नकुल को जीवित करने की प्रार्थना की क्योंकि भीम अर्जुन तो उनकी सगी माँ के पुत्र थे । माद्री पुत्रों में से एक रहना आवश्यक था ताकि माद्री को भी कुन्ती की तरह ही पुत्रवती रहने का सुख मिले । यक्ष जो स्वयं धर्मराज थे एवं परीक्षा हेतु यक्ष रूप में आये थे, उनकी उच्च भावना से बहुत प्रसन्न हुए और उन्होंने चारों को जीवित कर दिया ।

शंकराचार्य मोह से छूटे

जब विश्व मानवता पुकार रही हो तो महापुरुष जीवात्मा को सांसारिक वासना के बन्धन से बाँधने वाली माया-'मोह' से बचते हैं व अपना प्रगति पथ स्वयं प्रशस्त करते हैं । आद्य शंकराचार्य की बचपन से ही वैराग्य लेकर धर्म संस्कृति की सेवा करने में रुचि थी परन्तु माँ

उन्हें किसी भी स्थिति में छोड़ने को तैयार न थी । बड़े उद्देश्यों की पूर्ति के लिए ममता का त्याग आवश्यक है । अत: अब उन्हें एक दूसरा उपाय सूझा । एक दिन नदी में स्नान कर रहे थे । किनारे माता बैठी पुत्र का स्नान करना देख रही थी । शंकराचार्य जल में थोड़ा आगे जाकर चिल्लाने लगे, 'कोई मुझे बचाओ मगर ने पकड़ लिया है ।' माँ इससे घबड़ा उठी, कोई भी पास जाने को तैयार न था । जगद्गुरु ने माता को पुकारा 'माँ ! मुझे बचाना चाहती है तो मुझे शंकर को सौंप दे, वही मेरी रक्षा कर सकते हैं ।' 'मरने से तो बेटे का संन्यासी होना अच्छा है'-यह सोचकर माता ने बेटे को शंकर की भेंट दे दिया । शंकराचार्य धीरे-धीरे बाहर निकल आये । अब उनके आगे कोई बाधा न थी । संसार के कल्याण को शंकराचार्य ने माता के मोह की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण समझा और भारत के कोने-कोने में घूमकर उन्होंने सद्ज्ञान का अलख जगाया । यही नहीं, माँ को दिये वचन के अनुसार संन्यासी होकर भी उन्होंने अपनी माँ का दाह कर्म स्वयं किया ।

उदारता विश्व उद्यान को समुन्नत बनाने के लिए जब विकसित होने लगती है, तो समझना चाहिए कि भक्ति भावना का उदय अन्त: में हो गया । ऐसी सेवा सच्ची सार्थक सेवा कही जाती है । ऐसे भक्तजन बिना दिये सन्तोष नहीं पाते, हमेशा दूसरों को प्रसन्न, सुसंस्कृत देखने को आकुल बने रहते हैं ।

ऐसी सम्पत्ति को नमस्कार

सन्त फ्रांसिस ने एक कोढ़ी को चिकित्सा के लिए धन दिया, वस्त्र दिये व उसकी सफाई आदि कर सेवा सुश्रूषा की । एक गिर्जाघर की मरम्मत के लिए दुकान की कपड़े की गाठें बेचकर सारा धन दे दिया । उनके पिता को जब यह पता चला तो उन्हें मारा पीटा गया व सम्पदा के उत्तराधिकार से वंचित करने की धमकी भी मिली ।

पिता की धमकी सुनते ही वे घर से निकल पड़े, यह कहकर कि "आपने आज मुझे एक बहुत बड़े मोह-बन्धन से मुक्त कर दिया । ऐसी सम्पत्ति को मैं दूर से ही प्रणाम करता हूँ ।" पिता के दिए कपड़े भी वापस कर, उत्तराधिकार में मिल सकने वाली भारी सम्पदा को लात मारकर वे घर से निकल गए । कालान्तर में ईसाई धर्म के व्यापक विस्तार में उनका कितना बड़ा योगदान रहा, सभी यह जानते हैं । लोक सेवी अपने मार्ग में बाधा बनने वाली सम्पदा से मोह न रख विश्वमानव की सेवा की ही बात विचारते हैं ।

धर्म का मर्म

एक साधु शिष्यों के साथ मेले में भ्रमण कर रहे थे । एक स्थान पर एक बाबा माला फेर रहे थे, लेकिन बार-बार आँख खोल कर देख लेते कि लोगों ने कितने पैसे दान में दिये हैं । साधु हँसे व आगे बढ़े, आगे एक पण्डित जी भागवत कह रहे थे पर उनका चेहरा यन्त्रवत था-शब्द भी भावों से कोई संगति नहीं खा रहे थे, चेलों की जमात बैठी थी । उन्हें भी देखकर साधु खिल-खिलाकर हँस पड़े । इससे आगे बढ़ने पर साधुजी को एक चिकित्सक रोगी की परिचर्या करता मिला । वह घावों को धोकर मरहम पट्टी करता जाता । अपनी मधुर वाणी से उसे बराबर सांत्वना दे रहा था । यह देखकर साधु की आँखों में आँसू आ गए ।

आश्रम लौटते ही शिष्यों ने पहले दो स्थानों पर हँसने व फिर रोने का कारण पूछा तो वे बोले-"बेटा ! पहले दो स्थान पर तो मात्र आडम्बर था पर भगवान के नाम के लिए आकुल एक ही व्यक्ति दीखा-वह चिकित्सक । उसकी सेवाभावना देखकर अन्दर से हृदय द्रवित हो उठा । न जाने कब जनमानस धर्म के सच्चे स्वरूप को समझेगा ।"

गंगा बढ़ती चली गयी

गंगा जब गौमुख से निकली तो संकीर्ण धारा के रूप में । धीरे-धीरे वे अपने अन्दर अच्छा, बुरा सबको समाहित करती हुई सतत आगे बढ़ती चली गयीं । भू सम्पदा को अभिसिंचित करने की आकुलता उन्हें रोक न पायी व हिम पर्वत शृंखलाओं का बन्धन तोड़कर वे मैदान में उतरी और अपनी विशालता में सबको घुलाती-मिलाती अन्तत: समुद्र में जा मिली । जिस गंगा ने हमेशा देना ही सीखा-लेना नहीं वह अपनी पारमार्थिक आकुलतावश ही जन सम्मान पा सकी । ऐसे परमार्थी निश्छल व निर्मल होते हैं इसीलिए गन्दा नाला भी गंगा में मिलकर तद्रूप बन जाता है ।

रवीन्द्र की साधना

कविवर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने जमींदारी की जिम्मेदारी सम्भालने की अपेक्षा विश्व मानवता की जिम्मेदारी अपने ऊपर ली । परतन्त्र जनता को अपनी भावपरक रचनाओं से उन्होंने उद्वेलित कर उठ खड़ा किया । बंकिमचन्द्र, जिन्होंने 'आनन्द मठ' की रचना कर "वन्दे मातरम्" गीत भारत की जनता को दिया, की सारी व्यवस्था रवीन्द्र ने ही सम्भाली-पृष्ठ भूमि में उन्हें रखा । पूर्वांचल में प्लेग फैला तो

अपने सब साथियों सहित उनकी सेवा में जुट गये । छोटे कला मंदिर के रूप में आरम्भ किया शांतिनिकेतन विश्व की एक लघु इकाई के रूप में विनिर्मित हुआ व अन्ततः विश्व विद्यालय का स्वरूप लेकर उसने अपने नाम को सार्थक किया ।

दीनबन्धु एण्ड्रूज दीनबन्धु एण्ड्रूज मूलतः अँग्रेज थे पर जब वे गाँधी से जुड़े तो उनके अन्तः की आत्मीयता विश्व मानव गाँधी से मिलकर समष्टिगत बन गयी । वे भारत की स्वतन्त्रता के लिए उतनी ही आकुलता पूर्वक लड़े जितने अन्य भारतवासी । उन्हें दीन बन्धु नाम भी बापू ने ही दिया था । वे कहते थे-"सारा विश्व ही मेरा परिवार है, फिर में देश, जाति, नस्ल के बन्धन में क्यों बंधूँ ।"

दातुं सर्वस्य मर्त्यस्य सन्ति स समयः श्रमः ।
चिन्तनं कौशलं शौर्यं परामर्शार्हताऽपि च ॥ ४५ ॥
अतिरिक्तमतः स्वस्योपार्जनं सञ्चयस्तथा ।
आंशिकस्तु भवत्येव पार्श्वेसर्वस्य निश्चितम् ॥ ४६ ॥

टीका-देने के लिए हर मनुष्य के पास श्रम, समय, चिन्तन, कौशल, प्रभाव, परामर्श जैसी ईश्वर-प्रदत्त क्षमताएँ अनेकों हैं । इसके अतिरिक्त अपना उपार्जन एवं संचय भी कुछ न कुछ अवश्य हर किसी के पास होता है ॥ ४५-४६ ॥

व्याख्या-कोई आवश्यक नहीं कि देने वाला धन की दृष्टि से समर्थ-सम्पन्न ही हो । हर व्यक्ति ईश्वर की दी हुई ऐसी विभूतियों से लदा हुआ है कि अन्तः में सदाशयता हो तो यह अक्षय भण्डार कभी खाली नहीं होने वाला । अपनी उपार्जित सम्पदा श्रम, समय, चिंतन, कौशल, प्रभाव, परामर्श रूपी छः दिव्य विभूतियों से अलग है । परमार्थ प्रयोजन हेतु कोई श्रमदान करना चाहे तो संयुक्त शक्ति से भवन निर्माण, अस्वच्छता निवारण एवं व्यक्तिगत रूप से अशक्त-असमर्थ की सहायता कर सकना सम्भव है । समय सम्पदा का उपयोग सत्प्रवृत्ति विस्तार, निरक्षरों को अक्षर ज्ञान जैसे पुण्य प्रयोजनों में हो सकता है । चिन्तन के माध्यम से मनीषी साहित्य सेवा, विचार क्रांति तथा लोगों के जीवन में विधेयात्मक मोड़ लाने का कार्य करते रहे हैं । कौशल शिल्पी के पास भी होता है व चिकित्सक के पास भी । अपना क्रिया कौशल एवं अर्जित ज्ञान ईश्वरीय उपहार मानकर उसे बाँटना आरम्भ करे तो निःस्वार्थ सेवा सुश्रूषा तथा सृजनात्मक गतिविधियों के रूप में व्यक्ति निश्चय ही परमार्थ कार्य कर सकता है ।

कुछ व्यक्तित्व सम्पन्न, व्यवहार कुशल होने के नाते समाज में अपना विशेष प्रभाव रखते हैं । स्वयं न दे सकने की स्थिति में होते हुए भी सत्प्रवृत्ति विस्तार हेतु वे अपना दबाव ऐसे वर्ग पर रखते हुए समाज सेवा कर सकते हैं जो स्वयं अपनी ओर से देने की पहल नहीं करता । परमार्थ में विलक्षण, अद्भुत सामर्थ्य है । दिग्भ्रान्त व्यक्ति को अपने अनुभव जन्य परामर्श से सही दिशा में चलने हेतु प्रवाह बना देना किसी का जीवन बदलने के समान है ।

गाँधी के विभूति-सम्पन्न साथी गाँधी स्वयं कहाँ करोड़पति थे पर उनके प्रभाव, व्यक्तित्व रूपी वृक्ष की छाया में करोड़ों की सम्पदा व विभूति सम्पन्न व्यक्ति जीवन भर रहे । चितरंजनदास, मोतीलाल नेहरू, जमनालाल बजाज, डॉ० विधानचन्द्र राय, सुभाषचन्द्र बोस, वल्लभभाई पटेल, मौलाना आजाद जैसे व्यक्ति उन्हीं के सान्निध्य में उभर कर आए । इनमें से सभी को तो धन सम्पन्न नहीं कहा जा सकता पर कौशल, चिंतन, प्रभाव की दृष्टि से वे राष्ट्र सेवा में सहायक हुए ।

बंकिमचन्द्र व रवीन्द्रनाथ टैगोर ने साहित्य से, राजर्षि टण्डन ने अपने प्रभाव व कौशल के द्वारा, विनोबा ने श्रमदान की प्रवृत्ति जगाकर, केशवानन्द जी ने अपने प्रभाव व परामर्श से, स्वामी श्रद्धानन्द ने चिंतन सम्पदा व समय का उपयोग संस्कृति उत्थान हेतु करके समाज की जो सेवा की, उसे कभी भुलाया नहीं जा सकता ।

कहने को तो इन विभूतियों से सम्पन्न सहस्रों व्यक्ति इन दिनों समाज में हैं पर जब उनका सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन हेतु उपयोग न होकर स्वयं अपने तथा परिवार तक, उपार्जन व संचय तक सीमित हो जाता है तो समाज में विकृतियाँ पनपने लगती हैं । चिकित्सक अपने कौशल के बदले धन की बेतहाशा माँग करें, निस्वार्थ सेवा हेतु कुछ समय न दें

तो इसे विभूति का दुरुयोग ही कहा जायेगा । कला, साहित्य, विज्ञान, राजनीति आदि के क्षेत्र में भी इन सब विभूतियों के दुरुपयोग की कालिमा अधिक नजर आती है, सदुपयोग जन्य प्रकाश कम । ऐसे में अन्दर से वह भाव जगाने की भी आवश्यकता है जिसे उदार-परमार्थ परायणता कहा जाता है जो व्यक्ति को समाज से जोड़ती व ऋण चुकाने को बाध्य करती है ।

संकीर्णायां तु स्वार्थस्य परतायां नियन्त्रणे ।
जाते न्यूनतमे तेषां निर्वाहक्रम उच्चलेत् ॥ ४७॥
सुरक्षितो निधिः पार्श्वे स इयान् कर्मयोगिनः ।
चरितार्थयितुं भक्तेर्भावनां पारमार्थिके ॥ ४८ ॥
प्रयोजनेऽनुदानानि प्रस्तूयाच्छलाघ्यकानि हि ।
कृपणेषु हि दारिद्र्यं कृत स्थानं तु दृश्यते ॥ ४९ ॥

टीका-संकीर्ण स्वार्थपरता पर अंकुश लगते ही न्यूनतम में उनका निर्वाह क्रम चल जाता है । कर्मयोगी के पास इतनी बचत पूँजी रहती है कि वह भक्ति-भावना को चरितार्थ करने के लिए परमार्थ-प्रयोजनों के लिए सराहनीय अनुदान प्रस्तुत कर सके । दरिद्रता तो मात्र कृपणों पर छाई रहती है ॥ ४७-४९ ॥

व्याख्या-भक्ति भावना अन्दर तक ही सीमित न रहे । वह परमार्थ हेतु सत्कर्मों के रूप में अभिव्यक्त हो तो ही वह सार्थक है । वृत्ति कृपण जैसी हो तो कुबेरों का खजाना भी व्यर्थ है । उदार के लिए तो प्रतिकूल परिस्थिति में भी परमार्थ की आकुलता रहती है ।

कर्ण ने दरवाजे फाड़कर दे दिये

भगवान कृष्ण एक दिन कर्ण की उदारता की चर्चा कर रहे थे । अर्जुन ने कहा-"युधिष्ठिर से बढ़कर वह क्या उदार होगा ?" कृष्ण ने कहा-"अच्छा परीक्षा करेंगे ।" एक दिन वे ब्राह्मण का वेश बनाकर युधिष्ठिर के पास आये और कहा-"एक आवश्यक यज्ञ के लिए एक मन सूखे चन्दन की अवश्यकता है । युधिष्ठिर ने नौकर लाने को भेजे पर वर्षा की झड़ी लग रही थी । इसलिए सूखा चन्दन नहीं मिल रहा था । जो कटकर आता वह पानी में भीगकर गीला हो जाता । युधिष्ठिर सेर, दो सेर चन्दन दे सके, अधिक के लिए उनने अपनी असमर्थता प्रकट कर दी ।

अब वे कर्ण के पास पहुँचे और वही एक मन सूखे चन्दन का सवाल किया । वह जानता था कि वर्षा में सूखा चन्दन नहीं मिलेगा । इसलिए उसने अपने घर के किवाड़-चौखट उतार कर फाड़ डाले और ब्राह्मण को सूखा चन्दन दे दिया ।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की आमदनी अच्छी थी । पर वे अपने लिए कुछ भी न रखते थे । जो भी कुछ कमाते, गरीबों, विद्यार्थियों, कष्ट ग्रस्त लोगों में बाँट देते। अपनी सहायता भी वे गुप्त रूप से करते थे ताकि किसी को प्रशंसा करने या अपनी कृतज्ञता प्रकट करने का अवसर न मिले । बाहर से समर्थ सम्पन्न दीख पड़ते हुए भी कई व्यक्ति अन्दर से दरिद्र होते हैं । संकीर्ण मना, अपने स्वार्थ में ही लिप्त व्यक्ति लोक भर्त्सना तो सहते ही हैं, उस सुख का स्वयं भी उपभोग नहीं कर पाते । दरिद्र ऐसों को ही कहा जाता है ।

सबसे बड़ा गरीब

एक महात्मा भ्रमण करते हुए जा रहे थे । उन्हें मार्ग में एक रुपया मिला । वे तो विरक्त और संतोषी व्यक्ति थे । वे उसका क्या करते ? उन्होंने किसी दरिद्र को यह रुपया देने का विचार किया । कई दिन दरिद्र की तलाश करते करते बीत गए, लेकिन उन्हें कोई दरिद्र न मिला । एक दिन उन्होंने देखा-एक राजा अपनी सेना सहित दूसरे राज्य पर चढ़ाई करने जा रहा है । साधु ने वह रुपया राजा के ऊपर फेंक दिया । इस पर राजा बड़ा नाराज हुआ । लेकिन साधु ने धैर्य के साथ कहा-"राजन् ! मैंने एक रुपया पाया, उसे किसी दरिद्र को देने का निश्चय किया । लेकिन मुझे तुम्हारे बराबर कोई दरिद्र व्यक्ति नहीं मिला क्योंकि जो इतने बड़े राज्य का अधिपति होकर भी दूसरे राज्य पर चढ़ाई करने जा रहा हो और इस के लिए युद्ध में अपार संहार करने को उद्यत हो रहा हो इससे ज्यादा दरिद्र कौन होगा ?" राजा का क्रोध शान्त हुआ और अपनी भूल पर पश्चात्ताप करते

हुए उन्होंने वापिस अपने देश को प्रयाण कर दिया । सन्तोषी के लिए अपने पास जो साधन होते हैं, वे ही पर्याप्त लगते हैं, उसे और अधिक की भूख नहीं सताती ।

स्वार्थपरता व संचय की वृत्तियाँ पनपने पर महामानव समय-समय पर सीख देते चले आये हैं ताकि औरों को प्रेरणा मिले व उस व्यक्ति को जीवन दिशा ।

बगदाद के शासक को सीख

बगदाद के शासक ने जितना कर सकता था धन सम्पत्ति जमा की । उसके लिए वह प्रजा पर तरह-तरह के अन्याय और अत्याचार भी करता था । उससे प्रजा बड़ी दुःखी थी । एक दिन गुरु नानक घूमते-घूमते बगदाद जा पहुँचे । शाही महल के सामने ही वह कंकड़ों का छोटा-सा ढेर जमा करके उन्हीं के पास बैठ गये । किसी ने नानक के आने की सूचना दी । राजा स्वयं वहाँ पहुँचा । कंकड़ों का ढेर देखते ही उसने पूछा-"महाराज ! आपने यह कंकड़ किस लिए इकट्ठे किये हैं ।" गुरु नानक ने मुस्कराकर उत्तर दिया-'सम्राट ! इन्हें प्रलय के दिन ईश्वर को उपहार में दूँगा ।'

सम्राट् हँसा और बोला-'अरे नानक ! मैंने तो सुना था तू बड़ा ज्ञानी है पर तुझे इतना भी पता नहीं कि प्रलय के दिन रूहें अपने साथ कंकड़ तो क्या सुई-धागा भी नहीं ले जा सकतीं ।'

गुरु नानक ने चुटकी ली-'मालूम नहीं महोदय, पर मैं आया इसी उद्देश्य से हूँ कि और तो नहीं पर शायद आप प्रजा को लूटकर जो धन इकट्ठा कर रहे हैं उसे अपने साथ ले जायेंगे तो उनके साथ ही यह कंकड़ भी चले जायेंगे ?' राजा समझ गया, इसके आगे प्रजा का उत्पीड़न बन्द कर उनकी सेवा में जुट गया ।

पुण्य खोया स्वर्ग खोया

तथ्य समझ में न आने पर स्थिति वही होती है जो एक वृद्धा की हुई । उसके कोई संतान न थी । सम्पत्ति उसके पास अपार थी । धन का उसने जीवन भर धार्मिक कार्यों में सदुपयोग किया । उससे प्रसन्न होकर अन्त समय पर धर्मराज ने अपने यमदूत भेजे और उन्हें आज्ञा दी-'वृद्धा को स्वर्गलोक पहुँचा दिया जाये ।'

स्वर्ग के दूत वृद्धा के पास गये और बोले-'माताजी ! हम लोग आपको स्वर्ग ले चलने के लिए आये है ।' वृद्धा ने एक बार अपने मकान, धन और सम्पत्ति पर दृष्टि दौड़ाई तो उसे लोभ आ गया-'इस धन को छोड़कर कैसे जाऊँ । मेरी कमाई है, क्यों न मरने के पूर्व उसका उपभोग कर लूँ ।'

उसने यमदूतों को बुलाकर प्रार्थना की-'बेटा ! अभी तो मुझे अपने सम्बन्धियों से मिलना है । कुछ आवश्यक कार्य भी हैं । इसलिए कुछ समय दे दो तो बड़ी कृपा हो ।' यमदूत वृद्धा के लोभ को ताड़ गये । उन्होंने समझाया भी लेकिन लोभ जो सवार था । वह गिड़गिड़ाती रही । यमदूत ने एक वर्ष की छूट दे दी ।

वृद्धा ने धन का उपभोग करना तो दूर और संचय में ध्यान जमाया । कर्ज पर रुपया देकर वह ब्याज-बट्टा खाने लगी । चोरी की, झूँठ और फरेब की आदत भी आ गई और वर्ष इसी में बीत गया । तब तक उसके सारे पुण्य क्षीण हो चुके थे ।

वर्ष भर बाद बुढ़िया को यमदूत लेने आये पर वह नर्क के थे । बुढ़िया ने पूछा-'भाई ! यह बदली क्यों कर दी गई ।' तो दूतों ने हँसकर कहा-'माई री ! तुमने जिन्दगी में जितने धर्म-कर्म किये हैं, एक वर्ष में उससे अधिक पाप । इसलिए यह परिवर्तन किया गया ।'

स्वामी रामतीर्थ कहते थे-'मैंने इतना किया, पर इसका बदला मुझे क्या मिला ?' ऐसे विचार करने की उतावली न कीजिए । बादलों को देखिये वे सारे संसार पर जल बरसाते फिरते हैं, किसने उनके अहसान का बदला चुका दिया ? बड़े-बड़े भूमि खण्डों का सिंचन करके उनमें हरियाली उपजाने वाली नदियों के परिश्रम की कीमत कौन देता है ? हम पृथ्वी की छाती पर जन्म भर लदे रहते हैं और उसे मल-मूत्र से गन्दी करते रहते हैं किसने उनका मुआवजा अदा किया है ? वृक्षों से फल, छाया, लकड़ी पाते हैं, पर उन्हें हम क्या कीमत देते हैं ?

परोपकार स्वयं ही एक बदला है । त्याग करना अजनबी आदमी को एक घाटे का सौदा प्रतीत होता है, पर जिन्हें उपकार का अनुभव है वे जानते हैं कि ईश्वरीय वरदान की तरह यह दिव्य गुण कितना शांति दायक है और हृदय को कितना बल प्रदान करता है । उपकारी मनुष्य जानता है कि मेरे कार्यों से जितना लाभ दूसरों का होता है, उससे कई गुना अधिक स्वयं मेरा होता है ।

निराकारः प्रभुश्चित्ते नरस्यावतरत्ययम् ।
तस्यानुभूतिरुच्चस्य स्तरस्यैव तु प्रेमके ॥५०॥
भवति ज्ञायते या च भक्तिरूपेण मानवैः ।
आदर्शाबद्धमात्मीयत्वं हि भक्तेस्तु भावना ॥५१॥
तस्या अभ्यास एकान्त ईश्वरायात्मनो मुने ।
समर्पणस्य श्रद्धाया उदयाय विधीयते ॥५२॥
परिपक्वामवस्थां सा श्रयते तु यथा-यथा ।
उदारात्मीयतारूपे व्यापके समुदेति च ॥५३॥

टीका-ईश्वर निराकार है । उसका अवतरण मनुष्य के अन्तःकरण में होता है । उसकी अनुभूति उस उच्चस्तरीय प्रेम में होती है, जिसे भक्ति रूप से मनुष्यों द्वारा जाना जाता है । आदर्शों के साथ लिपटी हुई आत्मीयता ही भक्तिभावना है । भक्ति का एकान्त अभ्यास ईश्वर को आत्म-समर्पण करने की श्रद्धा उभारने के रूप में किया जाता है । जैसे-जैसे वह परिपक्व होती है, उदार-आत्मीयता रूप में प्रकट होती और व्यापक बनती है ॥५०-५३॥

व्याख्या-ईश्वर का सही स्वरूप है अंतः में श्रेष्ठता के प्रति अनुराग विकसित होना तथा उसका आत्मीयता के रूप में बहिरंग में व्यक्त होकर चारों ओर फैल जाना । अहं विसर्जन के इस पुरुषार्थ को श्रद्धा कहते हैं, जिसे उभारने मात्र के लिए भक्ति का एकान्त अभ्यास किया जाता है । यह प्राथमिक स्थिति है । क्रमिक गति से विकसित होकर यह अपने तक सीमित न रहकर चारों ओर विस्तृत हो जाती है । सब अपने ही दिखाई पड़ते हैं ।

विवेकानन्द रामकृष्ण मिशन स्वामी विवेकानन्द ने जब देखा कि भारत में साधु-संन्यासी अकर्मण्य जीवन का पर्याय बन गया है, इससे न उनका भला होता है, न देश का । उन्होंने गुरु के अवसान के बादे रामकृष्ण मिशन की स्थापना की जिसका उद्देश्य मात्र मठ निर्माण नहीं अपितु जन सेवा थी । साथियों ने पूछा-"फिर हमारी पूजा, आत्म-कल्याण का लक्ष्य कैसे सधेगा ? यह काम तो समाज सुधारकों का है ।" स्वामी जी बोले-'यही हमारी असली पूजा है । बीमारों की सेवा, अज्ञान निवारण, दरिद्र जनता को संतोष-यदि हम ये तीन कार्य सफलता से कर सके तो ईश्वर हमसे उतना ही प्रसन्न होगा जितनी वर्षों हिमालय में तपस्या करने पर होता ।'

सच्चा भक्त-पथप्रदर्शक जय-विजय अपना विमान लेकर धरती पर आये, विधाता के इस आदेश के साथ कि धरती पर से सच्चा स्वर्ग का अधिकारी ढूँढ़कर लाओ । धर्म-कर्म में लगे कई साधक उन्होंने देखे । पूछा-"आप यह क्यों कर रहे हैं ।" उत्तर मिलता है-"यह संसार नश्वर है-हम यह भक्ति इसलिए कर रहे हैं कि मुक्त हो जायें । नित्य कुछ न कुछ पाप कर्म तो होते ही रहते हैं उनकी भी शुद्धि इसी से कर लेते हैं ।" उनके आचरण व वाणी दोनों में कोई सामंजस्य न देख वे आगे बढ़े । एक स्थान पर उत्सुकतावश वे रुक गए । रात्रि हो गयी थी । एक अन्धा दीपक जलाए बैठा था । आने वालों की पद चाप सुनकर वह उन्हें राह बताता था । कीचड़ में सने व्यक्तियों के हाथ पैर धुलाकर उन्हें अपने पास विश्राम के लिए बिठाता था व भूखे-प्यासे को यथा सम्भव खिलाता-पिलाता । दिन होने पर थोड़ी देर विश्राम कर वह बगीचे में काम करने लगा ताकि कुछ सब्जी बेचकर गुजारे लायक राशि जुटा सके । जय-विजय यह दृश्य देखकर उससे पूछ बैठे-"आप ईश्वर उपासना नहीं करते । सुबह का समय तो इसीलिए होता है ।" अन्धा बोला-'मुझे तो मात्र रात्रि में लोगों को राह बताना, उनकी सेवा करना व दिन में श्रम करना ही उपासना का स्वरूप समझ में आया है । इससे अधिक मैं नहीं जानता ।' अपना निरीक्षण पूरा कर जय-विजय लौटे । प्रजापति ने उनके लिखे विवरण पर दृष्टि दौड़ाई । उनकी दृष्टि सब पढ़कर उस अन्धे के विवरण पर ही जाकर टिकी । वे बोले-"तुम्हारा विवरण देखकर मुझे लगता है कि वर्तमान में शेष सभी तो आडम्बर व समयक्षेप में लगे हैं । मात्र यही एक अधिकारी है जिसे स्वर्ग लाया जाना चाहिए ।" जय-विजय के मानसिक

ऊहा-पोह को पढ़कर वे आगे बोले-"तात ! उपासना मात्र जप-तप नहीं । आदर्शवादिता से भरे अन्तःकरण में ही ईश्वर निवास करते हैं ।"

दधीचि का अस्थिदान

जब आत्मीयता का क्षेत्र विस्तृत होता है तो विश्व कल्याण हेतु उदारमना अपना जीवन तक उत्सर्ग कर देते हैं ।

शक्तिशाली वृत्रासुर किसी भी तरह न मारा जा सका, उसके त्रास से सभी देवता भयभीत थे । आखिर ब्रह्माजी ने बताया कि किसी तपस्वी की अस्थियों के वज्र से ही वृत्रासुर मारा जा सकता है । उस समय महर्षि दधीचि तपस्वियों में प्रसिद्ध थे । इन्द्र अन्य देवताओं के साथ दधीचि के आश्रम पर गये और साष्टांग प्रणाम करते हुए विनम्रता के साथ अपना मन्तव्य उन्हें कह सुनाया । इन्द्र ने यद्यपि महर्षि की तपस्या से द्वेष करके पहले उन्हें सताया था लेकिन महामना दधीचि को उसका ख्याल तक भी न था । उन्होंने कहा कि परमार्थ के लिए, देवत्व की रक्षा के लिए मेरा यह नश्वर शरीर काम आता है, तो इसे सहर्ष ले जाओ और महर्षि ने योगबल से अपना शरीर छोड़ दिया । उससे वज्र बनाया गया और महापराक्रमी दुर्दान्त राक्षस वृत्रासुर को मारा गया ।

रन्तिदेव की कामना

त्याग का आनन्द स्वर्ग से बढ़कर है । ऐसे भक्त जब भगवान से माँगते हैं तो विश्वमानव के लिए, अपने लिए नहीं ।

महाराज रन्तिदेव की प्रचण्ड तपश्चर्या से जब इन्द्रासन डोल उठा तो प्रजापति को उनके सामने प्रकट हो वरदान देने के लिए बाध्य होना पड़ा । उन्होंने कहा-"तुम्हारी तपश्चर्या से मैं अत्यधिक प्रसन्न हूँ । चाहो जो वरदान माँग लो ।"

महाराज बोले-"देवराज ! मैं चाहता हूँ मेरे राज्य में ही नहीं, समस्त पृथ्वी पर कोई भूखा न रहे, कोई पीड़ित-शोषित, धनहीन न रहे । प्रचुर अन्न-धन से उसके भण्डार भरे रहें । पृथ्वी हिरण्यगर्भा हो । जन-जन के मन में वैर, ईर्ष्या, द्वेष, कलह व दुर्भावनाओं का नाम-निशान न रहे । पारस्परिक आत्मीयता व सौहार्द्र बढ़े । कोई रोगी न हो, दुःखी न हो । यही मेरा कर्तव्य है और मुझे इस कर्तव्य के पालन की शक्ति दीजिए ।"

रामकृष्ण परमहंस कहा करते थे-"त्याग करना, किसी की कुछ सहायता करना, उधार देने की एक वैधानिक पद्धति है । जो कुछ हम दूसरों को देते हैं, वह हमारी रक्षित पूँजी की तरह परमात्मा के बैंक में जमा हो जाता है । जो अपनी रोटी दूसरों को बाँट कर खाता है, उसको किसी बात की कमी न रहेगी । जो केवल खाना और जमा करना ही जानता है, उस अभागे को क्या मालूम होगा कि त्याग में कितनी मिठास छिपी हुयी है ।"

प्रेमेव परमेशोऽस्ति स आनन्दस्वरूपधृक् ।
जडो वा चेतनो वाऽपि प्रियतां याति प्रेमतः ॥५४॥
ईश्वरं प्रति प्रेम्णैति श्रद्धाऽऽदर्शान् प्रति ध्रुवम् ।
आत्मवत् सर्वभूतेषु दृष्टिकोणो भविष्यति ॥५५॥
वसुधैव कुटुम्बं च भावनायाः क्रियान्वितिः ।
कर्तारस्ते क्रिया लापाश्चलिष्यन्त्यञ्जसैव तु ॥५६॥

टीका-प्रेम ही परमेश्वर है । वह आनन्दस्वरूप है । जिस जड़-चेतन से प्रेम करते हैं, वही प्रिय लगने लगता है । ईश्वर के प्रति प्रेम उमड़ेगा तो आदर्शों के प्रति श्रद्धा बढ़ेगी । 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' का दृष्टिकोण उभरेगा और 'वसुधैव कुटुम्बकम्' की भावना को क्रियान्वित करने वाले क्रियाकलाप सहज ही चल पड़ेंगे ॥५४-५६॥

व्याख्या-ईश्वर प्रेम का माप दण्ड एक ही है-आदर्शों से घनिष्ठ रूप से जुड़ जाना । अपना आपा ही सर्वत्र बिखरा दिखाई दे तथा सारी धरती अपना परिवार, तो सारे क्रिया-कलाप स्वतः ही परमार्थ युक्त होने लगते हैं । सघन प्रेम जिस पर आरोपित किया जाता है, वही आत्मीय हो जाता है । भक्ति की यही भावना व्यक्ति को परमेश्वर की श्रेष्ठ सन्तान सिद्ध करती है ।

जो तू वही मैं

अनन्त काल पूर्व ऊपर खगोल में एक आवाज उठी-"तू कौन है ?" सारा जीव-संसार चकित होकर ऊपर देखने लगा । खगोल में फिर गूँजा-"तू कौन है ?"-अबकी बार सारे प्राणी खगोल की ओर देखकर कुछ सोचने लगे । खगोल ने फिर प्रश्न किया-"तू कौन है ?" शेष संसार प्रश्न को अनसुना कर अपना काम करता रहा-किन्तु मनुष्य चिन्तित हो उठा, विचार करने लगा-"मैं कौन हूँ ?" एक दूसरे की ओर देखते और प्रश्न करते "मैं कौन हूँ ?"

उस अज्ञात पूर्व काल का वह साधारण प्रश्न आज तक प्रश्न बना हुआ मनुष्य की विचार क्रिया को गतिमयी बनाये हुए है ? नियति के उस एक प्रश्न ने फैलकर असंख्यों प्रश्नों का रूप धारण कर लिया है और एक उत्तर "मैं यह हूँ" ने अनेकता से प्रभावित होकर अपना मौलिक रूप खो दिया ।

कितना अच्छा होता-आकाश के "तू कौन है ?" जैसे साधारण प्रश्न का साधारण उत्तर देकर मनुष्य निश्चिन्त हो जाता-"जो तू है वही मैं हूँ ।"

सारा नगर मेरा परिवार

आत्मीयता अन्दर तब प्रवेश करती है जब वहाँ स्थान खाली हो । वह स्थान तो मोह ने घेर रखा है । उससे मुक्ति मिले तो सब ओर अपने ही दिखाई देने लगें ।

श्रावस्ती की प्रगार माता विशाखा ने तथागत को आतिथ्य देने के लिए आमंत्रित किया । दुर्भाग्यवश उसी दिन उसके एक पौत्र का देहान्त हो गया । खिन्नवदना, मलिनवस्त्रा विशाखा से तथागत ने शोक का कारण पूछा तो उसने पौत्र के मृत्यु की दुखद सूचना दी । गौतम बुद्ध ने उसे धीरज बँधाते हुये कहा-"यदि तेरा नाती तुझे मिल जाय तो ?" "मेरी प्रसन्नता का पारावार न रहेगा ।"

"और श्रावस्ती की जनसंख्या जितने मिल जाँय तो ?" "प्रसन्नता और अधिक हो जायेगी ।"

"बता, श्रावती में प्रतिदिन कितने व्यक्ति मरते हैं ?" "भगवन् ! ठीक तो ज्ञात नहीं, पर पाँच-छः तो मरते ही होंगे ।

"समझ ले सारे श्रावस्ती वासी तेरे पुत्र-पौत्र हों और उनमें से एक भी नित्य मरे तो तू सुखी रह सकेगी ? तेरा दुःख कितना बढ़ जाएगा । सेवा का ही सुख चाहिए तो सारा संसार पड़ा है । सबकी सेवा कर । यह आसक्ति क्यों ?" वस्तुतः प्राप्ति का सुख वियोग से नष्ट हो जाता है पर सेवा का सुख सदैव रहता है ।

पत्थर की मूर्ति तक सीमित न रहें

देव मंदिर का पुजारी भगवान की पूजा तो पूरे विधि-विधान से करता, किन्तु सुबह-शाम पूजा करने के बाद बचे समय में वह स्वार्थ के वशीभूत हो ऐसे कुकर्म करता जिससे भगवान के बनाये अन्य प्राणी दुःख पाते ।

उसके अन्तःकरण से एक दिन भगवान बोले-"अरे मूर्ख सेवा कर, मेरी पूजा करने के बाद सेवा की इच्छा न हो तो पूजा व्यर्थ है ।" पूजारी ने कहा-"भगवान ! मेरा मन तो आपकी पूजा में लगता है । लोगों की सेवा में नहीं ।" भीतर से आवाज आई-'तू पगला लगता है क्या, मैं पत्थर की मूर्ति में ही हूँ ? क्या इन जीते-जागते प्राणियों में तुझे मेरा रूप नहीं दिखता ?' पुजारी को सच्चा ज्ञान हुआ कि सेवा ही पूजा की कसौटी है । यदि उपासना करने के पश्चात् भी लोक सेवा की भूख न जागे तो समझना चाहिए कि कहीं न कहीं भूल है । अपने आपको इस कसौटी पर कसने पर वह खरा उतरा । उसने आगे से लोक-सेवा को नित्यकर्म में सम्मिलित कर लिया ।

धर्मराज युधिष्ठिर की भावना

'वसुधैव कुटुम्बकम्' भावना का सच्चा दर्शन महाभारत के पात्र, पाण्डवों में श्रेष्ठ युधिष्ठिर के चरित्र में होता है । धर्मराज ने उनकी कई बार परीक्षा ली । वन में अज्ञातवास की अवधि में धर्मराज ने यक्ष रूप में आकर, जब पानी पीने आये चारों पाण्डवों को मृतवत् कर दिया तब उनके समुचित उत्तर देने पर वे सभी जीवित हुए और उनसे वर माँगने को कहा गया । वे चाहते तो गया राज्य, वैभव वापस माँग सकते थे पर उन्होंने अन्तिम वर माँगा-"हे भगवन् ! मैं लोभ, मोह और क्रोध को जीतकर दान, तप, सत्य में प्रवृत्त रहूँ, सब पर मेरा एक जैसा स्नेह बना रहे, कभी किसी के प्रति दुर्भाव न आए-यही वर चाहता हूँ ।" अन्तिम समय में भी धर्मराज ने उन्हें एक बार और परखा ।

हिमालय पहाड़ की विषमताओं के कारण एक-एक करके अर्जुन, नकुल, सहदेव, भीम, द्रौपदी, कुन्ती आदि मर गये, युधिष्ठिर ही आगे बढ़ते रहे । उनके साथ मार्ग में से एक कुत्ता भी लग गया और वे अपने उस साथी के

साथ ही आगे बढ़ रहे थे । एक स्थान पर उन्होंने देखा कि इन्द्र विमान लेकर खड़े हैं और स्वर्ग में चलने की प्रार्थना कर रहे हैं । युधिष्ठिर ने कुत्ते को भी साथ ले चलने को कहा । लेकिन नियमानुसार कुत्ता वहाँ नहीं जा सकता था । इस पर युधिष्ठिर ने अपने साथी के बिना वहाँ जाने से इन्कार कर दिया । उन्होंने कहा-'जिसने मेरा यहाँ तक साथ दिया उसे मैं कैसे छोड़ सकता हूँ ?' इतने में ही धर्मराज जो कुत्ते के रूप में थे प्रकट होकर युधिष्ठिर के जीव प्रेम की सराहना करने लगे ।

बालानां भक्षणे प्रीतिस्तथाऽऽदाने परन्तु ते ।
प्रौढा विभज्य काले च क्षुधार्तास्ते ददत्यपि ॥ ५७॥
एवंविधा उदारानुदानिनो ये वरं तु ते ।
अभावग्रस्ता दृश्यन्ते रसाग्राहिविलासिनाम् ॥ ५८॥
आत्मतोषस्य लोकस्य मानस्याऽनुग्रहस्य च ।
दैवस्य त्रिविधो लाभः प्राप्यते तैस्तु यः सदा ॥ ५९॥
स समस्तस्य विश्वस्य वैभवादतिरिच्यते ।
आनन्ददायकत्वेनामृतं लब्धं तु तैनरैः ॥ ६०॥

टीका-बालकों को खाने और पीने में रुचि होती है, किन्तु प्रौढ़-परिपक्व मिल बाँटकर ही नहीं खाते अवसर आने पर स्वयं भूखे रह कर भी दूसरों को खिलाते हैं । ऐसे उदार अनुदानी रस लेने वाले विलासियों की तुलना में अभावग्रस्त तो दीखते हैं, पर उन्हें आत्म-सन्तोष, लोक-सम्मान एवं दैवी अनुग्रह का जो त्रिविध लाभ सदा मिलता है उसे संसार भर के समस्त वैभव से भी अधिक आनन्ददायक पाया जाता है, मानो उन्होंने अमृत पा लिया है ॥ ५७-६० ॥

व्याख्या-देने वाले, खिलाने वाले ही भगवान की दृष्टि में प्रौढ़ परिपक्व है । वे स्वयं बहिरंग में तो निर्धन-अभावग्रस्त दिखाई पड़ते हैं पर उनकी अन्तः की सम्पदा का भण्डार इतना विशाल होता है कि सारा लौकिक वैभव उसके सामने तुच्छ है । ऐसा करके बदले में वे आत्मसन्तोष, जन श्रद्धा तथा प्रभु की अजस्र अनुकम्पा की विभूतियाँ पाते हैं जो उन्हें धन्य बनाती हैं तथा सच्ची सम्पदा से विभूषित करती हैं ।

गाँधी और बुद्ध महात्मा गाँधी अधनंगे फकीर के रूप में प्रख्यात थे । पर उनके पैरों पर मोतीलाल नेहरू, चितरंजनदास, जुगलकिशोर बिड़ला, जमनालाल बजाज जैसे सम्पत्तिवानों का वैभव आ बरसा व उससे उन्होंने मातृभूमि को स्वतन्त्र कराने में मदद ली । बुद्ध ने राजगद्दी छोड़ी, आत्म ज्ञान प्राप्त कर भिक्षु बने और अनेक राजा उनके चरणों पर आकर गिरे । जन श्रद्धा इन दोनों महामानवों को जितनी मिलीं, उसका वर्णन ही नहीं किया जा सकता । यह एक सुनिश्चित तथ्य है कि बाँटने, देने वालों का अपरिग्रह ही ईश्वरीय अनुग्रह के रूप में बरसता है ।

पांच रोटियों का अक्षय भण्डार संत रामदास अपने शिष्यों के साथ धर्म प्रचार के लिए जा रहे थे । रास्ते में निर्जन प्रदेश पड़ा, दूर तक कोई गाँव दिखाई न देता था । भोजन की समस्या उत्पन्न हुई तो उन्होंने कहा-'जो कुछ तुम्हारे पास है उसे इकट्ठा करलो और मिल-बाँटकर खाओ ।'

शिष्यों के पास कुल मिलाकर पाँच रोटी और दो टुकड़े तरकारी निकली । शिष्यों ने उसे भर पेट खाया और जो भूखे भिखारी उधर से निकले वे भी उसी से तृप्त हो गये ।

भानुवा नामक शिष्य ने पूछा-गुरुवर, इतनी कम सामग्री में इतने लोगों की तृप्ति का रहस्य क्या है ?

सन्त ने कहा-हे शिष्यो ! धर्मात्मा वह है जो खुद की नहीं सबकी बात सोचता है । अपनी बचत सबके काम आये इस विचार से ही तुम्हारी पाँच रोटी अक्षय अन्नपूर्णा बन गई । जो जोड़ते हैं वे ही भूखे रहेंगे । जिसने देना सीख लिया है उनके लिए तृप्ति के साधन आप ही आ जुटते हैं ।

सुखी पर वस्त्रहीन सच्चा सुख जिसे चाहिए, वह बाहर की सम्पदा में नहीं उलझता । जो उलझता है वह प्रसन्नता खो बैठता है व आत्म संतोष भी ।

एक राजा दुःखी और उदास-चिंतित इतना कि रात को गहरी नींद तक नहीं आती । राज्य के मन्त्री

तथा निजी चिकित्सक उसे प्रसन्न रखने के लिए तरह-तरह के प्रयत्न करने लगे । प्रयत्न क्यों न करते ? राजा जो ठहरा राज्य का । किसी ने कहा-'यदि राज्य के सबसे सुखी और प्रसन्न व्यक्ति को ढूँढ़कर उसका उत्तरीय वस्त्र राजा को पहना दिया जाये तो उसकी खोई हुई प्रसन्नता लौट सकती है ।' अनेक मन्त्री तथा नौकर-चाकर सुखी व्यक्ति की खोज में निकल पड़े । सब सोचते यह कार्य जो सबसे पहले कर दिखायेगा उसकी कार्यक्षमता का प्रभाव राजा पर पड़ेगा और कहीं राजा खुश हो गया तो मुँह माँगा पुरस्कार मिलेगा ।

एक दिन सड़क के किनारे अपने राम में मस्त एक सज्जन मिल गये । यद्यपि उन्होंने राजा के सम्मुख जाने की बहुत आनाकानी की पर विवश थे, जाना पड़ा । राजा के सम्मुख उपस्थित हुए । जब वह राज्य के सबसे प्रसन्न व्यक्ति से मिले तो उनकी भी खुशी का ठिकाना न रहा । वह चिल्ला पड़े-'अच्छा तुम हो सबसे सुखी व्यक्ति ! फिर तो कितने ही लोग तुमसे ईर्ष्या करते होंगे । लाओ ! लाओ !! तुम्हारा उत्तरीय वस्त्र कहाँ है ? मैं भी उसे पहनकर अपनी उदासीनता तथा चिन्ताओं से मुक्त हो जाऊँ ।'

'राजन ! आप उत्तरीय वस्त्र की बात कहते हैं मेरे पास तो ओढ़ने की पहनने की एक धोती के सिवाय कुछ नहीं । रमता जोगी और बहता पानी जैसा मेरा जीवन है ।' राजा समझ गया कि सुख वस्तुओं में नहीं सन्तोष में है ।

राजर्षि टण्डन द्वारा लोकमंगल हेतु त्याग

'सर्वेन्ट्स ऑफ पीपुल्स' संस्था के सभापति लाला लाजपतराय का देहावसान हो गया था । गाँधीजी उस स्थान की पूर्ति करना चाहते थे पर कम आजीविका में योग्य व्यक्ति कहाँ से मिले । कौन अपना सुख-वैभव त्यागकर जीवन समर्पित करे, यह एक बहुत बड़ा प्रश्न था । खबर टण्डनजी को मिली । वे अपना तेरह सौ मासिक का बैंक मैनेजर का पद त्यागकर मात्र निर्वाह योग्य आजीविका में कार्य करना स्वीकार कर आ गये । गाँधीजी ने पूछा-'इस पद को त्याग कर एक बहुत बड़ी हानि का आपको कोई दुःख नहीं है क्या ?' राजर्षि बोले-'बापू ! लोक मंगल के लिए अपरिग्रही जीवन जीना ही नहीं यदि आप शरीर उत्सर्ग हेतु आदेश देंगे तो वह भी स्वीकार्य होगा ।' सर्व विदित है कि बापू के समकालीन सहयोगियों में जो श्रद्धा-सम्मान टण्डन जी को मिला वह अन्य किसी को नहीं ।

उदारमनसां भक्तजनानां जीवनं मुने ।
विप्राऽपरिग्रहित्वेन स्वभावेन युतं भवेत् ॥ ६१ ॥
परायणं परार्थे च साधूनामिव जायते ।
न भवन्ति धनाध्यक्षा यद्यप्येते तथापि तु ॥ ६२ ॥
आत्मिकानां विभूतीनां निधींस्ते प्राप्नुवन्त्यलम् ।
कुबेरसम्पदा येभ्यो न्यूना मन्येत निश्चितम् ॥ ६३ ॥

टीका-उदारमना भक्तजनों का जीवन ब्राह्मणों जैसा अपरिग्रही और साधुओं जैसा परमार्थ परायण रहता है । अस्तु वे धनाध्यक्ष तो नहीं बनते, पर आत्मिक विभूतियों का इतना भण्डार उन्हें उपलब्ध होता है, जिसकी तुलना में कुबेर की सम्पदा भी स्वल्प मानी जा सके ॥ ६१-६३ ॥

व्याख्या-भक्त कभी स्वयं के लिये सम्पन्नता नहीं चाहता, सदैव बाँटने को आतुर रहता है । इसी को 'ब्राह्मण' वृत्ति कहते हैं । ब्राह्मण वर्ण-जाति से नहीं अपितु व्यक्ति अपने कर्मों से होता है । ऐसा सादा जीवन जीकर वह विश्व मानव के कल्याण की परमेश्वर की इच्छा में ही अपनी इच्छा मिलाता है । ब्राह्मण को प्रलोभन कभी विचलित नहीं करते व जो भी उपलब्ध होता है, उसी में संतोष कर लेते हैं ।

मूल्यवान कपड़ा और ब्राह्मणत्व का पालन

स्वामी रामकृष्ण परमहंस के अनन्य भक्त मथुरा बाबू ने एक बार उन्हें बड़ा कीमती वस्त्र लाकर दिया । उसे पहनकर परमहंस देव ध्यान में बैठ गये । ध्यान पूरा होने के बाद जब वे भगवती को दण्डवत् प्रणाम करने लगे तो प्रणाम करते समय उनके मन में क्षण भर को यह विचार उठा कि कहीं मूल्यवान कपड़े में धूल न लग जाये । आत्मचिंतन करने के बाद परमहंस ने वह कपड़ा लौटा दिया व मथुरा बाबू से कहा कि ब्राह्मणत्व का पालन मैं इसे पहन कर नहीं कर सकता । मुझे तो मोटे कपड़े की धोती, एक ओढ़ने का कपड़ा मात्र चाहिए ।

सच्चे कथावाचक पद्मनाभ

कथा वाचक गरीब ब्राह्मण पद्मनाभ कथायें बाँच कर ही अपना निर्वाह करते थे । इस प्रकार जीविकोपार्जन के साथ-साथ सद्ज्ञान प्रचार पुण्य प्रयोजन भी पूरा हो रहा था । धर्म ग्रन्थ का अध्ययन करते हुए उन्होंने एक स्थान पर पढ़ा-ज्ञानदान का प्रतिफल धन के रूप में ग्रहण नहीं करना चाहिए ।

उन्हें बड़ा दुःख हुआ कि अब तक वे इस नियम की अवहेलना ही करते थे । धर्म प्रचार के लिए जब वे कथायें किया करते तो लोग जो दक्षिणा देते, उसी से अपना गुजारा चलाते थे । 'अब तक जो भूल हो गयी अब न होने दूँगा'-इस संकल्प के साथ उन्होंने जंगल से लकड़ी काटकर अपना गुजारा चलाना आरम्भ कर दिया । दान-दक्षिणा में लोग पैसा तो चढ़ाते ही थे, उस धन का उपयोग वे गुरुकुल-पुस्तकालय तथा अन्य जनोपयोगी कार्यों में करने लगे ।

राम शास्त्री की सादगी

महाराष्ट्र के पेशवा माधवराव के गुरु, मन्त्री एवं प्रधान न्यायाधीश जैसे उच्च पदों पर श्रीराम शास्त्री नामक एक कुलीन ब्राह्मण थे । विद्वता एवं उच्च पदों से सम्पन्न होकर भी शास्त्री जी का जीवन सादगी का मूर्त रूप था । एक दिन शास्त्री जी की धर्मपत्नी आवश्यक कार्यवश राजमहल में रानी के पास गईं । रानी ने गुरुपत्नी को जनसाधारण से भी सादा वस्त्रों में देखा तो बड़ा आश्चर्य हुआ उसे । गुरुपत्नी की यह स्थिति उसे अपने और स्वयं महाराज माधवराव के सम्मान में एक कमी मालूम हुई । उसने सोचा गुरुपत्नी की इस दशा से महाराज की निन्दा होना स्वाभाविक है । रानी ने गुरुपत्नी को सुन्दर-सुन्दर बहुमूल्य वस्त्र, आभूषण पहनाये और सम्मान के साथ कहारों द्वारा पालकी में बैठाकर घर भिजवाया ।

कहारों ने द्वार पर जाकर किवाड़ खटखटाये । शास्त्री जी बाहर आये, किवाड़ खोले किन्तु यह कहकर बन्द कर दिये-'भाई यह बहुमूल्य वस्त्राभूषणों से अलंकृत देवी कोई और हैं, आप लोग भूल से यहाँ आ गये । इन्हें तो किसी भव्य महल या राजप्रसादों में ले जाओ ।' शास्त्री जी की धर्मपत्नी उनके स्वभाव को भली प्रकार जानती थीं । वह राजमहल लौट गईं और वहाँ उन बहुमूल्य वस्त्राभूषणों को छोड़कर अपने पूर्व वस्त्र धारण किए और पैदल ही राजमहल से अपने घर तक आईं । घर पर आईं तो दरवाजा खटखटाना नहीं पड़ा, दरवाजे खुले थे । स्वागत करते हुए रामशास्त्री बोले-"भद्रे, ब्राह्मण तो अन्यों को मर्यादापालन सिखाता है । उसकी असली सम्पत्ति सादगी ही है ।"

अपरिग्रही ब्राह्मणों में चाणक्य एवं सुदामा का नाम बड़ी श्रद्धा से लिया जाता है । चाणक्य चन्द्रगुप्त को गद्दी पर बिठाने वाले, विशाल भारत का निर्माण करने वाले उस समर्थ प्रधानमन्त्री का नाम है जो वैभव के मध्य भी मात्र मोटे सूत की एक चादर पहनकर एक फूस की झोंपड़ी से अपना काम चलाते थे । एक बार विदेश में उन्हें मेजबान राजा द्वारा कीमती दुशाला भेंट दिया गया तो उन्होंने तत्क्षण उसे एक कर्मचारी को दे दिया । ऐसे सादगी पूर्ण जीवन जीने वाले ब्राह्मण ही चन्द्रगुप्त जैसे शिष्य को जन्म देते हैं । सुदामा एक गुरुकुल के कुलपति थे । द्वारिकापति श्रीकृष्ण उनके मित्र थे व वैभव उनके चरणों पर लोटता था पर उनका व्यक्तिगत जीवन सादगी से भरापूरा था । उनकी इस विशेषता के कारण भगवान श्रीकृष्ण का उन्हें विशेष स्नेह प्राप्त था ।

ब्राह्मण में ब्राह्मणत्व जागा

एक बार राजा भोज के दरबार में सोमदत्त नामक एक ब्राह्मण आया और उसने उज्जैन नगरी में भागवत कथा कहने की आज्ञा माँगी । भोज ने कहा-"महाराज जाइये ! कुछ दिन भागवत पाठ करके आइये ।" सभासदों को ऐसा लगा कहीं भोज की धर्मबुद्धि तो समाप्त नहीं हो गई ? पर वे कुछ बोले नहीं । कुछ दिन बाद ब्राह्मण पुनः आया, बोला-'महाराज अब मैंने भागवत कण्ठस्थ कर ली है, पर इस बार भी उसे उपेक्षा ही मिली ।' बहुत दिनों तक जब ब्राह्मण नहीं आया तो भोज ने स्वयं उनकी खोज करायी । ज्ञात हुआ कि वे अब भागवत में रम गये हैं । अब उन्हें पैसे की चाह नहीं रही । भोज ने इस बार उन्हें स्वयं आग्रहपूर्वक बुलाया, कथा कहलाई, उन्हें सम्मान दिया व धन भी । धन उन्होंने निर्धनों में बाँट दिया । अब राजा ने उन्हें पूरे सम्मान से राजपुरोहित पद पर नियुक्त कर दिया । अपनी चाह भक्त मिटा देता है तो ईश्वर स्वयं उसके जीवन में घुल जाते हैं । फिर किसी प्रकार के वैभव की उसें जरूरत नहीं पड़ती ।

साधु होना भक्त की दूसरी विशेषता है । वह माया से दूर हटकर स्वयं को जनहित में लगा देता है । केशवानन्द जी ने सच्चे साधु का धर्म निभाया व सांगरिया (राजस्थान) में विद्यापीठ स्थापित की । जन सहयोग से उन्होंने नारी स्वावलम्बन व साक्षरता का जो अभियान चलाया, वह परमार्थ पथ के हर पथिक के लिए अनुकरणीय है ।

आद्यशंकराचार्य-भज् गोविन्दम् का नारा लगाते हुए निकल पड़े और भगन्दर के फोड़े के बावजूद संस्कृति रक्षा हेतु भारत भर में भ्रमण किया, धर्म सम्बन्धी विकृतियों का खण्डन किया तथा धनाध्यक्षों के वैभव को भी जनहित की ओर मोड़ने में सफल हुए । अपने कष्ट की चिन्ता न कर दूसरों का ही भला सदा सोचने वाले हमेशा पूजे जाते हैं ।

महात्मा आनन्द स्वामी सही अर्थों में महात्मा माने जा सकते हैं जिन्होंने आर्य समाज के मंच से ईश्वर भक्ति के साथ परमार्थ, समाज सुधार का नारा लगाया, स्वयं वैसा जीवन जीने के लिए अपना धन समाज हेतु समर्पित कर दिया । दीर्घायुष्य रहकर वे आजीवन सभी धर्म-सम्प्रदायों की अगाध श्रद्धा पा सके, इसके मूल में उनकी परमार्थ परायणता ही थी ।

भक्तेरुदारभावस्य जायते त्वरुणोदयः ।
सहकारिप्रवृत्तौ तत्प्रयासोऽत्र विधीयताम् ॥ ६४॥
वासः परस्परापेक्षी विभाजापेक्षि भोजनम् ।
स्थितिः प्रमोदपूर्णा च ह्यस्या एवोपलभ्यते ॥ ६५॥
सहयोगेन पन्थाः स प्रशस्तः प्रगतेर्मतः ।
संघबद्धत्वमेवेदं सामर्थ्यं परमं स्मृतम् ॥ ६६॥

टीका-भक्ति की उदार-भावना का अरुणोदय सहकारिता की प्रवृत्ति में होता है । अतः इस दिशा में प्रयास करना चाहिए । हिल-मिलकर रहने, मिल बाँट कर खाने से ही हँसती-हँसाती परिस्थितियाँ उपलब्ध होती हैं । सहयोग से ही प्रगति का पथ प्रशस्त होता है । संघबद्धता सबसे बड़ी सामर्थ्य है ॥ ६४-६६ ॥

व्याख्या-दैनन्दिन जीवन में भक्ति जब समाविष्ट होती है तो उसका शुभारम्भ सहकारिता की भावना से होता है । यह अपना उपार्जन परस्पर बाँटकर खाने की सदाशयता से विकसित होती है । एकाकीपन समाप्त होता है तो अन्दर की संकीर्णता का अन्धकार पलायन कर जाता है व उदारता का प्रकाश व्याप्त हो जाता है ।

समस्त सृष्टि चक्र ही परमार्थ के ऊपर चल रहा है । बीज जब अपने आपको मिट्टी में मिला देता है तभी विशाल वृक्ष का प्रादुर्भाव होता है । माता अपने शरीर का रस-रक्त, मज्जा आदि पदार्थ सन्तान के निर्माण में लगाती है, कष्ट सहती है, तभी बालक का जन्म होता है । वृक्ष मधुर फलों से युक्त होकर भी उनका स्वयं सेवन नहीं करते वरन् दूसरों के लिए त्याग कर देते हैं । नदी अपनी लम्बी यात्रा में अनेकों की प्यास बुझाती, धरती की छाती को शीतल करती, वृक्ष, पेड़, पौधे, जीवों को नव जीवन देती हुई बहती है । फूल और मोती, माला की शोभा बढ़ाने के लिए अपने आपको बिंधवाते हैं ।

देव दानवों का भोज

एक बार देवता और असुरों में इस बात को लेकर झगड़ा हो गया कि दोनों में से कौन बड़ा है ? निर्णय के लिए दोनों पक्ष ब्रह्माजी के पास पहुँचे । ब्रह्माजी ने इसके लिए एक परीक्षा की कसौटी सामने रख दी । उन्होंने दोनों को दो पंक्तियों में बिठाया और भोजन के लिए स्वादिष्ट पदार्थ परोसवा दिये । जब खाने का समय आया तो प्रजापति ने कुछ ऐसा किया कि उन सभी के हाथ कोहनियों पर से मुड़ने बन्द हो गये । भोजन करने में दोनों के लिए ही कठिनाई थी । दैत्यों को अपना ही स्वार्थ सूझता था । इसलिए वे मुट्ठी भरकर ऊपर ले जाते और वहाँ से मुँह में छोड़ते । इस तरह बहुत कम ही मुँह में पहुँचा, शेष नाक, आँख पर गिरा और इधर-उधर फैला, अन्त में उन्हें भूखा रहना पड़ा । पर देवताओं ने उदारता और परस्पर सहयोग की नीति अपना कर एक-दूसरे के मुख में ग्रास देने की विधि अपनाई । एक ने अपने हाथ से दूसरे को भोजन कराया । फलस्वरूप सभी का पेट भर गया ।

बुद्ध की अंतिम सीख

भगवान बुद्ध ने अपने जीवन के अन्तिम समय में शिष्यों से कहा-हे भिक्षुओं, जब तक तुम संयमी रहोगे, मित्र भाव रखोगे, मिल-बाँटकर खाओगे, सत्य और धर्म पर दृढ़ रहोगे तब तक असीम विपत्तियाँ आने पर भी तुम्हारी पराजय नहीं होगी ।

संगठन व सहकारिता, भक्ति भावना की दो ऐसी परिणतियाँ हैं जो हर स्थिति में मनुष्य को धन्य बनाती हैं । संगठन का स्थूल महत्व तो जन समुदाय श्रम शक्ति के माध्यम से प्रत्यक्ष समझते व देखते हैं ।

संगठित हुए समृद्धि आयी

एक व्यक्ति आया, बोला-'महाराज ! आमदनी कम है बच्चे भूखों मरते हैं ।' संत ने पूछा-'बाल-बच्चे क्या काम करते हैं ?' आगन्तुक अकड़ कर बोला-'क्या वे किसी के नौकर हैं जो काम करें ।' संत ने कहा-' भाई घर का बोझ उठाने के लिए अपनी-अपनी स्थिति के अनुसार सभी को कुछ न कुछ जरूर करना चाहिए । अकेले काम कैसे चलेगा ?' आदमी संतुष्ट होकर चला गया । कुछ दिन बाद फिर आया । इस बार काफी भेंट आदि भी लाया था । संत के चरणों में रखकर बोला-'महाराज ! अब एक बच्चा जानवर चराता है, दूसरा खेती करता है, स्त्री भी हाथ बँटाती है । किसी तरह की कमी नहीं है ।' संत बोले-'जिस घर के सब लोग हिल-मिलकर परिश्रम करते हैं उन्हें कभी भी तंगी नहीं आती ।'

सहकारिता की वृत्ति ने ही पाँच पाण्डवों को सदैव संकटों से बचाया व कौरवों से संघर्ष में विजयी बनाया । जब सहकारिता की वृत्ति समाप्त हो जाती है तो स्थिति क्या होती है, इसे प्रस्तुत आख्यान से समझा जा सकता है ।

जाल लेकर उड़े-पर गिरे

एक बार कई पक्षी एक बहेलिए के जाल में फँस गये । पक्षियों ने सलाह की और एक साथ जाल लेकर उड़ गये । व्याध भी उनके पीछे दौड़ा । किसी साधु ने पूछा-'भाई अब इनके पीछे दौड़ने से क्या लाभ ?' व्याध बोला-'महाराज जब तक ये पक्षी एक विचार और संगठन में हैं तभी तक जाल का बोझ उठा सकेंगे ।' ऐसा ही हुआ । थोड़ी ही देर में-'कहाँ उतरे ?'-के प्रश्न पर उनमें विवाद हो गया । किसी-किसी ने ढील दे दी और परिणाम यह हुआ कि वे जाल समेत नीचे गिरे और मारे गये ।

संकीर्णस्वार्थभावं ये नरा गृह्णन्ति सर्वदा ।
दिव्याभ्यो वञ्चिता नूनमनुभूतिभिरेव ते ॥ ६७॥
भक्तिमात्राश्रयेणेमे लाभाः प्राप्यन्त एकदा ।
आत्मकल्याणमीशासिर्विश्वकल्याणमेव च ॥ ६८॥

टीका-संकीर्ण स्वार्थपरता को अपनाने वाले इस दिव्य अनुभूति से वंचित ही रह जाते हैं । भक्ति ही एकमात्र अवलम्बन है, जिसके सहारे आत्मकल्याण, विश्वकल्याण और ईश्वरमिलन के त्रिविध परमलाभ एक साथ मिलते हैं ॥ ६७-६८॥

व्याख्या-संकीर्ण स्वार्थपरता को ही भव-बन्धन माना गया है जिसके पाश में बँधा जीव भक्ति भावना के उच्चस्तरीय आनन्द को प्राप्त करने से वंचित रह जाता है ।

धागे में गाँठ लगी हो तो वह सुई के छेद में नहीं घुस सकता और उससे सिलाई नहीं हो सकती । मन में स्वार्थ भरी संकीर्णता की गाँठ लगी हो तो वह ईश्वर में नहीं लग सकता और जीवन लक्ष्य प्राप्त नहीं कर सकता ।

जिस प्रकार रेशम के कीड़े अपनी लार से अपना घर बनाते हैं और उसी में जकड़ कर मरते रहते हैं पर जो चतुर कीड़े होते हैं, वे उस लार से बने घर को काट कर बाहर निकल आते हैं और उड़ जाते हैं, उसी तरह मनुष्य अपने लिए बन्धन अपने आप अज्ञान से खड़े करता है, उसी में जकड़ा-सड़ता मरता रहता है । यदि वह चाहे तो विवेक रूपी मुख से उन्हें काट भी सकता है और रेशम के कीड़े की तरह बंधन से मुक्त भी हो सकता है ।

मनुष्य को कृत-कृत्य करने वाली एक दिव्य अनुभूति अनुदान ईश्वर प्रदत्त है । वह है-ईश्वर भक्ति जो व्यक्ति अपने को इस लाभ से वंचित रखना चाहता है, वही संकीर्ण स्वार्थी बनता है । जो भक्ति का आश्रय लेकर आत्मीयता का क्षेत्र व्यापक बनाता है, वह अपना तो हित साधता ही है, सारे विश्व का कल्याण करता है एवं प्रत्यक्ष अनुभूति उसे ईश्वर से साक्षात्कार के समान होती है । भक्ति ही अंततः मुक्ति का कारण बनती है ।

अर्जुन का व्यामोह

अर्जुन ने भगवान से नाता जोड़ा पर वह मजबूत तभी हो सका जब उसने अपनी संकीर्ण स्वार्थपरता पर अंकुश लगाया । भीतर से दीन-दयनीय और कृपण-कायरों की तरह बना हुआ अर्जुन रथ पर बैठा, गाण्डीव हाथ में लिए यह सोच ही नहीं पा रहा था कि मैं क्या करूँ ? महाभारत का उद्देश्य

भाईयों के झगड़े-टण्टे का निबटारा नहीं था । वरन् सामन्तवादी बिखराव के कारण भारत के स्तर व भविष्य का निरन्तर चिन्ताजनक बनते जाने की जटिल समस्या का दूरगामी समाधान प्रस्तुत करना था । कृष्ण का उद्‌बोधन इसी निमित्त था । एक बार व्यामोह मिटा तो फिर अनीति पर विजय के रूप में ही उसकी परिणति हुई । अर्जुन स्वयं अपना, विश्व मानव का हित साधन सकने में सफल हुआ, साथ ही अपनी मुक्ति का पथ भी उसने प्रशस्त कर लिया ।

भव बंधन और मुक्ति

लोभ-मोह के भव-बन्धन आदर्शवादिता के आध्यात्मिक के मार्ग पर चलने वाले के लिए हथकड़ी-बेड़ी जैसे अवरोध उत्पनन करते हैं । लालची, संग्रही, विलासी व्यक्ति को लोभ-लिप्सा इस कदर जकड़े रहती है कि उसे परमार्थ में कोई रस ही नहीं आता । अपनी तराजू पर अपने बाटों से तौलने पर उसे स्वार्थ वजनदार प्रतीत होता है और परमार्थ हल्का । इसलिए लालच में राई रत्ती कमी पड़ते ही वह परमार्थ से हाथ खींच लेता है । मनीषियों ने उत्कृष्टता के क्षेत्र में प्रवेश करने वालों के लिए वित्तेषणा, पुत्रेषणा और अहंता (लोभ, मोह और बड़प्पन) की विविध ऐषणाओं का परित्याग करने के उपरान्त ही श्रेय मार्ग पर पैर बढ़ाने की सलाह दी है । इस निर्मलता को प्राप्त किए बिना भक्ति नहीं बनती, मात्र आडम्बर ढकोसले का स्वरूप बनता है । स्वच्छ-निर्मल होने पर ईश्वर दूर नहीं रह जाता अपने अन्दर बैठा दिखाई देने लगता है । इसी तथ्य को कबीर ने इस प्रकार कहा है--

प्रेम गली अति साँकरी, जामे दो न समाय । जब 'मैं' था तब हरि नहीं, अब हरि है 'मैं' नाय ॥

आत्मीयं प्रेमयत्तस्य भावनोद्‌भरितं मनः ।
प्रत्यक्षं स्वर्ग आनन्दानुभूतिं तु रसन्ति ये ॥ ६९ ॥
भवन्ति कृतकृत्यास्ते प्राप्तं प्राप्तव्यमेव तैः ।
एकार्थसुखसौविध्यभावः संकीर्ण स्वार्थजः ॥ ७० ॥
स नाशयति नूनं तं भक्तिभावं तथा च ये ।
अपेक्षया परेषां तु विलासविभवान्विताः ॥ ७१ ॥
भवितुं मनुजा यान्ति महत्वाकांक्षितां हि ते ।
जायन्ते निष्ठुरा नूनमाततायिन एव च ॥ ७२ ॥

टीका-आत्मीयता की प्रेमभावना से लबालब भरा हुआ अन्तःकरण प्रत्यक्ष स्वर्ग है । उस आनन्दभरी अनुभूति का जो रसास्वादन करते हैं, कृत कृत्य बन जाते हैं, उन्हें मानों अपना सम्पूर्ण प्राप्तव्य प्राप्त हो जाता है । एकाकी सुख-सुविधा की बात सोचने वाली संकीर्ण स्वार्थपरता, भक्ति-भावना को नष्ट करती है । दूसरों की तुलना में जो अधिक वैभववान्, विलासी बनने की महत्वाकांक्षा रखते हैं, वे मनुष्य निष्ठुर एवं आततायी ही बन सकते हैं ॥ ६९-७२ ॥

व्याख्या-लबालब भरा प्याला छलक पड़ता है । जिस व्यक्ति के अन्तःकरण में आत्मीयता रूपी रस भरा हुआ है, उसे छलकाये, बाँटे बिना रहा नहीं जाता । वह मात्र एक ही चिन्तन में लीन रहता है-किसे दूँ, कैसे बाँटू ? फूल से सुगन्ध छिपाये नहीं बनती । वायु को सुवासित किये बिना उसे सन्तोष नहीं । मधु मक्खी, भौंरों को वह अपना रस पीने के लिए आमंत्रित करता है । कुछ यही स्थिति ऐसे व्यक्ति की होती है जो सदैव आनन्द की अनुभूति में मग्न अपने अन्दर स्वर्ग लिए उस आनन्द को बाँटने सतत् तैयार रहता है । भगवान ऐसे ही व्यक्ति के अन्तःकरण में प्रवेश करते हैं ।

कण-कण में भगवान्

अनन्तशयन तीर्थ में विष्णु विग्रह पर चोल नरेश ने आभूषण चढ़ाये । इसी बीच दरिद्र भक्त विष्णुदास ने आकर उन पर तुलसी पत्र और जल डाल दिया । राजा व रंक में विवाद छिड़ गया कि सच्चा पुजारी कौन है, इसकी परीक्षा होनी चाहिए ।

चोल राजा ने विष्णु भगवान् की प्रसन्नता हेतु कोटि मुद्राओं का व्यय करके विराट् यज्ञ का आयोजन किया था । उधर रंक विष्णु पूजा में लीन हो गया । महीनों बीत गये । राजा का यज्ञ और रंक की भक्ति अबाध गति से चलती रही । तभी विष्णुदास के समक्ष एक संकट उपस्थित हुआ । एक सप्ताह से लगातार कोई उसका भोजन चुरा ले जाता

था । वह भगवान को भोग न लगा पाता और स्वयं भी भूखा रहता । आठवें दिन वह चोर को पकड़ने के लिए छुपकर बैठा । नियत समय पर चोर आया एक दीन, अस्थि शेष, क्षुधित, कंपित चाण्डाल । वह सूखी रोटियाँ लेकर जाने लगा । विष्णुदास के अन्तर का वैष्णव मन द्रवित हो उठा–बेचारा दीन न जाने कितने दिनों का भूखा है । वह आड़ से निकल कर बोला–'रुको अतिथि ! यह घृत भी ले जाओ । रूखी रोटियों से तुम्हारी क्या तृप्ति होगी । भयभीत न होओ, मैं तुम्हारा सेवक हूँ ।' और अगले ही क्षण चाण्डाल ने भगवान विष्णु का रूप धारण कर लिया । भगवान् ने भक्त विष्णुदास को विमान पर बैठा लिया और उसको अपने धाम बैकुण्ठ ले गये । यज्ञ मंडप में बैठे चोल राजा ने विमान देखा तो स्तम्भित हुए और बोले–'मैं पराजित हुआ । भगवन् सम्पन्न के वैभव पर नहीं, अकिंचन् की सरल भक्ति पर रीझे ।'

भगवान भक्तों के इसी गुण पर सदा से रीझते रहे हैं । चाहे वे निषादराज, शबरी तथा जंगल में धूम मचाने वाले चपल–चंचल रीछ–वानर हों अथवा गोपियों का मक्खन चुराने वाले बाल गोपाल ग्वाले, भगवान ने सदा उनकी निर्मलता देखी है और विदुर, दुर्योधन की तुलना में विदुर के आतिथ्य को वरीयता दी है ।

आत्म विस्तार का चमत्कार

एक आदमी संत तुकाराम का कीर्तन सुनने तो नित्य ही आता पर उनसे बहुत द्वेष रखता । वह मन ही मन किसी अवसर पर संत तुकाराम को नीचा दिखाने की ताक में रहता था । एक दिन तुकाराम की भैंस उसके बाग के कुछ पौधे चर आई । बस वह आकर लगा गालियाँ सुनाने । इस पर भी जब संत उत्तेजित न हुए तो उसे और भी गुस्सा आया और एक काँटों वाली छड़ी लेकर तुकाराम को इतना पीटा कि रक्त बहने लगा । फिर भी तुकाराम को न क्रोध आया, न प्रतिरोध ही किया ।

सन्ध्या समय जब वह व्यक्ति नित्य की भाँति कीर्तन में नहीं आया तो संत तुकाराम स्वयं उसके घर गये और स्नेहपूर्वक भैंस की गलती की क्षमा माँगते हुए उसे कीर्तन में ले आये ।

उसके बाद उसका जीवन क्रम ही बदल गया और वह उनका प्रिय भक्त बन गया । अपने प्रति किये गये दुर्व्यवहार पर भी उस व्यक्ति पर निरन्तर अपना स्नेह बरसाते रहना ही संतों की मूल विशेषता रही है ।

समर्थ गुरु रामदास के जीवन काल का एक मार्मिक प्रसंग है ।

समर्थ गुरु रामदास दो–तीन घर माँग लिया करते थे, उनमें जो कुछ मिल जाता, उससे दिन भर का भोजन बना लेते थे । एक दिन प्रातःकाल वे ऐसे ही एक दरवाजे पर जा खड़े हुए । भिक्षा के लिए आवाज लगाई । उस घर की स्त्री उस दिन किसी कारणवश क्रोध में भरी हुई थी । समर्थ की आवाज ने आग में आहुति का काम किया । स्त्री उबल पड़ी और जिस पोतने से चौका धो रही थी वही समर्थ के मुख पर दे मारा ।

समर्थ न रुष्ट हुए, न उन्हें कष्ट हुआ । मुस्कराये और पोतना लेकर ही चल पड़े । नदी पहुँचे वहाँ स्नान किया, उस पोतने को भी अच्छी तरह धोया और सुखाया । शाम को आरती के लिए बत्तियाँ उसी कपड़े की बनाई और भगवान से प्रार्थना की–'हे प्रभो ! जिस तरह यह बत्तियाँ प्रकाश दे रही हैं, उसी तरह उस माता का भी हृदय प्रकाशवान् हो ।'

लेकिन यह भक्ति भावना तब नष्ट हो जाती है जब मनुष्य एकाकीपन, निजी स्वार्थ पर ही उतर आता है । मनुष्य ईमानदारी कमा तो सकता है पर निष्ठुर बन उसका संचय नहीं कर सकता । ऐसे आदमी जीते जी नरक भोगते हैं । उनकी महत्वाकांक्षा उन्हें किसी भी क्षण चैन नहीं लेने देती ।

स्वर्णष्ठीव पुत्र

महाराज संजय के कोई संतान न थी, इससे वे बड़े दुःखी रहा करते थे । इसके लिए उन्होंने ब्राह्मणों की बड़ी सेवा की । ब्राह्मणों ने नारद भगवान् से राजा की इच्छा पूरी करने की याचना की । नारद ने राजा से पूछा–'तुम्हें कैसा पुत्र चाहिए ?' राजा को लोभ आ गया । बोले–'मेरा बालक ऐसा हो जिसका थूक, मलमूत्र सभी स्वर्णमय हों ।' एवमस्तु, कहकर नारद चले गये ।

कुछ दिन में इन्हीं गुणों से सम्पन्न बालक पैदा हुआ । उसका नाम स्वर्णष्ठीव रखा गया । विचित्र बालक की खबर चारों ओर फैल गयी । दस्युओं ने सुना तो एक रात बालक का अपहरण कर ले गये । पर उनमें इस बात का झगड़ा हो गया कि पहले कौन बालक को रखे ? आखिर यह तय हुआ कि बालक मारकर सारा सोना निकाल लिया जाय । बच्चे को काट डाला, पर सोना न निकला । राजा को समाचार मिला तो चोरों को पकड़वा कर मौत की सजा दी । लोभ ही पाप की जड़ है, यह सोचकर राजा बड़े दुःखी हुए ।

हिरण्याक्ष, हिरण्यकश्यपु जैसे असुरों की अन्तिम गति भी यही हुई । उन्होंने सारी सृष्टि के वैभव का स्वामी बनना चाहा और इस आतुरता में निष्ठुरता की चरम सीमा पर पहुँचे और अन्ततः उनका विनाश होकर ही रहा । कौरवों की दुर्बुद्धि उन्हें ले डूबी । 'सुई की नोक के बराबर जमीन भी नहीं देंगे' इसी वाक्य पर दृढ़ दुर्योधन व उनके साथी अन्ततः महाभारत का कारण बने । उन सबका विनाश हुआ और परीक्षित राज्य की स्थापना हुई ।

अहम्मन्यतया सार्धमुदारा भक्तिभावना ।
स्थातुं नैव समर्थास्ति द्वयोरेको विशिष्यते ॥ ७३ ॥
जीवनं सरलमुच्चविचारा इति भावनाम् ।
भक्ता भजन्ति स्वल्पं च भुञ्जते भोजयन्त्यलम् ॥ ७४ ॥
याचन्ते स्वल्पमेवालं प्रयच्छन्ति च हर्षिताः ।
अल्पं कामयमानास्ते दातुकामाभवन्त्यलम् ॥ ७५ ॥

टीका-अहम्मन्यता और उदार-भक्तिभावना का एक साथ रह सकना शक्य नहीं । दोनों में से एक को प्रमुखता देनी होती है । इसलिए भक्तजन सादा जीवन, उच्च विचार का सिद्धांत अपनाते हैं । खाते कम और खिलाते अधिक हैं, माँगते कम और देते अधिक हैं, चाहते कम और देने की इच्छा अधिक रखते हैं-इसी में प्रसन्न रहते हैं ॥ ७३-७५ ॥

व्याख्या-सादा जीवन ही संत की मुख्य विशेषता है । यदि ऐसा नहीं है तो संचय की भावना उच्च-विचारों को अन्दर प्रवेश नहीं करने देगी । 'मैं' तक सीमित व्यक्ति-उदार नहीं हो सकता और उदार आत्मीयता से भरा व्यक्ति अपना 'मैं' समष्टि में विलय कर देता है । मानवमात्र के प्रति कर्तव्य की पुकार स्वयं की महत्वाकांक्षाओं के लिए कोई स्थान नहीं छोड़ती ।

परमहंस की माँ

सादगी की साकार प्रतिमा रामकृष्ण परमहंस की माँ अपने जीवन के अंतिम दिनों में बेटे के पास ही रहने आ गयी थीं । परमहंस के निष्ठावान् शिष्य और सेवक श्री मथुरानाथ माता और पुत्र दोनों की यथेष्ट सेवा करते । एक दिन की बात है, उन्होंने माँ से कहा-'माँ ! आपको जिस किसी भी चीज की जरूरत हो मुझे बता दें । मैं अभी तुरन्त आपकी सेवा में उपस्थित कर दूँगा ।'

माँ ने जवाब दिया-'सब कुछ तो है बेटा, मेरा आशीष लो और प्रसन्न रहो ।' परन्तु मथुरा बाबू इस उत्तर से संतुष्ट नहीं हुए और बार-बार आग्रह करते रहे । जब माँ ने देखा कि मथुरा बाबू इस प्रकार नहीं मानने वाले हैं तो उन्होंने कहा-'ठीक है, अगर तू कुछ देना ही चाहे तो मेरे लिए थोड़ी सुंघनी मंगवा दे । मथुरा बाबू की आँखों में आँसू आ गये और वे निस्पृह, निष्काम देवी के प्रति नत मस्तक होकर मन-ही-मन कहने लगे-'ऐसी माँ को रामकृष्ण जैसा पुत्र मिले तो इसमें क्या आश्चर्य है ।'

विद्यासागर की माँ

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर तब किशोरावस्था में ही थे । उदारता पूर्वक बाँटते रहने की भावना का बचपन से ही उनके हृदय में स्थान था पर उसे पोषण मिला वात्सल्यमयी माँ से । एक दिन एक साथी को वे लेकर आये । माँ से कहा-"यह फीस के पैसे न होने के कारण परीक्षा नहीं दे पा रहे हैं । क्या हम इनकी कुछ मदद कर सकते हैं ?" माँ ने तुरन्त अपना मंगलसूत्र निकाल कर दे दिया-उसे गिरवी रखकर फीस की व्यवस्था की गयी । छात्र परीक्षा में बैठा, उत्तीर्ण हुआ । गिरवी रखा मंगल सूत्र लाकर उसने ईश्वरचन्द्र की माँ के चरणों में रखा । ममता भरी डाँट लगाते हुए वे बोलीं-"बेटा ! इसका नाम ही मंगलसूत्र है । इसीलिए मंगल प्रयोजन में काम आ गया । तू इसे रख, बेचकर आगे की पढ़ाई की व्यवस्था बना ।"

गरीबी है दुःख नहीं

एक प्रसिद्ध ज्ञानी नगर के शांत कोने में रहते थे और जब लेखन से समय बचता तो अपनी फूस की झोंपड़ी के बाहर बैठकर एकतारा बजाया करते थे । एक धनिक उनकी ख्याति सुनकर अपने रथ पर चढ़कर उनसे मिलने आया । रास्ता इतना सँकरा था कि उसे उतर कर पैदल जाना पड़ा । संत अतिथि का स्वागत करने द्वार पर आये । फटे वस्त्र, पत्तों की टोपी-फिर भी चेहरे पर एक दिव्य शांति व प्रफुल्लता । देखते ही धनिक ने कहा-"ओह ! संत आप इतने दुःखी, दरिद्र, संकटग्रस्त ।"

संत मुस्कराये और बोले-"मैंने सुना है धन के अभाव में मनुष्य गरीब भर रहता है । दु:खी वे रहते हैं जो अज्ञानग्रस्त हैं । बताओं मैं गरीब अच्छा या दु:खी ?" धनिक सिटपिटाये से चुप खड़े रह गये ।

संतों के पास देने को अपार आत्मिक सम्पदा है । वे किसी से धन सम्पदा चाहते नहीं, पर इच्छुकों को, पात्रों को बाँटते रहने में सदैव प्रसन्नता अनुभव करते हैं । जो याचक है वह सच्चा भक्त नहीं । भक्त जब भी माँगता है-सीधे ईश्वर से, पर अपने लिए नहीं-मानव मात्र के लिए, विश्व वसुधा के लिए ।

आदर्शनिष्ठ उदारमना स्वयं दीन-हीन परिस्थितियों में रहकर भी अपना कर्तव्य धर्म पूरा करते हैं ।

नागेश भट्ट की साधना

धर्म संस्कृति का पतन-पराभव देख नागेश भट्ट का हृदय विगलित हो उठा । उनके गुरु ने आज्ञा दी-"आर्ष साहित्य का पुनरुद्धार ही अब एक मात्र कर्तव्य धर्म है । यही तुम्हारी सच्ची ईश्वर भक्ति होगी ।" सांस्कृतिक उत्थान की अदम्य भावना ने सतत् अध्ययन, अनुवाद, लेखन की प्रेरणा दी । निर्धनता और अभावों के बीच उनकी साधना बराबर चलती रही । धीरे-धीरे ख्याति फैली । महाराष्ट्र के पेशवा बाजीराव स्वयं वाराणसी उनके दर्शनार्थ आए । पुस्तकों के ढेर के बीच, पीठ पर कूबड़ लिये उन्हें बैठा देख पेशवा की आँखें डबडबा आईं । बोले-'आचार्य प्रवर ! यदि आप आज्ञा दें तो मैं आपकी आर्थिक व्यवस्था का प्रबन्ध कर दूँ । आपकी सेवा कर सकूँ तो यह मेरा सौभाग्य होगा ।' ध्यान भंग हुआ । संत नागेश ने ऊपर सिर उठाया । वे बोले-'महाराज ! एक सूत्र की व्याख्या करने में ग्रन्थों के संदर्भ ढूँढ़ने में सहायता कर दें, मेरे लिए यही आपकी सबसे बड़ी कृपा होगी ।' आर्थिक सहायता देने आये महाराज इस अद्वितीय साधक की निर्लोभिता के प्रति श्रद्धावनत हो वापस लौट गये ।

पुरुषार्थ संचय-परक न हो

संत रामकृष्ण परमहंस शिष्यों के बीच उपदेश दे रहे थे । राखाल जो बाद में स्वामी ब्रह्मानन्द के नाम से जाने गये, ने जिज्ञासा प्रकट की-'क्या भौतिक लालसाओं के रहते भगवान् से प्रेम नहीं किया जा सकता ? यदि भगवद् भक्ति का अर्थ यही है कि अपनी सारी महात्वाकांक्षाओं का त्याग कर दिया जाय तो पुरुषार्थ के लिए कहाँ स्थान रहा ?' परमहंस हँसते हुए बोले-"बेटा राखाल ! तूने कभी देखा है, जब आकाश में बादल छाये होते हैं, दोपहरी की तपती धूप भी अनुभव नहीं होती, अन्धकार ही छाया रहता है । जप, तप एवं ऐश्वर्य, भक्ति एवं एषणाएँ साथ-साथ नहीं चल सकतीं । पुरुषार्थ तो आजीविका उपार्जन के लिए अनिवार्य है । पर वही संचय, स्वार्थपरता वादी बन जाता है तो उद्धत महात्वाकांक्षा का रूप ले लेता है ।" राखाल का समाधान हो गया ।

भक्तिर्भावुकता नैव तत्रोच्चादर्शता मता ।
सरलं ये तु जीवन्ति तेषामेषा तु सम्भवेत् ॥ ७६ ॥
अन्ये तात्कालिकान् भावावेशान् भक्तिं वदन्ति तु ।
भ्रमन्ति ते भ्रमावर्ते पराँश्च भ्रामयन्त्यपि ॥ ७७ ॥

टीका-भक्ति, भावुकता नहीं है । उसके पीछे उच्च-आदर्श जुड़े रहते हैं । सादा-जीवन जीने वालों के लिए भक्तिभावना जैसी उच्च विचारधारा अपना सकना सम्भव है । दूसरे लोग तो सस्ते भावावेशों को ही 'भक्ति' कहते हैं और भ्रम में पड़े रहते हैं तथा औरों को भी भ्रमित कर देते हैं ॥ ७६-७७ ॥

व्याख्या-भक्ति अन्तः की उदारता का नाम है जो सत्कर्मों में परिणत होती है । थोड़ा-सा रोमांच, भावुकता का प्रवाह ही बहुसंख्य व्यक्तियों को भ्रम में डाल देता है । कीर्तन, स्तवन आदि की महत्ता है परन्तु उसे निरुद्देश्य बनाकर मात्र आडम्बर रच देने से भ्रम-जंजाल और फैलता है । ऐसे व्यक्ति स्वयं तो कुछ पाते नहीं, अपने साथ कई मन्द बुद्धि भावुकों को भी भक्ति के आनन्द से वंचित कर दिग्भ्रान्त कर देते हैं । आदर्श यदि जीवन में न उतरे तो ऐसा सस्ता भावावेश किस काम का ?

करुणाकर का पुजारी

एक पुजारी नियत समय पर पूजा करने आता और आरती करते-करते भाव विह्वल हो जाता । घर आते ही अपनी पत्नी, बच्चों के प्रति कर्कश व्यवहार करने लगता । एक दिन उसका नन्हा वाला बच्चा भी साथ लगा चला आया । पुजारी स्तुति कर रहा था-"हे प्रभो ! तुम सबको प्यार करने वाले, सब पर कृपा लुटाने वाले हो ।"

अभी वह इतना ही कह पाया था कि बच्चा बोल उठा-'हे पिता ! जिस भगवान के पास इतने दिन रहने पर भी आप करुणा और प्यार करना न सीख सके उस भगवान के पास रहने न रहने से क्या लाभ ?' पुजारी को अपनी भूल मालूम पड़ गई और वह उस दिन से आत्म निरीक्षण व आत्म सुधार में लग गया ।

देवता को नैवेद्य चढ़ाना, अपने वैभव का प्रदर्शन तथा साथ ही कीर्तन, अखण्ड पाठ आयोजन यही बताता है कि हम अपनी भौतिक सम्पदा से परमेश्वर को रिझाने का प्रयास कर रहे हैं । हमारे लिए वह भी इतना सस्ता है कि राशि जितनी अधिक होगी, हमारा काम उतना ही सफल करने में वह सहायक होगा । ऐसी मान्यता बहुसंख्यक ने बना रखी है ।

प्रभु के सेवक बनें, उसे सेवक न मानें

नगर सेठ अपनी गुत्थियों के समाधान में सहायता प्राप्त करने के लिए मंदिर में पहुँचे । देवता को प्रसन्न करने के लिए वे थाल भर मोती और नैवेद्य लाये थे । झरोखे में से झांककर सेठ ने देखा तो वह फटे कपड़े वाला, अस्थिपिंजर जैसा कोई गरीब व्यक्ति था, पर वह कृतज्ञता और प्रसन्नता भरे अश्रु बिन्दु देवता के चरणों पर चढ़ाता हुआ प्रार्थना कर रहा था कि धन्य है आपका वरदान कि मैं सुख की नींद सोता हूँ और कोई मुझसे ईर्ष्या नहीं करता ।

सेठ ने पूजा तो की पर इस पूरी अवधि में सेठ की मनःस्थिति हाहाकार से भरी थी । 'तीन बार सप्ताह में कथा और एक घण्टा नित्य कीर्तन करने पर भी मुझे सुख चैन नहीं मिल रहा है और यह गरीब व्यक्ति अपने अकिंचन से उपहार से प्रसन्न है ? ऐसा विरोधाभास क्यों ? मेरी उपेक्षा क्यों और दरिद्र पर अनुग्रह किस कारण ?' वे अपना सन्देह लेकर प्रधान याजक के पास पहुँचे । याजक ने तीसरे दिन देवता से पूछकर समाधान बताने को कहा । उन्होंने तीसरे दिन सेठ को बताया-''आपने मात्र भावावेश को ईश्वर की उपासना माना । देवता को आपके वैभव से कोई लेना-देना नहीं । उस गरीब ने ईश्वर को अपना स्वामी मानकर उन्हें अपने हृदय में स्थान दिया । उसने वह चढ़ाया जो भगवान को प्रिय था-स्नेह, प्यार । बदले में उसे मिला है-शांति, सन्तोष । आप भी वही चढ़ाइये-वैभव से भगवान को मत रिझाइये ।''

मुख्य काम शास्त्रार्थ नहीं-सेवा

एक महात्मा अपने विचार प्रकट करने तथा प्रश्नों का उत्तर देने के लिए एक सभा में बुलाए गये । सभा में ये भाषण देने मंच पर पहुँचे तो उन्होंने देखा कि वहाँ उपस्थित एक व्यक्ति हाथ की पीड़ा से बहुत कष्ट पाता हुआ कराह रहा है । महात्मा तुरन्त उसका उपचार करने में लग गए । उनका यह कृत्य देख विरोधियों ने समझा कि वे सभा की कार्यवाही से कतरा रहे हैं । एक आलोचक ने व्यंग्य करते हुए कहा-'आप तो शास्त्रार्थ करने आये हैं फिर उस मुख्य कार्य को छोड़कर चिकित्सा कैसे करने लगे ?'

महात्मा ने बड़े शान्त भाव से उत्तर दिया-'क्या तुममे से कोई ऐसा है, जिसके एक ही पुत्र हो और वह कुँए में गिर जाय तो वह सारा काम छोड़कर उसे निकालने में न लग जाये ?

मेरा मुख्य काम तो पीड़ितों की सेवा करना है, लोगों के दुःख-दर्द दूर करने का है । शास्त्रार्थ तथा व्याख्यान तो जीवन के साधारण कार्यक्रम हैं ।

एक व्यक्ति भावावेश में गृहस्थी छोड़कर हरिद्वार आ बसा और एक बाबा के पीछे लगकर उत्तराखण्ड जा पहुँचा । साधु बनने का प्रारम्भिक उफान झाग की तरह धीरे-धीरे बैठ गया । अब लगने लगा, गलती की है । एक दिन उसके साथी ने उसे रोते देख लिया, पूछा क्या बात है । बोल पड़ा-'बच्चों की याद आ रही है । न मालूम कैसे रहते होंगे । इधर ठण्ड भी कुछ अधिक पड़ने लगी है । सोचता हूँ कुछ दिनों के लिए घर जाकर उनकी व्यवस्था कर आऊँ । तब तक ठण्ड भी कम हो जायेगी ।' साथी बोला-'भाई ! जाकर अपना गृहस्थ धर्म निभाओ । अपनी जिम्मेदारियों से निवृत्त होकर आना । तब तक तुम्हें अपने कर्तव्य का ज्ञान भी हो जायेगा । ठण्ड तो बस एक बहाना है । तुम यथार्थ से मत भागो । आज ही चले जाओ और गृहस्थ को तपोवन बनाओ ।'

बिना गये तीर्थ का पुण्य

भक्ति का सही स्वरूप बहुत कम जानते हैं । तीर्थ यात्रा, नदी स्नान का पुण्य किस कारण है, यह जाने बिना इन उपचारों में धन तो खर्च करते हैं पर शिक्षा-प्रेरणा का ज्ञान न होने से वह लाभ नहीं मिलता जो न जाते तो घर बैठे भी मिल सकता था ।

एक बुढ़िया ने तीर्थ-यात्रा के लिए कुछ पैसे जमा कर रखे थे । जब जाने का समय आया तो पता चला-'पड़ौस के परिवार में धनाभाव के कारण उनके एक पुत्र की चिकित्सा नहीं हो पा रही है । वह मरणासन्न अवस्था में है ।' बुढ़िया गयी व उन्हें जरूरतमन्द समझ कर सारी संचित पूँजी दे आयी । बच्चा बच गया व स्वास्थ्य लाभ करने लगा । बुढ़िया ने धीरे-धीरे और धन एकत्र किया-तीर्थ यात्रा की तैयारियाँ पूरी की । पर जब चलने को ही थी-एक अकाल पीड़ित परिवार सामने आ खड़ा हुआ । उसने अपना सारा धन उन्हें दे दिया व स्वयं फिर चक्की चलाकर आजीविका उपार्जन करने लगी । इसी में उसे वह सुख-संतोष मिल रहा था जो तीर्थ जाने से भी नहीं मिलता ।

अगले दिन एक संत वहाँ आए । उन्होंने कहा-'माँ ! भगवान ने तुम्हारे इन दो पुण्यों को तीर्थ यात्रा से भी अधिक महत्व दिया है । अब तुम्हें कहीं जाने की आवश्यकता नहीं । परमार्थ ही सच्चा तीर्थ स्थान है ।'

संकीर्णास्वार्थपरतैव विद्यते भवबन्धनम् ।
लोभमोहावहंकार इति तस्यास्त्रयः सुताः ॥ ७८ ॥
इदं कुटुम्बं यत्रापि वासमाधास्यति ध्रुवम् ।
तत्रेर्ष्याकलहद्वेषपातदुर्व्यसनानि च ॥ ७९ ॥
प्रसंगात्प्रत्यहं नूनमुदेष्यन्ति तथेदृशाः ।
आत्मप्रताडनां लोकभर्त्सनां प्राप्नुवन्ति च ॥ ८० ॥

टीका-संकीर्ण-स्वार्थपरता ही भव-बन्धन है । लोभ-मोह और अहंकार उसी के तीन पुत्र हैं । यह परिवार जहाँ भी बसेगा वहाँ ईर्ष्या, द्वेष, कलह, दुर्व्यसन और पतन के प्रसंग आये दिन उभरते रहेंगे । ऐसे लोग आत्म-प्रताड़ना और लोक-भर्त्सना सहते रहते हैं ॥ ७८-८० ॥

व्याख्या-संकीर्ण स्वार्थपरता आध्यात्मिक प्रगति के मार्ग में चट्टान बनकर आ खड़ी होती है, इस प्रसंग की चर्चा महाप्राज्ञ इसी प्रकरण में पहले कर चुके हैं । भक्ति तत्व की व्याख्या करने के उपरान्त वे इस अवरोध का विस्तार करते हुए बताते हैं कि उदार आत्मीयता व्यवहार में न उतरने का मूल कारण लोभ, मोह और अहंकार रूपी भव बन्धन ही हैं । तीनों ही एक से एक बढ़कर हैं । यह तय नहीं किया जा सकता कि कौन प्रथम है, कौन द्वितीय ? यह परिवार ऐसा है जिसमें रावण, अहिरावण जैसे सगे भाई प्रतीत होते हैं । तिनके जैसी हलकी कोई वस्तु पर्वत जैसी भारी बनकर आदर्शवादी कहे जाने वाले व्यक्तियों को दिग्भ्रान्त कर उनके मनःक्षेत्र पर भूत पिशाच की तरह कैसे चढ़ बैठती है और भली-चंगी परिस्थितियाँ होते हुए भी नारकीय उत्पीड़नों की तरह निरन्तर संत्रस्त करती रहती है, उसका प्रत्यक्ष उदाहरण दैनन्दिन जीवन के प्रसंगों में देखा जा सकता है । ऐसे व्यक्ति भीतर की लानत और बाहर का धिक्कार दोनों जीते जी सहते व नरक भोगते हैं ।

ज्ञान चक्षु से नरक दर्शन

एक शिष्य ने गुरु से जिज्ञासा प्रकट की-'हे आचार्य प्रवर ! मनुष्य नरक जैसा जीवन इसी काया में कैसे जीता है ? कृपया इसे स्पष्ट करें ।' गुरुदेव ने कहा-'हे वत्स ! तुम्हें यह समझने के लिए मैं दिव्य दृष्टि देता हूँ । तुम स्वयं अपने ज्ञान चक्षुओं से उस जगत् का अवलोकन करो, जिसमें अधिकांश मानव अपना जीवन काटते हैं ।' शिष्य ने ध्यानस्थ अवस्था में तीन दृश्य देखे । एक में ऐश्वर्यों में लिप्त, कामोपभोगों में लगा एक धनिक, दूसरे में आवेश ग्रस्त मनःस्थिति में एक व्यक्ति एवं तीसरे में लोभ लिप्सा में रत एक अन्य व्यक्ति । तीनों ही मानो एक प्रकार की अग्नि में जल रहे थे । पहला क्षणिक सुखों का उपभोग करके भी असंतुष्ट बेचैन पड़ा करवटें बदल रहा था । सुरा भी उसके तनाव को नहीं मिटा पा रही थी । दूसरा क्रोध में अपना होश तक भूल बैठा था और उसकी प्रतिक्रया उसके शरीर, मन व अन्तःकरण पर दिव्य चक्षुओं से स्पष्ट दिखाई दे रही थी । तीसरा लोभग्रस्त व्यक्ति अपने समीपवर्ती परिजनों के धिक्कार, निन्दा को सुनकर भी साधन बटोरने में लगा था ।

गुरु बोले-'वत्स ! यही कुम्भीपाक, रौरव इत्यादि साक्षात् नरक हैं जिनमें जीते जागते मनुष्य जलते हैं और दूसरों को भी जलाते हैं । इन्हें मानव जीवन तो मिला है पर इनकी मनःस्थिति पिशाचों की सी है जो श्मशान पर बैठे

दाँत किट-किटाते व अन्यों को भी कष्ट देते रहते हैं ।' शिष्य प्रत्यक्ष अपने नेत्रों से वह दृश्य देखकर दहल उठा और गुरुवर से इन भव बन्धनों से मुक्ति का उपाय पूछ स्वयं उस पथ पर चल पड़ा ।

काकभुशुण्डि और विद्याधर

काकभुशुन्डि जी के मन में एक बार यह जानने की इच्छा हुई कि क्या संसार में ऐसा भी कोई दीर्घजीवी व्यक्ति है जो विद्वान् भी हो पर उसे आत्म-ज्ञान न हुआ हो ? इस बात का पता लगाने के लिए वे महर्षि वशिष्ठ से आज्ञा लेकर निकल पड़े ।

ग्राम ढूँढ़ा, नगर ढूँढ़ा, वन और कन्दराओं की खाक छानी तब कहीं जाकर विद्याधर नामक ब्राह्मण से भेंट हुई, पूछने पर मालूम हुआ कि उनकी आयु चार कल्प की हो चुकी है और उन्होंने वेद शास्त्र का परिपूर्ण अध्ययन किया है । शास्त्रों के श्लोक उन्हें ऐसे कण्ठस्थ थे, जैसे तोते को राम-नाम । किसी भी शंका का समाधान वे मजे से कर देते थे ।

काकभुशुन्डि जी को उनसे मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई, किन्तु उन्हें बड़ा आश्चर्य यह था कि इतने विद्वान् होने पर भी विद्याधर को लोग आत्म-ज्ञानी क्यों नहीं कहते ।

यह जानने के लिए काकभुशुन्डि जी चुपचाप विद्याधर के पीछे घूमने लगे । विद्याधर एक दिन नीलगिरि पर्वत पर वन-विहार का आनन्द ले रहे थे, तभी उन्हें कण्वद की राजकन्या आती दिखाई दी, नारी के सौन्दर्य से विमोहित विद्याधर प्रकृति के उन्मुक्त आनन्द को भूल गये, कामावेश ने उन्हें इस तरह दीन कर दिया, जैसे मणिहीन सर्प । वे राजकन्या के पीछे इस तरह चल पड़े जैसे मृत पशु की हड्डियाँ चाटने के लिए कुत्ता । उस समय उन्हें न शास्त्र का ज्ञान रहा, न पुराण का । राजकन्या की उपेक्षा से भी इन्हें बोध नहीं हुआ । वे उसके पीछे लगे चले गये, सिपाहियों ने समझा यह कोई विक्षिप्त व्यक्ति है, इसलिए पकड़ कर बन्दीगृह में डाल दिया ।

कारागृह में पड़े विद्याधर से काकभुशुन्डि से पूछा-'मुनिवर ! आप इतने विद्वान् होकर भी यह नहीं समझ सके कि आसक्ति ही आत्म-ज्ञान का बन्धन है । यदि आप कामासक्त न होते तो आज यह दुर्दशा क्यों होती ? यह सुनते ही विद्याधर के ज्ञान नेत्र खुल गये और उन्हें आत्म-ज्ञान हो गया ।

मोह और लोभ के बन्धन ही मुक्ति में बाधक बनते हैं । शास्त्रकार कहते हैं कि मोह के वशीभूत होकर ही पतंग दीपक में गिरकर जल जाता है और मछली लालच में पड़कर काँटे में फँस जाती है । इसी तथ्य को रामायणकार ने इस प्रकार कहा है ।

काम, क्रोध, मद, लोभ परायन । निर्दय कपटी कुटिल मलायन ॥
बयरु अकारन सब काहू सों । जो कर हित अनहित ताहू सों ॥

'वे काम, क्रोध, मद और लोभ के परायण तथा निर्दयी, कपटी, कुटिल और पापों के घर होते हैं । वे बिना ही कारण सब किसी से बैर किया करते हैं । जो भलाई करता है उसके साथ भी बुराई करते हैं ।'

घर का सत्याग्रही

त्याग वैराग्य का प्रश्न आता है, ईश्वरीय कार्यों की जब चर्चा होती है तो कायर इन्हीं भव बन्धनों में उलझकर कठिनाई का यह परीक्षा प्रश्न हल करने से इन्कार कर देते हैं । प्रत्यक्ष में दृष्टिगोचर होने वाला त्याग यही है जिसे सम्पादित कर आत्म-साधना एवं लोक-साधना बन पड़ती है ।

अकाल से पीड़ित ग्रामवासी एक युवक के पास पहुँचे और बोले-'हम भूख से मरे जा रहे हैं और हमें कहीं अन्न ही नहीं मिल रहा ।' युवक ने कड़ककर पूछा-'बताओ, किसने अन्न चुराकर जमा कर रखा है ?' इस प्रश्न पर निगाहें तो कई उठीं पर बोल उनमें से एक भी न सका । युवक ने अनुभव किया यह लोग नाम बताने से भयभीत हो रहे हैं ।

एक बार उसने फिर कड़कर कर पूछा-'कोई भी क्यों न हो, डरो मत नाम बताओ ?' एक क्षीण आवाज आई, आपके पिताजी ने । युवक की आँखें लाल हो गईं, ग्रामवासियों को लेकर पिता के गोदाम में घुस गया और पिता के देखते-देखते सारा अनाज दुखियों को मुफ्त में बाँट दिया । धनी सेठ हाथ मलता रह गया और यह आदर्शवादी युवक इसके बाद घर छोड़कर समाजसेवा में तत्पर हो गया ।

निर्लोभिता की वृत्ति

जब भी स्वर्गीय परिस्थितियाँ विनिर्मित हुई हैं, निर्लोभिता की वृत्ति-उदारता की वृत्ति से ही जन्मी है । इनका प्राधान्य ही समय को धन्य बनाता व इनका अभाव ही कलियुग जैसी आज की परिस्थितियाँ विनिर्मित करता हैं ।

कौशाम्बी राज्य में एक बार भयंकर अकाल पड़ा । लोग दाने-दाने को मोहताज हो गये । अभावग्रस्त मृत्यु के

मुँह में जाने लगे । नगर के नगर और गाँव के गाँव खाली हो गये ।

इसी नगर में चम्पक नामक एक ईमानदार मजदूर रहता था । उसकी पत्नी हव्या भी उसी के समान धर्म परायण थी । दिन भर वे कड़ी मेहनत करते, शाम को जो कुछ मिलता, बच्चों को खिला देते, बचता तो खाते, नहीं तो स्वयं भूखे सो जाते । कुछ ही दिनों में यह भी मिलना बन्द हो गया । दोनों बच्चे अकाल देवता की भेंट चढ़ गये । एक दिन भूखा प्यासा चम्पक हव्या के साथ घर लौट रहा था । उसने रास्ते में सोने का एक कड़ा पड़ा हुआ देखा । पत्नी को कहीं उसका मोह न जाग पड़े इसलिए उसने उस कड़े के ऊपर धूल डाल दी ।

हव्या अभिप्राय समझ गयी, उसने कहा-'स्वामी ! नाहक धूल डाल रहे हैं, आप इतने निर्लोभ हैं, तो आपकी हव्या क्या आपके आदर्श से डिग सकती है ?'

भगवान यह सब देख रहे थे । दोनों के आत्म-संतोष व निर्लोभिता को देखकर उन्होंने कहा-'जहाँ ऐसे 'देवता' रहते हों, वहाँ अकाल नहीं रह सकता ।' उस रात खूब जल वृष्टि हुई ।

अहंता

लोभ, मोह की बेड़ी से कोई स्वयं को मुक्त कर बैरागी बन भी जाय तो कोई अनिवार्य नहीं कि वह परमार्थसाधनरत हो गया । इस मार्ग में एक और बड़ा अवरोध है-'अहंता' का । यह परोक्ष होती है । न अपनी पकड़ में आती है, न औरों के । अहंता बड़प्पन पाने की आकांक्षा को कहते हैं । इसकी विनाशलीला इतनी बड़ी है जिसकी तुलना में लोभ, मोह से होने वाली हानि को नगण्य जितना ही ठहराया जा सकता है । संस्था, संगठन के सर्वनाश में एक मात्र नहीं तो सर्वप्रधान कारण इस अहंता की सूर्पनखा को ही माना जा सकता है ।

डिब्बी में कीड़े को आहार मिला

बहुधा व्यक्ति अहंकार में यह भूल कर बैठते हैं कि वे स्रष्टा के उद्यान के माली नहीं, मालिक हैं । एक राजा को यह अभिमान था 'मैं ही राजा हूँ और सब जगत् का पालक हूँ, मनु आदि शास्त्रकारों ने व्यर्थ विष्णु को जगत् पालक कहकर शास्त्रों में घुसेड़ दिया है ।' एक बार एक संन्यासी शहर के बाहर एक पेड़ के नीचे जा बैठा । लोग उसकी शांतिप्रद मीठी-मीठी बातें सुनने के लिए वहाँ जाने लगे । एक दिन राजा भी वहाँ गया और कहने लगा कि 'मैं ही सब लोगों का पालक हूँ ।' यह सुनकर सन्त ने पूछा-'तेरे राज्य में कितने कौए, कुत्ते और मकोड़े हैं ?' राजा चुप हो गया ।

संत ने कहा-'जब तू यही नहीं जानता तो उनको भोजन कैसे भेजता होगा ?' राजा ने लज्जित होकर कहा-'तो क्या भगवान कीड़े-मकोड़ों को भी भोजन देते हैं ? यदि ऐसा है तो मैं एक कीड़े को डिबिया में बन्द करके देखता हूँ, कल देखूँगा भगवान इसे कैसे भोजन देते हैं ?' दूसरे दिन राजा ने संत के पास आकर डिबिया खोली तो वह कीड़ा चावल का एक टुकड़ा बड़े प्रेम से खा रहा था । यह चावल डिबिया बन्द करते समय राजा के मस्तक से गिर पड़ा था । तब उस अभिमानी ने माना कि भगवान ही सबका पालक है ।

समर्थ गुरु रामदास ने इसी प्रकार शिवाजी के अहंकार को चूरकर उन्हें वास्तविकता का बोध कराया था ।

तथाकथित विद्वान्

विद्वान कहे जाने वालों की भी स्थिति उन पण्डितों के समान होती है जो बड़प्पन की खातिर अपनी मनःस्थिति का मालिन्य प्रकट कर ही देते हैं । जब उन्हें शिक्षा मिलती है, तब अपना छोटापन समझ में आता है ।

दो पण्डित एक गृहस्थ के घर अतिथि हुए । एक विद्वान् स्नान गृह में गये थे । गृहस्थ ने उनके बारे में पूछा तो वह कहने लगे-"वह तो बिल्कुल बैल है ।" पहला बाहर आ गया और दूसरा स्नान करने गया तो गृहस्थ ने उनसे भी वही बात पूछी । दूसरा विद्वान् बोला-"वह तो बिल्कुल गधा है ।" दोनों भोजन के लिए बैठे तो गृहस्थ एक के आगे भूसा और दूसरे के आगे घास पटककर बोला-'लीजिए महाराज ! बैल और गधे का भोजन हाजिर है ।' यह सुनकर दोनों बड़े लज्जित हुए ।

श्रीकृष्ण की निरभिमानिता

लोक सेवी, सच्चे भक्त को कैसा होना चाहिए, इसका सशक्त उदाहरण श्रीकृष्ण चरित्र में देखने को मिलता है । वे स्वयं अर्जुन के सारथि बने, पाण्डवों की ओर से एक स्वयंसेवक की भाँति व्यवहार करते हुए महाभारत युद्ध में भाग लिया । ऐसे निरभिमानी भगवान कृष्ण को नीति के पक्षधर अर्जुन ने अपनी ओर रखकर उनकी सेना दुर्योधन को दे दी-यह स्वाभाविक ही था ।

राजसूय यज्ञ शुरू होने को था । सबके लिए काम बाँटे जा रहे थे । श्रीकृष्ण ने भोलेपन से अपने लिए भी

काम माँगा, लेकिन पाण्डवों ने कहा-'भगवन् ! आपके लिए तो हमारे पास कोई भी काम नहीं है ।' बहुत ज्यादा जोर देने पर उनसे कह दिया गया कि वे अपनी पसन्द का काम स्वयं ढूँढ़ लें । सभी ने देखा कि श्रीकृष्ण यज्ञ में आदि से अंत तक अतिथियों के चरण धोने, झूठी पत्तलें उठाने तथा सफाई रखने का काम स्वयं करते रहे । भगवान ने सिखाया-कोई काम छोटा नहीं ।

पूजयाऽपि प्रसीदन्ति तेषु देवा न किन्तु ते ।
दुरात्मनां मनोभावं ज्ञात्वा क्रुध्यन्ति नित्यशः ॥ ८१॥
सन्तापं शमयत्येनां पूर्णतो भक्तिभावना ।
अतो भक्तिश्च मुक्तिश्च सघने संयुते मते ॥ ८२॥
स्वार्थान्धतां नरो यावन्मात्रया यो त्यजत्यसौ ।
अनुपातेन तेनैव जीवन्मुक्तो भविष्यति ॥ ८३॥

टीका-पूजा करने पर भी देवता प्रसन्न नहीं होते और इन दुरात्माओं की मनःस्थिति को समझते हुए उन पर कोप ही बरसाते रहते हैं । भक्तिभावना ही इस तपन को पूर्णरूपेण बुझाती है । इसलिए भक्ति और मुक्ति को परस्पर सघन-संयुक्त माना जाता है । जो जिस मात्रा में स्वार्थान्धता का परित्याग करेगा, वह उसी अनुपात में जीवन्मुक्त बनता जायेगा ॥ ८१-८३॥

व्याख्या-लोभ, मोह, अहंता की बेड़ियों में जकड़े व्यक्ति अपना मन समझाने को पूजा पाठ जैसा बाह्योपचार कर भी लें तो भी दैवी कोप के भागी होते ही हैं । अपनी गरिमा को भुलाकर जो भी अमानवीय कृत्यों में उलझता है, उसकी मनःस्थिति भगवत्सत्ता के समक्ष तो नंगी ही रहती है, उन्हें उसका बहिरंग थोड़े ही प्रभावित करता है ।

भगवान तो भाव के भूखे हैं । भावहीन उपचार को वे धोखा मानते हैं । जब भावनापूर्वक अपना सब कुछ उसको समर्पित कर भक्ति की जाती है तो वह अग्नि शान्त होती है जो व्यक्ति को जीते जी नरक का त्रास भोगने को विवश कर देती है । जैसे-जैसे ये बन्धन ढीले होते जाते हैं, भक्त-भगवान परस्पर सघन होते चले जाते हैं तथा व्यक्ति अंधकार से प्रकाश की ओर, जीव-मुक्ति की ओर बढ़ता चला जाता है ।

साधु डाकू की सेवा में

एक साधु तथा डाकू साथ-साथ यमराज की सभा में जा पहुँचे । यमराज ने उनके कृत्यों का अवलोकन किया व कहा-"यदि तुम दोनों को अपने लिए कुछ कहना हो तो कह सकते हो । तुम्हारी करनी तुम्हारे सामने है । एक ने भक्ति की है तो दूसरे ने पाप ।"

डाकू विनम्र स्वर में बोला-'महाराज ! मैंने जीवन में बहुत पाप किए हैं जो भी विधान आपके यहाँ मेरे लिए हो, वही करें । मैं प्रस्तुत हूँ ।' फिर साधु बोले-'आप तो जानते ही हैं, मैंने जीवन भर भक्ति की । कृपया मेरे सुख-साधनों का प्रबन्ध शीघ्र करवायें ।'

यमराज ने दोनों की इच्छा सुनकर डाकू से कहा-"तुम्हें यह दण्ड दिया जाता है कि तुम आज से इस साधु की सेवा किया करो ।" डाकू ने सिर झुकाकर आज्ञा शिरोधार्य की, परन्तु साधु ने आपत्ति की-"महाराज ! इस दुष्ट के स्पर्श से मैं भ्रष्ट हो जाऊँगा । मेरी भक्ति तथा तपस्या खण्डित हो जायेगी ।"

अब यमराज बोल उठे-"कुकर्मी डाकू तो विनम्रता के साथ आपकी सेवा करने को तत्पर हो गया और आप साधु महाराज मात्र अपने इस कथन से अपनी दुर्गति स्वयं कर बैठे हैं । आपकी भक्ति अधूरी रही है, उसका परिचायक है आपका चिंतन । आज से आप इसकी सेवा करेंगे ।"

वेश्या बनाम पतिव्रता

पतिव्रता के सामने ही वेश्या रहती थी । पतिव्रता उसकी चेष्टाओं को लुक-छिपकर देखा करती और समय-समय पर उसकी भर-पेट निन्दा करती ।

वेश्या देखती कि कुरूप, गुणहीन, अस्वस्थ और निर्धन पति की भी पतिव्रता एकाग्र भाव से कैसी सेवा करती है तो उसका मन श्रद्धा से गद्‌गद् हो जाता । उसे वह साक्षात् देवी मानती और जब भी अवसर मिलता उसकी भरपूर प्रशंसा करती ।

कुछ दिन पश्चात् मृत्यु का समय आया । पतिव्रता की आत्मा स्वर्ग गई । संयोगवश दूसरे ही दिन वेश्या भी मर गई और उसकी आत्मा भी वहीं जा पहुँची ।

पतिव्रता को निम्न श्रेणी का स्वर्ग मिला और वेश्या को ऊँचे स्वर्ग में ले जाने की आज्ञा हुई । इस न्याय को अनुचित बताते हुए पतिव्रता ने धर्मराज से कहा-'भगवन् ! वेश्यावृत्ति का पाप कर्म करते हुए भी उसे मुझसे श्रेष्ठ सद्गति क्यों ?'

अपनी बात समझाते हुए धर्मराज ने कहा-'वेश्या ने परिस्थितियों की विवशता में वह व्यवसाय तो अपनाया पर अपने पाप के लिए सदा दुःखी रही । तुम्हारे सत्कर्म को देखकर श्रद्धा से उसका मन भरा रहा और वैसी ही स्वयं बनने की प्रार्थना भगवान् से करती रही, इसलिए उसे उच्चकोटि का स्वर्ग मिला । शरीर से मन बड़ा है ।'

क्रिया से भावना श्रेष्ठ है । स्वर्ग की संहिता के अनुसार मन के भी पुण्य-पापों की गणना की जाती है और उसी आधार पर फल का निर्धारण होता है ।

प्रभु कृपा के सच्चे अधिकारी

भक्ति भावना सही अर्थों में दीन-दुखियों के लिए अन्तः से उद्भूत परमार्थ भावना ही है । भगवान् इसे ही मान्यता देता है । चैतन्य महाप्रभु का कथन है कि-"परमात्मा कहता है-मैं भूखा था तुमने खाना दिया । मैं निराश्रित था, तुमने स्थान दिया । मैं नंगा था, तुमने मुझे सहायता पहुँचायी । चलो मेरे स्वर्ग में ।'

धर्मात्माओं ने पूछा-'हमने कब आपको भोजन, पानी, आश्रय, वस्त्र आदि दिये और कब सेवा, सहायता की ?' प्रभु बोले-"जो दीन-दुखियों के लिए किया गया, वह मेरे लिए है । यही करके तुम मेरे स्वर्ग के, मुक्ति प्राप्ति के अधिकारी हो गये ।"

भाव के भूखे हैं भगवान्

एक यहूदी अनपढ़ था और ग्रामीण भी । प्रायश्चित्त पर्व पर सबको प्रार्थना करते देखकर वहीं बैठ गया और वर्णमाला के अक्षरों का ही पाठ करता हुआ भावना करने लगा-"हे प्रभु ! मुझे तो कोई मन्त्र याद नहीं, इन अक्षरों को जोड़कर तुम्हीं मन्त्र बना लेना । मैं तो तुम्हारा दास हूँ, पूजा के लिए नये भाव कहाँ से लाऊँ ?' जब तक दूसरे लोग प्रार्थना करते रहे, वह ऐसे ही भगवान का ध्यान करता रहा ।

सायंकाल जब सब सामूहिक प्रार्थना में सम्मिलित हुए तो धर्मगुरु रबी ने उस ग्रामीण को भक्तों की अग्रपंक्ति में रखा । यह देखकर उसके साथी ने आपत्ति की-"श्रीमान जी ! इसे तो मन्त्र भी अच्छी तरह याद नहीं ।"

'तो क्या हुआ'-रबी ने आर्द्र कण्ठ से कहा-'इसके पास शब्द नहीं, भाव तो हैं ।'

ईशप्राप्तेर्भक्तिरेकमवलम्बनमस्ति हि ।
उदारात्मीयभावानुप्राणिताऽऽदर्शवादिनी ॥ ८४॥
सा परायणता या तु परार्था तत्र दृश्यते ।
भक्तेः सा भावना सत्या यया दिव्यत्वमाप्यते ॥ ८५॥

टीका-ईश्वर प्राप्ति का एक मात्र अवलम्बन भक्ति ही है । उदार आत्मीयता से अनुप्राणित आदर्शवादी, परमार्थ परायणता में ही सच्ची भक्तिभावना के दर्शन होते हैं, जो मनुष्य को दिव्य बनाती है ॥ ८४-८५ ॥

व्याख्या-भक्ति वह सूत्र है जो जीवात्मा को परमात्मा के साथ जोड़कर उसे दिव्य बना देती है । भक्ति अन्तः से उफन कर आने वाली परहित के लिए त्याग-समर्पण की भावना है । यही मानव को महामानव बना देती है । बाह्य कर्मकाण्ड में उलझ कर जो परमात्मा के इस दिव्य स्वरूप को समझता है, वह कभी भटकता नहीं ।

बस इतना किया कर

एक संत से किसी ने पूछा-'मेरा दिल बहुत कड़ा है, इसमें मुलायमी लाने के लिए क्या करूँ ?' संत ने हँसकर कहा-'दर्द मन्दों के सिर पर हाथ फिराया कर और अपनी रोटी बाँटकर खाया कर ।'

सेवा से शांति

मिथिला नगरी के महानन्द परिव्राजक ने जीवन के तीन दशक कठिन तपश्चर्या में बिताये । जप, तप, आसन, प्राणायाम, स्वाध्याय, यज्ञ, कीर्तन, मार्जन, तर्पण करते-करते असंख्य सिद्धियाँ

करतलगत कर लीं । असाधारण क्षमता वाले मुनि महानाद की ख्याति चन्द्रमा के प्रकाश की तरह विकसित होने लगी । सैकड़ों व्यक्ति उनकी सिद्धियों का लाभ पाने लगे । सैकड़ों व्यक्ति प्रतिदिन आश्रम पहुँचते और श्रीचरणों में सिर रखकर महासुख अनुभव करते किन्तु मुनि का अन्त:करण स्थिर न था । सिद्धियों ने उनकी तृष्णा तो बढ़ा दी पर वह शांति व स्थिरता न मिली जिसके लिए मुनि ने घर, परिवार, स्नेहियों और सम्बन्धियों का साथ छोड़ा था ।

एक दिन महानन्द इसी दु:ख से भरे कुटिया से निकले । एक गाँव की ओर चल पड़े । शुरू चौखट में पहुँचे थे कि किसी के कराहने का स्वर सुनाई दिया । कोई बीमार था, देखने वाला कोई न था, बड़ी पीड़ा बढ़ गई थी । उस व्यक्ति की दर्द भरी कराह मुनि के हृदय में उतर गयी । उन्होंने बीमार की रात-भर सेवा की । दवा दी, पाँव दाबे, बिस्तर बदले, टट्टी और पेशाब धोया । चौथे पहर जब उसे नींद आई, मुनि आश्रम लौटे ।

आज न उन्होंने संध्या की, न प्राणायाम और निदिध्यासन भी नहीं किया, किन्तु तो भी उनके अन्त:करण में अपूर्व शांति, स्थिर उत्फुल्लता, अबाध सुख निर्झर की भाँति झर रहे थे । महानन्द को बोध हुआ कि तप, साधना द्वारा अर्जित क्षमता का सही उपयोग न हो पाने से मन अशान्त था और अपनी साधना का अगला चरण इसी को मानकर अविरल शांति पायी । मुनि कह उठे-'मुझे मालूम होता कि परमात्मा दीन-दुखियों की सेवा का प्यासा है तो क्यों इतना समय व्यर्थ जाता ।'

प्रभु सहते हैं, तुम भी सहो

एक जंगल के निकट एक महात्मा रहते थे । वे बड़े अतिथि-भक्त थे । नित्यप्रति जो भी पथिक उनकी कुटिया के सामने से गुजरता था उसे रोककर भोजन दिया करते थे और आदरपूर्वक उसकी सेवा किया करते थे । एक दिन किसी पथिक की प्रतीक्षा करते-करते उन्हें शाम हो गई पर कोई राही न निकला । उस दिन नियम टूट जाने की आशंका में वे बड़े व्याकुल हो रहे थे कि उन्होंने देखा कि एक सौ साल का बूढ़ा थका-हारा चला आ रहा है । महात्मा जी ने उसे रोककर हाथ-पैर धुलाये और भोजन परोसा ।

बूढ़ा बिना भगवान का भोग लगाए और धन्यवाद दिए तत्काल भोजन पर जुट गया । यह सब देख महात्मा को आश्चर्य हुआ और बूढ़े से इस बात की शंका की । बूढ़े ने कहा-'मैं न तो अग्नि को छोड़कर किसी ईश्वर को मानता हूँ, न किसी देवता को ।' महात्माजी उसकी नास्तिकतापूर्ण बात सुनकर बड़े क्रुद्ध हुए और उसके सामने से भोजन का थाल खींच लिया तथा बिना यह सोचे कि रात में वह इस जंगल में कहाँ जायेगा, कुटी से बाहर कर दिया । बूढ़ा अपनी लकड़ी टेकता हुआ एक ओर चला गया ।

रात में महात्माजी को स्वप्न हुआ, भगवान कह रहे थे-'साधु ! उस बूढ़े के साथ किए तुम्हारे व्यवहार ने अतिथि-सत्कार का सारा पुण्य क्षीण कर दिया है ।' महात्मा ने कहा-'प्रभु ! उसे तो मैंने इसलिए निकाला कि उसने आपका अपमान किया था ।' प्रभु बोले-'ठीक है, वह मेरा नित्य अपमान करता है तो भी मैंने उसे सौ साल तक सहा किन्तु तुम एक दिन भी न सह सके ।' भगवान अन्तर्धान हो गये और महात्मा जी की भी आँख खुल गयी ।

यथा वेला दिनेनेयं रात्रेस्तु मिलनस्य हि ।
उष: कालो बुधै: प्रोक्त: प्राणिनो यत्र जाग्रति ॥ ८६॥
परात्मना ऽऽत्मन: संगस्यास्ति नूनं यथा त्वयम् ।
भक्तिभावोदयो ह्येष प्रमाणमिह गोचरम् ॥ ८७॥

टीका-जैसे रात्रि के दिन के साथ मिलन वेला को उष:काल कहते हैं, जिसमें प्राणि-मात्र जग जाते हैं, वैसे ही आत्मा और परमात्मा से मिलन का प्रत्यक्ष प्रमाण भक्ति-भावना के उदय में देखा जाता है ॥ ८६-८७॥

व्याख्या-भक्ति एक प्रकार से अन्दर के अंधकार को मिटाने वाला दिव्य प्रकाश है । आत्मा-परमात्मा का मिलन जीव का परम लक्ष्य है और यह उन्हीं में सम्भव हो पाता है जिनमें अन्त: से भक्ति तत्व का उदय होता है । भगवान से मिलने का एक ही प्रत्यक्ष प्रमाण है-भक्ति का आनन्द । जिसके बहिरंग में आत्मीयता विस्तार व परमार्थ साधन के रूप में यह जितनी मात्रा में परिलक्षित होने लगे, समझना चाहिए वह भगवान के उतना समीप पहुँच गया । यह तभी सम्भव है जब व्यक्ति अपना मूल अस्तित्व खो दे, अपनी सत्ता को परमात्म सत्ता में समाहित मानले ।

अर्जुन-बाँसुरी सम्वाद

अर्जुन ने एक बार बाँसुरी से पूछा-'सुभगे ! तुम्हें कृष्ण स्वयं हर समय होठों से लगाये रहते हैं । हम सब उनकी कृपा पाने के लिए बहुत प्रयत्न करते हैं परन्तु सफल नहीं होते जबकि तुम बिना प्रयत्न किये ही उनके अधरों पर रहती हो ।'

'बिना प्रयत्न किए नहीं अर्जुन' मुरली बोली-'मैंने भी प्रयत्न किया है । जानते हो मुझे मुरली बनने के लिए अपना मूल अस्तित्व ही खो देना पड़ा है ।'

अर्जुन को बात तब समझ में आई । बाँसुरी अपने आप में खाली थी । उसमें स्वयं का कोई स्वर नहीं गूँजता था बजाने वाले के ही स्वर बोलते थे । बाँसुरी को देखकर कोई यह नहीं कह सकता था कि यह कभी बाँस रह चुकी है क्योंकि न तो उसमें कोई गाँठ थी और न कोई अवरोध । अर्जुन को भगवान का प्यार पाने का अनूठा सूत्र मिल गया ।

आदर्शान्प्रतिभक्तिः सा भवत्येनां तु व्यक्तिभिः ।
देवताभिस्तु काभिश्चिद् योजकात्तु महामुने ॥ ८८॥
भिन्नां मोहप्रसंगाच्च मन्यत उच्चसंश्रयाम् ।
ज्ञानस्य कर्मणो भक्तेस्त्रिवेण्यां तत्र तद्दिने ॥ ८९॥
स्नाता जिज्ञासवो जाताः प्रसन्नास्ते मनीषिणः ।
अज्ञायि ब्रह्मविद्याया गुमानां रहसामलम् ॥ ९०॥
लाभो ऽसाधारणस्त्वस्मिन् सत्संगे प्राप्यते तु तैः ।
इत्थं सत्रं समाप्तं तच्चतुर्थं ते मनीषिणः ॥ ९१॥

टीका-हे मुनीश्वर ! भक्ति आदर्शों के प्रति होती है । उसे किसी व्यक्ति या देवता के साथ जुड़ने वाले मोह-प्रसंग से सर्वथा भिन्न एवं उच्चस्तरीय ही माना गया है । ज्ञान-कर्म के साथ भक्ति की त्रिवेणी में स्नान करके उस दिन सभी जिज्ञासु मनीषी बहुत प्रसन्न हुए । ऐसा लगा मानो ब्रह्म विद्या का असाधारण लाभ इस सुयोग सत्संग में उन्हें उपलब्ध हो रहा है । इस प्रकार चौथा सत्र-दिवस समाप्त हुआ ॥ ८८-९१ ॥

व्याख्या-उदार भक्ति भावना प्रकरण का समापन करते हुए महाप्राज्ञ दुहराते हैं कि भक्ति सदैव सही अर्थों में आत्मसात् की जाय । माध्यमों को ही लक्ष्य न मानकर, साध्य न मानकर आत्मज्ञान, कर्तव्यों का परिपूर्ण निष्ठा से पालन तथा आदर्शों से सघनता जोड़ने का अभ्यास करते हुए आत्मिक प्रगति का पथ-प्रशस्त किया जाय । जब तक इस क्रम का अभ्यास न होगा, समय क्षेप तो होगा ही, भ्रम-जंजाल के भटकाव थकान और ला देंगे । मनीषियों ने ईश्वरीय सत्ता के सही स्वरूप को समझा और मनुष्य के परम कर्तव्य आदर्शों के परिपालन हेतु निष्ठापूर्वक जुट गए ।

मोमबत्ती-अगरबत्ती

कमरे के एक कोने पर धूपबत्ती जली थी दूसरे पर मोमबत्ती । मोमबत्ती ने तिरस्कारपूर्वक धूपबत्ती की ओर देखा और कहा देखती नहीं मैं कितनी भाग्यवान हूँ चारों ओर मेरा प्रकाश फैल रहा है । सबकी आँखें मेरी ओर रहती हैं ।

धूपबत्ती ने कहा-बहिन सो ठीक है पर परीक्षा के कठिन समय में धैर्य और साहस के साथ अपनी जगह अड़ी रह सको तभी चमक की सार्थकता है । मोमबत्ती ने बात अनसुनी कर दी । हवा का एक तेज झोंका आया । मोमबत्ती बुझ गई पर धूपबत्ती ने अपनी सुगन्ध और भी तेजी से बखेरना शुरू कर दिया ।

ऐसा भक्त व्यक्ति या देवता से मोह न जोड़कर उस परमपिता ईश्वर को ही पूजता है जो आदर्शों का समुच्चय है ।

इति श्रीमत्प्रज्ञापुराणे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः
श्री पिप्पलाद-श्वेतकेतु ऋषि-सम्वादे "उदारभक्तिभावने," ति
प्रकरणो नाम पञ्चमोऽध्यायः ॥ ५॥

।। अथ षष्ठोऽध्यायः ।।

卐 सत्साहस-संघर्ष प्रकरण 卐

आरण्यकस्य सत्रस्य पञ्चमे दिवसे शुभे ।
जिज्ञासुः स हि दुर्वासा महर्षिः प्रमुखोऽभवत् ॥ १॥
स्थितःसोऽग्रिमपंक्तौ च जिज्ञासां स्वां च व्याहरन् ।
ओजोगम्भीरया वाचा पिप्पलादमथाब्रबीत् ॥ २॥

टीका-पाँचवे दिन के आरण्यक सत्र के प्रमुख जिज्ञासु थे-महर्षि दुर्वासा । वे अग्रिम पंक्ति में बैठे और अपनी जिज्ञासा प्रकट करते हुए ओजपूर्ण, गम्भीर स्वर में पिप्पलाद से बोले ॥ १-२॥

दुर्वासा उवाच-

ब्रह्मविद्या प्रवृत्तेः सम्वर्धनस्य प्रसङ्गके ।
देव ! यद् भवता प्रोक्तं कृतार्था वयमत्र तु ॥ ३॥
तथाप्येकं तु पश्यामो ह्यसमञ्जसमत्र यत् ।
संसारे व्याप्तदुर्भावैः संघर्षः किंविधो भवेत् ॥ ४॥
आसुराक्रमणैरात्मरक्षायै के ह्युपायकाः ।
आश्रितव्या इदं चापि कृपायाद्य निंगद्यताम् ॥ ५॥
स्रष्टुः पवित्रसृष्टौ तु कस्माद्धेत्तोरवस्थितम् ।
अधर्मास्तित्वमेतद् यज्जगत्सर्वं दुनोत्यलम् ॥ ६॥

टीका-देव ! आपने ब्रह्मविद्या के सत्प्रवृत्ति संवर्धन प्रसंग पर जो प्रकाश डाला, उससे हम सभी कृतार्थ हुए हैं, फिर भी एक असमंजस बना हुआ है कि इस संसार में सर्वत्र संव्याप्त दुष्टता से किस प्रकार निपटा जाय ? आसुरी आक्रमणों से आत्मरक्षा के लिए किन उपायों का अवलम्बन लिया जाय ? कृपया यह भी बतायें कि स्रष्टा की पवित्र सृष्टि में अधर्म का अस्तित्व किस कारण बना हुआ है, जो सारे जगत् को पीड़ित किए हुए है ॥ ३-६॥

व्याख्या-महर्षि दुर्वासा कहते हैं कि पहले चार सत्र-व्याख्यानों के सत्संग से आत्मकल्याण, विश्वकल्याण, ईश्वर-मिलन जैसे दैवी अनुदान तो पा लिए । जो मनुष्य को पाने योग्य दिव्य विभूति सद्ज्ञान है, उसे पाकर मार्गदर्शन मिला है पर एक अड़चन फिर भी बनी है । अच्छाई के साथ बुराई भी चारों ओर व्याप्त है । हम भले बनें, वह तो ठीक है । पर सर्वत्र संव्याप्त दुष्टता तो अपनी कुटिल भूमिका निभायेगी ही । उससे कैसे मोर्चा लिया जाय ? दुःख यह भी होता है कि पृथ्वी पवित्र है, जीव मात्र सबके कल्याण-उत्थान हेतु ही स्रष्टा द्वारा भेजे गए हैं, फिर अधर्म क्यों ? सत्प्रवृत्ति सम्वर्धन के साथ दुष्टता-प्रतिकार, दुष्प्रवृत्ति-निवारण की चर्चा किए बिना अध्यात्म दर्शन की विवेचना का प्रसंग अधूरा ही रह जाता है ।

दुर्वाससो महर्षेस्तां सहजां प्रकृतिं तथा ।
प्रवृत्तिं पिप्पलादस्य कृतः प्रश्नोऽभ्यरोचत ॥ ७॥
समयानुकूलं तं प्रश्नं श्रुत्वा चापि प्रशस्य च ।
सत्रसञ्चालको ऽवादीत्पिप्पलादो हसन्निव ॥ ८॥

पिप्पलाद उवाच-

रुचेर्भवत आसक्तेरपि चात्र समर्थनम् ।
समाधानं च सम्मानं ब्रह्मविद्याविधौ वरम् ॥ ९॥
अनीतेः प्रतिरोधोऽपि नीतिपक्षसमर्थनम् ।
एकमास्ते तथाऽस्यापि महत्वं विद्यते ध्रुवम् ॥ १०॥

टीका-महर्षि दुर्वासा की सहज प्रकृति और प्रवृत्ति को देखते हुए उनके द्वारा उठाया गया प्रश्न पिप्पलाद को अच्छा लगा, उस समयानुकूल प्रश्न को सुनकर और सराहना करके सत्र के सूत्र संचालक पिप्पलाद ने हँसते हुए कहा-'आपकी रुचि और रुझान का भी ब्रह्म-विद्या में समुचित समाधान, सम्मान और समर्थन है । अनीति का प्रतिरोध, नीति-समर्थन का एक पक्ष है तथा इसका भी निश्चित महत्व है ॥ ७-१० ॥'

व्याख्या-ऋषि गणों की अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं । दुर्वासा ऋषि का सहज स्वरूप एक ही रहा है-'अनीति के विरुद्ध कड़ा मोर्चा बनाना ।' तपश्चर्या, भक्ति, परमार्थ यह भी एक क्षेत्र है और दुष्टता से संघर्ष भी इसका दूसरा पहलू है । यहाँ वे अपनी उसी भूमिका की मर्यादा महाप्राज्ञ पिप्पलाद से जानना चाहते हैं । महाप्राज्ञ उनके इस रुझान व मनःस्थिति को जानते हुए कहते हैं कि ब्रह्मविद्या में अनीति के विरुद्ध प्रतिकार को भी समान महत्व दिया गया है । ब्रह्मविद्या व साधना विज्ञान के महत्वपूर्ण ग्रन्थों 'गीता' एवं 'दुर्गासप्तशती' में साधना-समर, अनीति-प्रतिरोध की ही विवेचना की गयी है । गीता में 'युद्धस्व' सम्बोधन स्थान-स्थान पर आया है । अपने अंतः के कुसंस्कारों से, बाहर के आक्रमणों से युद्ध ही इन ग्रन्थों का मूल विषय है । इस पक्ष का अवलोकन किए बिना अध्यात्म दर्शन की चर्चा अधूरी ही रह जाती है । अवांछनीयता, अनैतिकता हर युग में, हर अवतार के समय में पायी गयी है । इनसे संघर्ष की हर युग में युगानुकूल भूमिका बनी व तदनुसार तैयारी हुई है । ध्वंस व सृजन, सुधार एवं दुलार भगवत् सत्ता के ये दो पक्ष सदा-सदा से मुखरित होते आए हैं । उनकी चर्चा अध्यात्म ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर की गयी है ।

संसारेऽवाञ्छनीयत्वमतएव तु विद्यते ।
सहानुभूतिं कुर्यात्तन्न्यायनिष्ठां प्रति सदा ॥ ११॥
समर्थने च तस्या हि प्रखरं तत्पराक्रमम् ।
कर्तुं च प्रेरयेद् रात्रिर्नोचेच्छ्रैष्ठ्यं दिनस्य न ॥ १२॥
अनस्तित्वमनीतेश्चेन्नीतेः किं गरिमा जनैः ।
ज्ञायेताऽधर्मसद्भावे धर्मसंस्थापनोदयः ॥ १३॥
यदि रोगा न सन्त्येव चिकित्सायास्ततः कथम् ।
विज्ञानस्य भवेत्सा तु स्थापना प्रगतिस्तथा ॥ १४॥
अज्ञानजन्य हानिभ्य आत्मानं रक्षितुं वयम् ।
मनीषिणः सदा ज्ञानसाधनां कर्तुमुद्यताः ॥ १५॥
एवं स्त्रष्टा हानियुक्तमनावश्यकमप्यदः ।
अवाञ्छनीयता ऽस्तित्वं स्थापयामास मन्यताम् ॥ १६॥

टीका-संसार में अवांछनीयता भी इसलिए है कि वह न्यायनिष्ठा के प्रति सहानुभूति उभारे और उसके समर्थन में प्रखर पराक्रम करने की प्रेरणा दे । यदि रात्रि न हो तो दिन की विशिष्टता ही न रहे, अनीति का अस्तित्व न हो तो नीति की गरिमा लोग कैसे समझेंगे ? अधर्म के रहने पर ही धर्म संस्थापना का प्रयास होता है । यदि रोग ही न हों तो चिकित्सा विज्ञान की स्थापना और प्रगति ही कैसे हो ? अज्ञान की हानियों से बचने के लिए हम मनीषी लोग ज्ञान की साधना करते हैं । इसी प्रकार स्त्रष्टा ने अनावश्यक एवं हानिकारक लगते हुए भी संसार में अवांछनीयता का

अस्तित्व रखा है–ऐसा समझो ॥ ११–१६ ॥

व्याख्या–भगवान अपने प्रिय राजकुमार की परीक्षा अवांछनीयता की माया रचकर ही लेते हैं । जब तक इनसे जूझने का माद्दा अन्दर से उत्पन्न नहीं होता, प्रखरता उत्पन्न नहीं होती । खिलाड़ी को पैना बनाने के लिए अपने से अच्छे कुशल खिलाड़ी से ही खिलाया जाता है । कोई भी प्रशिक्षक मार्गदर्शक इसमें सहानुभूति का व्यवहार नहीं करता । भगवान भी एक परीक्षक है । वह चाहता है कि उसका बेटा समर्थ बने और वह तब तक सम्भव नहीं जब तक मोर्चे पर उसे खुला न छोड़ दिया जाय ।

महाप्राज्ञ दिन-रात्रि, अनीति-नीति, अधर्म-धर्म, रोग-चिकित्सा, अज्ञान-ज्ञान के मर्मस्पर्शी उदाहरणों द्वारा अपने मन्तव्य को बड़ी कुशलता पूर्वक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि इस अनीति-अनाचार को भी भगवान की एक देन मानें जो हमारी परीक्षा सतत् लेती रहती है । कुरेद-कुरेद कर यह देखती है कि पराक्रम, मन्यु, सत्साहस की मनुष्य में कहीं कमी तो नहीं है ।

मानवी बुद्धि सहज ही सोच सकती है कि अवांछनीयताएँ अनावश्यक होते हुए भी क्यों विद्यमान हैं । यह भी इसलिए है कि हमें नीतिस्थापना के लिए प्रेरणा मिले । सहज ही कमरे में गंदगी प्रवेश करती है पर सफाई के लिए हमें प्रेरणा दे जाती है । शरीर से विजातीय द्रव्य पसीने आदि के रूप में सहज क्रम में निकलते हैं पर हमें स्वच्छता की प्रेरणा दे जाते हैं ।

गुलाब के फूल व काँटे

एक उपवन में गुलाब का फूल अपना सौन्दर्य बिखेर रहा था । एक यात्री उधर से निकला, बोला–"कितना सुन्दर फूल है । लेकिन काँटों से घिरा बैठा है ।" फूल ने उत्तर दिया–"आपका कथन सही, उचित नहीं है तात ! मेरी सुरक्षा उसी से है । जहाँ फूलों से सुषमा बढ़ती है, वहीं आक्रमणकारियों से रक्षा के लिए इनका होना भी अनिवार्य है । नहीं तो मेरा अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाय ।"

राष्ट्र की बाड़

स्वामी रामतीर्थ से किसी ने पूछा–'भारत के पिछड़ेपन का क्या कारण है ?' उन्होंने कहा–'भारतवर्ष की भौतिक उन्नति इसलिए नहीं लुट गई कि यहाँ के लोग धर्म और परमार्थ-निष्ठ होते हैं वरन् भारत की विकसित और हरी-भरी फुलवारियाँ मध्यकाल की विलासिता के कारण लुट गईं । उनके आस-पास काँटों और झाड़ियों की बाड़ी नहीं रही । कष्टों के काँटे और झंझावातों की झाड़ियों के बीच जीवन सुरुचि का उद्यान विकसित होता है । इसलिए मेरे प्यारे काँटो और झाड़ियो ! तुम्हें मुबारक हो, धर्म और संस्कृति, जीवन के उच्चादर्शों और भौतिक उन्नतियों के तुम्ही रक्षक हो । तुम दूर न होना ताकि मेरे देशवासी निरन्तर फलते-फूलते रहें । तुम्हारी आड़ में उनका विकास सुरक्षित रहे । कष्ट उनके जीवन का अंग बना रहे ।'

असफल साधक को श्रेय

'अपनी साधना की सफलता का श्रेय आप किसे देते हैं ?' एक व्यक्ति ने स्वामी रामकृष्ण परमहंस से पूछा । उन्होंने उत्तर दिया–"हर असफल साधक को ।" "सो कैसे ?" उस व्यक्ति ने पुनः प्रश्न किया । परमहंस ने कहा–"मैंने जब भी देखा तो यह मालूम करने की कोशिश की कि वह किन कारणों से असफल हुआ । पीछे उन अनुभवों का लाभ उठाकर मैं उन अवरोधों से बचता और साधना मार्ग पर आरूढ़ होता चला गया ।

व्यायामभवने ये तु युद्धयन्ते हि परस्परम् ।
शूरावीराश्च जायन्ते बलिष्ठा नात्र संशयः ॥ १७॥
पराक्रमो नरस्यास्ति महत्वमहितो गुणः ।
उदयःसम्भवस्तस्य संघर्षेणैव नान्यथा ॥ १८॥
एतादृशे त्वनायाते जीवनेऽवसरे नरः ।
वंचिततः प्रतिभायाश्च प्रखरताया अपित्वलम् ॥ १९॥
येन स निष्प्रभं दीनहीनमेव हि जीवति ।
जागर्तिस्तत्परत्वं च प्रखरता संति सद्गुणाः ॥ २०॥
इमे त्रयो गुणा न्यायपक्षमाश्रित्य सर्वथा ।
युद्धयमाने भजन्त्याशु विकासं तु महामुने ॥ २१॥

टीका-व्यायामशाला में दैनिक रूप से परस्पर जूझने से ही शूरवीर बलिष्ठ होते हैं-इसमें संदेह नहीं । पराक्रम मनुष्य का महत्वपूर्ण गुण है । उसे संघर्ष द्वारा ही उभारा जाता है । ऐसा अवसर न आने पर मनुष्य प्रतिभा और प्रखरता से वंचित रहता है, जिससे वह गया-गुजरा, दीन-हीन जीवन ही जी सकेगा । जागरूकता, तत्परता और प्रखरता-ये तीनों गुण न्याय के समर्थन में अन्याय से जूझने पर ही विकसित होते हैं ॥ १७-२१ ॥

व्याख्या-शरीर में बल हो, न हो, अन्दर से प्रखरता न उभरे तो सब व्यर्थ है । शरीर की दृष्टि से बलिष्ठ बनने के लिए पहलवान नित्य साधना करते हैं, अपने से अधिक समर्थ बलशाली से दो-दो हाथ करते हैं तभी उनके गुण उभर कर आते हैं । मात्र आहार व नित्य व्यायाम तो सिद्धान्त का एकांगी पक्ष है । व्यवहार वह है जिसमें अपने आपको सान पर चढ़ाया जाता है । यदि मनुष्य इससे दूर भागता है अथवा उसे अवसर नहीं मिलता तो वह अन्तः की प्रखरता, बुद्धि का पैनापन तथा शरीर की बलिष्ठता जैसी विभूतियों से वंचित ही बना रहता है । जब वह जूझने का साहस पैदा कर लेता है तो जागरूकता, तत्परता, प्रखरता जैसी सद्गुण सम्पदा पाकर कृत-कृत्य हो जाता है । जागरूकता अर्थात् वांछनीय-अवांछनीय पहचान सकने की क्षमता, तत्परता अर्थात् तुरन्त निर्णय लेकर क्रियान्वयन करने की क्षमता, प्रखरता अर्थात् न्याय रक्षा हेतु किस प्रकार मोर्चा लेना इस क्षमता का विकास ।

विश्व-इतिहास की रश्मियाँ यह बताती हैं कि संसार संघर्ष का रंगमंच है जिसमें व्यक्ति, समुदाय और राष्ट्र अपने सिद्धान्तों, आदर्शों की रक्षा के लिए संघर्षरत होकर अपनी श्रेष्ठता बनाए रखने का प्रयत्न करते हैं । यह संघर्ष ही वस्तुतः श्रेष्ठता की कसौटी है । ऐसा देखने में आया है कि इन युद्धों में हार उन्हीं की हुई जो आदर्शहीन और दुर्बल मनोबल के थे । पर जो सत्य, न्याय और आदर्शों का सम्बल लेकर लड़े उन्हें कोई पराभूत नहीं कर सका । उन्हीं को विजय मिली, न्याय जिनके पक्ष में था क्योंकि सत्य की शक्ति मानवों को निरन्तर युद्ध करने की क्षमता प्रदान करती है और जो लम्बे समय तक संघर्षरत रह सकता है, सुनिश्चित रूप से अंतिम विजय भी उसे ही उपलब्ध होती है ।

संघर्ष ने अर्जुन को अजेय बनाया

द्रोणाचार्य कौरव सेना के सेनापति नियुक्त हुए । पहले दिन का युद्ध वीरतापूर्ण लड़े तो भी विजयश्री अर्जुन के हाथ रही । यह देखकर दुर्योधन को बड़ी निराशा हुई । वह गुरु द्रोणाचार्य के पास गये और कहा-'गुरुदेव ! अर्जुन तो आपका शिष्य मात्र है, आप तो उसे क्षण भर में परास्त कर सकते हैं, फिर यह देर क्यों ?' द्रोणाचार्य गम्भीर हो गये और कहा-'आप ठीक कहते हैं, अर्जुन मेरा शिष्य है, उसकी सारी विद्या से परिचित हूँ, किन्तु उसका जीवन कठिनाई से संघर्ष करने में बीता है और मेरा सुविधापूर्वक दिन बिताने का रहा है । विपत्ति ने उसे मुझसे भी अधिक बलवान बना दिया है ।'

अंगद और रावण

जागरूकता और प्रखरता का एक अद्भुत समन्वय अंगद के चरित्र में देखने को मिलता है । वे रावण के दरबार में जा पहुँचे और उससे साहसपूर्वक वार्तालाप किया । रावण के मित्र बालि के पुत्र होने के नाते प्रभु ने उन्हें दूत के रूप में भेजा था । परस्पर उत्तेजक सम्वाद के बाद जब रावण अंगद के पैरों को भी हिला न पाया तो उसने एक कूटनीतिक चाल चली ।

बोला-'अंगद जिस राम ने तेरे पिता को मारा तू उन्हीं की सहायता कर रहा है ! मेरे मित्र का पुत्र होकर भी तू मुझसे बैर कर रहा है !' अंगद हँसा और बोला-'रावण ! अन्यायी से लड़ना और उसे मारना ही सच्चा धर्म है, चाहे वह मेरा पिता हो अथवा आप ही क्यों न हों ?' अंगद के ये तेजस्वी शब्द सुनकर रावण को उत्तर देते न बना ।

अष्टावक्र द्वारा जनक का प्रतिरोध

राजा जनक अपनी साज-सज्जा के साथ मिथिलापुरी के राज-पथ पर होकर गुजर रहे थे । उनकी सुविधा के लिए सारा रास्ता पथिकों से शून्य बनाने में राजकर्मचारी लगे थे । राजा की शोभा-यात्रा निकल जाने तक यात्रियों को अपने आवश्यक काम छोड़कर जहाँ-तहाँ रुका रहना पड़ रहा था ।

अष्टावक्र को हटाया गया तो उनने हटने से इन्कार कर दिया और कहा-'प्रजाजनों के आवश्यक कार्यों को रोककर अपनी सुविधा का प्रबन्ध करना राजा के लिए उचित नहीं । राजा अनीति करे तो ब्राह्मण का कर्तव्य है कि उसे

रोके और समझावे । सो आप राज्याधिकारी गण राजा तक मेरा संदेश पहुँचावें और कहें कि अष्टावक्र ने अनुपयुक्त आदेश मानने से इन्कार कर दिया है । वे हटेंगे नहीं और राज-पथ पर ही चलेंगे ।'

राज्याधिकारी कुपित हुए और अष्टावक्र को बन्दी बनाकर राजा के पास ले पहुँचे । जनक ने सारा किस्सा सुना तो वे बहुत प्रभावित हुए और कहा-'ऐसे निर्भीक ब्राह्मण राष्ट्र की सच्ची सम्पत्ति हैं । उन्हें दण्ड नहीं सम्मान दिया जाना चाहिए ।'

राजा जनक ने अष्टावक्र से क्षमा माँगी और कहा-''मूर्खतापूर्ण आज्ञा चाहे राजा की ही क्यों न हो तिरस्कार के योग्य है । आपकी निर्भीकता ने हमें अपनी गलती समझने और सुधारने का अवसर दिया । आज से आप राजगुरु रहेंगे और इसी निर्भीकता से सदा न्याय पक्ष का समर्थन करते रहने की कृपा करेंगे ।'' उन्होंने प्रार्थना स्वीकार कर जनहित हेतु राजगुरु का पद स्वीकार कर लिया ।

रामदास समर्थ बने

विवाह वेदी से 'सावधान' सुनकर भागे रामदास युग के अनुरूप साधना में रत हो गये । जब दूसरे संत महात्मा जनजीवन की दुर्दशा-यवनों के अत्याचार से आँख बन्द कर 'ध्यान से मुक्ति' का प्रयोजन पूर्ण करने में लगे थे, रामदास ने दूसरा मोर्चा चुना अनीति के विरुद्ध जनता में संघर्ष की भावना भरने के लिए । वे गाँव-गाँव घूमने लगे । अनेक प्रतिभाशाली युवक उनके साथ हो गए जिनके अगुआ थे मराठा युवक शिवाजी । धर्म सैनिकों के निवास-निर्वाह व प्रखरता सम्पादन हेतु उन्होंने जगह-जगह व्यायामशाला रूपी हनुमान मंदिर खुलवाये व अपनी इसी विशेषता के कारण साधु होते हुए भी उन्हें 'समर्थ गुरु' के नाम से सम्बोधित किया गया ।

आनन्दमठ-बंकिमचन्द्र

सरकारी उच्च नौकरी पर बने रहते हुए भी बंकिम बाबू ने उन दिनों की परिस्थितियों को दृष्टिगत रख 'आनन्दमठ' की रचना की । 'वन्देमातरम्' का जयघोष पहली बार इसी में किया गया । यह उपन्याय एक ऐसे देश भक्त संन्यासी दल की कथा है जिसने देश को गुलामी से मुक्त कराने हेतु गुप्तरूप से सैनिक तैयारी की व लड़ते-लड़ते अपने प्राणों का बलिदान कर दिया । इस गाथा व वन्देमातरम् के नारे ने क्रान्ति की जो लहर देशभर में फैलाई उसने अन्यायी-अनाचारी प्रशासन को झकझोर कर रख दिया । ऐसा साहस प्रखर प्रतिभाशली ही कर सकते हैं ।

अज्ञानं चाप्यभावश्च श्रेण्यामस्यां निरूपिते ।
देवास्त्रयो ज्ञानकर्मौदार्यनामान एव ते ॥ २२॥
अज्ञानमथ सोऽ भावोऽन्यायश्चैतेत्रयो ऽ सुराः ।
विद्यन्तेऽनादिकालाच्च युद्धयन्ते तु त्रयस्त्रिभिः ॥ २३॥
दैवासुरस्तु संग्राम एष एवास्य हे मुने ।
धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे महाभारतकस्य तु ॥ २४॥
साधना समरस्यैते सन्ति योद्धार एव ये ।
सोढव्यं तैः सदैवात्र युद्धाद् ये विरमन्ति च ॥ २५॥
भर्त्सनां ते लभन्ते च मोहग्रस्तो यथार्जुनः ।
यादृच्छन्नपि न वै कश्चित् संघर्षाद् दूरमाव्रजेत् ॥ २६॥

टीका-अज्ञान और अभाव भी इसी श्रेणी में आते हैं । तीन देवता है-ज्ञान, कर्म और औदाय । तीन असुर हैं-अज्ञान, अभाव और अन्याय । इन्हीं के बीच अनादिकाल से संघर्ष चलता आ रहा है । यही देवासुर संग्राम है । इसी महाभारत के धर्मक्षेत्र-कुरुक्षेत्र में साधना-समर के शूरवीर योद्धा को निरन्तर जूझना पड़ता है । जो इससे बचने का प्रयत्न करेगा, उसे मोहग्रस्त अर्जुन की तरह भर्त्सना सहनी पड़ेगी, कोई संघर्ष से बचना चाहे तो भी नहीं बच सकता ॥ २२-२६ ॥

व्याख्या-अनीति की ही श्रेणी में अज्ञान और अभाव आते हैं । ज्ञान, कर्म और उदारता इन तीन देव वृत्तियों की चर्चा पिछले प्रकरण में की जा चुकी है । संसार में प्रकाश और अंधकार के युग्म की तरह इन देवों के भी प्रतिरोधी अज्ञान, अभाव, अन्याय के रूप में विराजमान हैं । अन्तर्जगत के समरांगण में हर व्यक्ति

को एक संग्राम का सामना करना होता है जिसमें ज्ञान से अज्ञान को, कर्मशीलता से अभाव को तथा उदारता की वृत्ति से अन्याय को चुनौती देकर उन्हें परास्त करना पड़ता है । इन तीन असुरों की काट इन तीन अस्त्रों से ही हो सकती है । इसका अन्य कोई विकल्प नहीं ।

मनुष्य चाहे भी तो इस संघर्ष से बच नहीं सकता । विशाल भारत की स्थापना व संकीर्ण स्वार्थपरता को मिटाने के लिए स्वयं भगवान के रहते हुए भी 'महाभारत' हुआ ही । अज्ञान, अभाव व अनाचार की वृत्ति यदि अन्दर विद्यमान है तो इनसे प्रतिकार हेतु स्वयं को तैयार करना ही पड़ेगा । नहीं करेंगे तो मनुष्य का अस्तित्व ही नहीं रहेगा । उसे किसी न किसी प्रकार ऐसा करने की सीख मिलती है व उसे सही कदम उठाने के लिए विवश कर देती है ।

राजा प्रसिचेत प्रतिरोध से चेते

अकारण ही रुष्ट होकर महाराज प्रसिचेत ने अपनी पत्नी का परित्याग कर दिया । उनके इस अहंकारपूर्ण कृत्य से दु:खी होकर राजपुरोहित ने उनका साथ छोड़ दिया । धीरे-धीरे बात प्रजा के कानों में पहुँची । लोग स्पष्ट कहने लगे जो व्यक्ति अपने स्वजन-सम्बन्धी की रक्षा नहीं कर सकता वह प्रजा की क्या करेगा । लोग राजाज्ञाओं का उल्लंघन करने लगे । इस स्थिति में पड़ौसी राजा ने प्रसिचेत पर आक्रमण कर दिया ।

प्रसिचेत सेना लेकर मुकाबले के लिए चल पड़े । मार्ग में महर्षि अंगिरा का आश्रम पड़ता था । वे महर्षि से मिलने को रुके, पहले तो महर्षि ने शासकोचित स्वागत की तैयारी की पर तभी उन्हें पता चला कि महाराज ने अपनी पत्नी का परित्याग कर दिया है तो उन्होंने स्वागत की सारी तैयारियाँ स्थगित कर दीं और उनसे एक साधारण नागरिक की तरह मिले ।

राजा ने इसका कारण पूछा तो महर्षि ने कहा-'राजन् पत्नी का परित्याग करना अधर्म है और धर्म से पतित कोई भी क्यों न हो उसकी मान-मर्यादा वैसे ही नष्ट हो जाती है जैसे आपकी ।' राजा ने भूल समझी और पत्नी को फिर बुला लिया । उससे उनकी शासन-व्यवस्था भी सम्भल गयी ।

सफाई का संस्कार

अज्ञान में भटकते लोगों को प्रकाश देने हेतु समाजसेवी-सन्तों को सत्याग्रह रूपी संघर्ष भी करना पड़ता है । बाबा राघवदास उन दिनों गाँव-गाँव घूमकर लोगों को स्वच्छता का महत्व बता रहे थे । ग्रामीणों की अस्वच्छता के कारण कितने ही गाँव महामारियों की चपेट में आ गए थे । वे एक गाँव में अपने साथियों के साथ पहुँचे । ग्रामीणों से उन्होंने सम्पर्क करना प्रारम्भ कर दिया । उन लोगों को सफाई का महत्व बताते और नियमित रूप से उस क्षेत्र में सफाई का कार्य भी स्वयं करते । सभी गलियों में झाड़ू लगाते तो कभी मैले कुचैले नौनिहालों को स्नान कराते और गन्दे कपड़े धोते ।

सप्ताह की कौन कहे बाबा राघवदास को महीनों निकल गये, पर चिकने घड़ों पर जैसे कोई असर ही नहीं । वहाँ के ग्रामीणों की प्रवृत्ति में कोई खास अन्तर दिखाई न दे रहा था । एक दिन कार्यकर्त्ता अवसर देखकर उनसे पूछ ही बैठा-"आपको इन व्यक्तियों की सेवा करते महीनों बीत गये पर कोई परिणाम दिखाई नहीं देता । मुझे तो यहाँ के लोग पूरे गँवार ही दिखाई देते हैं । ये अज्ञानी व्यक्ति अपने स्वभाव को तनिक भी बदलने की कोशिश नहीं कर रहे हैं ।"

बाबा बोल उठे-"बस भाई, इतने में ही घबरा गये । जिस ग्रामीण जनता को हमने अज्ञान के अन्धकार में वर्षों भटकाए रखा, उनकी उपेक्षा की, उनकी नि:स्वार्थ भाव से सेवा धैर्यपूर्वक करने पर उनमें स्वच्छता का संस्कार अवश्य पैदा होगा ।" यही हुआ । एक वर्ष के अन्दर वे उस तथा आप-पास के सौ गाँवों को अपना कार्य क्षेत्र बनाकर उन्हें सुसंस्कारी बना सकने में सफल हुए ।

श्रमशीलता से बीमारियों का पलायन

श्रम की महत्ता कितनी अपार है, अभाव, दरिद्रता ही नहीं, बीमारियों तक को इससे भगाया जा सकता है इसे समझाते हुए महात्मा आनन्दस्वामी एक कथा सुनाया करते थे-

पहाड़ की अनुमति से बीमारियाँ पर्वत पर रहने लगीं । कुछ दिन बीते एक किसान को कृषि-योग्य भूमि की कमी पड़ी । पहाड़ बहुत सारी जमीन दबाये खड़ा है यह देखकर परिश्रमी किसान पहाड़ काटने और उसे चौरस बनाने में जुट गया । किसान ने बहुत-सी भूमि कृषि-योग्य कर ली । यह देखकर दूसरे किसान भी जुट पड़े । किसानों की संख्या देखते-देखते सैकड़ो तक जा पहुँची । पहाड़ घबराया और

अपने बचाव के उपाय खोजने लगा । और कुछ तो समझ में नहीं आया-उसने सब बीमारियों को इकट्ठा किया और फावड़े तथा कुदाल चलाते हुए किसानों की ओर संकेत किया और कहा-'यह रहे मेरे शत्रु, तुम सबकी सब इन पर झपट पड़ो और मेरा नाश करने वालों का सत्यानाश कर डालो ।'

अपने-अपने आयुध लेकर बीमारियाँ आगे बढ़ीं और किसानों के शरीर से लिपट गयीं । पर किसान तो अपनी धुन में लगे थे । फावड़े जितना तेजी से चलाते, पसीना उतना ही अधिक निकलता और सारी बीमारियाँ धुलकर नीचे गिर जातीं । बहुत उपक्रम किया, पर बीमारियों की एक न चली । एक अच्छा स्थान छोड़कर उन्हें गन्द-वासिनी बनना पड़ा सो अलग ।

पहाड़ ने जब देखा कि बीमारियाँ उसकी रक्षा नहीं कर सकीं, तो वह बड़ा कुपित हुआ और अपने पास से भगा दिया । तब से बीमारियाँ हमेशा गन्दगी में प्रश्रय पाती हैं ।

संत और सुधारक का सही स्थान

बुद्ध पाटन नगर में पहुँचे । वे एक मुहल्ले में ठहरे जो दुष्ट-दुराचारियों के लिए कुख्यात था । नगर के प्रतिष्ठित लोग बुद्ध के दर्शन को पहुँचे और उनसे आश्चर्य से पूछा-'भला इतने बड़े नगर में आपकों सज्जनों के साथ रहने की जगह न मिली या आपने उनके बीच रहना पसन्द न किया ?' हँसते हुए बुद्ध ने पूछा-'वैद्य मरीजों को देखने जाता है या चंगे लोगों को ? ईश्वर का पुत्र पीड़ितों और पतितों की सेवा के लिए आया है । उसका स्थान उन्हीं के बीच तो होगा ।'

गाँधी हमेशा हरिजन बस्ती में रुकते थे । उनके अज्ञान, अभाव को मिटाने हेतु स्वयं प्रयत्नशील रहते व उनके मध्य रहकर उन्हें इन दोनों असुरों से मोर्चा लेने हेतु सतत् प्रेरित करते ।

मक्षिका मसका यूका मत्कुणा मूषकादयः ।
वृश्चिकादय एतेऽस्मान् विवशान् कुर्वते भृशम् ॥ २७॥
आत्मरक्षां प्रकर्तुं तान् दूरीकर्तुं महामुने ।
आक्रान्तॄन् साहसं ग्राह्यमित्थं सर्वत्र दृश्यते ॥ २८॥
अनौचित्यस्य सहनात्तु स्वमस्तित्वं विपद्यते ।
द्वितीया हानिरेषा स्यादाक्रान्तारस्तु निर्भयाः ॥ २९॥
स्वस्यास्तु दुष्टतायास्ते परिमाणे महत्तमे ।
प्रयोगमाचरिष्यन्ति यच्च कष्टकरं भवेत् ॥ ३०॥
साधनैः साहसेनापि यास्यन्तीमे सुपुष्टताम् ।
व्यक्तयः कश्चनान्येभ्यो विपद्धेतुकरा मताः ॥ ३१॥

टीका-मक्खी, मच्छर, खटमल, जुएँ, चूहे, साँप, बिच्छू आदि इस बात के लिए विवश करते हैं कि आत्म रक्षा का प्रबन्ध किया जाय और आक्रान्ताओं को हटाने के लिए साहस अपनाया जाय । यही बात सर्वत्र देखी जाती है । अनौचित्य को सहन करते रहने से तो अपना अस्तित्व ही संकट में पड़ जायेगा, दूसरी हानि यह होगी कि आक्रमणकारी निर्द्वन्द्व होकर अपनी दुष्टता को अधिक बड़े परिणाम में प्रयुक्त करेंगे, जो कि कष्टकर होगा । साहस और साधन बढ़ते रहने से वे अधिक परिपुष्ट होंगे और कुछ व्यक्ति अन्यों के लिए भारी विपत्ति का कारण बनेंगे ॥ २७-३१ ॥

व्याख्या-बहिरंग जगत में भी दुष्प्रवृत्तियाँ इतनी व्यापक हैं कि उनसे बच पाना सम्भव नहीं । उपाय एक ही है, उनसे संघर्ष किया जाय, दुष्टता को सहन न कर उसका प्रतिकार किया जाय । मनुष्य जैसे समर्थ प्राणी के लिए इससे हेय प्रसंग क्या हो सकता है कि कुछ गिने-चुने दुर्धर्ष व्यक्ति असंख्यों के लिए कष्ट का कारण बनें । कारण एक ही है-दुष्टता को सहन किया गया, इसीलिए वह दूने परिणाम में और भी निर्द्वन्द्व होकर आक्रमण करने का साहस कर सकी ।

मक्खी-मच्छर जैसे जीव प्राणी जगत में हैं पर इस वृत्ति के व्यक्ति भी समाज में होते हैं । उनकी उपस्थिति यही माँग करती है कि उनसे सचेत रहा जाय व जमकर मोर्चा लिया जाय ।

हंस की दया-कृतघ्न चूहे पर

सज्जन होना ठीक है पर कृतघ्नों की पहचान रखना भी उतनी ही बड़ी आवश्यकता है । नहीं तो हानि ही उठानी पड़ती है ।

एक हंस उड़ता अपने निवास स्थान की ओर जा रहा था । साँझ का समय था । उसने देखा एक चूहा ठण्ड के मारे ठिठुरता अर्द्धचेतन हुआ है । उसे देखकर हंस को दया आ गई । सज्जनों का स्वभाव ही ऐसा होता है । वह नीचे उतरा, अपने पंख फैलाकर चूहे को ढक लिया । इससे सर्दी रुक गई और धीरे-धीरे चूहे के बदन में गर्मी आई और अपने आपको ठीक महसूस करने लगा । अब क्या था, वह अपने काम में लग गया और हंस के मुलायम-मुलायम परों को काट दिया । सबेरा हुआ, सूर्य की किरणें वसुधा पर फैलने लगीं । हंस ने उड़ने की तैयारी की, किन्तु वह उड़ न सका । चूहे की कृतघ्नता पर उसे बड़ा दुःख हुआ और जब तक दूसरे पंख न उगे, वहीं घूम-फिरकर अपने दिन काटने पड़े ।

दुष्टों से बचना जरूरी

साथ भी यदि रहना हो तो ऐसे व्यक्ति को न चुना जाय जो ऊपर से तो स्नेह दिखाता हो पर अन्दर से द्वेष एवं मात्र अवसर की ताक में रहता हो ।

एक हंस और कौवा दोनों साथ-साथ रहते थे । हंस अपने स्वभाव के अनुसार सदैव कौवे के प्रति सद्भावना और शुभकामनायें रखता, किन्तु कौवा मन ही मन हंस के प्रति द्वेषभाव रखता । वह किसी न किसी तरह हंस का अहित करने की ताक में रहता । एक दिन हारा-थका एक शिकारी उस पेड़ के नीचे आकर सो गया जहाँ वे दोनों रहते थे । कुछ देर में उस शिकारी के मुँह पर धूप आ गई । इस पर हँस को बड़ी दया आई और अपने पंख पसार कर उसने धूप को रोक लिया । कौवे का दाँव लग गया । नीचे की टहनी पर बैठकर उसने सोते शिकारी के मुँह पर बीट कर दी और स्वयं उड़ गया । शिकारी की नींद खुली तो ऊपर हंस को पंख पसारे हुए देखा । उसे क्रोध आया और तीर चलाकर उसका काम तमाम कर दिया ।

आज समाज ऐसी ही दुर्बुद्धि के शिकार व्यक्तियों से घिरा हुआ है । स्वयं भोले बनकर उनसे मित्रता करने से तो उचित है-स्वयं को उनसे दूर रखा जाय व सामूहिकता की भावना ऐसों से संघर्ष हेतु जगायी जाय । आत्मरक्षा का प्रबन्ध न किया गया तो अपनी हानि तो है ही, उन्हें परोक्षतः बढ़ावा और मिलता है और वे अधिक स्वच्छन्द-उद्दण्ड हो उठते हैं ।

कायर गाँव पर जुर्माना

एक गाँव पर शस्त्रास्त्रों से युक्त दस्युदल ने हमला बोल दिया । उनका लक्ष्य था एक धनी परिवार । शरीर बल से सम्पन्न एवं अस्त्रों के पास होने पर भी सहायतार्थ कोई पड़ौस का व्यक्ति नहीं आया । सब अपने-अपने घरों में घुसे अपनी जान की खैर मनाते रहे और दस्युदल निर्द्वन्द्व हो लूटता रहा । भोर होते ही वह समूह चला गया । अन्य लोगों की कायरता देखकर राजा ने उन सबकी सामूहिक रूप से भर्त्सना की व पूरे गाँव पर जुर्माना लगा दिया । उनसे अतिरिक्त कर लेकर उस परिवार की सहायतार्थ देनें को कहा गया ताकि वे सभी अपनी पौरुषहीनता का सबक लें । स्वयं राजा ने अपने एक सक्षम सेना-बल को भेजकर दस्युदल को ढूँढ़ निकाला व उन्हें प्राणदण्ड दिया ।

यह घटना बताती है कि दुष्ट तो अपने किए की सजा पाते ही हैं बचते वे भी नहीं जो ये मान बैठते हैं कि हम अपने आप में अलग हैं, दूसरों से हमारा कोई भी लेना देना नहीं । ऐसे निर्बलों को भी शिक्षा देनी पड़ती है ताकि वे अन्याय से मोर्चा लेने हेतु आत्मबल सम्पादन की प्रेरणा ले सकें ।

चाणक्य की शिक्षा

"शरीर को शुद्ध रखना जिस तरह आपकी जिम्मेदारी है, उसी प्रकार समाज को स्वच्छ बनाये रखना भी आप ही के जिम्मे है । यदि हम व्यक्तिगत हितों पर ध्यान देते रहें और सामाजिक कर्तव्यों की उपेक्षा करें तो हमारे हित के साधन अवश्य ही दूषित हो जायेंगे । चोर आपके घर नहीं आया इसलिए आप चोर का मुकाबला नहीं करेंगे तो जब वह आपके घर में घुसेगा, उस समय आपका भी कोई साथ नहीं देगा । आपका अस्तित्व समाज में है । सामाजिकता से अलग हटकर आप अपने अधिकार सुरक्षित नहीं रख सकते । सामूहिकता से अलग हट जाने पर आप स्वयं को भी सुरक्षित नहीं रख सकेंगे । आपको चाहिए कि सबकी भलाई में ही आप स्वयं का भी भला समझें क्योंकि उस समाज के आप अविभाज्य अंग हैं । जिन जातियों में सच्ची कर्तव्यनिष्ठा पायी जाती है वह संसार में सदैव सम्पन्न अवस्था में रहती है, सबसे सम्मान प्राप्त करती है ।

कीर्ति और आर्थिक प्रगति का आधार भी मनुष्यों की कर्तव्यनिष्ठा ही है।"

राजकुमार स्थावरसर्ग सुधरे

महाराज द्रुमिल राजकुमार स्थावर-सर्ग की दिनों-दिन बढ़ रही उच्छृंखल-वृत्ति से जितना पीड़ित थे, प्रजा उससे अधिक परेशान थी। महाराज द्रुमिल ने एक-से-एक विद्वान बुलाये, अच्छे-अच्छे नैतिक उपदेशों की व्यवस्था की गई, किन्तु जिस तरह चिकने घड़े पर पानी का प्रभाव नहीं पड़ता, उसी प्रकार राजकुमार स्थावर-सर्ग पर कोई प्रभाव न पड़ा।

अन्त में महाराज द्रुमिल ने पूज्यपाद अश्वत्थ की शरण ली। प्रजा के हित की दृष्टि से महर्षि अश्वत्थ ने राजकुमार को ठीक करने का आश्वासन तो दे दिया पर उन्होंने महाराज से स्पष्ट कह दिया कि उनकी किसी भी योजना में बाधा उत्पन्न नहीं की जायेगी। महाराज द्रुमिल ने उस शर्त को सहर्ष स्वीकार कर लिया।

महर्षि अश्वत्थ की आज्ञा से सर्वप्रथम स्थावर-सर्ग की राज्यवृत्ति रोक दी गई। उनके पास की सारी सम्पत्ति छीन ली गई और सम्राट् की ओर से उन्हें बन्दी बनाकर अप-द्वीप निष्कासितकर दिया गया। यह वह स्थान था, जहाँ न तो पर्याप्त भोजन ही उपलब्ध था और न ही जल। अतिवृष्टि के कारण रात में सो सकना कठिन था। वहाँ दिन में हिंसक जन्तुओं का भय। कुछ ही दिन में स्थावर-सर्ग सूखकर काँटा हो गये। अब तक उनके मन में जो अहंकार और दर्प था, प्रकृति की कठोर यातनाओं के आघात से टूटकर चकनाचूर हो गया। महाराज को इस बीच कई बार पुत्र के मोह ने सताया भी पर वे अश्वत्थ को वचन दे चुके थे, अतएव कुछ बोल भी नहीं सकते थे।

समय पूरा होने को आया। प्रकृति के संसर्ग में रहकर स्थावर-सर्ग बदले और जब वे लौटकर आये तो सबने देखा उनका मुख-मण्डल दर्प से नहीं, करुणा व सौम्यता से दीप्तिमान था। जो काम मनुष्य नहीं कर सके वह प्रकृति की दण्ड व्यवस्था ने पूरा कर दिखाया।

विभीषण का प्रतिरोध

विभीषण ने रावण की अनीति के विरुद्ध आवाज उठाई, यह जानते हुए भी कि इससे उसका जीवन संकट में पड़ सकता है। भरी सभा में उसने कहा-

"तव उर कुमति बसी विपरीता। हित अनहित मानहु रिपु प्रीता॥"

"हे अग्रज! आपके अन्दर कुमति का निवास हो जाने से आपका मन उलटा चल रहा है, उससे आप भलाई को बुराई और मित्र को शत्रु समझ रहे हैं।"

झूँठी चापलूसी करने वाले सभासदों के बीच अपने भाई विभीषण की नेक सलाह भी विद्वत्ता की मूर्ति पण्डित रावण को उलटी ही लग रही थी। उत्तेजित रावण कह उठा-"तू मेरे राज्य में रहते हुए भी शत्रु से प्रेम करता है। अतः उन्हीं के पास चला जा और उन्हीं को नीति की शिक्षा दे।" ऐसा कहकर उसने भाई को लात मारी व सभा से उसको निकाल दिया।

समझाने पर भी जो खोटा मार्ग न छोड़े, उससे सम्बन्ध ही त्याग देना चाहिए, यह सोचकर विभीषण लंका छोड़कर भगवान राम की शरण में गये और रावण के नाश का कारण बने।

अनीत्याचरणं पापं यथा भीरुतया तथा।
तस्या अप्रतिरोधोऽपि पापमेवानुविद्यते॥ ३२॥
वस्तुतो भीरवस्ते हि दुष्टतां पोषयन्त्यलम्।
वरं संघर्षशीलास्ते स्वयं गृह्णन्तु हानिकाम्॥ ३३॥
परं साहसिका तेषां धर्मनिष्ठा तु या तया।
निर्दोषाणामसंख्यानां रक्षा भवति सर्वथा॥ ३४॥

टीका-अनीति करना जितना पाप है, उतना ही कायरतावश उसका प्रतिरोध न करना भी पाप है। वस्तुतः कायर ही दुष्टता का परिपोषण करते हैं। जूझने वाले स्वयं भले ही घाटे में रहें पर उनकी इस साहसिक धर्मनिष्ठा से असंख्य निर्दोषों की रक्षा होती है॥ ३२-३४॥

व्याख्या-कायर मनुष्य अनाचार के सामने घुटने टेक देते हैं, दुम दबा कर भाग जाते हैं अथवा उसे सहन करते रहते हैं। इससे प्रकारान्तर से अनीति को ही बढ़ावा मिलता है। इसके विपरीत प्राणवान

हंस की दया-कृतघ्न चूहे पर

सज्जन होना ठीक है पर कृतघ्नों की पहचान रखना भी उतनी ही बड़ी आवश्यकता है । नहीं तो हानि ही उठानी पड़ती है ।

एक हंस उड़ता अपने निवास स्थान की ओर जा रहा था । साँझ का समय था । उसने देखा एक चूहा ठण्ड के मारे ठिठुरता अर्द्धचेतन हुआ है । उसे देखकर हंस को दया आ गई । सज्जनों का स्वभाव ही ऐसा होता है । वह नीचे उतरा, अपने पंख फैलाकर चूहे को ढक लिया । इससे सर्दी रुक गई और धीरे-धीरे चूहे के बदन में गर्मी आई और अपने आपको ठीक महसूस करने लगा । अब क्या था, वह अपने काम में लग गया और हंस के मुलायम-मुलायम परों को काट दिया । सबेरा हुआ, सूर्य की किरणें वसुधा पर फैलने लगीं । हंस ने उड़ने की तैयारी की, किन्तु वह उड़ न सका । चूहे की कृतघ्नता पर उसे बड़ा दुःख हुआ और जब तक दूसरे पंख न उगे, वहीं घूम-फिरकर अपने दिन काटने पड़े ।

दुष्टों से बचना जरूरी

साथ भी यदि रहना हो तो ऐसे व्यक्ति को न चुना जाय जो ऊपर से तो स्नेह दिखाता हो पर अन्दर से द्वेष एवं मात्र अवसर की ताक में रहता हो ।

एक हंस और कौवा दोनों साथ-साथ रहते थे । हंस अपने स्वभाव के अनुसार सदैव कौवे के प्रति सद्भावना और शुभकामनायें रखता, किन्तु कौवा मन ही मन हंस के प्रति द्वेषभाव रखता । वह किसी न किसी तरह हंस का अहित करने की ताक में रहता । एक दिन हारा-थका एक शिकारी उस पेड़ के नीचे आकर सो गया जहाँ वे दोनों रहते थे । कुछ देर में उस शिकारी के मुँह पर धूप आ गई । इस पर हँस को बड़ी दया आई और अपने पंख पसार कर उसने धूप को रोक लिया । कौवे का दाँव लग गया । नीचे की टहनी पर बैठकर उसने सोते शिकारी के मुँह पर बीट कर दी और स्वयं उड़ गया । शिकारी की नींद खुली तो ऊपर हंस को पंख पसारे हुए देखा । उसे क्रोध आया और तीर चलाकर उसका काम तमाम कर दिया ।

आज समाज ऐसी ही दुर्बुद्धि के शिकार व्यक्तियों से घिरा हुआ है । स्वयं भोले बनकर उनसे मित्रता करने से तो उचित है-स्वयं को उनसे दूर रखा जाय व सामूहिकता की भावना ऐसों से संघर्ष हेतु जगायी जाय । आत्मरक्षा का प्रबन्ध न किया गया तो अपनी हानि तो है ही, उन्हें परोक्षतः बढ़ावा और मिलता है और वे अधिक स्वच्छन्द-उद्दण्ड हो उठते हैं ।

कायर गाँव पर जुर्माना

एक गाँव पर शस्त्रास्त्रों से युक्त दस्युदल ने हमला बोल दिया । उनका लक्ष्य था एक धनी परिवार । शरीर बल से सम्पन्न एवं अस्त्रों के पास होने पर भी सहायतार्थ कोई पड़ौस का व्यक्ति नहीं आया । सब अपने-अपने घरों में घुसे अपनी जान की खैर मनाते रहे और दस्युदल निर्द्वन्द्व हो लूटता रहा । भोर होते ही वह समूह चला गया । अन्य लोगों की कायरता देखकर राजा ने उन सबकी सामूहिक रूप से भर्त्सना की व पूरे गाँव पर जुर्माना लगा दिया । उनसे अतिरिक्त कर लेकर उस परिवार की सहायतार्थ देने को कहा गया ताकि वे सभी अपनी पौरुषहीनता का सबक लें । स्वयं राजा ने अपने एक सक्षम सेना-बल को भेजकर दस्युदल को ढूँढ़ निकाला व उन्हें प्राणदण्ड दिया ।

यह घटना बताती है कि दुष्ट तो अपने किए की सजा पाते ही हैं बचते वे भी नहीं जो ये मान बैठते हैं कि हम अपने आप में अलग हैं, दूसरों से हमारा कोई भी लेना देना नहीं । ऐसे निर्बलों को भी शिक्षा देनी पड़ती है ताकि वे अन्याय से मोर्चा लेने हेतु आत्मबल सम्पादन की प्रेरणा ले सकें ।

चाणक्य की शिक्षा

"शरीर को शुद्ध रखना जिस तरह आपकी जिम्मेदारी है, उसी प्रकार समाज को स्वच्छ बनाये रखना भी आप ही के जिम्मे है । यदि हम व्यक्तिगत हितों पर ध्यान देते रहें और सामाजिक कर्तव्यों की उपेक्षा करें तो हमारे हित के साधन अवश्य ही दूषित हो जायेंगे । चोर आपके घर नहीं आया इसलिए आप चोर का मुकाबला नहीं करेंगे तो जब वह आपके घर में घुसेगा, उस समय आपका भी कोई साथ नहीं देगा । आपका अस्तित्व समाज में है । सामाजिकता से अलग हटकर आप अपने अधिकार सुरक्षित नहीं रख सकते । सामूहिकता से अलग हट जाने पर आप स्वयं को भी सुरक्षित नहीं रख सकेंगे । आपको चाहिए कि सबकी भलाई में ही आप स्वयं का भी भला समझें क्योंकि उस समाज के आप अविभाज्य अंग हैं । जिन जातियों में सच्ची कर्तव्यनिष्ठा पायी जाती है वह संसार में सदैव सम्पन्न अवस्था में रहती है, सबसे सम्मान प्राप्त करती है ।

कीर्ति और आर्थिक प्रगति का आधार भी मनुष्यों की कर्तव्यनिष्ठा ही है।"

राजकुमार स्थावरसर्ग सुधरे महाराज द्रुमिल राजकुमार स्थावर-सर्ग की दिनों-दिन बढ़ रही उच्छृंखल-वृत्ति से जितना पीड़ित थे, प्रजा उससे अधिक परेशान थी। महाराज द्रुमिल ने एक-से-एक विद्वान बुलाये, अच्छे-अच्छे नैतिक उपदेशों की व्यवस्था की गई, किन्तु जिस तरह चिकने घड़े पर पानी का प्रभाव नहीं पड़ता, उसी प्रकार राजकुमार स्थावर-सर्ग पर कोई प्रभाव न पड़ा।

अन्त में महाराज द्रुमिल ने पूज्यपाद अश्वत्थ की शरण ली। प्रजा के हित की दृष्टि से महर्षि अश्वत्थ ने राजकुमार को ठीक करने का आश्वासन तो दे दिया पर उन्होंने महाराज से स्पष्ट कह दिया कि उनकी किसी भी योजना में बाधा उत्पन्न नहीं की जायेगी। महाराज द्रुमिल ने उस शर्त को सहर्ष स्वीकार कर लिया।

महर्षि अश्वत्थ की आज्ञा से सर्वप्रथम स्थावर-सर्ग की राज्यवृत्ति रोक दी गई। उनके पास की सारी सम्पत्ति छीन ली गई और सम्राट् की ओर से उन्हें बन्दी बनाकर अप-द्वीप निष्कासितकर दिया गया। यह वह स्थान था, जहाँ न तो पर्याप्त भोजन ही उपलब्ध था और न ही जल। अतिवृष्टि के कारण रात में सो सकना कठिन था। वहाँ दिन में हिंसक जन्तुओं का भय। कुछ ही दिन में स्थावर-सर्ग सूखकर काँटा हो गये। अब तक उनके मन में जो अहंकार और दर्प था, प्रकृति की कठोर यातनाओं के आघात से टूटकर चकनाचूर हो गया। महाराज को इस बीच कई बार पुत्र के मोह ने सताया भी पर वे अश्वत्थ को वचन दे चुके थे, अतएव कुछ बोल भी नहीं सकते थे।

समय पूरा होने को आया। प्रकृति के संसर्ग में रहकर स्थावर-सर्ग बदले और जब वे लौटकर आये तो सबने देखा उनका मुख-मण्डल दर्प से नहीं, करुणा व सौम्यता से दीप्तिमान था। जो काम मनुष्य नहीं कर सके वह प्रकृति की दण्ड व्यवस्था ने पूरा कर दिखाया।

विभीषण का प्रतिरोध विभीषण ने रावण की अनीति के विरुद्ध आवाज उठाई, यह जानते हुए भी कि इससे उसका जीवन संकट में पड़ सकता है। भरी सभा में उसने कहा-

"तव उर कुमति बसी विपरीता। हित अनहित मानहु रिपु प्रीता॥"

"हे अग्रज! आपके अन्दर कुमति का निवास हो जाने से आपका मन उलटा चल रहा है, उससे आप भलाई को बुराई और मित्र को शत्रु समझ रहे हैं।"

झूँठी चापलूसी करने वाले सभासदों के बीच अपने भाई विभीषण की नेक सलाह भी विद्वत्ता की मूर्ति पण्डित रावण को उलटी ही लग रही थी। उत्तेजित रावण कह उठा-"तू मेरे राज्य में रहते हुए भी शत्रु से प्रेम करता है। अतः उन्हीं के पास चला जा और उन्हीं को नीति की शिक्षा दे।" ऐसा कहकर उसने भाई को लात मारी व सभा से उसको निकाल दिया।

समझाने पर भी जो खोटा मार्ग न छोड़े, उससे सम्बन्ध ही त्याग देना चाहिए, यह सोचकर विभीषण लंका छोड़कर भगवान राम की शरण में गये और रावण के नाश का कारण बने।

अनीत्याचरणं पापं यथा भीरुतया तथा।
तस्या अप्रतिरोधोऽपि पापमेवानुविद्यते॥ ३२॥
वस्तुतो भीरवस्ते हि दुष्टतां पोषयन्त्यलम्।
बरं संघर्षशीलास्ते स्वयं गृह्णन्तु हानिकाम्॥ ३३॥
परं साहसिका तेषां धर्मनिष्ठा तु या तया।
निर्दोषाणामसंख्यानां रक्षा भवति सर्वथा॥ ३४॥

टीका-अनीति करना जितना पाप है, उतना ही कायरतावश उसका प्रतिरोध न करना भी पाप है। वस्तुतः कायर ही दुष्टता का परिपोषण करते हैं। जूझने वाले स्वयं भले ही घाटे में रहें पर उनकी इस साहसिक धर्मनिष्ठा से असंख्य निर्दोषों की रक्षा होती है॥ ३२-३४॥

व्याख्या-कायर मनुष्य अनाचार के सामने घुटने टेक देते हैं, दुम दबा कर भाग जाते हैं अथवा उसे सहन करते रहते हैं। इससे प्रकारान्तर से अनीति को ही बढ़ावा मिलता है। इसके विपरीत प्राणवान

जीवनधारी मनुष्य अकेले बिना किसी योजना-निर्धारण के तो कभी लड़ते नहीं परन्तु अपने आपको जुटाकर-बिखराव समेट कर शक्ति भर प्रतिकार करते हैं, भले ही इसमें उनकी जान ही क्यों न चली जाय ।

सत्याग्रही, छापामार, शहीद

सत्याग्रही, छापामार शहीद इसी श्रेणी में आते हैं । गाँधी के सत्याग्रही लाठी खाते रहे पर एक-एक कर आगे आये, झण्डे को झुकने न दिया, सीने पर गोलियाँ खाईं, जेल भरते चले गए और अन्ततः अनाचारी शासन को विवश कर दिया कि वह देश को स्वतन्त्रता वापस दे । शिवाजी के छापामार अपनी नीति में पूरी तरह सफल रहे । संख्या बल में थोड़े वे कैसे सोचते कि अपने शत्रु से जूझ पायेंगे पर न केवल उन्होंने उस नीति से पश्चिमी घाट के अनेक किले जीते, खण्ड-खण्ड में टूटे भारत को संघर्ष की एक शिक्षा भी दी । उन्हीं के समकालीन थे बुन्देलखण्ड के चम्पतराय, छत्रसाल के पिता । वे अपनी नीति में अपने राज्य में असफल रहने पर शिवाजी से सीख लेकर आए, धैर्यपूर्वक अपने आपको संगठित किया व फिर जीत कर ही चैन पाया । स्वतन्त्रता आन्दोलन के शहीद उँगली पर गिने जाने योग्य थे व सामने ब्रिटिश साम्राज्य व पराधीन भारत का सोया जनमानस । पर उन्होंने घाटा उठाया, अपनी जान बलि दे दी, स्वतन्त्रता का पथ प्रशस्त किया । उनकी इस धर्मनिष्ठा को आने वाले वर्षों तक याद रखा जाता रहेगा ।

बकासुर व कीचक का बध

पाण्डव बारह वर्ष के वनवास के अनन्तर एक वर्ष का अज्ञातवास भोग रहे थे तभी वकासुर के अत्याचार का पता लगने पर माता कुन्ती ने भीम को उसका वध करने के लिए भेजना चाहा । युधिष्ठिर बोले-'मैं जानता हूँ भीम उसका वध कर सकता है । पर उसके वध पर हमारे अज्ञातवास का रहस्य भी खुल जायेगा और हमें पुनः बारह वर्ष का अज्ञातवास भोगना पड़ेगा ।'

भीम बोले-'तात ! आप ही तो कहते थे न्याय और औचित्य के समर्थन में अन्याय-अत्याचार के प्रतिकार के लिए बड़े से बड़ा कष्ट भी धर्मनिष्ठ को सहना चाहिए । फिर मुझे आज्ञा क्यों नहीं देते ?' युधिष्ठिर को भीम का आग्रह मानना ही पड़ा । वे वकासुर का वध करके श्रेय-सम्मान के अधिकारी बने ।

इसी प्रकार वनवास का एक और प्रसंग है ।

पाण्डव उन दिनों राजा विराट् के यहाँ छद्मवेष में रह रहे थे । विराट् के साले कीचक की कुदृष्टि द्रौपदी पर पड़ी और वह उसका शील भंग करने पर उतारू हो गया ।

द्रौपदी ने अपने सभी पतियों से कहा पर सब इस बात के लिए डरते रहे, कहीं ऐसा न हो कि भेद खुल जाये और फिर बारह वर्ष वन में रहना पड़े । पर जब भीम ने यह खबर पाई तो किसी भी संकट की चिन्ता किए बिना एक दिन उन्होंने कीचक का वध कर ही डाला ।

पुत्रों की बलि पर प्रसन्नता

गुरु गोविन्दसिंह चमकौर किले में आक्रमणकारियों से मोर्चा लेने के लिए सेना एकत्र कर रहे थे । किले में शरण लेते समय उनके दोनों पुत्र जोरावर व फतहसिंह पीछे छूट गए । सरहिन्द से आये दो दूत गुरु गोविन्दसिंह को समाचार सुना रहे थे-'बड़ी मुगल सेना चमकौर दुर्ग पर आक्रमण करने चल पड़ी है'-इतना बोलकर वे चुप हो गये और रो पड़े । गुरुजी ने पूछा-'आगे बताओ । रुक क्यों गए ? जोरावर व फतहसिंह का क्या हुआ ? कहीं ऐसा तो नहीं कि उन्होंने विधर्मी को समर्पण कर दिया हो, लोभ में आकर उनका धर्म स्वीकार कर लिया हो ?'

दूतों ने रोते-रोते कहा-'नहीं गुरुजी ! ऐसा न कहें । नवाब ने उन्हें धर्म न त्यागने व सेना के रहस्य न बताने के कारण जिन्दा दीवार में चुनवा दिया है और वे सहर्ष बलि हो गये । यह समाचार सुनकर आपकी माता ने कमरे से कूदकर अपनी जान दे दी ।' गुरुजी का मस्तक गर्व से ऊँचा हो गया । वे बोले-'वे दोनों सच्चे धर्मवीर थे । सारी संस्कृति को उन पर नाज है । हम सबको उनसे शिक्षा लेनी चाहिए ।'

भागो मत सामना करो

आशा, उत्साह और गति का समन्वय ही जीवन है । जिसमें जीवन का अभाव है वह इन तीन गुणों से रहित होता है । ऐसे कापुरुष जीवित अवस्था में भी मृतक के समान होते हैं । रामकृष्ण परमहंस कहा करते थे-'कुकर्म करने तथा बुराई को प्रश्रय देने वाला मनुष्य जीवित दीखता हुआ भी मृत ही है, क्योंकि कुकर्म और कुविचार मृत्यु के प्रतिनिधि हैं । इनको आश्रय देने वाला मृतक के सिवाय और कौन हो सकता है ?'

इसे एक उदाहरण के माध्यम से स्वामी विवेकानन्द ने बड़े रोचक ढंग से समझाया-

दुष्ट परिस्थितियों की तरह काशी के बन्दर भी बड़े दुष्ट होते हैं । एक बार मैं काशी में किसी जगह जा रहा था । उस स्थान पर बहुत से बन्दर रहते थे जो आने-जाने वालों को अकारण ही तंग करने में बड़े विख्यात थे ।

मेरे साथ उन्होंने वही किया । मेरा रास्ते से गुजरना उन्हें अच्छा न लगा, वे चिल्ला कर मेरी ओर दौड़े और पैरों में काटने लगे । उनके हाथ से छुटकारा पाना असम्भव प्रतीत हुआ । तेजी से भागा, पर जितना भागता बन्दर भी उतना दौड़ते और काटते । तभी एक अपरिचित स्वर सुनाई दिया-'भागो मत सामना करो ।' बस मैं खड़ा हो गया और ऐसी जोर की डाँट बताई कि एक घुड़की में ही बन्दर भाग खड़े हुए ।

जीवन में जो कुछ भयानक है उसका हमें साहसपूर्वक सामना करना पड़ेगा । परिस्थितियों से भागना कायरता है, कायर पुरुष कभी विजयी नहीं होगा । भय, कष्ट और अज्ञान का जब हम सामना करने को तैयार होंगे तभी वे हमारे सामने से भागेंगे । यह शिक्षा मुझे उन बन्दरों से मिली ।

बभ्रुवाहन की सीख

कई बार यह प्रतिरोध अकारण भयवश भी नहीं हो पाता । सामर्थ्यवान होते हुए भी कई व्यक्ति एक निर्भय, निर्द्वन्द्व अनाचारी से मोर्चा ले पाने में असफल रहते हैं ।

नरेश बभ्रुवाहन ने निषेधाज्ञा प्रसारित की कि आज से कोई भी नागरिक रात्रि में विचरण नहीं किया करेगा । ऐसा करने वाला अपराधी होगा और उन्हें दण्ड दिया जायेगा ।

एक रात जब सैनिक गश्त लगा रहे थे तो उन्होंने किसी व्यक्ति को एक ओर जाते देखा । उन्होंने रोक कर पूछा-'कौन हो ? पता नहीं तुम्हें, रात में घूमना अपराध है ?' वह व्यक्ति भी चतुर था । उसने सोचा यदि डर गये तो सैनिक बन्दी बना लेंगे, इसलिए इसने कड़ककर कहा-'मुझे टोकते हुए भय नहीं लगा, मूर्खो ! स्वयं नरेश मेरी सम्मति से काम करते हैं ।

सैनिक डर गये । उन्होंने सोचा कोई सचिव या राजपुरोहित होंगे सो वह चुप पड़ गये । सिपाहियों के पीछे ही बभ्रुवाहन भी निरीक्षण के लिए निकले थे । उन्होंने जब शस्त्रधारी सैनिकों को डरते देखा तो स्वयं आगे बढ़कर बोले-'ठहरो, पहले यह बताओ, तुम कौन हो ?' इस बार तो वह व्यक्ति घबड़ा गया और महाराज के चरणों में गिरकर बोला-'महाराज मैं दस्युराज आभंतक हूँ ।' सिपाहियों ने आगे बढ़कर उसे बन्दी बना लिया ।

बभ्रुवाहन ने सैनिकों से कहा-'तुम संख्या में अधिक व सशस्त्र होते हुए भी अन्दर से उससे कमजोर क्यों बने ? क्या तुममें इतना साहस नहीं कि स्वयं राजा आयें तो उनसे भी पूछो कि वे क्यों रात्रि में यहाँ घूम रहे हैं । यदि इस प्रारम्भिक नागरिक रक्षा के अभ्यास में भी तुम सफल न हो सके तो शत्रु के अधिक संख्या में सामने आने पर कैसे लड़ोगे ?'

आतङ्कवादिनां भंक्तुं साहसं प्रतिरोधनात् ।
अतिरिक्तो न वै मार्ग कोऽप्यस्तीह महामुने ॥ ३५॥
कः प्रभावो हिंस्त्रकेषु पशुष्वास्ते च दुर्जनाः ।
धर्मोपदेशबोद्धारः किं भवन्ति विचार्यताम् ॥ ३६॥
यद्येवं सम्भवेत्तर्हि रावणोऽङ्गदबोधितः ।
दुर्योधनश्च कृष्णेन नम्रौ स्यातां न बोधितः ॥ ३७॥
लङ्काकाण्डस्य किं स्यातां महाभारतकस्य च ।
आवश्यकते यतो देवाः प्रत्यक्रमरणरक्षकाः ॥ ३८॥
सहनेन सुगुप्त्या वा शान्तिप्रार्थनयाऽपि वा ।
असुरतायाः कुत्र अस्ति आत्मरक्षा सुसम्भवा ॥ ३९॥

टीका-आतङ्कवादियों के हौसले तोड़ने के लिए प्रतिरोध के अतिरिक्त और कोई मार्ग नहीं । हिंस्र पशुओं पर अनुनय-विनय का क्या प्रभाव पड़ता है ? दुरात्मा भी धर्मोपदेश कहाँ सुनते हैं-यह विचार लो । यदि ऐसा होता तो अङ्गद के समझाने पर रावण और कृष्ण के समझाने पर दुर्योधन बदल न

गया होता ? तब लंकाकाण्ड और महाभारत की आवश्यकता ही क्यों पड़ती ? देवता प्रत्याक्रमण के बाद ही आत्मरक्षा कर सके हैं ? सहने-छिपने की, शांति की रट लगाने से भी असुरता से आत्म-रक्षा कहाँ होती है ॥ ३५-३९ ॥

व्याख्या-अनीति के पक्षधर मानवता के शत्रु होते हैं, उन्हें हिंसक खूंखार प्राणी के समकक्ष ही समझा जाना चाहिए । उन्हें मात्र प्रतिरोध की भाषा समझ में आती है, सत्परामर्श और शांति-संधि की चर्चा उनसे नहीं की जाती । वे अन्दर से बाहर तक कुटिल, दुर्बुद्धि व दुराचार से भरे पड़े होते हैं ।

प्रह्लाद-हिरण्यकश्यप

हिरण्यकश्यप ने प्रह्लाद से कहा-'तुम भी मेरी तरह धन-सम्पत्ति अर्जित करो-मैं तुम्हारा पिता हूँ, मेरी हर बात तुम्हें माननी चाहिए ।'

प्रह्लाद ने उत्तर दिया-'पिता के नाते आप मुझसे शारीरिक सेवा ले सकते हैं पर आपकी अनुचित बातों का समर्थन करूँ यह मुझसे नहीं होगा ।' उन्होंने अपार संकट सहे पर अनौचित्य से कभी सहमत नहीं हुए । अन्ततः स्वयं भगवान् को उनकी रक्षार्थ आकर हिरण्यकश्यप का वध करना पड़ा । हर आतंकवादी का अन्त इसी प्रकार हुआ है ।

नीति का आदेश

'जो अपने साथ जैसा बर्ताव करे, उसके साथ वैसा ही बर्ताव करना चाहिए-यही नीति धर्म है । कपट का आचरण करने वाले के साथ कपटपूर्ण बर्ताव करे और अच्छा बर्ताव करने वालों के साथ साधु भाव का ही बर्ताव करना चाहिए ।' (महाभारत-महात्मा विदुर)

श्रीकृष्ण महाभारत में नीति उपदेश देते हुए युधिष्ठिर से कहते हैं-

मायाविनं इमां जनं मायया जहि भारत । मायावी मायया वध्यः सत्यमेतद् युधिष्ठिर ॥

अर्थात् मायावी दुर्योधन की इस माया को आप माया द्वारा नष्ट ही कर डालिये । हे युधिष्ठिर ! मायावी का वध माया से ही करना चाहिए । यही सच्ची नीति है ।'

सज्जन को अहिंसा-दुष्ट को दण्ड

निडर साहसी किसी भी परिस्थिति में मनोबल न खोकर आत्म-रक्षा तो करते ही हैं, अपने ही जैसे उन अनेक के लिए प्रेरणा स्रोत बन जाते हैं जो आए दिन अनीति के शिकार हो त्रस्त होते रहते हैं ।

एक दिन पण्डितजी की कथा सुनने एक डाकू भी आया । पण्डितजी समझा रहे थे-'क्षमा और अहिंसा मनुष्य के भूषण हैं, इसका परित्याग न करना चाहिए ।' कथा समाप्त हुई । पण्डित दक्षिणा आदि लेकर गाँव की ओर चल पड़े । बीच में जंगल पड़ता था । वहाँ डाकू आ धमका और पण्डितजी को सारा धन रख देने के लिए कहा । पण्डितजी थे निडर, पास में लाठी थी सो प्रहार करने के लिए डाकू की ओर दौड़े । डाकू घबरा गया और विनयपूर्वक बोला-'महाराज ! आप तो कह रहे थे कि क्षमा और अहिंसा मनुष्य के भूषण हैं, इन्हें नहीं त्यागना चाहिए ।' पण्डितजी बोले-'वह तो सज्जनों के लिए था, तेरे जैसे दुष्टों के लिए तो यह लाठी ही उपयुक्त है ।' पण्डितजी का रौद्ररूप देखकर डाकू वहाँ से भाग गया ।

राणा प्रताप झुके नहीं

जयपुर के राजा मानसिंह गुजरात की तरफ से आ रहे थे । मार्ग में उन्होंने मेवाड़ में पड़ाव डाला और चित्तौड़ के महाराजा के मेहमान बने । उस समय चित्तौड़ में महाराणा प्रताप शासन करते थे । राजा मानसिंह के साथ भोजन पर उन्होंने अपने पुत्र अमरसिंह को भेज दिया और स्वयं न गये । इस पर मानसिंह ने पुछवाया तो प्रताप ने कहला भेजा 'जिसे अपने धर्म, जाति, संस्कृति का गौरव न रहा हो, जो आततायियों से मिल गया हो, उन्हें अपनी लड़की दे दी हो उसके साथ मैं भोजन नहीं कर सकता ।'

अपमानित मानसिंह दिल्ली लौट गया, बादशाह के कान भर, अपने ही स्वजातीय वीर महाराणा के विरुद्ध मुगलों की भारी सेना लेकर आया । प्रसिद्ध हल्दी घाटी के युद्ध में मुट्ठी भर राजपूतों ने शत्रु के दाँत खट्टे कर दिए । प्रताप ने परिस्थिति के अनुसार जंगलों में रहकर छापामार युद्ध करना स्वीकार किया पर कभी भी, किसी भी शर्त पर अपना स्वाभिमान न छोड़ा । संधि की सभी शर्तें नामंजूर कर वे आगामी पीढ़ी के लिए एक प्रेरणा पुंज बन गए ।

सीख जो पलायन का कारण बनी

महमूद गजनवी सोमनाथ का मंदिर लूटकर लौट रहा था । रास्ते में उसकी योजना और भी धर्म संस्थानों को लूटकर सम्पत्ति एकत्र करने की थी । विखण्डित विरोध तथा कायरता की नीति के कारण उसकी योजना सफल होती जा रही थी । इसी बीच उसे एक राजपूत सेना से संघर्ष करना पड़ गया । कुछ हजार राजपूत एक संकरे मार्ग में उसे घेरकर चारों ओर से टूट पड़े । इतनी बड़ी सेना का मुकाबला तो वे क्या कर पाते, पर स्वयं जान देकर सभी सैनिक उसके आधे शस्त्रधारी सैनिकों को मौत के घाट उतार चुके थे । कुछ घण्टों का यह घमासान युद्ध महमूद को अन्दर तक हिला गया । अभी तक उसे कहीं प्रतिरोध नहीं मिला था । अब उसकी व उसके साथियों की हिम्मत टूटने लगी । उसने राजपूतों की हिम्मत, पराक्रम की चर्चा भर सुनी थी पर ऐसे अपनी जान दे देने वाले पहली बार देखे थे । इतिहास बताता है कि यह चोट महमूद गजनवी के लिए एक भारी सीख बनी । वह जो भी कुछ पास था, उसे लेकर वहीं से वापस लौट गया । काश ! यह प्रतिरोध सामूहिक होता तो वह घुसने का भी साहस न कर पाता । परन्तु इस छोटी सी सैनिक टुकड़ी ने जो आत्म-बलिदान किया वह इतिहास के उन काले अध्यायों में चमकते हुए स्वर्णाक्षरों में लिखा गया ।

अनीत्यातङ्कहेतोर्या घटना दुःखदायिकाः ।
दृश्यन्ते, दृश्यमानानां प्रतिरोद्धुं मनो भवेत् ॥ ४० ॥
अज्ञानं चाप्यभावश्चावाञ्छानीयौ मतौ तथा ।
यद्यप्येतौ तु विद्येते परोक्षौ व्यक्तिगौधुवम् ॥ ४१ ॥
अनयोर्हेतुना व्यक्तिः समाजश्चार्तयन्त्रणा ।
सहेते स भवेत्तस्मात्प्रतिरोधोऽप्यनीतिवत् ॥ ४२ ॥
न्यायिकः प्रतिबन्धोऽस्ति विरोधे ऽनीतिपद्धतेः ।
राजसत्तारुणद्ध्येनं, नैतौरोद्धुं किमप्यहो ॥ ४३ ॥
अनयोरस्ति दायित्वं लोकसेविनरेषु हि ।
सुधारकेषु शूरेषु ते ऽग्रगा दूरयन्त्विमौ ॥ ४४ ॥
प्रत्यक्षं दृश्यते हानिर्या तु साक्रमणोदिता ।
प्रत्यक्षवादिनो ऽवाञ्छनीयता तास्तु संजगुः ॥ ४५ ॥
दूरीकर्तुं च ताह्येव निरतास्ते भवन्ति हि ।
विरलाः केचनैवेदं जानन्ति पुरुषास्तु यत् ॥ ४६ ॥
अग्निवज्जलका नैव घुणा वल्मीककास्तथा ।
तेजसाप्यं च कुर्वन्ति लौहस्तम्भं धराशयम् ॥ ४७ ॥

टीका-अनीति के आतंक से जो दुर्घटनाएँ दृष्टिगोचर होती हैं, वे ही ध्यान में आती हैं और प्रतिरोध की बात सोची जाती है, किन्तु व्यक्तिगत एवं परोक्ष होते हुए भी अज्ञान तथा अभाव भी उतने ही अवांछनीय हैं । इनके कारण भी व्यक्ति तथा समाज को असह्य यन्त्रणाएँ सहनी पड़ती हैं । इसलिए इनका प्रतिरोध अनीति की तरह ही होना चाहिए । अनीति के विरुद्ध कानूनी प्रतिबन्ध है और राजसत्ता उसकी रोक-थाम करती है, किन्तु अज्ञान और अभाव के विरुद्ध कोई प्रत्यक्ष मोर्चा नहीं है । इसे सम्भालने का उत्तरदायित्व लोकसेवी सुधारक शूरवीरों के कन्धों पर रहा है । उन्हें ही आगे बढ़कर इन अवांछनीयताओं को निरस्त करना होता है । आक्रमणों से होने वाली हानि प्रत्यक्ष दीखती है, इसलिए प्रत्यक्षवादी उन्हीं को अवांछनीयता समझते और निरस्त करने में लगे रहते हैं । यह विरले ही जानते हैं कि आग की तरह प्रज्ज्वलनशील न होने पर भी तेजाब, घुन, दीमक आदि भी सुदृढ़ शहतीर को धराशायी बना देते हैं ॥ ४०-४७ ॥

व्याख्या-अज्ञान वह जो औचित्य-अनौचित्य में अन्तर न कर सके, अभाव वह जो कर्म से पलायन की ओर उन्मुख होने से उत्पन्न हुआ हो । दोनों असुर सहोदर हैं जो बौद्धिक ज्ञान एवं भौतिक वैभव से नहीं,

मान्यता से सम्बन्ध रखते हैं । अज्ञान पढ़े-लिखों और अनपढ़ों में समान रूप से व्याप्त होता है । सुशिक्षित व्यक्ति वांछनीय-अवांछनीय में भेद कर पायें, जरूरी नहीं । सारे अन्धविश्वास एवं मूढ़ मान्यताएँ यहीं से जन्म लेती हैं एवं समाज को खोखला व व्यक्ति को दरिद्र बना देती हैं ।

अनीति प्रत्यक्ष होने, आक्रमण होने के कारण दिखाई भी पड़ जाती है पर समाज का अज्ञान और अभाव भी उतना ही त्रस्त करता है, जितना अनीति-अनाचार । सामान्यतया संघर्ष की बात सोची जाती है तो वह हिंसा, अपराध, दमन, शोषण जैसे अनाचारों के विरुद्ध ही होती है पर एक परोक्ष मोर्चा ऐसा है जो सतत् संघर्ष की, जूझने की आवश्यकता बताता है । राजसत्ता अनीति के लिए सुरक्षा व्यवस्था बनाती है पर अज्ञान, अभाव का मोर्चा तो मात्र समाज सुधारक ही सम्भाल सकते हैं जो जनहित के लिए समर्पित हों, रोग का लक्षण जानकर चिकित्सा हेतु सदैव उद्यत रहते हों ।

अज्ञान किस सीमा तक जन मानस को प्रभावित करता है, इसका परिचय प्रस्तुत आख्यानों से मिलता है ।

खाँड के साधू एक गृहस्थ तीन खाँड के खिलौने लाया जो कि तीन साधुओं की मूर्तियाँ थीं । संयोगवश उसके यहाँ तीन अतिथि भोजन करने आये । गृहस्थ ने उन्हें बड़ी श्रद्धा से बैठाया । इतने ही में गृहस्थ का एक छोटा लड़का आया वह उन खिलौनों को लेकर पूछने लगा, 'यह क्या है पिताजी !' गृहस्थ बोला-'यह साधु हैं ।' बालक ने पूछा-'इनका क्या होगा ?' गृहस्थ ने कहा-'इन्हें खायेंगे ।' लड़का बोला-'कब ?' गृहस्थ बोला-'पहले इन साधुओं को भोजन कराकर हम खाना खा लें, फिर एक-एक कर तीनों खा लेंगे ।'

गृहस्थ तो इस प्रकार अपने बालक को उन खाँड़ के खिलौनों के बारे में बतला रहा था, उधर साधुओं ने समझा कि यह बातचीत उनके बारे में चल रही है । यह समझ कर साधु उसके यहाँ से भागे, गृहस्थ को बड़ा अचरज हुआ, वह उनके पीछे भागा । वे लोग एक जगह रुके, थक गये थे, तो गृहस्थ ने उनके भागने का कारण पूछा । साधुओं ने कहा कि तुम हमें मार डालना चाहते थे, हम तुम्हारी सब बात सुन रहे थे । गृहस्थ ने कहा, 'महाराज ! मैं तो बालक से खाँड़ के खिलौनों के बारे में बातचीत कर रहा था ।' तब साधुओं की समझ में आया और वे फिर वापस उसके घर गये और भोजन किया । मन की दुर्बलता से लोग ऐसे ही डरते हैं जब कि वास्तविकता कुछ और ही होती है ।

गधों पर मछलियों का हमला किसी समय एक जंगल में गधे ही गधे रहते थे । पूरी आजादी से रहते, भर पेट खाते-पीते और मौज करते । एक लोमड़ी को मजाक सूझा । उसने मुँह लटकाकर गधों से कहा-'मैं चिंता से मरी जा रही हूँ और तुम इस तरह मौज कर रहे हो । पता नहीं ? कितना बड़ा संकट सिर पर आ पहुँचा है ?' गधों ने कहा-'दीदी, भला क्या हुआ, बात तो बताओ ।' लोमड़ी ने कहा-'मैं अपने कानों से सुनकर और आँखों से देखकर आई हूँ । मछलियों ने एक सेना बना ली है और वे अब तुम्हारे ऊपर चढ़ाई करने वाली हैं । उनके सामने तुम्हारा ठहर सकना कैसे सम्भव होगा ?'

गधे असमंजस में पड़ गये । उनने सोचा व्यर्थ जान गँवाने से क्या लाभ ? चलो कहीं अन्यत्र चलें । जंगल छोड़कर वे गाँव की ओर चल पड़े । इस प्रकार घबराये हुए गधों को देखकर गाँव के धोबी ने उनका खूब सत्कार किया । अपने छप्पर में आश्रय दिया और गले में रस्सी डालकर खूँटे से बाँधते हुए कहा-'डरने की जरा भी जरूरत नहीं । मछलियों से मैं निपट लूँगा । तुम मेरे बाड़े में निर्भयतापूर्वक रहो । केवल मेरा थोड़ा-सा बोझ ढोना पड़ा करेगा ।'

यह अज्ञान, भ्रान्तियाँ ही आज जनमानस में संव्याप्त हैं । गधों की तरह परावलम्बी बनना जन समुदाय को पसन्द है । मूढ़ मान्यताओं के बाड़े में बन्द रहना वे अधिक पसन्द करते हैं पर उस बन्धन को तोड़ निकलने में आना कानी करते हैं । उनकी स्थिति उन अन्धों की तरह होती है जिनकी घाटी में संयोगवश एक आँखों वाला चला गया ।

अन्धों की घाटी में आँखों वाला "एक व्यक्ति एक पहाड़ी अभियान से भटककर किसी अज्ञात घाटी में पहुँच गया । दिन निकलने पर उसे मालूम हुआ कि वह किसी ऐसे स्थान पर पहुँच गया है जहाँ सभी अन्धे रहते हैं । उसने पानी व भोजन माँगा व वहाँ विश्राम के लिए रुक गया । पता चला किसी राजा के अन्यायपूर्ण शासन से त्रस्त होकर वे सब एक साथ वहाँ बस गये, पर वहाँ की मिट्टी व जल में खनिज तत्व की कमी के कारण उनकी दृष्टि कम होती चली गयी व धीरे-धीरे सभी अन्धे हो गये । प्रकृति के किसी घटनाक्रम की जानकारी न होने से अन्धों की इस चौथी पीढ़ी की यह धारणा बन गयी थी कि समस्त संसार उनके गाँव तक ही

सीमित है, वह चारों ओर चट्टानों से घिरा व लम्बी चौड़ी छत से ढँका है । अजनबी ने अपनी ओर से सारे प्रयास किये-उन्हें दुनियाँ, आकाश, सूर्योदय; दृष्टि शक्ति की बातें समझाने की चेष्टा की पर इन आँखों वाले 'राजा साहब' का किसी ने जरा भी आदर न किया । उलटा वह एक निकम्मा और मूर्ख प्राणी ही समझा जाता था । उसे सुधारने के लिए गाँव में एक लड़की से विवाह करके अपने समाज में सम्मिलित करने का निश्चय किया गया तो अजनबी ने स्वीकृति तो दे दी पर उसी दिन उसने वहाँ से भाग निकलने का भी निश्चय किया । अंतिम दिन प्रातःकाल उसने पहाड़ी पर चढ़कर सूर्योदय का निरीक्षण किया तो उसे नीचे बसी अन्धों की दुनियाँ कालिमा युक्त अज्ञान से भरी जगह प्रतीत हुई । एक संकल्प के साथ वह वहाँ से निकल आया कि इस अज्ञान से जूझने के लिए एक व्यापक मोर्चा खड़ा करके इन्हें अन्तःचक्षु प्रदान करके रहूँगा ।''

आज की दुनियाँ इस अन्धों की घाटी के समान है जो अविज्ञात भय, अविवेक पूर्ण प्रचलन, अपनी ही बनायी मान्यताओं का संसार है । ऐसे कमजोरों पर हावी होने के लिए भय मात्र ही काफी होता है ।

मृत्यु का भय-अनेकों यमलोक को

एक बार यमराज ने मृत्यु को बुलाकर एक हजार मनुष्य अमुक क्षेत्र से मार लाने का आदेश दिया । मृत्यु ने वह कार्य तुर्त-फुर्त पूरा करने के लिए हैजा, प्लेग जैसे दूतों को भेज दिया । दूतों ने अपना काम मुस्तैदी से किया और कुछ ही समय में दो हजार मनुष्य यमराज के सामने प्रस्तुत कर दिये । कार्य जल्दी पूरा हुआ-इस पर तो यमराज ने प्रसन्नता व्यक्त की, पर साथ ही आश्चर्य से यह भी पूछा कि जब एक हजार मृतकों की आवश्यकता थी तो दो हजार का प्राण-हरण क्यों किया गया ? दूतों ने निश्चिंत स्वर में कहा-देव, हमने तो एक हजार ही मारे हैं । शेष तो दूसरों को मरते देखकर डर के मारे स्वयं ही मर गये हैं और पीछे-पीछे खुद ही साथ चले आये हैं ।

पेड़ पर भूत का भय

नरेन्द्र अपने मित्रों के साथ एक पेड़ पर चढ़कर खेल रहे थे । पेड़ का स्वामी उधर से निकला तो उसे इस बात की चिन्ता हुई कि ये बच्चे बार-बार नीचे चढ़ते-उतरते हैं कहीं ऐसा न हो कि असावधानी के कारण कोई गिर जाये और उसके चोट लग जाये । उस व्यक्ति को एक तरकीब सूझी, उसने उन बच्चों के अगुआ नरेन्द्र से कहा-'देखो बेटे ! तुम्हें शायद मालूम नहीं है, इस पर एक भूत रहता है । जो बच्चे उस भूत को परेशान करते हैं वह उनके हाथ-पैर तोड़ देता है । अतः मेरी सलाह यह है कि तुम सब नीचे ही खेलो ।'

भूत का नाम सुनते ही नरेन्द्र के सब साथी एक-एक कर खिसक गये । नरेन्द्र अकेला ही उस पेड़ पर खड़ा रहा और साहस के साथ बोला-'प्यारे मित्रों ! यह सज्जन झूठ बोलते हैं, देखो मैं तुम लोगों के सामने अकेला इस पेड़ पर खड़ा हूँ । यदि भूत हो तो मेरे सामने आये मैं उसका सामना करने केलिए तैयार हूँ ।' भूत नहीं आया, इस बच्चे के साहस और दृढ़ता ने उसे आगे बढ़ाया-इतना बढ़ाया कि स्वामी विवेकानन्द के नाम से उसने न केवल स्वयं यश कमाया वरन् भारत माता को भी धन्य कर दिया ।

यदि आत्मबल व अन्तर्विवेक जाग उठे तो अनीति की तरह अवांछनीयताओं से भी मोर्चा ले सकना सम्भव है । ईश्वरचन्द विद्यासागर का नाम ऐसे ही सपूतों में लिया जाता है । वे जीवन भर इसी अज्ञानान्धकार से जूझकर प्रकाश किरणें फैलाने का प्रयास करते रहे । तत्कालीन समय में उन्होंने अज्ञान निवारण हेतु स्वयं सहायता की तथा फैली मान्यताओं के विरुद्ध मोर्चा लिया । नारी स्वावलम्बन व विधवा-विवाह जैसे आन्दोलनों में प्रारम्भिक सफलता का श्रेय उन्हीं को जाता है । राजा राममोहन राय जीवन भर इसी अज्ञान से जूझते रहे । सती प्रथा जैसी कुरीति का उन्होंने बड़े व्यापक स्तर पर विरोध किया । एक ओर वे अकेले, दूसरी ओर पूरा समाज, पर उन्होंने हार न मानी । अवांछनीयता निवारण हेतु ऐसे लोकसेवी आगे आकर ही समाजोत्थान की दिशाधारा बनाते हैं ।

भ्रष्टता चिन्तनस्याथ दुष्टताचरणस्य च ।
मान्यता मोहरूपास्ता अन्धाश्चापि परम्पराः ॥ ४८ ॥
दुष्प्रवृत्तस्य एतास्तु ज्ञायतां हे मुनीश्वराः ।
आक्रामिका त्वनीतिर्या सेवं तास्तु भयंकराः ॥ ४९ ॥

मान्यता से सम्बन्ध रखते हैं । अज्ञान पढ़े-लिखों और अनपढ़ों में समान रूप से व्याप्त होता है । सुशिक्षित व्यक्ति वांछनीय-अवांछनीय में भेद कर पायें, जरूरी नहीं । सारे अन्धविश्वास एवं मूढ़ मान्यताएँ यहीं से जन्म लेती हैं एवं समाज को खोखला व व्यक्ति को दरिद्र बना देती हैं ।

अनीति प्रत्यक्ष होने, आक्रमण होने के कारण दिखाई भी पड़ जाती है पर समाज का अज्ञान और अभाव भी उतना ही त्रस्त करता है, जितना अनीति-अनाचार । सामान्यतया संघर्ष की बात सोची जाती है तो वह हिंसा, अपराध, दमन, शोषण जैसे अनाचारों के विरुद्ध ही होती है पर एक परोक्ष मोर्चा ऐसा है जो सतत् संघर्ष की, जूझने की आवश्यकता बताता है । राजसत्ता अनीति के लिए सुरक्षा व्यवस्था बनाती है पर अज्ञान, अभाव का मोर्चा तो मात्र समाज सुधारक ही सम्भाल सकते हैं जो जनहित के लिए समर्पित हों, रोग का लक्षण जानकर चिकित्सा हेतु सदैव उद्यत रहते हों ।

अज्ञान किस सीमा तक जन मानस को प्रभावित करता है, इसका परिचय प्रस्तुत आख्यानों से मिलता है ।

खाँड के साधू एक गृहस्थ तीन खाँड के खिलौने लाया जो कि तीन साधुओं की मूर्तियाँ थीं । संयोगवश उसके यहाँ तीन अतिथि भोजन करने आये । गृहस्थ ने उन्हें बड़ी श्रद्धा से बैठाया । इतने ही में गृहस्थ का एक छोटा लड़का आया वह उन खिलौनों को लेकर पूछने लगा, 'यह क्या है पिताजी !' गृहस्थ बोला-'यह साधु हैं ।' बालक ने पूछा-'इनका क्या होगा ?' गृहस्थ ने कहा-'इन्हें खायेंगे ।' लड़का बोला-'कब ?' गृहस्थ बोला-'पहले इन साधुओं को भोजन कराकर हम खाना खा लें, फिर एक-एक कर तीनों खा लेंगे ।'

गृहस्थ तो इस प्रकार अपने बालक को उन खाँड़ के खिलौनों के बारे में बतला रहा था, उधर साधुओं ने समझा कि यह बातचीत उनके बारे में चल रही है । यह समझ कर साधु उसके यहाँ से भागे, गृहस्थ को बड़ा अचरज हुआ, वह उनके पीछे भागा । वे लोग एक जगह रुके, थक गये थे, तो गृहस्थ ने उनके भागने का कारण पूछा । साधुओं ने कहा कि तुम हमें मार डालना चाहते थे, हम तुम्हारी सब बात सुन रहे थे । गृहस्थ ने कहा, 'महाराज ! मैं तो बालक से खाँड़ के खिलौनों के बारे में बातचीत कर रहा था ।' तब साधुओं की समझ में आया और वे फिर वापस उसके घर गये और भोजन किया । मन की दुर्बलता से लोग ऐसे ही डरते हैं जब कि वास्तविकता कुछ और ही होती है ।

गधों पर मछलियों का हमला किसी समय एक जंगल में गधे ही गधे रहते थे । पूरी आजादी से रहते, भर पेट खाते-पीते और मौज करते । एक लोमड़ी को मजाक सूझा । उसने मुँह लटकाकर गधों से कहा-'मैं चिंता से मरी जा रही हूँ और तुम इस तरह मौज कर रहे हो । पता नहीं ? कितना बड़ा संकट सिर पर आ पहुँचा है ?' गधों ने कहा-'दीदी, भला क्या हुआ, बात तो बताओ ।' लोमड़ी ने कहा-'मैं अपने कानों से सुनकर और आँखों से देखकर आई हूँ । मछलियों ने एक सेना बना ली है और वे अब तुम्हारे ऊपर चढ़ाई करने वाली हैं । उनके सामने तुम्हारा ठहर सकना कैसे सम्भव होगा ?'

गधे असमंजस में पड़ गये । उनने सोचा व्यर्थ जान गँवाने से क्या लाभ ? चलो कहीं अन्यत्र चलें । जंगल छोड़कर वे गाँव की ओर चल पड़े । इस प्रकार घबराये हुए गधों को देखकर गाँव के धोबी ने उनका खूब सत्कार किया । अपने छप्पर में आश्रय दिया और गले में रस्सी डालकर खूँटे से बाँधते हुए कहा-'डरने की जरा भी जरूरत नहीं । मछलियों से मैं निपट लूँगा । तुम मेरे बाड़े में निर्भयतापूर्वक रहो । केवल मेरा थोड़ा-सा बोझ ढोना पड़ा करेगा ।'

यह अज्ञान, भ्रान्तियाँ ही आज जनमानस में संव्याप्त हैं । गधों की तरह परावलम्बी बनना जन समुदाय को पसन्द है । मूढ़ मान्यताओं के बाड़े में बन्द रहना वे अधिक पसन्द करते हैं पर उस बन्धन को तोड़ निकलने में आना कानी करते हैं । उनकी स्थिति उन अन्धों की तरह होती है जिनकी घाटी में संयोगवश एक आँखों वाला चला गया ।

अन्धों की घाटी में आँखों वाला "एक व्यक्ति एक पहाड़ी अभियान से भटककर किसी अज्ञात घाटी में पहुँच गया । दिन निकलने पर उसे मालूम हुआ कि वह किसी ऐसे स्थान पर पहुँच गया है जहाँ सभी अन्धे रहते हैं । उसने पानी व भोजन माँगा व वहाँ विश्राम के लिए रुक गया । पता चला किसी राजा के अन्यायपूर्ण शासन से त्रस्त होकर वे सब एक साथ वहाँ बस गये, पर वहाँ की मिट्टी व जल में खनिज तत्व की कमी के कारण उनकी दृष्टि कम होती चली गयी व धीरे-धीरे सभी अन्धे हो गये । प्रकृति के किसी घटनाक्रम की जानकारी न होने से अन्धों की इस चौथी पीढ़ी की यह धारणा बन गयी थी कि समस्त संसार उनके गाँव तक ही

सीमित है, वह चारों ओर चट्टानों से घिरा व लम्बी चौड़ी छत से ढँका है । अजनबी ने अपनी ओर से सारे प्रयास किये-उन्हें दुनियाँ, आकाश, सूर्योदय, दृष्टि शक्ति की बातें समझाने की चेष्टा की पर इन आँखों वाले 'राजा साहब' का किसी ने जरा भी आदर न किया । उलटा वह एक निकम्मा और मूर्ख प्राणी ही समझा जाता था । उसे सुधारने के लिए गाँव में एक लड़की से विवाह करके अपने समाज में सम्मिलित करने का निश्चय किया गया तो अजनबी ने स्वीकृति तो दे दी पर उसी दिन उसने वहाँ से भाग निकलने का भी निश्चय किया । अंतिम दिन प्रातःकाल उसने पहाड़ी पर चढ़कर सूर्योदय का निरीक्षण किया तो उसे नीचे बसी अन्धों की दुनियाँ कालिमा युक्त अज्ञान से भरी जगह प्रतीत हुई । एक संकल्प के साथ वह वहाँ से निकल आया कि इस अज्ञान से जूझने के लिए एक व्यापक मोर्चा खड़ा करके इन्हें अन्तःचक्षु प्रदान करके रहूँगा ।''

आज की दुनियाँ इस अन्धों की घाटी के समान है जो अविज्ञात भय, अविवेक पूर्ण प्रचलन, अपनी ही बनायी मान्यताओं का संसार है । ऐसे कमजोरों पर हावी होने के लिए भय मात्र ही काफी होता है ।

मृत्यु का भय-अनेकों यमलोक को

एक बार यमराज ने मृत्यु को बुलाकर एक हजार मनुष्य अमुक क्षेत्र से मार लाने का आदेश दिया । मृत्यु ने वह कार्य तुर्त-फुर्त पूरा करने के लिए हैजा, प्लेग जैसे दूतों को भेज दिया । दूतों ने अपना काम मुस्तैदी से किया और कुछ ही समय में दो हजार मनुष्य यमराज के सामने प्रस्तुत कर दिये । कार्य जल्दी पूरा हुआ-इस पर तो यमराज ने प्रसन्नता व्यक्त की, पर साथ ही आश्चर्य से यह भी पूछा कि जब एक हजार मृतकों की आवश्यकता थी तो दो हजार का प्राण-हरण क्यों किया गया ? दूतों ने निश्चिंत स्वर में कहा-देव, हमने तो एक हजार ही मारे हैं । शेष तो दूसरों को मरते देखकर डर के मारे स्वयं ही मर गये हैं और पीछे-पीछे खुद ही साथ चले आये हैं ।

पेड़ पर भूत का भय

नरेन्द्र अपने मित्रों के साथ एक पेड़ पर चढ़कर खेल रहे थे । पेड़ का स्वामी उधर से निकला तो उसे इस बात की चिन्ता हुई कि ये बच्चे बार-बार नीचे चढ़ते-उतरते हैं कहीं ऐसा न हो कि असावधानी के कारण कोई गिर जाये और उसके चोट लग जाये । उस व्यक्ति को एक तरकीब सूझी, उसने उन बच्चों के अगुआ नरेन्द्र से कहा-'देखो बेटे ! तुम्हें शायद मालूम नहीं है, इस पर एक भूत रहता है । जो बच्चे उस भूत को परेशान करते हैं वह उनके हाथ-पैर तोड़ देता है । अतः मेरी सलाह यह है कि तुम सब नीचे ही खेलो ।'

भूत का नाम सुनते ही नरेन्द्र के सब साथी एक-एक कर खिसक गये । नरेन्द्र अकेला ही उस पेड़ पर खड़ा रहा और साहस के साथ बोला-'प्यारे मित्रों ! यह सज्जन झूठ बोलते हैं, देखो मैं तुम लोगों के सामने अकेला इस पेड़ पर खड़ा हूँ । यदि भूत हो तो मेरे सामने आये मैं उसका सामना करने केलिए तैयार हूँ ।' भूत नहीं आया, इस बच्चे के साहस और दृढ़ता ने उस आगे बढ़ाया-इतना बढ़ाया कि स्वामी विवेकानन्द के नाम से उसने न केवल स्वयं यश कमाया वरन् भारत माता को भी धन्य कर दिया ।

यदि आत्मबल व अन्तर्विवेक जाग उठे तो अनीति की तरह अवांछनीयताओं से भी मोर्चा ले सकना सम्भव है । ईश्वरचन्द विद्यासागर का नाम ऐसे ही सपूतों में लिया जाता है । वे जीवन भर इसी अज्ञानान्धकार से जूझकर प्रकाश किरणें फैलाने का प्रयास करते रहे । तत्कालीन समय में उन्होंने अज्ञान निवारण हेतु स्वयं सहायता की तथा फैली मान्यताओं के विरुद्ध मोर्चा लिया । नारी स्वावलम्बन व विधवा-विवाह जैसे आन्दोलनों में प्रारम्भिक सफलता का श्रेय उन्हीं को जाता है । राजा राममोहन राय जीवन भर इसी अज्ञान से जूझते रहे । सती प्रथा जैसी कुरीति का उन्होंने बड़े व्यापक स्तर पर विरोध किया । एक ओर वे अकेले, दूसरी ओर पूरा समाज, पर उन्होंने हार न मानी । अवांछनीयता निवारण हेतु ऐसे लोकसेवी आगे आकर ही समाजोत्थान की दिशाधारा बनाते हैं ।

भ्रष्टता चिन्तनस्याथ दुष्टताचरणस्य च ।
मान्यता मोहरूपास्ता अन्धाश्चापि परम्पराः ॥ ४८ ॥
दुष्प्रवृत्तस्य एतास्तु ज्ञायतां हे मुनीश्वराः ।
आक्रामिका त्वनीतिर्या सेवं तास्तु भयंकराः ॥ ४९ ॥

विनाशलीलाः कुर्वन्ति ये चाक्रान्तार एव ते ।
व्यक्तित्वादथ शक्यन्ते ग्रहीतुं च नियन्त्रितुम् ॥ ५०॥
दुष्प्रवृत्तय एतास्तु स्वभावे मानवस्य हि ।
प्रविष्टा नैव दृश्यन्ते नैव दुन्वन्ति चाप्यलम् ॥ ५१॥
कठोरप्रतिरोधस्य सामुख्यं नैव कुर्वते ।
संघर्षशीलताक्षेत्रमत्यन्तं व्यापकं मतम् ॥ ५२॥

टीका-चिन्तन की भ्रष्टता, आचरण की दुष्टता, मूढ़-मान्यताएँ, अन्ध-परम्पराएँ जैसी दुष्प्रवृत्तियाँ भी आक्रामक अनीति की तरह ही भयावह होती और विनाशलीला रचती हैं । आक्रमणकारी व्यक्ति होने से वे सहज ही पकड़े और दबाये भी जा सकते हैं । दुष्प्रवृत्तियाँ मनुष्य के स्वभाव में घुसी होने के कारण दीखती भी नहीं, अखरती भी नहीं और कड़े प्रतिरोध का सामना करने से भी बची रहती हैं । संघर्षशीलता का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है ॥ ४८-५२॥

व्याख्या-जो हानि परोक्ष है, चर्म चक्षुओं से दिखाई नहीं देती इसलिए हानि नहीं लगती । वैयक्तिक दुश्चिन्तन और उससे प्रेरित दुर्व्यवहार तथा अविवेक पूर्ण प्रचलन उतने ही भयंकर हैं जितने कि व्यापक स्तर पर हिंसक आक्रमण । अज्ञान-अभाव जन्य ये दुष्प्रवृत्तियाँ घुन की, दीमक की तरह समाजरूपी भवन को निरन्तर धीरे-धीरे नष्ट करती रहती हैं । ऊपर से भले ही समाज विकास की दिशा में बढ़ता दिखाई दे, पर ये परोक्ष दुष्प्रवृत्तियाँ जितनी आर्थिक, सामाजिक, नैतिक हानि समाज को अब तक पहुँचा रही हैं, उसकी गणना आँकड़ों में नहीं की जा सकती ।

सतीत्व हरण, पर्दा प्रथा, विवाह में अपव्यय-प्रदर्शन, अंधविश्वास-भूतपलीत, ओझागिरी, झाड़-फूँक, नशाखोरी, फिजूलखर्ची, फलित ज्योतिष, बेईमानी, मिलावट, रिश्वतखोरी आदि ऐसी दुष्प्रवृत्तियाँ हैं जो व्यक्ति, परिवार, समाज से सीधे सम्बन्ध रखती हैं । इनसे संघर्ष भी उसी व्यापक स्तर पर लिया जाना चाहिए जैसा कि प्रत्यक्ष अपराधों के विरुद्ध लिया जाता है । ये प्रचलन किस प्रकार जन्म लेते हैं इनका कारण जानने पर क्षोभ तो होता ही है, हँसी भी आती है ।

मरी बिल्ली का दस्तूर

एक बार एक विवाह के समय जब वहाँ बहुत मिष्ठान्न, पकवान बन रहे थे, तब घर की पालतू बिल्ली ने ऊधम मचाया । हर चीज में मुँह डाल देती और जूठा कर देती । घर की मालकिन ने उसे पकड़ कर नाद के नीचे बन्द कर दिया । फिर वह काम में लग गई । कई रोज काम में व्यस्त रहने के कारण उसे बिल्ली को निकालने की बात याद न रही और वह उसी में दबकर मर गई ।

बारात जब लौटकर आई और बहू ने घर में प्रवेश किया उस समय घर-मालकिन को बिल्ली की याद आई । उसे निकाला गया तो मरी मिली । उसे फिकवाया गया । नई बहू यह सब देख रही थी । उसने समझ लिया कि इस घर की यही परम्परा है । बाद में जब उसका बच्चा हुआ और उसके बड़े होने पर बारात गई और नई बहू आई तो उसने भी एक बिल्ली पकड़कर उसे नाँद के नीचे बन्द किया और जब वह मर गई तो ठीक उसी समय जब नई बहू ने घर में प्रवेश किया-उस बिल्ली को फिकवाया । जो उसने देखा था उसे कुल परम्परा समझा और उसी का पालन करने में अपना धर्म या कर्तव्य समझा ।

आजकल ऐसी ही कई अन्ध-परम्परायें फैली हैं । जिनका कारण मालूम ही नहीं है और पता लगाया जाय तो उनका कारण बिना समझे-बूझे किया गया अनुकरण ही सिद्ध होगा । क्या उपयोगी है क्या अनुपयोगी, इस पर विचार किये बिना क्रम चलता रहता है व भेड़ों की तरह सब उसका अन्धानुकरण करते चले जाते हैं ।

सुनसान में सैनिक की ड्यूटी

एक राज्य में एक अतिथि आये । उन्होंने देखा एक निर्जन स्थान पर एक सैनिक खड़ा है । वह दस कदम चलता है और उसी परिधि में पहरा देता है । उन्होंने राजा साहब से पूछा-'यहाँ कोई विशेष बात है जो २४ घण्टे एक प्रहरी यहाँ रहता है ।' उन्हें भी कुछ मालूम नहीं था । उन्होंने मन्त्री से, मन्त्री ने सेनापति से, उसने कोतवाल से तथा अन्त में प्रहरियों के नायक से पूछा गया । उन्होंने

जब गहराई में जाकर पता लगाया तो ज्ञात हुआ ९० वर्ष पूर्व अर्थात् राजा साहब की तीन पीढ़ियों पूर्व यहाँ एक राजकुमारी गिर गयी थी । उसे अभिशप्त स्थान मानकर एक प्रहरी की स्थायी नियुक्ति कर दी गयी ताकि राजगृह का कोई व्यक्ति उधर जाने न पाये । तभी से सतत यह प्रहरी का क्रम चल रहा है एवं एक से दूसरी, दूसरी से तीसरी पीढ़ी में स्थानांतरित होता रहा है । इस अविवेक पूर्ण प्रचलन को राजा साहब ने तुरन्त बन्द करवाया व अपने तथा पूर्वजों के अविवेक के कारण दुःखी भी बहुत हुए ।

अंधानुकरण की पराकाष्ठा

एक पण्डितजी के पड़ौस में एक गधा रहता था । जब पण्डितजी पूजा के समय शंख बजाते तो गधा भी चिल्लाने लगता । एक दिन पता चला गधा मर गया है सो पण्डितजी ने उसकी स्मृति में बाल मुड़वा दिये । शाम को वे बनिये की दुकान पर सौदा लेने गये । बनिये को जिज्ञासा हुई-'महाराज ! आज यह सिर घुटमुण्ड कैसा ?' 'अरे भाई शंखराज की इहलीला समाप्त हो गई ।'

बनिया पंडित का यजमान था, उसने भी अपना सिर घुटा लिया । बात जहाँ फैलती गई, लोग अपने सिर घुटाते रहे । छूत बड़ी खराब होती है । एक सिपाही बनिये के यहाँ आया उसने तमाम गाँव वालों को सिर मुड़ाते देखा-पता चला कि शंखराजजी महाराज नहीं रहे, तो उसने भी सिर घुटाया । धीरे-धीरे सारी फौज सिर-सपाट हो गई । अफसरों को बड़ी हैरानी हुई । उन्होंने पूछा-'भाई क्या बात हुई ।' पता लगाते-लगाते पंडितजी के मकान तक पहुँचे और जब मालूम हुआ कि शंखराज कोई गधा था, तो मारे शर्म के सबके चेहरे झुक गये ।

पितामह की समाधि

हममें से अधिकांश या तो इस अज्ञानवश अन्धानुकरण की प्रवृत्ति अपनाते हैं अथवा ऐसा आडम्बर रचते हैं मानों दिखावे, प्रदर्शन में ही हमारी शान है । अज्ञानियों के लिए तो वह प्रभावशाली भी हो सकती है पर विवेकशील समझते हैं और ऐसे प्रदर्शनों से प्रभावित नहीं होते ।

एक था बन्दर और एक था सियार । दोनों में बड़ी मैत्री थी । एक दिन दोनों वन-विहार के लिए निकले । वे जिस रास्ते से चले उसमें एक कब्रिस्तान पड़ता था । एक कब्र के पास पहुँचकर बन्दर ने उसे साष्टांग दण्डवत् प्रणाम किया और आँखें मूंदकर कुछ स्तुति भी करने लगा । उसका ख्याल था कि ऐसा उसे करते देखकर सियार बहुत प्रभावित होगा और उसकी विद्वत्ता का लोहा मानेगा ।

लेकिन सियार ने कुछ और ही समझा । उसे लगा कि बन्दर को कोई बीमारी हो गयी है । उसने पूछा-'पेट दर्द कर रहा है क्या ? तुम खड़े-खड़े क्या कर रहे हो ?'

बन्दरजी खीझे तो पर अपनी नाराजी भीतर ही पचाते हुए बोले-'तुझे मालूम नहीं, यह समाधि मेरे पितामह की है । मैं उनके उत्कृष्ट ज्ञान, बल, पौरुष और कला-कौशल का गुणानुवाद कर रहा हूँ जिससे मैं भी वैसा ही बनूँ ।

बन्दर ने अपनी शब्द रचना में सारा जोर इसलिए लगाया कि इस बार सियार उसकी इस श्रद्धा-भक्ति की दाद देगा पर सियार ने हँसते हुए कहा-'जो जी में आये कहो मित्र ! तुम्हारे पितामह यहाँ कोई बैठे तो हैं नहीं जो सत्यासत्य का निर्णय दे सकें ।'

बन्दर को अपने दिखावे पर बड़ा दुःख हुआ । उसने फिर कभी वैसा प्रपंच न रचने का संकल्प लिया और प्रायश्चित के लिए एकान्त में चला गया ।

स्वामी दयानन्द ने कहा था-'जाति-पाँति इसी रूप से बनी रही जैसी कि आज है, तो उससे देश कमजोर ही होता जायगा । भारत की एकता को नष्ट करने और पतन के गर्त में धकेलने का अधिकांश दोष इसी कुप्रथा का है । हमारा लक्ष्य ऐसे समाज का निर्माण करने का होना चाहिए जिसमें सबको समान अवसर, न्याय और सम्मान प्राप्त हो सके ।'

अकबर और गुरु अमरदास

अमरदास सिख सम्प्रदाय के तृतीय गुरु थे, उन्होंने अपने अनुयायियों के सामूहिक लंगर में भोजन करने की प्रथा का सूत्र-पात किया । उन दिनों हिन्दुओं में ऊँच-नीच, बड़े-छोटे का भाव अत्यधिक विकृत रूप धारण कर चुका था । गुरु अमरदास की धारणा थी कि इस प्रथा से मनुष्य-मनुष्य के बीच ऊँच-नीच की खाई पटेगी । इसलिए ही उन्होंने अपने अनुयायियों को इस प्रथा से बाँध दिया था ।

उनकी विद्वता और गौरव से प्रभावित होकर एक दिन अकबर उनसे मिलने गया । अधिकारियों ने उन्हें सूचना दी-'शहंशाह अकबर आपके दर्शन करना चाहते हैं ।' अमरदासजी ने संदेश भेजा कि यहाँ सब नागरिक समान

हैं, एक ही ईश्वर के पुत्र, भाई-भाई हैं । भाइयों-भाइयों में भेद नहीं होता । अकबर यहाँ आ सकते हैं पर एक शहंशाह की तरह नहीं सामान्य नागरिक की तरह । यदि वे यहाँ आकर सब आश्रमवासियों के साथ बैठकर भोजन करने को तैयार हों तो प्रसन्नतापूर्वक आ सकते हैं ।

शहंशाह ने वैसा ही किया तब कहीं गुरु के दर्शन पा सके और उनके सत्संग का लाभ लिया ।

एकं क्षेत्रं चिन्तनस्य व्यक्तिगस्य मतं तथा ।
स्वभावाचरणाभ्याससम्मनानां च विद्यते ॥ ५३॥
पशुवृत्तेः संचिता ये कुसंस्कारास्त एषु हि ।
क्षेत्रेषु दृढमूलाश्च स्थिताःसूक्ष्मेक्षिकाबलात् ॥ ५४॥
अन्विष्यैतांस्तथा हानीरितेषामनुमाय च ।
निरस्तुं योजनायोगः सुसंस्कारो विपक्षकः ॥ ५५॥
यस्तस्य स्थापनामाद्यं पदं प्रगतिशालिनी ।
धर्मनिष्ठा तु या तस्या जगद्वश्यं जितात्मनः ॥ ५६॥

टीका-एक क्षेत्र अपने चिन्तन, स्वभाव, चरित्र, अभ्यास एवं सम्मान का है । पशु प्रवृत्तियों के संचित कुसंस्कार इन्हीं क्षेत्रों में अपनी जड़ें जमाये बैठे रहते हैं । इनको बारीकी से ढूँढ़ना, उनकी हानियों का अनुमान लगाना, निरस्त करने की योजना बनाना, प्रतिद्वन्द्वी सुसंस्कारिता की स्थापना करना प्रगतिशील धर्मनिष्ठा का प्रथमचरण है । जो अपने अन्तः को जीतता है, वही बाह्य संसार को जीत सकता है ॥ ५३-५६ ॥

व्याख्या-प्रज्ञा सत्र के प्रथम चार प्रकरणों में महाप्राज्ञ अंतर्जगत का पर्यवेक्षण, आत्म निर्माण, अंतःक्षेत्र का समर-इन पक्षों पर चर्चा कर चुके हैं, उसी का उल्लेख करते हुए कहते हैं कि संघर्ष अपने से आरम्भ होता है । पहले अपने ही चिंतन में, संचित संस्कारों एवं अभ्यास के कारण प्रविष्ट सभी दुष्प्रवृत्तियों से मोर्चा लेना पड़ता है । अपने प्रति कठोरता और चिंतन का परिष्कार ही बहिरंग जगत के लिए कार्य कर सकने हेतु आत्मबल जुटाता है । लोकसेवी परिष्कार का कार्य अपने अंतः से प्रारंभ करते हैं फिर उसे व्यावहारिक जगत पर आरोपित करते हैं ।

गुड़ छोड़कर-बालक को समझाया

एक बालक मिठाई बहुत खाता था, उसकी यह आदत उसके स्वास्थ्य को बिगाड़ रही थी । बालक मानता नहीं था । निदान के लिए उसकी माता उसे रामकृष्ण परमहंस की शिक्षा का अधिक प्रभाव पड़ने की आशा से उनके पास ले गई और प्रार्थना की कि आप इसे उपदेश देकर मिठाई खाना छुड़ा दें । परमहंस ने उसे एक सप्ताह बाद आने को कहा । महिला चली गई । एक सप्ताह बाद आई, तब उन्होंने बालक को उपदेश दिया और उसने मिठाई छोड़ भी दी ।

महिला ने एक सप्ताह विलम्ब लगाने का कारण पूछा तो परमहंस ने कहा-'तब तो मैं मिठाई स्वयं खाता था । जब बालक को उपदेश देना आवश्यक प्रतीत हुआ तो पहले मैंने स्वयं मिठाई छोड़ी तब बालक को कहा । जो स्वयं करता है, उसी की शिक्षा का प्रभाव भी पड़ता है ।'

चरित्र सुधार से सेवा प्रारंभ

एक महत्वाकांक्षी युवक ने समाज सेवा का व्रत लिया । अपनी सुधारात्मक योजनाओं को वह संत तिरुवल्लुवर को सुनाने लगा तथा संत से राय माँगी । संत तिरुवल्लुवर बोले-'सर्वप्रथम तुम अपने चिंतन, चरित्र और स्वभाव को पवित्र बनाओ । इसके बिना कोई श्रेष्ठ योजना सफल नहीं हो सकती ।'

प्रौढ़ बनाम ओछे

लोक सेवियों को संदेश देते हुए विवेकानन्द कहते थे-

"कुसंस्कारों के परिशोधन से ही व्यक्तित्व प्रौढ़ बनता है । विचारों की प्रौढ़ता, दृष्टिकोण की परिपक्वता ही मानव जीवन की वह विशेषता है जिसे उपलब्ध करने पर व्यक्तित्व प्रतिभाशाली बनता है और बड़ी सफलताएँ प्राप्त कर सकने की सम्भावना सुनिश्चित होती है । ओछे मनुष्य वे नहीं जो वचन,

लम्बाई या आयु की दृष्टि से छोटे हैं । जिनकी विचारणा तथा आकांक्षा उथली और बचकानी है, जो गये-गुजरे लोगों की तरह सोचते और घटिया आकांक्षाएँ पूरी करने के लिए ओछे हथकंडे अपनाते हैं, उन्हें कोई चतुर भले ही कह ले, पर वस्तुत: वे व्यक्तित्व की दृष्टि से बौने, अपंग, अविकसित लोगों की श्रेणी में ही माने जा सकेंगे ।''

साधु आत्मानन्द की शालीनता

परीक्षा तो सुधारकों, संतों की होती ही है पर वह भी परोक्षत: उनके हित में ही जाती है॥

साधु आत्मानन्द की कुटिया गाँव के पास ही थी । प्राय: प्रतिदिन सायंकाल ग्रामीण लोग उनके पास जाते और धर्म-चर्चा का लाभ प्राप्त करते । जब संध्या भजन का समय आता गाँव के दो नटखट लड़के आ धमकते और कहते-'महात्मन् ! आपसे ज्ञान प्राप्त करने आये हैं । फिर शुरू करते गप्पें । बीच-बीच में साधु को चिढ़ाने, गुस्सा दिलाने वाली बातें भी करते जाते । उनका तो मनोरंजन होता पर आत्मानन्द का भजन-पूजन का समय निकल जाता । यह क्रम महीनों चलता रहा, पर साधु एक दिन भी गुस्सा नहीं हुए । बालक के साथ बात करते हुए आप भी हँसते रहते ।

बहुत दिन बाद भी जब वे नटखट लड़के उन्हें क्रुद्ध न कर सके तो उन्हें अपने आप पर क्षोभ हुआ । उन्होंने क्षमा माँगते हुए पूछा-'महात्मन् ! हमने जान-बूझकर आपको चिढ़ाने का प्रयत्न किया फिर भी आप न कभी खीझे, न क्रुद्ध हुए ।' आत्मानन्द ने हँसते हुए कहा-'वत्स ! यदि मैं ही क्रुद्ध हो जाता तो आप सबको सिखा क्या पाता ?'

प्रगति के प्रयास में कटु न बनें

नदी तट पर एक पंडितजी रहते थे । उनका स्वभाव बड़ा सौम्य और मिलनसार था । मेहनत और ईमानदारी से उनका जीवन सुख से चल रहा था । एक दिन पंडितजी को आत्मा की खोज की इच्छा पैदा हुई । धीरे-धीरे ऐसा रंग चढ़ा कि वह दुनियाँ के कामों से विमुख होकर आत्मा की खोज में लग गये । घर में कोई काम होता तो घर वालों को झिड़क देते । बात-बात पर उन्हें गुस्सा आने लगा । रात-दिन उन्हें आत्मा की खोज की धुन सवार रहती । इससे उनके पारिवारिक सम्बन्धों में कटुता आ गई । धीरे-धीरे उन्हें अनुभव होने लगा कि उनका जीवन नरकमय होता जा रहा है । एक दिन रात में पंडितजी ध्यान में लीन थे कि उनकी आत्मा के अंधकार में प्रकाश फैला और सुना-'पंडित, तुम गलत राह पर जा रहे हो । जीवन में कटुता से बढ़कर कोई बुराई नहीं है । आत्मा तो तुम्हारे अन्दर ही है । उसे खोजने तुम बाहर क्यों भटक रहे हो ? जीवन में शांति, सौम्यता और मधुर सम्बन्ध ही आत्मा के लक्षण हैं ।'

परिशोधन का अर्थ है-मन की पवित्रता तथा अन्त:करण को दुर्भावनाओं से रहित करना । इसी लक्ष्य के लिए विविध साधनात्मक स्थूल उपचार किये जाते हैं । भीतरी पवित्रता का उद्देश्य यदि पूरा न हुआ तो बाह्य कर्मकाण्डों का कुछ विशेष लाभ नहीं मिल पाता ।

कुछ ब्राह्मण गंगा स्नान करने को आये थे । पानी बहुत गहरा था जिससे धारा में उतर कर स्नान करने में उन्हें डर लग रहा था । उनके पास कोई पात्र नहीं था जिससे पानी लेकर वे नहाते । सभी बड़े असमंजस में थे । उसी तट पर संत कबीरदास जी भी स्नान कर रहे थे । उन्होंने अपना लोटा माँजकर एक व्यक्ति को देते हुए कहा-''इसे इन लोगों को दे दो, बेचारे स्नान कर लेंगे । इनके पास कोई पात्र नहीं है ।''

यह सुनकर सभी ब्राह्मण एक दम चिल्ला उठे 'नही भाई ! इस जुलाहे का लोटा लेकर हमें अपवित्र नहीं होना है, इसे हमारे पास न लाओ ।' कबीर बोले-'क्यों भाइयो ! जब यह लोटा भी कई बार मिट्टी लगाकर साफ करने पर इस गंगा जल से पवित्र नहीं हुआ तो दुर्भावनाओं से भरे इस मानव शरीर की पवित्रता कैसे होगी स्नान से ?' सभी ब्राह्मण एक दूसरे का मुँह देखने लगे, उत्तर उन्हें कुछ भी न सूझ पड़ा ।

मुझसे बुरा न कोय संत कबीर आत्म चिंतन एवं दुष्प्रवृत्ति उन्मूलन पर एक दोहा कहा करते थे-

बुरा जो देखन मैं चला-बुरा न दीखा कोय । जो दिल खोजा आपना-मुझसा बुरा न कोय ॥

वस्तुत: यही स्थिति हर व्यक्ति की होनी चाहिए । अपना अन्त: खोजें, बुराई निकाल फेंके । एक-एक व्यक्ति भी यह करने लगे तो धीरे-धीरे व्यक्ति व फिर पूरा समाज बदल सकता है ।

कुटुम्बं तनुरिवैतत् स्नेहस्तस्मै तु दीयताम् ।
प्रगते: पोषणस्यापि साधनादि च दीयताम् ॥ ५७॥

ध्यानमुत्तरदायित्वे दीयतां ते भवन्तु हि ।
सुयोग्याश्च समर्थाः सुसंस्काराः स्वावलम्बिनः ॥ ५८ ॥
एतदर्थं कुटुम्बस्य पारम्पर्यक्रमे मुने ।
अपेक्ष्यं भवतीहैतत्परिवर्तनमप्यलम् ॥ ५९ ॥
अस्मै नम्रस्य मन्दस्य सौहार्दभरितस्य च ।
विरोधशोधनस्यास्ति महत्वमिति मन्यताम् ॥ ६० ॥
मोहाद् ये न करिष्यन्ति नरा एतद्धि निश्चितम् ।
स्नेहिनः परिवारस्य तेऽहितं साधन्त्यहो ॥ ६१ ॥

टीका-शरीर की तरह परिवार भी है । परिजनों को दुलार भी दिया जाय और पोषण प्रगति के साधन जुटाने में भी कमी न रखी जाय, किन्तु इस उत्तरदायित्व को भी ध्यान में रखा जाय कि उनमें से प्रत्येक को सुयोग्य, समर्थ, स्वावलम्बी एवं सुसंस्कारी भी बनाना है । हे मुने ! इसके लिए परिवार के परम्परागत ढर्रे में बहुत कुछ परिवर्तन करना पड़ सकता है । इसके लिए धीमे, विनम्र एवं सौहार्द्रपूर्ण विरोध, सुधार की आवश्यकता पड़ेगी ही । जो मोहवश इससे बचेंगे वे स्नेह-पात्र परिजनों का निश्चित ही अहित करेंगे ॥ ५७-६१ ॥

व्याख्या-जब आदमी स्वयं लोभ, मोह, अहंता जैसे बंधनों से छुटकारा पाने में पूरी शक्ति लगा देता है तब उसे निश्चित ही सफलता मिलती है । पर यह क्षेत्र परिवार निर्माण बिना अधूरा ही है । परिवार जनों से मोह अलग बात है, उनका हित साधन अलग । परिवार के प्रति एक आँख दुलार व एक आँख सुधार की रखी जाय । अपनी प्रमुख जिम्मेदारी है-परिवार परिजनों में सुसंस्कारिता का समावेश । इसमें एक बहुत बड़ी अड़चन आती है-बहुत समय से चला आ रहा ढर्रा, जिसमें आमूलचूल परिवर्तन अकस्मात लाना दुष्कर जान पड़ता है । इसे किसी भी स्थिति में सुधारपरक नीति बनाकर किया ही जाना चाहिए । जब आदमी का सुधार धीरे-धीरे होता है तो परिवार में बीजारोपण कर उसे वृक्ष बनते देखने में चमत्कारी प्रतिफल की आशा नहीं करना चाहिए ।

पिता को भविष्य की झाँकी दिखाई

बालकों को सुधारना तभी सम्भव है जब स्वयं भी अपना आचरण उस अनुसार ढालें । एक व्यक्ति अपने बूढ़े असक्त पिता को मिट्टी के बर्तन में तिरस्कारपूर्वक भोजन दिया करता था । उस व्यक्ति का एक छोटा-सा बच्चा भी था । उसने अपने खेलने के स्थान पर टूटे-फूटे मिट्टी के बर्तन जमा करने शुरू कर दिये । पिता ने इसका कारण पूछा तो बच्चे ने कहा-'आप और माताजी जब बूढ़े होंगे तब मुझे भी तो इसी तरह टूटे बर्तनों में आप लोगों को भोजन देना पड़ेगा । सो अभी से बर्तन इकट्ठे कर रहा हूँ ।' उस व्यक्ति की आँखें खुलीं और सम्मानपूर्वक माता-पिता को भोजन देना आरम्भ कर दिया ताकि बुढ़ापे में उसे भी वैसा ही असम्मान न सहना पड़े । जो पुरुष या स्त्रियाँ अपने आश्रित जनों के साथ उपेक्षा अथवा अपमान का व्यवहार किया करते हैं या बड़ी आयु के वृद्ध व्यक्तियों को निकम्मा समझकर उनके प्रति दुर्व्यवहार करते हैं, उनको भी अन्त में दुःखदायी परिणाम सहन करना पड़ता है ।

मोहवश कई माता-पिता बच्चों की उचित-अनुचित बातों को मान लेते हैं ? वे एक प्रकार से बच्चे का अहित ही करते हैं । अनुचित माँगों को कभी भी नहीं स्वीकार किया जाना चाहिए । साथ ही बच्चे में अहमन्यता को बढ़ाने वाले चिंतन पर भी रोकथाम लगानी चाहिए ।

कड़ुवा राजकुमार

ऐसी बात नहीं कि व्यक्ति को सुधारा नहीं जा सकता । पशु प्रवृत्तियों से मुक्ति दिलाने के लिए कभी-कभी सत्परामर्श कारगर सिद्ध हो जाते हैं ।

एक राजकुमार बड़ा अत्याचारी था । राजा ने इस दुर्बुद्धि को सुधारने की बड़ी कोशिश की, लेकिन वह नहीं सुधरा । बुद्ध उसे सुमति देने के लिए स्वयं उनके पास गये । वे उसे नीम के एक पौधे के पास ले गये और बोले, 'राजकुमार ! इस पौधे का एक पत्ता चखकर तो बताओ कैसा है ?' राजकुमार ने पत्ता तोड़कर चखा । उसका मुँह कड़वाहट से भर उठा । उसे तुरन्त थूककर उसने नीम का पौधा ही जड़ से उखाड़ फैंका ।

बुद्ध ने पूछा-'राजकुमार ! यह तुमने क्या किया ?' राजकुमार ने उत्तर दिया-'यह पौधा अभी से ऐसा कड़वा है, बढ़ने पर तो पूरा विष-वृक्ष ही बन जायेगा । ऐसे विषैले पेड़ को जड़ से उखाड़ फेंकना ही उचित है ।' बुद्ध ने गम्भीर वाणी में कहा-'राजकुमार ! तुम्हारे कटु व्यवहार से पीड़ित जनता भी यदि तुम्हारे प्रति ऐसी ही नीति से काम ले तो तुम्हारी क्या गति होगी ? यदि तुम फलना-फूलना चाहते हो तो उदार, दयावान और लोकप्रिय बनो ।'

उसी दिन से राजकुमार ने बुराई की राह छोड़ भलाई का मार्ग अपना लिया ।

कलाकार पिता-पुत्र

एक मूर्तिकार ने बेटे को भी मूर्ति-कला ही सिखाई । दोनों हाट में जाते और अपनी-अपनी मूर्तियाँ बेचकर आते । बाप की मूर्ति डेढ़ रुपये की बिकती पर बेटे की मूर्तियों का मूल्य केवल आठ-दस आने से अधिक न मिलता । हाट से लौटने पर बेटे को पास बिठाकर बाप उसकी मूर्तियों में रही हुई त्रुटियों को समझाता और अगले दिन उन्हें सुधारने के लिए समझाता । यह क्रम वर्षों तक चलता रहा । लड़का समझदार था, उसने पिता की बातें ध्यान से सुनीं और अपनी कला में सुधार करने का प्रयत्न करता रहा ।

कुछ समय बाद लड़के की मूर्तियाँ भी डेढ़ रुपये की बिकने लगीं । बाप अब भी उसी तरह समझाता और मूर्तियों में रहने वाले दोषों की ओर उसका ध्यान खींचता । सुधार के लिए समझाने का क्रम बाप ने तब भी बन्द न किया । एक दिन बेटे ने झुँझला कर कहा-'आप तो दोष निकालने की बात बन्द ही नहीं करते । मेरी कला अब तो आप से भी अच्छी है, मुझे पाँच रुपये मिलते हैं जब कि आपको दो ही रुपये ।'

बाप ने कहा-'पुत्र ! जब मैं तुम्हारी उम्र का था तब मुझे अपनी कला की पूर्णता का अहंकार हो गया और फिर सुधार की बात सोचना छोड़ दिया । तब से मेरी प्रगति रुक गई और दो रुपये से अधिक की मूर्तियाँ न बना सका । मैं चाहता हूँ वह भूल तुम न करो । अपनी त्रुटियों को समझने और सुधारने का क्रम सदा जारी रखो ताकि बहुमूल्य मूर्तियाँ बनाने वाले श्रेष्ठ कलाकारों की श्रेणी में पहुँच सको ।'

विधवा के रत्न-पुत्र

महर्षि कपिल प्रतिदिन गंगा स्नान के लिए जाया करते थे । मार्ग में एक गाँव पड़ता था । कृषक लोग उसमें रहा करते थे । जिस रास्ते से महामुनि जाया करते थे, उसमें एक विधवा ब्राह्मणी की भी झोंपड़ी पड़ती थी । महामुनि जब भी उधर से निकलते विधवा या तो चर्खा कातते मिलती या धान कूटते । पूछने पर पता चला कि उसके अतिरिक्त घर में आजीविका चलाने वाला और कोई है नहीं, सारे परिवार का भरण-पोषण उसी को करना पड़ता है ।

मुनि कपिल को उसकी इस अवस्था पर दया आई । उन्होंने उसके पास जाकर कहा-"भद्रे ! मैं इस आश्रम का कुलपति हूँ । मेरे पास कई शिष्य राज्य-परिवारों से सम्बन्ध रखते हैं, तुम चाहो तो तुम्हारे लिए आजीविका की स्थायी व्यवस्था कराई जा सकती है । तुम्हारी असहाय अवस्था मुझसे देखी नहीं जाती ।"

ब्राह्मणी ने आभार व्यक्ति करते हुए कहा-'देव ! आपकी इस दयालुता के लिए हार्दिक धन्यवाद । किन्तु आपने पहचानने में भूल की, न तो मैं असहाय ही हूँ और न ही निर्धन । आपने देखे नहीं, मेरे पास पाँच ऐसे रत्न हैं, जिनसे चाहूँ तो मैं स्वयं राजाओं जैसा जीवन प्राप्त कर सकती हूँ । मैंने उसकी आवश्यकता अनुभव नहींकी इसलिए वह पाँच रत्न सुरक्षित रखे हैं ।'

कपिल बड़े आश्चर्य चकित हुए, उन्होंने पूछा-"भद्रे ! अनुचित न समझें तो वह रत्न कृपया मुझे भी दि जायें । देखूँ तो तुम्हारे पास कैसे रत्न हैं ।" ब्राह्मणी ने आसन बिछा दिया-"आप थोड़ी देर बैठें, अभी रत्न दिखाती हूँ ' यह कहकर ब्राह्मणी पुनः चर्खा कातने लगी । थोड़ी देर में उसके पाँच बेटे विद्यालय से लौटकर आये । उन्होंने माँ के पैर छूकर कहा-"माँ ! हमने आज भी किसी को कटु वचन नहीं कहा, गुरुदेव ने जो सिखाया और बताया उसे परिश्रमपूर्वक पूरा किया है ।"

कपिल मुनि से और कुछ कहने की आवश्यकता नहीं पड़ी, उन्होंने ब्राह्मणी को प्रणाम कर कहा-"भद्रे ! सचमुच तुम्हारे पाँच रत्न बहुमूल्य हैं । ऐसे अनुशासित बच्चे जिस देश में हों, वह कभी अभाव ग्रस्त नहीं रह सकता ।"

सफल व असफल माताएँ

परिवार में सत्प्रवृत्ति समावेश करने में नारी की भूमिका बहुत बड़ी है । मदालसा ने अपने तीन बच्चों को ब्रह्मज्ञानी व एक को पति की इच्छानुसार राजतन्त्र का अग्रगामी बनाया । बिनोवा, बिठोवा, बालकोबा रूपी तीन रत्न माँ के सुसंस्कारों की ही देन है । यशोदा नटखट कृष्ण के

लिए सुधार व दुलार दोनों दृष्टि रखती थीं । महाभारत के पात्रों में सफल माता के रूप में जहाँ कुन्ती का नाम आता है वहाँ असफल माता-पिता के रूप में गांधारी व धृतराष्ट्र का भी जिन्होंने अपने बेटों की अनीति पर अंकुश न लगाकर मोहवश उसे बढ़ाया ही ।

सामाजिकेषु बाहुल्यं कुरीतीनां विधिष्वलम् ।
भवत्येव तथैकस्य कालस्य रीतयो मुने ॥ ६२ ॥
अयोग्या अपरे काले हानिदाश्चापि संमताः ।
जीर्णतायां वरो मान्यो नरो रुग्णः श्लेथो भवेत् ॥ ६३ ॥
रीतीनां विषयेऽप्येवं जीर्णोद्धार इव क्रमः ।
संशोध्या या अथ त्याज्यास्त्याज्याः साहसपूर्वकम् ॥ ६४ ॥

टीका-सामाजिक प्रचलनों में कुरीतियों की भरमार रहती है । एक समय की प्रथायें दूसरे समय में अनावश्यक ही नहीं, हानिकारक भी बनती रहतीं हैं । जीर्णता आने पर अच्छा खासा मनुष्य भी अस्त व्यस्त और रुग्ण रहने लगता है । प्रचलनों के सम्बन्ध में भी यही बात है । जिन्हें सुधारना, बदलना आवश्यक हो उन्हें टूट-फूट की मरम्मत करने की तरह साहसपूर्वक बदल ही देना चाहिए ॥ ६२-६४ ॥

व्याख्या-परम्पराएँ सामयिक होती हैं, शाश्वत नहीं । समयानुसार उनकी उपयोगिता-अनुपयोगिता पर ध्यान रख सुधारक उनमें काट-छाँट करते हैं और समाज का कायाकल्प करते हैं । जीर्ण भवन शीघ्र धराशायी होता है । समाज में आज जो परम्पराएं घुसी पड़ी हैं, वे भी इसी प्रकार उसे जीर्ण-शीर्ण बना रही हैं । उन्हें समय-समय पर गौतम बुद्ध, आद्य शंकराचार्य, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, शरतचन्द्र, राजा राममोहनराय, स्वामी दयानन्द, महामना मालवीय जैसे अवतारी पुरुषों व सुधारक, शूरवीरों ने आ-आ कर सुधारा है व गलाई-ढलाई का उपक्रम अपना कर समाज को नयी दिशा दी है ।

नारी अधिकार का निर्णय

एक बार काशी विश्वविद्यालय में स्त्रियों को वेदाध्यन का अधिकार है या नहीं-इस पर हिन्दू संस्कृति के महाप्राण पं० मदनमोहन मालवीय ने विद्वानों की सभा आयोजित की । पंडितों ने अपनी-अपनी तरह के विचार रखे पर पं० प्रमथ नाथ तर्क भूषण ने अपाला, घोषा विश्ववारा के ब्रह्मवादिनी होने, मनु की पुत्री इला द्वारा ब्रह्माजी के यज्ञ का संचालन करने, गार्गी द्वारा याज्ञवल्क्य से शास्त्रार्थ करने, महाराज जनक द्वारा अपनी चारों पुत्रियों सीता, मांडवी, उर्मिला, श्रुतिकीर्ति का यज्ञोपवीत संस्कार सम्पन्न कराने, रावण द्वारा सीताहरण के समय सीता द्वारा उनका यज्ञोपवीत तोड़ने जैसे अकाट्य तर्क रखे, तो एक भी विद्वान् उनका उत्तर नहीं दे पाया । तब से बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय में लड़कियों को भी वेद पढ़ाया जाने लगा । पर आज भी प्रतिगामिता उन तथ्यों की उपेक्षा और अवहेलना करती रहती है । जाति प्रथा पर भी मालवीय जी द्वारा कराये गये निर्णय ऐसे ही थे ।

ज्योतिषी का सिर कटा

ज्योतिर्विज्ञान अपने आप में एक गणित और जीवनोपयोगी विद्या है । विशिष्ट नक्षत्रों के उदय, अस्त के समय फसलें बोने-काटने के पीछे ऋतु विज्ञान के अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं सूक्ष्म पर्यवेक्षण जुड़े हुए हैं किन्तु ज्योतिष का फलित और शकुन और अपशकुन वाला स्वरूप नितान्त अहित कर है ।

गुरु गोविन्दसिंह के दरबार में एक पंडित जी प्रायः शकुन विचार का टंटा खड़ा कर देते जिससे कई बार सिख सेना हारते-हारते बची । एक दिन गुरु गोविन्दसिंह ने उन्हीं पंडित जी से पूछा-'पंडित जी ! ज्योतिष के अनुसार आपकी आयु कितनी होनी चाहिए ।' पंडितजी बोले-'महाराज ! तिहत्तर वर्ष । इससे पूर्व मेरा बाल बाँका भी नहीं हो सकता ।' गुरु गोविन्दसिंह ने अपनी तलवार चला दी और बावन वर्ष के पंडित जी का सिर धड़ से अलग हो गया । उपस्थित समुदाय को साक्षात् प्रमाण मिल गया कि फलित ज्योतिष में कितनी सत्यता है ।

आलुओं का तीर्थ स्नान

विवेक रहित अंधानुकरण सदैव हानिकारक सिद्ध होता है । जनमानस अज्ञानवश सुधारना तो दूर, बहिरंगीय स्वरूप को देखकर जो चला आ रहा है उसे ही श्रेयस्कर

मानता व तदनुसार चलता रहता है । यहाँ तक कि तीर्थ स्नान आदि पुण्य प्रयोजनों का भी बाह्याडम्बर वाला स्वरूप ही शाश्वत चला आ रहा है ।

मणियार ईश्वर भक्त था, किन्तु उसका वैयक्तिक जीवन कुविचार और बुरे आचरणों से ग्रस्त होने के कारण अशान्त था । उसकी धमपत्नी अर्बुद ने कहा-'स्वामी दु:ख और अशांति का कारण अस्वच्छ मन है । आप ज्ञान के प्रकाश से पहले अन्तरतम को धो लें, तभी शांति मिलेगी ।' मणियार ने कहा-'नहीं ! हम लोग तीर्थ-स्नान करने चलेंगे । तीर्थ-स्नान से मन पवित्र हो जाता है ।'

अर्बुद स्त्री थी, झुकना पड़ा । तीर्थ-यात्रा पर चलने से पूर्व उसने एक पोटली में कुछ आलू बाँध लिए । जहाँ-जहाँ मणियार ने स्नान किया उसने इन आलुओं को भी स्नान कराया । घर लौटते-लौटते आलू सड़ गए । अर्बुद ने उस दिन भोजन की थाली में वह आलू भी रख दिये । उनकी दुर्गन्ध पाकर मणियार चिल्लाया-'यह दुर्गन्ध कहाँ से आ रही है ?' अर्बुद ने हँसकर कहा-''ये आलू तो तीर्थ-स्नान करके आये हैं फिर भी इनमें दुर्गन्ध है क्या ?''

मूढ़ता अपनायी-रोगी हुए प्रचलनों के पीछे जो मूढ़ अविवेक काम करता है, वह न दूर हो तो समाज सुधार सम्भव नहीं । अन्धानुकरण करना, औचित्य-अनौचित्य का निर्धारण न कर पाना एक ऐसा बौद्धिक परावलम्बन है, जिसे मिटाना ही चाहिए ।

एक गाँव में दो युवक रहते थे । दोनों में बड़ी मित्रता थी, जहाँ जाते साथ-साथ जाते । एक बार दोनों एक धनी व्यक्ति के साथ उसकी ससुराल गये । किसी धनी व्यक्ति के साथ रहने का यह पहला अवसर था, सो वे अपने धनी मित्र की प्रत्येक गतिविधि ध्यान से देखते रहे । गर्मियों के दिन थे । रात में उक्त धनी युवक के लिए शयन की व्यवस्था खुले स्थान पर की गई । पर्याप्त शीतलता बनी रहे, उसके लिए वहाँ चारों तरफ जल छिड़का गया और रात को ओढ़ने के लिए बहुत ही हलकी मखमली चादर दी गई ।

अन्य दोनों युवकों ने इतना ही जाना कि इस तरह का रहन-सहन बड़प्पन की बात है । कुछ दिन बाद उन्हें भी अपनी-अपनी ससुराल जाने का अवसर मिला । पर वे दिन गर्मियों के न होकर तीव्र शीत के थे । नकल तो नकल ही है । दोनों ने अपना बड़प्पन जताने के लिए बिस्तर खुले आकाश के नीचे लगवाया, लोगों के लाख मना करने पर भी उन्होंने बिस्तर के आस-पास पानी भी छिड़कवाया और ओढ़ने के लिए कुल एक-एक चादर, वह भी हलकी ली । रात पाला पड़ गया सो दोनों बीमार हो गये । चिकित्सा कराई गई तब कठिनाई से जान बची ।

नकल का प्रतिफल एक व्यापारी एक घोड़ी पर नमक और एक गधे पर रुई की गाँठ लादे जा रहा था । रास्ते में एक नदी पड़ी । पानी में धँसते ही घोड़े ने पानी में डुबकी लगाई तो काफी नमक पानी में घुल गया । गधे ने घोड़े से पूछा-'यह क्या कर रहे हो ।' घोड़े ने कहा-'वजन हलका कर रहा हूँ ।' यह सुनकर गधे ने भी दो डुबकी लगाई पर उससे गाँठ भीगकर इतनी भारी हो गयी कि उसे ढोने में गधे की जान आफत में पड़ गई । बिना समझे-बूझे की गयी नकल कठिनाइयाँ बढ़ाती है, सुविधा नहीं ।

इस प्रकार पर्दा प्रथा, विवाह में अपव्यय, लेन-देन, मृत्युभोज जैसे प्रचलन समय के अनुसार समाप्त हो जाना चाहिए थे, पर समाज में और कर रहे हैं, इसलिए हमें भी करना चाहिए-इस अविवेक जन्य मान्यतावश ये परम्पराएँ समाप्त नहीं हो पा रही हैं ।

लोकप्रवाहकस्यास्ते जलमार्गं तु पङ्किलम् ।
प्रायोऽल्पा:सज्जना:सन्ति बहवोऽसंस्कृता जना: ॥ ६५ ॥
गति:साऽनुपयोग्या हि प्रायो रीतिषु धावति ।
यथावत्सा नहि ग्राह्या, हंस क्षीरं जलात् पिबेत् ॥ ६६ ॥
स इवात्रापि कर्तव्या नीरक्षीरविवेकिता ।
ततश्चोचितमास्ते यत्तद् ग्राह्यं मानवैः सदा ॥ ६७ ॥

टीका-लोक प्रवाह के नाले में सदा कूड़ा-करकट ही अधिक बहता है । सज्जनों की संख्या कम

और अनगढ़ कुसंस्कारियों की अधिक रहती है । अस्तु, प्रथा-प्रचलनों में अनुपयुक्तता का बहुमत ही आगे रहता और उछलता है । उसे ज्यों का त्यों ग्रहण नहीं करना चाहिए, वरन् हंस जैसे पानी से दूध पी लेता है, उसकी उस नीर-क्षीर विवेक बुद्धि को अपनाकर जो उचित-उपयुक्त हो, मनुष्य को उसी को अपनाना चाहिए ॥ ६५-६७॥

व्याख्या-आज अवांछनीयता का प्राधान्य है एवं श्रेष्ठता कम ही दृष्टिगोचर होती है । आस्था संकट की परिणिति स्वरूप उत्पन्न यह परिस्थिति उलटी जा सकती है, यदि जन समुदाय को उत्कृष्टतापरक मान्यताओं का पक्षधर बनने के लिए सहमत किया जा सके । यह समाज स्तर पर एक विशाल, व्यापक क्रान्ति से ही सम्भव है । उचित-अनुचित में भेद बता पाना तभी सम्भव है, जब जनमानस विवेक शक्ति-प्रज्ञा का सहारा ले व मात्र उचित को अपनाये, औरों को भी अपनाने को प्रेरित करे । जब भी परम्पराओं का प्रश्न आये विवेकशील का कर्तव्य है कि वे समूह की बात को सत्य न मानकर मात्र समझदारों की बात माने, अपनी स्वयं की दृष्टि भी उसी अनुरूप विकसित करें ।

हंस और उल्लू एक वृक्ष पर उल्लू बैठा था, उसी पर आकर एक हंस भी बैठ गया और स्वाभाविक रूप से बोला-'आज सूर्य प्रचण्ड रूप से चमक रहे हैं इससे गर्मी तीव्र हो गई है ।' उल्लू ने कहा-'सूर्य कहाँ है ? गर्मी तो अन्धकार बढ़ने से होती है, जो इस समय भी हो रही है । उल्लू की आवाज सुनकर एक बड़े वटवृक्ष पर बैठे अनेक उल्लू वहाँ आकर हंस को मूर्ख बताने लगे और सूर्य के अस्तित्व को स्वीकार न कर हंस पर झपटे । हंस अपने प्राण बचाकर भाग खड़ा हुआ ।

महर्षि पैंगल पक्षियों की भाषा जानते थे । वे त्रिकाल दर्शी भी थे । उन्होंने अपने शिष्यों को यह घटना बताते हुए कहा-'तात ! आज की परिस्थितियों में जो धार्मिक परम्परायें डाली जा रही हैं वे कलियुग तक पहुँचते-पहुँचते आडम्बर बन जायेंगी और बहुसंख्यक समाज जीर्ण परम्पराओं को गले लगाये रहेगा । विवेकवानों की स्थिति इस हंस जैसी ही होगी ।' शिष्यों ने पूछा-'तात ! तब फिर धार्मिक परम्पराओं का पुनर्जीवन कैसे होगा ?' पैंगल बोले-'तात ! उसे कोई महाप्रज्ञा शक्ति ही स्थापित करेगी । उस समय वह राजहंस अपने हंस समुदाय के साथ इन उल्लुओं को मार भगायेगा और विवेक को स्थापित करेगा ।

भोज का धन गरीबों को एक बार एक सेठजी स्वयं महामना मालवीयजी के पास अपने यहाँ विवाह पर आयोजित विशाल भोजन में सम्मिलित होने का निमंत्रण देने के लिए पहुँचे । महामना जी ने उनके इस निमंत्रण को इन विनम्र किन्तु मर्मस्पर्शी शब्दों में अस्वीकार कर दिया-'यह आपकी कृपा है जो मुझ अकिंचन के पास आप स्वयं निमंत्रण देने पधारे, किन्तु जब तक मेरे इस देश में मेरे हजारों, लाखों भाई आधे पेट रहकर दिन काट रहे हों, तो मैं विविध व्यंजनों से परिपूर्ण बड़े-बड़े भोजों में कैसे सम्मिलित हो सकता हूँ । ये सुस्वादु पदार्थ मेरे गले कैसे उतर सकते हैं ? क्या भोजन मात्र से ही यश मिलता है ? यश अर्जन का आप कोई अच्छा तरीका नहीं सोच सकते ?'

महामनाजी की यह मर्म युक्त बात सुन सेठजी इतने प्रभावित हुए कि उन्होंने भोज में व्यय होने वाला सारा धन गरीबों के कल्याणार्थ दान दे दिया ।

राजा महेन्द्रप्रताप का श्रेष्ठ बेटा बेटी होकर बेटा न होना व उस कारण वंश न चलना भी एक ऐसी मान्यता है जो जन मानस में बुरी तरह छायी है । राजा महेन्द्रप्रताप के पास ज्योतिषी पहुँचे । कहा-'आपके भाग्य में पुत्र नहीं है । पर आप अमुक अनुष्ठान करेंगे तो अवश्य पुत्र होगा ।' राजा साहब ने उन्हें तुरन्त बिदा करते हुए कहा-'आपको व्यर्थ मेरे जैसे व्यक्ति के पास आकर समय भी नष्ट करना पड़ा व तुरन्त जाना भी पड़ रहा है । आप अपनी सलाह अपने पास रखें । मुझे अपना वंश चलाने के लिए जीवधारी रूपी बेटा नहीं चाहिए । जो राशि बेटे पर खर्च होती, उसे मैं सत्प्रयोजनों में नियोजित करूँगा ।'

राजा साहब ने वृन्दावन में प्रेम महाविद्यालय की स्थापना की । उसे ही अपना बेटा माना व लाखों की सम्पत्ति उसे दे गए । विरासत में उन्होंने लिखा कि 'मेरा वंश यह प्रेम विद्यालय ही आगे चलाएगा । समाज में ऐसी सत्प्रवृत्तियाँ चल पड़े तो मैं समझूँगा कि मेरा पुत्र सपूत निकला ।' वस्तुतः हुआ भी ऐसा ही ।

पीर से क्या पर्दा ?

पर्दा प्रथा एक ऐसी सड़ी गली परम्परा है जो न्यूनाधिक रूप से समाज में चारों ओर व्याप्त है । उसके उन्मूलन हेतु इस सदी के प्रारम्भ से ही प्रयास चलते आए हैं । महात्मा गाँधी के जीवन की एक घटना है जो बताती है कि इस प्रथा के प्रति आक्रोश महिलाओं की ओर से कैसे उभर कर आया ?

इलाहाबाद में एक सभा में मौलाना आजाद व गाँधीजी दोनों को ही भाषण देना था । मुस्लिम बहुल समाज था । महिलाओं के लिए अलग व्यवस्था की गयी थी । उनके सामने चिक डाल दी गयी ताकि उनकी निगाह वक्ता व श्रोता गणों पर तथा श्रोताओं की निगाह उन पर न पड़े । बुरके और चिक के बाद भी सभा आयोजकों में असमंजस था कि कहीं महिलाओं का मुँह खुला न दीखे । वे बोले-"मौलाना आजाद व गाँधीजी जब बोलें तो आँख पर पट्टी बाँध लें ।" इस हास्यापद सुझाव पर मौलाना ने कहा-"मैं महिलाओं की ओर पीठ कर लूँगा" तथा गाँधीजी बोले-"मैं नीचे निगाह करके बोलूँगा ।" मौलाना का भाषण तो समाप्त हुआ पर जब गाँधीजी ने बोलना चालू किया तो सारी मुस्लिम महिलाएँ बुरका खोल, चिक हटाकर मंच के सामने आकर बैठ गयीं । अग्रगामी स्त्रियों का कहना था-"पीरों से भी कोई पर्दा किया जाता है ।" यह अपने आप में एक क्रांतिकारी आरम्भ था जो बाद में आन्दोलन रूप लेकर बड़ा बना । बाद में राजर्षि टण्डन ने कहा-'यदि सभी महिलाएँ पुरुषों को पीर (महात्मा) व पुरुष स्त्रियों को देवी स्वरूप मानने लगें तो इस प्रथा को आमूलचूल नष्ट होने में कोई देर न लगे ।'

आकर्षणानि सर्वस्यं कालिकानि न मन्यताम् ।
परिणामेषु कर्तव्यो विचारो दूरगामिषु ॥ ६८ ॥
दुःखदाःपरिणामा ये लाभास्तात्कालिकामताः ।
त्याज्यास्ते साहसेनैवं भविष्यन्मंगलं व्रजेत् ॥ ६९ ॥

टीका-तात्कालिक आकर्षणों को ही सब कुछ नहीं मानना चाहिए । उसके दूरगामी परिणामों पर भी विचार करना चाहिए । जो परिणाम में दुःखद हों, ऐसे तुरन्त के लाभ का साहसपूर्वक परित्याग ही कर देना चाहिए, इससे भविष्य मंगलमय बन जायेगा ॥ ६८-६९ ॥

व्याख्या-हर मान्यता के निर्धारण में दूरगामी परिणामों को सदैव ध्यान में रखा जाय । दहेज तत्काल तो लाभकारी प्रतीत होता है । लगता है यश मिल रहा है, सबकी निगाहों में हम ऊँचे हैं, हमारी बेटी सुखी रहेगी । पर जब विवाहोपरान्त अनापशनाप माँगें आने लगती हैं तो अपनी अदूरदर्शिता पर दुःख होता है । यही पिता अपनी लड़की के विवाह में तो आदर्श की डींग हाँकने में नहीं हिचकता पर जब बेटे का ब्याह समीप आता है तो सारे आदर्श न जाने कहाँ तिरोहित हो जाते हैं । हर व्यक्ति यह संकल्प ले ले कि हम दूरदर्शिता अपनायेंगे, समाज में सत्प्रवृत्ति विस्तार हेतु स्वयं से शुभारम्भ करेंगे तो इन कुरीतियों के उन्मूलन में देर न लगे ।

पहले परीक्षण फिर प्रयोग

अदूरदर्शिता के दुष्परिणाम सर्वविदित हैं । तात्कालिक आकर्षण आमंत्रित तो करते हैं पर अपनी विवेक बुद्धि का सहारा लेकर उनसे बचा जा सकता है ।

रेगिस्तान में एक काफिला जा रहा था । शाम होते-होते एक स्थान पर कुछ वृक्ष दीखे, वहीं पड़ाव करने का निश्चय किया गया । स्थान पर पहुँचने पर लोगों ने देखा कि एक पेड़ पर बहुत से अच्छे पके फल लगे हैं । सभी दौड़ पड़े खाने की लालसा में । तभी सरदार ने रोक दिया, उसने कहा-"कार्य करने से पूर्व विवेक का उपयोग करना चाहिए । यदि यह फल उपयोगी होते तो पहले वाले काफिले इन्हें समाप्त कर देते । पहले फलों की परीक्षा कर लें ।" परीक्षण किया गया तो पता चला कि फल जहरीले थे ।

लालच त्याज्य, न्याय ग्राह्य

दूरदर्शिता से लिया गया निर्णय तात्कालिक दृष्टि से तो घाटे का सौदा साबित होता है पर अंततः इसके सत्परिणाम निकलते ही हैं ।

सम्राट् पुष्यमित्र के एक सेनापति पर महाभियोग लगा । आचार्य मार्तण्ड न्यायाधीश बनाये गये । अगले दिन दरबार होना था । सेनापति स्वयं भारी धनराशि लेकर आचार्य मार्तण्ड के पास उपस्थित हुआ और बोला-"महाशय ! आप चाहें तो अशर्फियों की यह थैलियाँ लेकर अपना दारिद्र्य दूर कर सकते हैं । इन्हें रखिये और न्याय हमारे पक्ष में कीजिए । विश्वास रखें यह बात हम दोनों के अतिरिक्त और कोई नहीं जान पायेगा ।"

आचार्य ने एक उपेक्षित दृष्टि थैलियों पर डाली और हँस कर बोले-'महापुरुष ! धरती, आकाश, मेरी आत्मा, आपकी आत्मा और परमात्मा की जानकारी में जो बात आ गयी, वह छुपी कहाँ रही । इन्हें ले जाइये । कर्तव्य और उत्तरदायित्व को प्रलोभन के बदले झुँठलाना मेरे लिए सम्भव नहीं ।

जिस समाज में ऐसे आदर्श के धनी और तात्कालिक लाभ देखने की अपेक्षा आत्म-कल्याण की बात सोचने वालों का बाहुल्य हो वही सुखी और समुन्नत रहते हैं ।

विवेकयुक्तो य आस्ते परामर्शः स मन्यताम् ।
बालानां वा परेषां वा नायोग्य आत्मनामपि ॥ ७० ॥
तथ्यानां गरिमा श्लाघ्यो व्यक्त्यपेक्षतया मुने ।
नवीनत्वं पुराणत्वं श्रेष्ठतायै न वाञ्छितम् ॥ ७१ ॥
परंद्रष्टव्यमेतद् यत्तथ्यं सत्यं किमस्ति च ।
अभ्यस्तं विधिमुत्स्रष्टुं मनो भवति शङ्कितम् ॥ ७२ ॥
परिवर्तनसंक्लेशैर्योढुं नोत्सहते जनः ।
साहसाऽभावतोऽनीतेरग्र आत्मार्पणं ध्रुवम् ॥ ७३ ॥

टीका-विवेकयुक्त परामर्श छोटे और परायों का भी मानें । अनुपयुक्त निर्देश बड़ों या अपनों का भी नहीं मानना चाहिए । व्यक्तियों की तुलना में तथ्यों की गरिमा अधिक है । बात नई है या पुरानी इस आधार पर उसे वरीयता न दी जाय, वरन् यह देखा जाय कि तथ्य एवं सत्य द्वारा समर्थन किसका होता है । अभ्यस्त ढर्रे बदलने में मन कच्चा पड़ता है । उलट-पुलट के झंझट से सभी बचना चाहते हैं । इस साहसहीनता के कारण अनीति के सामने सिर झुकाना पड़ता है ॥ ७०-७३ ॥

व्याख्या-सन्मार्ग पर चल पड़ने का परामर्श कहीं से भी मिले, विवेकयुक्त हो तो स्वीकार कर लेना चाहिए चाहे कहने वाला हमसे छोटा ही क्यों न हो । बड़े चाहें तो भी अनौचित्य को स्वीकार न करें । हमेशा बात को तर्क, तथ्य एवं प्रमाणों की कसौटी पर कसें, यह मानकर नहीं कि ऐसा पहले भी होता रहा है इसलिए सही है ।

समाज का सहज प्रवाह एक अभ्यस्त ढर्रे के रूप में है । इस ढर्रे को बदलना ही साहसिकता है । मछली धारा को उल्टा चीरकर चलती है और ऊपर पहुँच जाती है । धारा प्रवाह में तो शरीर से बलिष्ठ पर बुद्धि से अल्प हाथी जैसे प्राणी भी बहुत देखे जाते हैं । बुद्धिमत्ता इसी में है कि जो भी अनुचित हैं उसे पलट डालने में जरा भी असमंजस न बरतें । इस साहस के अभाव में ही अनीति व्यक्ति पर हावी हो जाती है ।

मीरा का असमंजस, सन्त तुलसीदास का उत्तर

ऐसे अवसरों पर क्या चुना जाय, निर्णय क्या लिया जाय, ऐसा अवसर आने पर राजपरिवार द्वारा सतायी मीरा को संत तुलसीदास द्वारा भेजे गये एक मार्मिक उत्तर को यादकर बार-बार दुहरा लेना चाहिए । यह अपने आप में आत्म सत्ता का एक आश्वासन है-

"जाके प्रिय न राम बैदेही,
तजिये तिन्हिहिं कोटि बैरी सम जदपि परम सनेही ।
पिता तज्यौं प्रह्लाद, विभीषण बन्धु, भरत महतारी,
बलि गुरु तज्यौ, कंत ब्रज बनितन भये मुद मंगलकारी ।"

अर्थात् जिनका श्रेष्ठ चिंतन व कर्तव्य अर्थात् ईश्वरीय सत्ता में विश्वास नहीं है, वे हमारे कितने भी निकटतम हों, उनका परित्याग शत्रु की भाँति ही किया जाना चाहिए, जैसे विभीषण ने भाई रावण का, प्रह्लाद ने पिता हिरण्यकश्यपु का, भरत ने अपनी माँ कैकेयी का, बलि ने गुरु शुक्राचार्य का तथा ब्रज की गोपिकाओं ने ईश विरोधी अपने पतियों का परित्याग किया था । अर्थात् जब भी चयन का प्रश्न उठे तो श्रेष्ठता के पथ पर, विवेक औचित्य के वरण को ही उपयुक्त मान आगे बढ़ चलना चाहिए ।

रामतीर्थ को समुद्र यात्रा की अनुमति

तब समुद्र द्वारा विदेश यात्रा धर्म विरुद्ध माना जाता था । धर्म-पुरोहितों से अनुमति लेकर समुद्री यात्राएँ हर धर्म परायण व्यक्ति को करनी पड़ती थीं । वेदान्त के प्रचार के लिए स्वामी रामतीर्थ को विदेश जाना था । लोक मर्यादा पालन के लिए उन्होंने काशी के महामहोपाध्याय से परामर्श किया । पंडितजी बोले-'वैसे तो समुद्री यात्रा करना धर्म के विरुद्ध है पर यदि आप पाँच हज़ार रुपयों की व्यवस्था कर दें तो आपको जाने की विद्वत्-मण्डल द्वारा अनुमति मिल जायेगी, अन्यथा आप जाति से बहिष्कृत कर दिए जायेंगे ।' रिश्वत देकर धर्म-परायण बनना रामतीर्थ को स्वीकार नहीं हुआ । उन्होंने कहा-'आप लोग चाहे जो करें पर धर्म के नाम पर मैं यह अनीति नहीं कर सकता । अनुमति दें अथवा न दें मैं तो चलता हूँ ।' पंडितजी निरुत्तर हो गये । बिना किसी से अनुमति लिए स्वामी रामतीर्थ ने अपने महान् लक्ष्य के लिए विदेश के लिए प्रस्थान किया ।

सेठ दानमल का सत्साहस

ऐसे साहसी बिरले ही होते हैं जो ढर्रे को तोड़ते हैं पर जब वे कदम उठाते है तो समाज उनकी स्तुति करता है ।

गुजरात के प्रसिद्ध सेठ दानमल हँकाजी का पढ़ा-लिखा जवान विवाहित बेटा दिवंगत हो गया तो सेठजी को बड़ा शोक हुआ, पुत्र वियोग का उतना ही जितना अपनी जवान विधवा बहू का, जो एक वर्ष भी सुहागिन नहीं रह सकी थी । सो क्या वह जीवन भर वैधव्य की आग में जलती रहेगी ? यह सोच-सोच कर अत्यधिक दु:खी हो जाते थे । बेटे के जाने के बाद उसके हिस्से का प्यार भी बहू पर सिमट आया था ।

बहुत सोच-विचार के बाद उन्होंने निश्चय किया । बहू उनकी पुत्री तुल्य है । वह पुनर्विवाह करेंगे । उसे वैधव्य की आग में नहीं जलने देंगे । उन्होंने समाज के तीव्र विरोध को सहते हुए भी अपनी विधवा बहू का पुत्री की तरह पुनर्विवाह करके ही चैन की साँस ली ।

महर्षि कर्वे द्वारा विधवा विवाह

महर्षि कर्वे ने नारी उद्धार का शुभारम्भ सारे समाज का विरोध मोल लेकर स्वयं से किया । उन्होंने एक विधवा से विवाह कर उन्हें पढ़ा लिखाकर स्वावलम्बी बनाया तथा नारी शिक्षा का व्यापक विस्तार कर समाज में एक क्रान्ति का सूत्रपात कर सकने में सफल हुए ।

शूरा अपि च वीराश्च विख्याता ये जनास्तु ते ।
दृश्यन्ते दुर्बलाः प्रायः क्षेत्रे सैद्धान्तिके सदा ॥ ७४॥
आत्मविश्वासिनो ये ते सदाऽऽदर्शसमर्थने ।
एकाकिनःस्थिताःसन्तु सहायाः सन्तु वा न वा ॥ ७५॥
निन्दाया वा प्रशंसायाश्चिन्ता नैवात्र युज्यते ।
संघर्षो मल्लयुद्धो न चात्रासीषुनिपातनम् ॥ ७६॥
उपेक्षया विरोधेन तथैवा ऽसहयोगतः ।
प्रारम्भिकं सुपूर्णं स्यात् प्रयोजनमिति स्फुटम् ॥ ७७॥
अनीतिमात्मा जानाति यत्रग्राह्यमदोऽमुना ।
सहयोगः कथंचिन्न युज्यते वा समर्थनम् ॥ ७८॥

टीका-शूरवीर समझे जाने वाले भी सिद्धांत क्षेत्र में दुर्बल पड़ते हैं । आत्म-विश्वासियों को आदर्शों के समर्थन में एकाकी अड़ा रहना चाहिए, साथी हों या न हों । उन्हें निन्दा, प्रशंसा की चिंता ऐसे प्रसंगों पर नहीं करनी चाहिए । संघर्ष मल्लयुद्ध को नहीं कहते और न उसमें सदा तीर-तलवार चलाने की ही आवश्यकता पड़ती है । उपेक्षा, असहयोग, विरोध करने से भी संघर्ष का आरम्भिक प्रयोजन स्पष्ट पूरा होता है । जिसे आत्मा अनीति माने उसका समर्थन, सहयोग तो किसी भी मूल्य पर नहीं करना चाहिए ॥ ७४-७८ ॥

व्याख्या-बाहर से शूरवीरता की बात करते तो अनेक देखे जाते हैं पर जब उन सिद्धान्तों को व्यवहार में उतारने की बात आती है तब सही परीक्षा होती है । सिद्धांत क्षेत्र की बहादुरी तलवार चलाने

वाली क्रिया परक बहादुरी से अलग है । यह सम्पदा है जो कमजोर व्यक्ति को भी अनीति के पक्षधर मजबूत विरोधी से संघर्ष में विजयी बनाती है । महात्मा गाँधी कुल ९६ पौण्ड के क्षीण काय व्यक्ति थे । पर उनकी सैद्धान्तिक सामर्थ्य करोड़ों हाथियों के बराबर थी । इसी के बल पर वे "कभी सूरज न डूबने वाले" ब्रिटिश साम्राज्य से मोर्चा ले सके । ऐसा सत्साहस आदमी को अनीति से सहयोग न करने, मोर्चा लेने की प्रेरणा देता है ।

रामशास्त्री मृत्यु भय से न डिगे

मराठा सरदार राघोबा पेशवा पर अपने भतीजे की हत्या का अभियोग था । जिस न्यायालय में उसका निर्णय होने वाला था उसके न्यायाधीश श्री रामशास्त्री थे । श्री शास्त्री सत्यनिष्ठा के लिए दूर-दूर तक विख्यात थे, इसलिए राघोबा को भय था कहीं उसे सजा न मिल जाये ।

राघोबा की धर्मपत्नी को एक उपाय सूझा । उन्होंने श्री रामशास्त्री को भोज दिया और इस विचार से उनकी खूब आवभगत की कि उससे प्रभावित होकर श्री शास्त्री उनके पक्ष में ही निर्णय देंगे । बात-बात में उन्होंने इस बात की चर्चा ही छेड़ दी तो न्यायनिष्ठ श्री रामशास्त्री ने कहा-'न्याय की दृष्टि से तो सरदार को प्राणदण्ड मिलना ही चाहिए ।' राघोबा की पत्नी उनकी इस निर्भयता से प्रभावित तो हुई पर उन्होंने कहा-'इस तरह का निर्णय देने का परिणाम जानते हैं आप, क्या होगा ? हम जिन्दा ही आपकी जीभ कटवा लेंगे और किसी गड्ढे में गड़वा देंगे ।'

बिना उत्तेजित हुए श्री शास्त्री ने उत्तर दिया-'यह आप कर सकती हैं पर उससे मुझे कोई दुःख नहीं होगा, गलत निर्णय देने की अपेक्षा तो जीभ क्या सिर काट लिया जाना ही अच्छा है ।' अन्ततः विजय न्याय की ही हुई ।

अनीति से एक लाख अस्वीकार

स्व० श्री चिमनलाल सीतलवाड़ उन दिनों बम्बई विश्वविद्यालय के उपकुलपति नियुक्त नहीं हुए थे किसी और उच्च पद पर थे । एक मामले में बचने के लिए एक व्यक्ति उनके पास आया और एक लाख रुपये बतौर रिश्वत देने लगा, किन्तु सर सीतलवाड़ ने उसे अस्वीकार कर दिया । तब वह व्यक्ति बोला-'समझ लीजिए साहब ! आपको एक लाख रुपया देने वाला और कोई दूसरा नहीं मिलेगा ।' सर सीतलवाड़ हँसे और बोले-'नहीं भाई ! देने वाले तो बहुत मिलेंगे, पर इतनी बड़ी रकम मुफ्त में लेने से इन्कार करने वाला कोई नहीं मिलेगा ।'

मनुष्य का गौरव इस बात में है कि वह नेक राह पर चले और अपने पीछे ऐसी परम्परा छोड़ जाये जिसका अनुकरण करते हुए पीछे अपने वाले लोग अपना रास्ता खोज सकें । हिम्मत और बहादुरी की खरी पहचान यह कि वह कठिनाइयों और प्रलोभनों के बीच जरा भी विचलित न हो । जिसने इन्सानियत के आदर्शोंको छोड़ दिया, उनके पास बचा ही क्या ? भले ही ऐसा व्यक्ति अमीर सत्ताधारी या विद्वान् क्यों न हो उसे खोखला ही समझना चाहिए ।

पुत्र को मृत्यु दण्ड

महारानी अहिल्याबाई अपनी न्यायनिष्ठा के लिए प्रख्यात थीं । महेश्वर में उनकी राजधानी थी । होल्कर राजवंश की इस शूरवीर महिला की न्याय परायणता पर दृढ़ विश्वास होते हुए भी इन्दौर के नागरिकों में महारानी पुत्र की उद्दण्डता-उच्छृंखलता के विरुद्ध शिकायत करने का साहस नहीं था । एक दिन जब उसने क्रोध में आकर एक नागरिक की हत्या कर दी तो सारे नागरिक अहिल्याबाई के पास पहुँचे व राजकुमार के अत्याचारों के विरुद्ध फरियाद की । महारानी ने सारे मोह-स्नेह को ताक पर रखकर पुत्र को मृत्यु दण्ड दिया एवं हाथी के पैर से कुचलवा कर उसे मरवा डाला । ऐसे उदाहरण उँगली पर गिनने योग्य मिलते हैं । ये प्रेरणा का प्रकाश अनीति के अन्धकार भरे साम्राज्य में फैलाकर साहस प्रदान करते हैं ।

ऐसी अनीति से फिर मरना स्वीकार

अपने प्रति उपकार करने वाला भी यदि अनीति के लिए विवश करे तो नहीं मानना चाहिए । एक बार वाराणसी में गंगा-घाट पर एक वृद्ध नहाने उतरे, पाँव फिसल गया और डूबने लगे । एक युवक तुरन्त कूदा और वृद्ध को बचा लिया । वृद्ध की प्रार्थना पर भी युवक ने कोई पुरस्कार लेना स्वीकार न किया । इस पर वृद्ध ने कहा-"तो आवश्यकता पड़ने पर कलकत्ता आना, मैं अवश्य तुम्हारी सहायता करूँगा" और उन्होंने पता युवक को दे दिया ।

कुछ मास बाद युवक वृद्ध से मिला और कुछ कविताएँ सामने रखता हुआ बोला-"इन्हें आप अपनी पत्रिका में छाप दें ।" कविताओं का स्तर देखकर व युवक की अनुचित माँग को देखते हुए वे बहुत दुःखी हुए और बोले-"एक बात कहूँ ?" सहमें युवक ने उत्तर दिया-"कहिये !" वृद्ध ने कहा-"मैं इन्हें नहीं छाप सकता । तुम

चाहो तो उस उपकार के बदले में फिर मुझे गंगा में धकेल दो ।'' यह है आदर्शवादिता, सिद्धांतों के प्रति निष्ठा । ऐसे व्यक्ति जीवन व्यापार में भले ही असफल रहें, उनका अन्तःकरण उन्हें सदा आशीष देता है तथा उन्हें जन सम्मान भी मिलता है ।

शारीरं बलमुन्नेतुं संयमः साधनापि च ।
कर्तव्येऽर्जितुमेतच्च मनोबलमपि दृढम् ॥ ७९ ॥
सत्यस्य निकषे ऽसिद्धं प्रतिमादनमस्ति यत् ।
अस्वीकार्यमिदं नूनं भवत्येव महामुने ॥ ८० ॥
आत्मनो बलमुन्नेतुं सफलास्ते भवन्ति हि ।
अवाञ्छनीयताभिर्नो सम्बद्धास्तु भवन्ति ये ॥ ८१ ॥
ऐश्वरं तु समादाय चारित्र्यं चापि केवलम् ।
सामर्थ्यमात्मना बाह्या नौकात्मीयेदृशैर्नरैः ॥ ८२ ॥
विना सहगामिनो ऽप्येते विनैव च समर्थनम् ।
नीतिमार्गेऽभयं यान्ति न गच्छन्त्यसमञ्जसम् ॥ ८३ ॥

टीका-शरीर बल उभारने के लिए संयम-साधना करनी पड़ती है । दृढ़ मनोबल अर्जित करने के लिए तथ्य और सत्य की कसौटी पर खोटे सिद्ध होने वाले प्रतिपादनों को अस्वीकार करना होता है । आत्मबल बढ़ा सकने में वे ही सफल होते हैं, जो अवांछनीयता से समझौता नहीं करते । ईमान और भगवान का समर्थन लेकर अपनी नाव आप खेते चले जाते हैं । साथी और समर्थक न होने पर भी नीति-पथ पर अकेले चलते रहने में भी उन्हें कोई भय, असमंजस नहीं लगता ॥ ७९-८३ ॥

व्याख्या-ऋषि यहाँ सत्साहस जागरण हेतु तीन प्रकार की बल साधनाओं की चर्चा करते हैं । इनकी व्याख्या वे पूर्व प्रकरणों में विस्तार से कर चुके हैं । संयम से शरीर बल की, तथ्य व तर्क की सान पर खरा सिद्ध कर मनोबल की तथा अनैतिकता, अवांछनीयता से असहयोग कर आत्मबल सम्पादन की साधना की जाती है । शरीर का भी समर्थ होना आवश्यक है, भ्रांति निवारण हेतु मनोबल का भी होना आनिवार्य है तथा सिद्धांत क्षेत्र में कड़ाई बरतने हेतु आत्मबल की भी महत्ता है । ऐसे व्यक्ति 'एकला चलो रे' का सिद्धांत अपनाते हुए अपना प्रस्तुत जन्म अध्यात्म की दृष्टि से सफलतापूर्वक सम्पादित करते हैं ।

तीनों दृष्टि से समर्थ, सशक्तों में स्वामी दयानन्द, स्वामी रामतीर्थ एवं स्वामी विवेकानन्द जी का नाम लिया जा सकता है । समाज में व्याप्त कुरीतियों, अन्धविश्वासों का खण्डन करने के लिए उन्होंने अर्जित तपश्चर्या को सुनियोजित किया । ब्रह्मचर्य अर्जित शरीर बल, शास्त्रज्ञान अर्जित मनःसामर्थ्य तथा तप द्वारा अर्जित आत्मबल को इन तीनों महापुरुषों ने अवांछनीयता से मोर्चा लेने हेतु ही प्रयुक्त किया ।

गाँधी जी शरीर की दृष्टि से बहिरंग में भले ही कमजोर दिखाई पड़ते थे पर वे लोहे के बने हुए थे । उनकी अहिंसा मर मिटने की अहिंसा थी ।

१९२३ की बात है । गुजरात के एक जिले में साम्प्रदायिक दंगा बड़े जोर का हुआ था । वहाँ से कुछ भाई भाग कर गाँधीजी के पास साबरमती आये । आक्रमकों के अत्याचारों की उन्होंने बड़ी शिकायत की । सब बड़े दुःख लेकिन शांति के साथ सुनकर गाँधीजी ने उनसे पूछा-'तो तुम लोगों ने इसके मुकाबले में क्या किया ?'

'करते क्या ? आपकी अहिंसा ने हमारे हाथ-पाँव सब बाँध रखे हैं । इसी से हमारी पिटाई होती है ।' 'तो फिर मुझे अपना मुँह दिखाने क्यों आए हैं ? जाइये अनाचार करने वालों से संघर्ष करिए चाहे वे किसी भी सम्प्रदाय के क्यों न हों ।' शिकायत करने आए व्यक्ति अपनी गलती समझ चुके थे ।

महाराणा प्रताप जब आक्रमणों से जूझ रहे थे, तो एक बार निराशा के क्षणों में उनमें आत्मबल का

महाराणा में आत्मबल का संचार

संचार उनकी पत्नी ने किया था । यह उनकी कर्तव्यपरायणता का ही चमत्कार था कि वे अन्त तक मोर्चे पर बने रहे ।

स्वतन्त्रता संग्राम में जूझते हुए राणा प्रताप वनपर्वतों में अपने छोटे-परिवार सहित मारे-मारे फिर रहे थे । एक दिन ऐसा अवसर आया कि खाने के लिए कुछ भी नहीं । अनाज को पीसकर उनकी धर्मपत्नी ने जो रोटी बनाई थी उसे भी वनबिलाव उठा ले गया । छोटी बच्ची भूख से व्याकुल होकर रोने लगी ।

राणा प्रताप का साहस टूटने लगा । वे इस प्रकार बच्चों को भूख से तड़प कर मरते देखकर विचलित होने लगे । मन में आया शत्रु से संधि कर ली जाय और आराम की जिन्दगी बितायी जाय ।

रानी को अपने पतिदेव की चिंता समझने में देर न लगी । उसने प्रोत्साहन भरे शब्दों में कहा-'नाथ ! कर्तव्यनिष्ठा किसी भी मूल्य पर गँवायी नहीं जा सकती, सारे परिवार के भूखों या किसी भी प्रकार मरने के मूल्य पर भी नहीं ।'

प्रताप का उतरा हुआ चेहरा फिर चमकने लगा । उसने कहा-प्रिये ! तुम ठीक ही कहती हो । सुविधा का जीवन तुच्छ जीव भी बिता सकते हैं पर कर्तव्य की कसौटी पर तो मनुष्य ही कसे जाते हैं । परीक्षा की इस घड़ी में हमें खोटा नहीं खरा ही सिद्ध होना चाहिए ।

राणा वन में से दूसरा आहार ढूँढ़कर लाये और उनने दूने उत्साह से स्वतन्त्रता संग्राम जारी रखने की गतिविधियाँ आरम्भ कर दीं ।

यान्ति साहसिका ह्याग्रे सफलाः सपराक्रमाः ।
भवन्ति, प्रतिकूलाभिः स्थितिभिर्युद्धमाचरेत् ॥ ८४॥
अनीत्या युद्धयमानै र्न गण्येतां हानिलाभकौ ।
प्रखरताया विना नैव कुत्रापि प्रोद्भवेत् ॥ ८५॥
पराक्रमः श्लाघनीयः सार्थं साहसिकोमिलेत् ।
सौजन्यं शोभते स्फीतं जायते साहसेन च ॥ ८६॥

टीका-साहसी ही आगे बढ़ते हैं, पराक्रमी ही सफल होते हैं । प्रतिकूलताओं से जूझना ही पड़ता है, अनीति से टकराने में हानि-लाभ का विचार नहीं करना चाहिए । प्रखरता के बिना किसी भी क्षेत्र में कोई बड़ी प्रगति कर सकने में सफल नहीं होता । पराक्रम ही सराहा जाता है । साहसी को साथी मिलते हैं । सज्जनता की शोभा साहसिकता से ही निखरती है ॥ ८४-८६ ॥

व्याख्या-साहसी का जीवन क्रम किस प्रकार होता है, इस पर किसी कवि ने कहा है-

''लीक लीक गाड़ी चले, लीकहिं चले कपूत ।
बिना लीकके ये चले, शायर, सिंह, सपूत ॥''

ऐसे बिना किसी बंधन के प्रतिकूलताओं से मोर्चा लेकर भी, घाटा सहकर भी आनन्द लेने वाले सच्चे पराक्रमी कहे जाते हैं । सज्जनता और साहस दोनों का अद्भुत युग्म ऐसे नर पुंगवों में देखने को मिलता है । इस पथ पर चलते-चलते उन्हें साथी मिलते चले जाते हैं । महात्मा गाँधी को अफ्रीका आन्दोलन से भारत को स्वतन्त्रता मिलने तक बराबर साथी मिलते चले गए । अंग्रेजों से जूझते हुए भी 'महात्मा' नाम के अनुरूप शालीनता को यथावत् रखते हुए उनमें वह प्रखरता थी कि सम्राट व वाइसराय उनसे आँख नहीं मिला पाते थे ।

ऐसे जितने भी व्यक्ति ऊँचे उठे हैं, अपने साहस, प्रखरता सम्पादन के बल पर ही । गोपालकृष्ण गोखले, लोकमान्य तिलक, गणेश शंकर विद्यार्थी, वल्लभभाई पटेल, लाला लाजपतराय जैसे महामानव अपनी प्रखरता के बल पर ही सम्मान पा सके और भारत भूमि की स्वतन्त्रता हेतु अपना जीवनोत्सर्ग कर सदा के लिए अमर हो गए । प्रखरता वह आध्यात्मिक गुण सम्पदा है जो सज्जनता के साथ शोभा पाकर निखर उठती है । ऐसे व्यक्ति आत्मबल के सहारे बिना किसी भय के बढ़ चलते हैं ।

दुर्वासास्तु महर्षिः स मान्यतानां समर्थनम् ।
श्रुत्वा स्वानां प्रसन्नो ऽभूद्विवशो ऽचिन्तयत्तथा ॥ ८७॥
क्रोधावेशाच्च पङ्गु स्यान्नरो ऽन्याञ्छिक्षयेत्किमु ।
विकृतो जायतेऽसिद्धः किं परान् साधयेदहो ॥ ८८॥
संशोधनविधौ भावं गृहीत्वा सर्वदैव तु ।
चिकित्सकस्य रुग्णस्य स्निग्धं परुषमाचरेत् ॥ ८९॥

टीका-महर्षि दुर्वासा अपनी मान्यताओं का समर्थन सुन कर प्रसन्न तो हुए पर साथ ही यह भूल सुधारने के लिए भी विवश हुए कि क्रोध के आवेश में मनुष्य स्वयं अपंग हो जाता है और दूसरों को सुधारने की अपेक्षा अपने को ही बिगाड़ बैठता है । स्वयं न सुधरा हुआ दूसरों को क्या सुधारेगा । सुधार प्रक्रिया में रोगी और चिकित्सक का भाव रखकर स्नेहभरी कठोरता बरतने की आवश्यकता है ॥ ८७-८९ ॥

व्याख्या-सारा प्रतिपादन सुनकर महर्षि दुर्वासा ने यह अनुभव किया कि प्रखरता की महत्ता तो है पर वह आवेश युक्त न होकर शालीनता युक्त हो । सुधारने की प्रक्रिया में यदि व्यक्ति स्वयं आवेशग्रस्त हो जाय तो उसके वचनों का कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा । ऐसे व्यक्ति दूसरों को क्या सुधारेंगे । संत तो चिकित्सक के समान होता है जो आवश्यकता पड़ने पर हितकारी परामर्श भी पथ्य व कड़वी दवा के रूप में कठोरता पूर्वक देता है और स्नेह सहानुभूति भी । सन्निपात की अवस्था में रोगी उसे कुछ भी कह दे, वह उसे कुछ नहीं कहता । पर जहाँ आवश्यकता पड़ती है वहाँ उससे कठोरता से पेश आने में भी कोई कमी नहीं छोड़ता । इसलिए सज्जनता व प्रखरता साथ चलना चाहिए । आवेश में आने वाला समय आने पर अपने बल का भी प्रयोग नहीं कर पाता ।

आवेशग्रस्त मृतक समान

जब तक रावण दुर्वचन बोल रहा था तब तक राम चुपचाप खड़े रहे । विभीषण ने कहा-'भगवन् ! आप शस्त्र प्रहार क्यों नहीं करते ?' राम बोले-'क्षत्रिय मृतकों पर शस्त्र प्रहार नही करते ।' 'लेकिन रावण तो जीवित है भगवन्'-विभीषण बोले । इस पर राम ने हँसकर उत्तर दिया-'आवेशग्रस्त मनुष्य और मृतक में कोई अन्तर नहीं क्योंकि उस समय भी मनुष्य मृत्यु के समान ही ज्ञान शून्य हो जाता है ।'

चण्ड कौशिक की क्रोध से दुर्गति

चण्डकौशिक ने प्रचण्ड तप तो किया पर उन्होंने क्रोध का शमन न किया । वह दुष्ट दुर्गुण उनमें ज्यों का त्यों बना रहा । एक दिन उनके पैर से मेढक कुचल कर मर गया । साथी तपस्वी ने इस प्रमाद की ओर उनका ध्यान आकर्षित किया तो चण्डकौशिक आग बबूला हो गये । वे उस साथी को मारने दौड़े । क्रोध में मनुष्य अन्धा हो जाता है । आवेश में उन्हें बीच में खड़ा खम्भा भी न दीख पड़ा । दौड़ते हुए उसी से टकरा गये । यही चोट उनकी मृत्यु का कारण बन गई । मोहवश उन्होंने उसी आश्रम में फिर जन्म लिया और साधना के द्वारा उसी के संचालक बने, फिर भी उनका क्रोध गया नहीं ।

एक बार कुछ भक्तजन उपहार और पूजा उपकरण लेकर उपस्थित हुए । भक्तों के व्यवहार और उपहार में उन्हें कुछ दोष दीखा तो वे क्रुद्ध होकर मारने दौड़े । भक्त आगे, अधिपति पीछे दौड़े । दौड़ तेजी से चल पड़ी । आवेश ने उन्हें पागल जैसा बना दिया था । रास्ते में व्यवधान भी उन्हें सूझ न पड़े । कुँए में पैर पड़ा और उसी में उनकी मृत्यु हो गयी ।

तीसरी बार भी चण्डकौशिक का जन्म उसी आश्रम में हुआ । अबकी बार वे भयंकर विषधर सर्प की देह लेकर जन्मे । जो कोई उधर से निकलता उसी का पीछा करते और जो पकड़ में आ जाता, डसकर उसका प्राण हरण कर लेते । भगवान महावीर एक बार उस आश्रम में पधारे तो उन्हें भी चण्डकौशिक के क्रोध का भाजन बनना पड़ा । दंशन से उनका पैर क्षत-विक्षत हो चला, फिर भी करुणा की उस प्रतिमूर्ति के चेहरे पर क्रोध न आया । वे मुस्कराते रहे और उस क्षुद्र प्राणी को अपनी अनन्त क्षमा का पात्र बनाये रहे । आश्रमवासी उस दुष्ट जीव को मारने आये तो उन्होंने रोक दिया । भगवान की दिव्य सत्ता को पहचान कर सर्प योनि में बैठे चण्डकौशिक ने पश्चात्ताप व्यक्त किया ।

उन्हें भगवान के उपदेश सुनने के बाद मुक्ति मिली । फिर मानव देह में जन्म लेकर उन्होंने क्रोध के शमन हेतु तप किया और सिद्ध पुरुष बने ।

सिंह का आत्मघात

क्रोधी अपना आपा भूल अपंग हो उठता है और समय आने पर तुच्छ-सा जीव उसके विनाश का कारण बनता है । एक जंगल में एक सिंह रहता था । प्राय: सिंहों का स्वभाव होता है कि वे हिंसक वृत्ति के होते हुए भी अकारण हिंसा नहीं करते । किन्तु यह सिंह बड़ा अहंकारी था और प्रकृति के नियम का अपवाद करता था । जंगल के सारे जानवर परेशान थे । अस्तु एक छोटे से खरगोश ने उसे खत्म करने का निश्चय कर लिया । उसने बुद्धि का सहारा लिया और एक दिन उस दुर्बुद्धि सिंह का विनाश कर दिया ।

उसने शेर की मांद के पास एक छोटा बिल बनाया और उसमें बैठकर उसे गाली देने लगा । शेर ने सुना तो क्रोध से पागल हो गया । शेर बिल के भीतर तो घुस नहीं सकता था । इसलिए बिल के मुँह पर बैठकर उसके निकलने की प्रतीक्षा करने लगा । फल यह हुआ कि चार-छ: दिन बाद भूखा प्यासा क्रोधी सिंह तड़प-तड़प कर मर गया । उसका क्रोध स्वयं उसे ही खा गया । क्रोधी की यही दशा होती है ।

बुद्ध को सज्जनता

बुद्ध से आनन्द ने कहा-"जहाँ हम जा रहे हैं, वहाँ तो बहुत विरोधी हैं । हम कैसे उनका सामना करेंगे ।" बुद्ध ने कहा-"भदन्त ! अधिक से अधिक वे गाली देंगे । बस चला तो मारेंगे । पर यदि हम आत्मबल सम्पन्न हैं, अपने उद्देश्य पर दृढ़ हैं तो बिना हमारे आवेश में आए हमारे विरोधी शांत हो जाएँगे ।" इन शब्दों ने शिष्यों का मनोबल बढ़ा दिया व वे दुगुने साहस से परिव्रज्या पर चल पड़े ।

समाप्तं पञ्चमं सत्रं तदारण्यकमथात्र ते ।
श्रोतारो ब्रह्मविद्याया महत्वं मेनिरे भृशम् ॥ ९०॥
प्रतिपादितं तया यच्च तदाध्यात्मिकवैभवम् ।
गरिमापञ्चशीलस्य सावधानैरबुद्धयत ॥ ९१॥
आध्यात्मिकत्वमास्तिक्यं धार्मिकत्वमुदारहृत् ।
भक्तिभावस्तु यस्तास्यानौचित्यस्यापि सम्मुखे ॥ ९२॥
संघर्षशीलतां प्राप्तुं व्रतिनस्ते ऽभवन् समे ।
संस्कृतर्देवतानां तु निर्धारणगणस्य तु ॥ ९३॥
आलोकं प्रतिवेश्माथ गत्वा लोकस्य मानसे ।
संस्थापितुं प्रव्रज्यायां चर्चायां तेऽचलन्मुदा ॥ ९४॥
इत्थं पञ्चदिनस्येदं सत्रमारण्यकं बृहत् ।
सोत्साहं च समुल्लसं साफल्यं समुपेयिवान् ॥ ९५॥

टीका-पाँचवे दिन का आरण्यक सत्र समाप्त हुआ । श्रवण कर्त्ताओं ने ब्रह्मविद्या का महत्व समझा तथा उसके प्रतिपादित आध्यात्मिक पंचशीलों की गरिमा को ध्यानपूर्वक समझा और वे आध्यात्मिकता, आस्तिकता, धार्मिकता, उदार भक्ति भावना तथा अनौचित्य के विरोध में संघर्ष-शीलता अपनाने के लिए व्रतशील हुए, साथ ही देव-संस्कृति के इन सभी निर्धारणों का आलोक घर-घर जाकर जन-जन के मन-मन में उतारने के लिए प्रव्रिज्या पर प्रसन्नतापूर्वक निकल पड़े । इस प्रकार वह पंचदिवसीय आरण्यक सत्र बड़ी सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ और उत्साह भरे वातावरण में समाप्त हो गया ॥ ९०-९५ ॥

इति श्रीमत्प्रज्ञापुराणे ब्रह्मविद्याऽऽत्मविद्ययोः, युगदर्शनयुगसाधनाप्रकटीकरणयोः
श्री पिप्पलाद-दुर्वासा ऋषि-सम्वादे "पराक्रम-प्रतिरोध
साहस-संघर्षयो," ति प्रकरणो नाम
षष्ठोऽध्यायः ॥ ६ ॥

।। अथ सप्तमोऽध्यायः ।।

卐 युगान्तरीयचेतना-लीला सन्दोह प्रकरण 卐

उमाशङ्करसंवादामरां श्रुत्वा कथां तु यः ।
निवृत्तो जन्ममृत्युभ्यां शुककायनिवासकः ॥ १ ॥
वैशम्पायन एकस्मिन् दिनेऽगान्मेरुपर्वते ।
महालयैकशेषं तं मार्कण्डेयं सभाजितुम् ॥ २ ॥
हर्षान्वितावुभौ नत्वाऽन्योन्यं तावृषिसत्तमौ ।
चर्चायां परमार्थायां मार्कण्डेयं स पृष्टवान् ॥ ३ ॥

टीका-शिव-पार्वती संवाद की अमर कथा सुनकर जरा-मृत्यु से निवृत्त हुए शुककाया में निवास करने वाले महर्षि वैशम्पायन का एक बार सुमेरु पर्वत पर महाप्रलय में भी एक मात्र जीवित रहने वाले देवात्मा मार्कण्डेयजी से समागम हुआ । दोनों ने हर्षाभिव्यक्ति की और नमन-वन्दन के उपरान्त परमार्थ चर्चा करने लगे । वैशम्पायन ने मार्कण्डेयजी से पूछा ॥ १-३ ॥

व्याख्या-महर्षि वैशम्पायन एवं देवात्मा मार्कण्डेयजी का एक दूसरे से मिलना व युगान्तरीय चेतना के संदर्भ में समागम कर परस्पर जानकारी प्राप्त करना एक ऐसे तन्त्र का द्योतक है जो युगों-युगों से ऋषिगणों के मध्य चलता चला आया है । इसी माध्यम से वे अदृश्य जगत की भूत, वर्तमान व भविष्य की गतिविधियों का पर्यवेक्षण, विश्लेषण एवं क्रियान्वयन हेतु निर्धारण करते आये हैं ।

महर्षि वैशम्पायन ने शुकयोनि में तत्वज्ञान सुना था । शिव-पार्वती की तत्व दर्शन चर्चा में आसपास कोई जीवधारी शेष न रहा था, विधि का विधान ही कुछ ऐसा था कि शुकयोनि में बैठे महर्षि महाप्रज्ञा के उस तत्वज्ञान का श्रवण कर सके जिसने उन्हें अमर बना दिया । काया बदलती रहती है पर यह ब्रह्मज्ञान शाश्वत है ।

उनसे चर्चा कर रहे देवात्मा मार्कण्डेय जी मृकण्ड ऋषि के पुत्र थे । वे भी चिरायु माने जाते हैं । जिस समय प्रलय ने सारे जगत को निगल लिया, उस समय भी वे बचे रहे, यह आख्यान यही स्पष्ट करता है कि देवात्माओं का महाप्रलय भी कुछ नहीं बिगाड़ पाती । अपने शील व परहित हेतु तपस्या के कारण ऋषि मार्कण्डेय भगवान शंकर से वरदान पाकर अजर, अमर हुए, भूत-भविष्य और वर्तमान के सभी ज्ञानों के ज्ञाता बने तथा पुराणों का आचार्यत्व भी उन्हें प्राप्त हुआ ।

प्रलय का अर्थ है-महाविनाश, संहार । खण्ड प्रलय अनेक कल्पों में होती रही है । यह भगवान की माया का ही वैभव है मनुष्य को सत्पथ पर लाने के लिए । ऐसी कठिन परिस्थितियों में भी देवात्मा पुरुष जीवित रहते हैं और संहार के बाद सृष्टि प्रक्रिया को आगे बढ़ाते हैं । भगवान भी विनाश के बाद सृजन चाहते हैं । अतः उनकी सहायता करते है ।

ब्रह्माजी ने प्रलय के समय मानव बीजों की रक्षा की ताकि अपना प्रजापति वाला कर्तव्य तदुपरांत निभा सकें व सृष्टि बनी रहे । इसी प्रकार रावण का भगवान के हाथों संहार हुआ परन्तु देवपुरुष विभीषण जीवित रहे तथा वे भी चिरायु माने जाते हैं । महाभारत युद्ध एक विनाशलीला के रूप में सम्पन्न हुआ जिसमें अधिसंख्य लोग मारे गये परन्तु श्रीकृष्ण समर्पित धर्म परायण पाण्डवादि जीवित रहे । यह अनादि काल से चला आ रहा सृष्टि का क्रम है ।

वैशम्पायन उवाच-

प्रज्ञायुगसमारम्भे मन्त्रणातिमहत्वगा ।
विष्णुनारदयोर्मध्ये जाता मङ्गलदा नृणाम् ॥ ४॥
योजना निश्चिता सैका नीतिर्निर्धारिताऽभूत् ।
इत्येव ज्ञातं तत्राग्रे किमभूद् विदितं न हि ॥ ५॥
त्रिकालज्ञो भवाँस्तत्र सन्दर्भे विश्वमङ्गले ।
अद्यावधि ह्यभूत्किं च भाव्यग्रे कृपया वद ॥ ६॥

टीका-देव ! जब प्रज्ञायुग का शुभारम्भ हो रहा था तब भगवान् विष्णु देवर्षि नारद के बीच कुछ गुप्त मंत्रणा हुई थी जो मनुष्यों के लिए मङ्गलमय थी । एक योजना बनी और एक नीति निर्धारित हुई थी, इतना ही विदित है । उस प्रसंग में आगे क्या हुआ, इसकी कोई जानकारी नहीं मिली । आप त्रिकालज्ञ हैं । उस मंगलमय संदर्भ को बताने का अनुग्रह करें कि अब तक क्या हो चुका और आगे क्या होने वाला है ॥ ४-६ ॥

व्याख्या-प्रथम अध्याय में देवर्षि नारद की जिस जिज्ञासा का समाधान भगवान विष्णु ने किया व तदनुसार मानवता के परित्राण हेतु निर्देश दिये थे, उस सम्बन्धी योजना की जानकारी तो त्रिकालज्ञ ऋषियों को थी । परन्तु इसे समग्र रूप में किस प्रकार क्रियान्वित किया गया, महर्षि वैशम्पायन अपनी जिज्ञासा इस संदर्भ में प्रकट करते हैं एवं प्रज्ञावतार लीला प्रकरण का विस्तार, महाकाल द्वारा योजना बद्ध रूप से संचालित कार्य पद्धति तथा भविष्य की सम्भावनाओं के विषय में उनसे अपना मन्तव्य बताने का अनुरोध करते हैं । परिस्थिति की समय-समय पर होने वाली समीक्षा का यह एक शाश्वत क्रम है ।

देवात्मा स समाकर्ण्य मार्कण्डेयो महामुनिः ।
जिज्ञासां, मुमुदेऽत्यर्थं दिव्यां दृष्टिं समाश्रयत् ॥ ७॥
तया भूतं भविष्यच्च दृष्टवान् ध्यानपूर्वकम् ।
ततो गम्भीरमुद्रायां वाण्या संस्कृतयाऽगदत् ॥ ८॥

मार्कण्डेय उवाच-

कायेनामर ! वैशम्पायन ! तं तु महामुने ।
प्रसंगं रोचकं चापि मार्मिकं शृणु ध्यानतः ॥ ९॥

टीका-देवात्मा मार्कण्डेय इस जिज्ञासा को सुनकर बहुत प्रसन्न हुए । उन्होंने अपनी दिव्य दृष्टि को केन्द्रित किया और उससे भूत और भविष्य को ध्यानपूर्वक देखा । वर्तमान में क्या हो रहा है यह भी जाना । तदनुसार गम्भीर मुद्रा में सुसंस्कृत वाणी से तथ्यों पर प्रकाश डालते हुए बोले- 'हे काया से अमर महामुनि वैशम्पायन ! वह प्रसंग बड़ा ही रोचक और मार्मिक है, तुम ध्यानपूर्वक सुनो ॥ ७-९ ॥'

व्याख्या-त्रिकालज्ञ ऋषियों के लिए काल-मन्वन्तर कोई अर्थ नहीं रखते । चौदह मन्वन्तर बताये गये हैं जो भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों ही कालों में चलते रहते हैं । इन्हीं के द्वारा एक सहस्र चतुर्युगी वाले कल्प के समय की गणना की जाती है ।

काल मन्वन्तर- एक शाश्वत सनातन क्रम

ऋतुएँ अपने चक्र पर घूमकर एक वर्ष बाद जहाँ की तहाँ आ जाती हैं । सूर्य जहाँ आज उदय हुआ था २४ घण्टे बाद फिर वहीं से उदय होता है । जीव जन्म लेता है, बढ़ता है, मर जाता है फिर अगले जन्म में उसी क्रम को दुहराता है । पृथ्वी अपनी धुरी पर एक दिन में एक परिभ्रमण करती है और वर्ष में सूर्य की एक परिक्रमा करती है । यही क्रम वह अनादिकाल से असंख्यों बार दुहराती चली आ रही है । युग, मन्वन्तर, कल्प आदि अपने क्रम को इसी प्रकार दुहराते हैं एवं सृष्टि और प्रलय का चक्र भी यथावत् चलता रहता है ।

इतिहास का भी यही क्रम है । व्यक्तियों और घटनाओं से हेर-फेर होता रहता है पर वस्तुतः वही सब होता है जो प्राचीन काल में कभी हुआ है अथवा होने वाला है । सूक्ष्म दृष्टि सम्पन्न ऋषि गण अपने दिव्य चक्षुओं से भविष्य की झाँकी देख लेते हैं । वाल्मीकि ने भविष्य को देखा और रामायण का सृजन कर डाला । संजय ने महाभारत की घटनाओं का वर्णन इसी प्रकार अपनी दिव्य दृष्टि से किया ।

भगवान् के २४ अवतारों का वर्णन श्री मद्भागवत पुराण के ग्यारहवें स्कन्ध के चौथे अध्याय में हुआ है, जिसमें राजा निमि की जिज्ञासा शान्त करते हुए योगीश्वर द्रुमिल ने अपनी दिव्य दृष्टि से आदि पुरुष से लेकर निष्कलंक अवतार तक का वर्णन किया है । पिछले २३ अवतारों के बारे में जो भी कहा है वे घटनाक्रम भिन्न-भिन्न समयों, कल्प, मन्वन्तरों में घटित हुए हैं ।

प्रस्तुत संदर्भ में चिरायु, त्रिकालदृष्टि सम्पन्न मार्कण्डेयजी प्रज्ञायुग के शुभारम्भ, उस अवधि में घटे घटनाक्रमों, जागृतात्माओं के योगदान, वर्तमान के क्रियाकलाप व भविष्य की झाँकी को अपनी दिव्यचक्षु से ध्यानस्थ हो देखकर अपनी अमृतवाणी से वैशम्पायन जी की जिज्ञासा का समाधान करते हैं ।

भगवतेऽर्पितकायः स तदिच्छाचिन्तको मुनिः ।
कर्ता तदनुसारं यो देवर्षिर्नारदः स्वकाम् ॥ १० ॥
भक्तिप्रसारिकां भूतकालिकीं कार्यपद्धतिम् ।
परिवर्तितरूपां स व्यधात्कालज्ञ आप्तवाक् ॥ ११ ॥
युगधर्मानुरूपस्य ज्ञानस्यापि च कर्मणः ।
उत्कृष्टता प्रसारे च विस्तरे निरतोऽभवत् ॥ १२ ॥

टीका-भगवान् के लिए समर्पित, उन्हीं की इच्छानुसार सोचने और करने वाले देवर्षि नारद ने अपनी भूतकाल की भक्ति प्रसार वाली कार्य पद्धति बदल दी, चूँकि वह कालज्ञ तथा आप्त हैं । युग धर्म के अनुरूप ज्ञान और कर्म की उत्कृष्टता का प्रसार करने लग गये ॥ १०-१२ ॥

व्याख्या-भगवान के लिए समर्पित व्यक्ति उन्हीं की इच्छानुसार चलता है, अपनी क्रिया पद्धति का निर्धारण करता है ।

समर्पण चन्दन के समीप उगे झाड़-झंखाड़ों के सुगन्धित बन जाने और उसी मूल्य में बिकने की किम्बदन्ती है । पारस को छूकर काले, कुरूप और सस्ते मोल वाले लोहे का सोने जैसे गौरवास्पद बहुमूल्य धातु में बदल जाना प्रख्यात है । स्वाँति की बूँदों से लाभान्वित होने पर सीप जैसी उपेक्षित इकाई को मूल्यवान् मोती प्रसव करने का श्रेय मिलता है । पेड़ से लिपटकर चलने वाली बेल उसी के बराबर ऊँचे जा पहुँचती और अपनी प्रगति पर गर्व करती है, जबकि वह अपने बलबूते मात्र जमीन पर ही थोड़ी दूर रेंग सकती है । उसकी दुर्बल काया को देखते हुए इतने ऊँचे चढ़ जाने की बात किसी प्रकार समझ में नहीं आती किन्तु पेड़ का सान्निध्य और लिपट पड़ने का पुरुषार्थ जब सोना सुहागा बनकर समन्वय बनाते हैं तो उससे महान पक्ष की तो कुछ हानि नहीं होती, पर दुर्बल पक्ष को अनायास ही दैवी वरदान जैसा लाभ मिल जाता है । ये उदाहरण बताते हैं कि प्रभु की इच्छा के साथ अपनी क्रिया मिला देना हमेशा अप्रत्याशित सौभाग्य बनकर सामने आता है ।

भगवान की भक्ति का स्वरूप भी समयानुसार बदलता है । वे स्वयं परम्परावादी नहीं है । जब वे युग की आवश्यकतानुरूप अपना स्वरूप बदल कर अवतार लेते हैं तो अपने भक्त से यही अपेक्षा रखते हैं कि युग धर्म के अनुसार वे अपनी क्रिया प्रणाली को बदलें । देवर्षि नारद ने इसी कारण भक्ति प्रसार की अपनी पद्धति को बदला एवं जन-जन में उत्कृष्टता, आदर्शवादिता के प्रचार-प्रसार हेतु सहयोग एकत्र करने में लग गये ।

भक्ति अपने आप में आवश्यक तो है पर बिना ज्ञान व कर्म के अपूर्ण है । जितने भी महामानव हुए हैं उन्होंने सत्कर्म, सद्ज्ञान व सद्भाव की त्रिवेणी में स्वयं भी स्नान-अवगाहन किया है व औरों को भी इस ओर प्रेरित किया है । ज्ञान का समावेश अज्ञानजन्य भ्रान्तियों को दूर कर व कर्म का समावेश अभाव जन्य दुःख-दारिद्र्य का निवारण कर

आदर्शों के प्रति समर्पण को साकार कर साधना को समग्र व साकार बनाता है ।

युगधर्म के अनुरूप ही समर्थ गुरु रामदास ने संन्यासी वेश में 'जय श्री रघुवीर समर्थ' का नारा लगाकर आतताई आक्रमणकारियों के विरुद्ध सामर्थ्य अर्जित कर संघर्ष करने का आह्वान किया था । इस पुकार को सुनकर छत्रपति शिवाजी सहित अनेक जागृत आत्माएँ आगे आईं व उस आपत्ति काल में धर्म-संस्कृति की रक्षा उन्होंने की । बन्दा बैरागी से गुरु गोविन्दसिंह जी ने आवश्यकता के अनुसार चोला बदलकर देशधर्म की रक्षार्थ जुट जाने का आह्वान किया, उन्होंने अपने कर्तव्य को समझा व कार्यपद्धति को बदल दिया ।

भक्ति तो आज भी जरूरी है पर युग के अनुसार उसका स्वरूप बदल गया है । आज चिंतन में व्याप्त भ्रष्टता और अंत: में छाई असुरता निवारण हेतु आदर्शवादी उत्कृष्टता का प्रचार-प्रसार जरूरी है । यह भी भक्ति का ही स्वरूप है । केवट ने नाव चलाकर, शबरी ने बेर खिलाकर, गिलहरी ने रेत उठाकर, जटायु ने जूझकर अपनी भक्ति का परिचय दिया था । सभी ने एक जैसा क्रम क्यों नहीं अपनाया-यह पूछने वालों को मूढ़मति ही कहा जायेगा और माना जायेगा कि वे समय की माँग की उपेक्षा करने वाले विवेकहीन प्रश्नकर्त्ता हैं ।

पाणिनि ने व्याकरण रचा और पातंजलि ने योग, व्यास ने पुराण लिखे और चरक ने वनस्पति जगत खोज निकाला । नागार्जुन ने रसायन विद्या का अनुसंधान किया और चाणक्य ने राजनीति को लक्ष्य बनाया । बुद्ध के चीवरधारी और गाँधी के सत्याग्रही वेश विन्यास भी भिन्न प्रकार के धारण किये रहे और कार्यविधि भी एक जैसी नहीं थी, फिर भी युग परिवर्तन की दृष्टि से उनके योगदानों को समान रूप से सराहा जायेगा । परशुराम का कुल्हाड़ा और धन्वन्तरि का अमृत घट आकृति और प्रकृति में भिन्न थे किन्तु लक्ष्य एक ही था । चेतना जगत में सदा समय की आवश्यकता और उसके समाधान हेतु चयन-निर्धारण ही काम देता रहेगा । इसकी उपेक्षा करके जो पुरातन और शाश्वत को एक मानते रहेंगे वे तत्वदर्शन के क्षेत्र में हठी बालकों की तरह अपरिपक्व अदूरदर्शी ही गिने जाते रहेंगे ।

महाप्राज्ञस्य सम्पन्ना पिप्पलादस्य पञ्चमे ।
तत्त्वावधाने पूर्वं तु प्रसङ्गाँस्तान् महामुने ॥ १३॥
आद्ये प्रज्ञापुराणस्य खण्डे पूर्णं न्ययोजयत् ।
प्रसङ्गस्यास्य वृतान्तां वरिष्ठैर्युगपूरुषैः ॥ १४॥
जनं जनं ज्ञापितुं स तत्परोऽभवदेव हि ।
नूतना चेतना येन दीप्यते तेषु सा ऽ निशम् ॥ १५॥
सृजनस्याथ रूपे हि कर्मचैतन्य एव तत् ।
प्रज्ञाभियानं तस्यैव प्रयासस्याङ्गतांग ॥ १६॥
दावानल इवाभूत्स प्रचण्डो व्यापकस्तथा ।
झञ्झावातसमानश्च निरन्तरमथाप्यभूत् ॥ १७॥

टीका-हे मुने ! महाप्राज्ञ पिप्पलाद के तत्वावधान में सम्पन्न हुए प्रज्ञा सत्र के पाँचों प्रसंगों को उनने प्रज्ञा पुराण के प्रथम खण्ड के रूप में सुनियोजित किया और प्रसंग की जानकारी वरिष्ठ युग पुरुषों के माध्यम से जन-जन तक पहुँचाने में जुट गये, जिससे उनमें नई चेतना का स्फुरण प्रारम्भ हो गया । सृजन की कर्म चेतना के रूप में प्रज्ञा अभियान भी उसी प्रयास का अंग बना और दावानल की तरह प्रचण्ड तथा आँधी-तूफान की तरह व्यापक होता चला गया ॥ १३-१७॥

व्याख्या-इस प्रकरण में देवात्मा मार्कण्डेय प्रज्ञा सत्रों की जानकारी महर्षि वैशम्पायन को देते हैं और युग परिवर्तन की पृष्ठभूमि प्रज्ञा अभियान की सृजन चेतना का आभास उन्हें दिलाते हैं । वे स्पष्ट करते हैं कि चेतन जगत में घुमड़ रहे परिवर्तन उसी महाप्रज्ञा-भगवत् सत्ता के शक्ति प्रवाह के ही अंग हैं जो आने वाले समय में युगान्तरीय भूमिका निभाने जा रही है । सूक्ष्म जगत में चलने वाले प्रवाहों की प्रतिक्रिया से सभी परिचित हैं । लोक प्रवाह में जब अवांछनीयता की विषाक्तता भर जाती है तो पतन-पराभव का संकट

उठ खड़ा होता है । उनका निराकरण भी सूक्ष्म जगत में ही होता है । उसका तूफानी प्रभाव सारे वातावरण को झकझोर डालता है ।

आँधी आती है तो तिनके भी आकाश में उड़ने लगते हैं । सघन वर्षा की बूँदें इतनी शक्तिशाली होती हैं कि मकानों तक को गिरा देती हैं । दावानल की तीव्रता समुद्र को भी उबालकर भाप बनने पर विवश कर देती है । इसी प्रकार समय के प्रवाह में तिनकों-पत्तों की तरह अगणित व्यक्ति बहते चले जाते हैं । आँधी का रुख जिधर होता है उधर ही पेड़ों, डालियों और पौधों की कमर झुकी दिखाई देती हैं । इसे प्रवाह का दबाव कह सकते हैं । दूसरी ओर प्रखर व्यक्तियों की समष्टि चेतना भी इस प्रकार के वातावरण के निर्माण का कारण बनती हैं । ओजस्वी, तपस्वी स्तर की प्रतिभाएँ अपनी प्रचण्ड ऊर्जा से वातावरण को गरम करती हैं और इस गर्मी से परिस्थितियों के प्रवाह में असाधारण मोड़ आते और परिवर्तन होते हैं ।

सृजन की प्रेरणा ऐसे ही प्रयासों को जन्म देती आयी है । भगवान राम के आह्वान पर देवशक्तियाँ सेतुबन्ध हेतु नल-नील वानरों के रूप में आयीं तो श्रीकृष्ण के साथ मिलकर ग्वालों के रूप में उन्होंने गोवर्धन पर्वत उठवाया। बुद्ध ने विवेक धर्म एवं संगठन की शरण लेने हेतु जागृतात्माओं का आह्वान किया और युग की पुकार पर अवांछनीयताओं का विरोध करने भिक्षुओं का विशाल समुदाय उनके साथ हो गया । इसी इतिहास की पुनरावृत्ति अब होने जा रही है । वर्तमान में चल रही गतिविधियाँ उसी समष्टिगत प्रयास का एक अभिन्न अंग हैं ।

जागृतात्मभिराधारे तस्मिन्नाकर्ण्य मन्त्राणाम् ।
युगस्य, जीवनं येषु श्लथं ते भवबन्धनम् ॥ १८॥
कुर्वन्तो युगधर्मस्य निर्वहि निरता मुदम् ।
एको दीपोह्यनेकाँस्तान् दीपानज्वालयत्क्षणात् ॥ १९॥
ज्वालां गतः स्फुलिंगश्च बीजं वृक्षत्वमाश्रयत् ।
प्रभाताह्वानमाकर्ण्य तमिस्त्रानिद्रिता जनाः ॥ २०॥
आयच्छमानश्चाङ्गानि स्थिता उत्थाय चोन्नताः ।
प्रयाताः कालिकाह्वानं पूर्णं कर्तुं रताःसमे ॥ २१॥

टीका-जागृत आत्माओं ने उस आधार पर युग निमंत्रण सुना और जिनमें जीवन था, वे भव बंधनों को शिथिल करते हुए उस युग धर्म के निर्वाह में प्रसन्नता से जुट गये । एक से अनेक दीप जले, चिनगारी ज्योति-ज्वाला बनी । बीज ने वृक्ष का रूप धारण किया और प्रभात का आह्वान सुनकर तमिस्रा के कारण उनींदे पड़े लोग भी अँगड़ाई लेते उठे और तन कर खड़े हो गये, चले और समय की माँग पूरी करने में जुट गये ॥ १८-२१ ॥

व्याख्या-जब भी महाकाल का आमंत्रण आता है तो वे ही इस पुकार को सुनकर उस पर कुछ कर दिखाने का संकल्प लेते हैं जो आत्मतत्व पर छाये संकीर्ण स्वार्थपरता रूपी कषाय-कल्मषों को हटाते हुए स्वयं को उस महत् प्रयोजनों के साथ जोड़ देते हैं । भावनात्मक कृपणता ही है जो समय साम्य होते हुए भी व्यक्ति को माया के भव-बंधनों में भटकने को लाचार कर देती है ।

दो तरह के मनुष्य

मनुष्यों में भी नर पशु और देव मानव दो श्रेणियाँ पाई जाती हैं । नर पशु इन्द्रिय विलास, शरीर सज्जा और अहंता का परिपोषण करने वाली सुविधा सम्पदा चाहते हैं । बाहर से दीखने में तो वे भी मनुष्य लगते हैं पर होते हैं वस्तुतः वे जड़ कलेवर ही । इन्हें सड़न, सीलन और घुटन ही पसन्द होती है । इन्हें 'भटके हुए बालक' भी कहा जा सकता है । दूसरा वर्ग वरिष्ठों का है । वरिष्ठ वे जो अपनी समस्या का आप समाधान करके बचे पराक्रम का उपयोग दूसरों को उबारने में करते हैं । नदी की प्रचण्ड धारा के समक्ष पुरुषार्थ उस माँझी का है जिसकी माँस पेशियाँ चप्पू को दोनों हाथों से पकड़ती हैं और नाव पर लदे हुओं में पार उतारने का विश्वास भर अभय दान देती हैं ।

देवमानव व नर पिशाच

रामकृष्ण परमहंस परस्पर चर्चा में शिष्यों को बता रहे थे मनुष्यों में कुछ देवता पाये जाते हैं, शेष तो नर पिशाच ही होते हैं ।

नरेन्द्र ने पूछा-'भला इन नर पिशाचों और मनुष्यों तथा देवताओं की पहचान क्या है ?' परमहंस ने कहा-'वे मनुष्य देवता हैं जो दूसरों को लाभ पहुँचाने के लिए स्वयं हानि उठाने को तैयार रहते हैं, मनुष्य वे हैं जो अपना भी भला करते हैं और दूसरों का भी । नर पिशाच वे हैं जो दूसरों की हानि ही सोचते और करते हैं, भले ही इस प्रयास में उन्हें स्वयं ही हानि सहनी पड़े ।'

सन्त, सुधारक और शहीद

मानवी-काया में वास करने वाले व्यक्ति सन्त, सुधारक और शहीद नाम से जाने जाते हैं एवं जनसामान्य से ऊँचे स्तर के होने के कारण उनकी गणना भी छोटे-बड़े अवतारों में होती है । संत अपनी सज्जनता से मानव जीवन के सदुपयोग का आदर्श प्रस्तुत करते हैं । सुधारकों को एक कदम और आगे बढ़कर जन-जीवन पर छाये भ्रष्ट चिंतन व दुष्टाचरण के साथ जूझने का प्रबल पराक्रम करना होता है । शहीद का अर्थ है-'स्व' का 'पर' के लिए समग्र समर्पण । इसे ही समर्पण शरणागति कहते हैं । स्वार्थ का परमार्थ में उत्सर्ग करने से तात्पर्य है-लोभ, व्यामोह और अहं के बंधनों को काट फेंकना, दायरा व्यापक बनाकर लोक प्रवाह से अलग स्वयं को धर्म संस्कृति के पुनरुद्धार हेतु नियोजित कर देना ।

त्रिपुरारी महाकाल द्वारा भव बंधनरूपी दैत्यों का उन्मूलन

प्राचीनकाल की बात है । दुर्दान्त दैत्यों ने एक साथ सगे भाईयों के रूप में जन्म लिया । माया नगरी जैसे जादू भरे तीन नगर इन्होंने बसाये । सारे संसारवासी इस माया में भ्रमित हो गये, धर्म का लोप हो गया और अधर्म की विजय दुन्दुभि बजने लगी । धर्म ने प्रजापति से विनती की । प्रजापति ने महाकाल को, भगवान शंकर को इसके लिए नियोजित किया क्योंकि वे ही परिवर्तनों के अधिष्ठाता देवता हैं । पूरी बात भगवान ने सुनी और स्थिति को समझा । तीन पुर बसाने वाले वे दैत्य यद्यपि दीखते अलग-अलग थे पर वस्तुतः पूर्णतया घुले-मिले थे । उन्हें वरदान मिला हुआ था कि जब मरेंगे तो एक साथ, एक ही शस्त्र से । महाकाल ने यह स्थिति देखते हुए त्रिशूल बनाया जिसमें एक ही शस्त्र पर तीन मुख होने के कारण वह तीनों दैत्यों का एक साथ संहार कर सकता था । उन्होंने पूरे वेग से त्रिशूल का प्रहार कर तीनों दैत्यों की शक्ति को विदीर्ण कर डाला । धर्म की जीत हुए । महाकाल की इस विजय का सर्वत्र अभिनन्दन हुआ और इस विजय के उपलक्ष में उन्हें त्रिपुरारि कहा जाने लगा ।

ये त्रि पुरियाँ हैं-(१) लोभ, (२) मोह, (३) अहं । नीति का विचार किए बिना अनावश्यक संग्रह, इन्द्रियों के असंयम एवं विलासिता की वृद्धि रूपी व्यामोह तथा थोड़े से व्यक्तियों को ही अपना मानने का मोह, अपनी छुद्र सत्ता पर अहंकार एवं उद्धत महत्वाकांक्षाएँ-ये ही वे भव-बन्धन हैं, जिनमें सामान्यजन शहद के लोभ में लिपटी मक्खियों की भाँति फँसे-तड़पते जीवन बिताते हैं ।

विवेकशील, प्रज्ञावान अपने अन्दर आदर्शवादी दूरदर्शिता विकसित कर इन तीनों रिपुओं से संघर्ष करते हैं एवं प्रचण्ड पुरुषार्थ द्वारा धर्म की पुनर्स्थापना में महत्वपूर्ण योगदान देते हैं ।

कोटिशः कपिभल्लूकभूमिकां निरवाहयन् ।
एकैकशश्चमत्कारान् कुर्वन्तो युगपर्ययम् ॥ २२॥
कर्तुं ते सफला जाताः वृत्तिः शुद्धा समस्ततः ।
वैशम्पायन नैवैतत् सर्वं मायाविनिर्मितम् ॥ २३॥

टीका-करोड़ों ने रीछ-वानरों की भूमिका निभाई और एक से एक बड़े चमत्कार उत्पन्न करते हुए युग बदलने की भूमिका निभा सकने में सफल हुए । चारों ओर वातावरण शुद्ध हो गया । हे वैशम्पायन ! यह सब जादू की तरह नहीं हो गया ॥ २२-२३॥

व्याख्या-जिस युगान्तरीय परिवर्तन की चर्चा ऋषिवर यहाँ कर रहे हैं वह सामान्य नहीं एक असामान्य पुरुषार्थ है । सत्प्रयोजन हेतु किये गये आदर्शवादी सहयोगी प्रयासों को हमेशा दैवी सहायता मिलती है पर उसमें भी रीछ-वानरों जैसी भूमिका निभानी पड़ती है । इतिहास के महान परिवर्तनों में ऐसे ही अगणित पृष्ठ भरे पड़े हैं जिनसे प्रतीत होता है कि अग्रगामी लोगों की तुलना में

अवरोधों की संख्या अधिक थी, उनका पुरुषार्थ कम पड़ता था पर उदार श्रमशीलता एवं साहसिकता ने इस या उस प्रकार ऐसी अनुकूलता बनायी कि परिस्थितियाँ साथ देती चली गयीं । चमत्कार अपने आप नहीं होते, सम्पादित किए जाते हैं । युग परिवर्तन जैसा महान कार्य जब सामने हो तो कृष्ण के बाल गोपालों के सत्याग्रह से मध्यकाल की क्राँतियों तथा गाँधी के सत्याग्रह के उदाहरण देख लेना उचित होगा जिनमें असंख्यों को खपना पड़ा । यही स्रष्टा की सदा-सदा से परिवर्तन प्रक्रिया रही है । सृजन और ध्वंस दोनों का युग्म साथ चलता है ।

प्रयासेऽस्मिन्नसंख्येय देवमानवपौरुषम् ।
प्रचण्डमभिनन्द्यश्च त्यागः सन्तोषकारकः ॥ २४॥
बलिदानमभूद् यच्च सुकृतं नरजन्मनः ।
अनीतेः प्रतिरोधे च संघर्षः सहसोदितः ॥ २५॥
अज्ञानोन्मूलनं जातं दूरीकर्तुमभावकान् ।
अनेकानेकसृज्यानां प्रवृत्तीनां नियोजनम् ॥ २६॥
कार्यान्वयनमप्यत्र प्राचलत्तन्निरन्तरम् ।
युगचेतनाग्रदूतास्ते प्रज्ञापुत्रस्वरूपिणः ॥ २७॥

टीका–इस प्रयास में असंख्यों देवमानवों को प्रचण्ड पुरुषार्थ और अभिनन्दनीय तुष्टिप्रद त्याग, बलिदान करना पड़ा, जो मानव जीवन का उत्तम पुण्य है । अनीति के विरुद्ध संघर्ष उभरा, अज्ञान का उन्मूलन किया गया और अभावों को दूर करने के लिए अनेकानेक सृजनात्मक सत्प्रवृत्तियों का नियोजन तथा कार्यान्वयन निरन्तर चल पड़ा । युग चेतना के अग्रदूत, प्रज्ञा पुत्रों के रूप में प्रकट हुए ॥ २४–२७॥

व्याख्या-महाकाल के आमंत्रण पर समष्टि चेतना के वाहक जिस रूप में प्रकट होते हैं उन्हें ही ऋषि ने यहाँ देवमानव-अग्रदूत-प्रज्ञा पुत्र के नाम से सम्बोधित कर उनके सत्साहस का वर्णन किया है । जिस किसी ने भी प्रज्ञा का, विवेक का संदेश सुना, उसने अपना चिंतन और आचरण उसके अनुरूप ढाला । ऐसे में अपने स्व, परिवार तथा हितैषी कहे जाने वाले परिजनों को असंतुष्ट कर ही महामानव उस श्रेय-सौभाग्य को प्राप्त कर सके हैं जिसे स्तुत्य त्याग एवं बलिदान के रूप में जाना जाता है । ऐसे आदर्शवादी संकीर्ण-'स्व' परायण परामर्श-अनुरोधों, आग्रहों को विनयपूर्वक अस्वीकार कर देते हैं तथा प्रचलित ढर्रे से अलग हटकर अपनी राह स्वयं बनाते हैं । अपनी इसी अग्रगामी भूमिका के कारण युगों-युगों तक के लिए इतिहास में उनका नाम अमर हो जाता है ।

अग्रगामी ही श्रेय पाते हैं

अरुणोदय का पूर्वाभास पाकर मुर्गा पहले बाँग लगाता है, इस जागरूकता ने उसे प्रख्यात कर दिया । देर से तो सभी पक्षी जागते हैं, पर वे वैसी ख्याति नहीं पाते । उगते सूर्य को नमस्कार किया जाता है, पीछे तो वह दिन भर बना रहता है । शुक्लपक्ष में सर्वप्रथम निकलने वाले दौज के चन्द्रमा का दर्शन करने के लिए सब आतुर रहते हैं । पीछे तो वह महीना भर घटता-बढ़ता रहता है । जन्म का पहिला दिन ही याद रहता है, ऐसे तो जिन्दगी के हजारों दिन आते हैं । वस्तुतः साहस उन्हीं का सराहनीय है जो दूसरों की प्रतीक्षा न करके स्वयं आगे आते हैं व अवतारों का सहयोगी बन नवसृजन का पुण्य कमाते हैं ।

गुरु गोविन्दसिंह के पाँच प्यारे

अनीति, अज्ञान एवं अभाव के निवारणार्थ ही जागृतात्माएँ आगे आती हैं व इनके स्थान पर सत्प्रवृत्तियों की पुनर्स्थापना करती हैं । गुरुगोविन्दसिंह के आह्वान पर पाँच प्यारे बलि देने आये । बलिदान उन्हीं का स्वीकारा गया । बाद में तो भीड़ लग गयी पर याद उन्हें ही किया जाता रहा है ।

भागीरथ द्वारा ज्ञान-गंगा का अवतरण पुरुषार्थ

सगर वंश में जन्में भागीरथ ने जब पितरों को नरक की अग्नि में जलते देखा तो बहुत दुःखी हुए । परित्राण हेतु उन्होंने तप किया, स्वार्थ सिद्धि के लिए नहीं, परमार्थ प्रयोजन के लिए । अगणित विघ्न बाधाओं का सामना करते हुए चिरकाल तक उन्होंने अपनी साधना जारी

रखी । कालान्तर में यह पुरुषार्थ सफल हुआ और स्वर्ग में रहने वाली गंगा पृथ्वी पर आने को सहमत हो गयीं । अपने तप से उन्होंने वह कठिन कार्य सम्भव बना दिया । अज्ञानग्रस्त संसार में स्वर्गीय ज्ञानगंगा का अवतरण, अविवेक-अनाचार के दावानल में जलते अगणित मानवपुत्रों का उद्धार ऐसे ही पुरुषार्थियों द्वारा सम्भव हो पाता है ।

शुन:शेप की आत्माहुति

एक बार बारह वर्ष तक लगातार दुर्भिक्ष पड़ा । पृथ्वी पर बढ़ते अनाचार को देखकर दुरात्माओं को दण्ड देने के लिए इन्द्रदेव ने कुपित होकर वर्षा का अनुदान देना बन्द कर दिया । चारों ओर जलाभाव, अन्नाभाव, लूट-खसोट के कारण त्राहि-त्राहि मच गयी । मनीषियों ने विचार किया कि तप और त्याग से ही देव-शक्तियों को प्रसन्न किया जा सकता है । इसके लिए नरमेध यज्ञ रचाया गया ताकि देवताओं को यह आश्वासन दिलाया जा सके कि धरतीवासियों ने उत्कृष्टता व आदर्शवादिता की परम्परा को अपनाना आरम्भ कर दिया है । हिचकिचाहट यह थी कि पहल कौन करे ?

इस सन्नाटे को चीर कर एक व्यक्ति आगे बढ़ा-नाम था शुन: शेप । उसने यज्ञ के अध्वर्यु और ऋत्विजों को सम्बोधित कर कहा-'यज्ञीय बलिदान के लिए सर्वप्रथम मैं स्वयं को प्रस्तुत करता हूँ ।' उसका आत्म प्रतिवेदन सुनते ही सहस्रों की भीड़ लग गयी, जो पर हितार्थ बलि देना चाहते थे । मनुष्यों की बदली मनोवृत्ति का परिचय पाकर आशुतोष शिवजी प्रसन्न हुए और विपुल वर्षा की व्यवस्था अनुदान रूप में कर दी गयी ।

आज भी परिस्थिति ठीक उसी प्रकार है । आस्था संकट आत्माहुति माँगता है-उदार परमार्थ परायणता के रूप में, अनीति के विरुद्ध संघर्ष के रूप में व सत्प्रवृत्ति संवर्धन हेतु रचनात्मकता के रूप में ।

अनाचार का उन्मूलन- भगवान परशुराम द्वारा

कहा जाता है प्राचीनकाल में सहस्रबाहु नामक एक स्वेच्छाचारी राजा हुआ था जिसकी हजार भुजाएँ थीं । निरंकुश राजा को जब-जब महर्षि जमदग्नि ने समझाया तो उसने क्रुद्ध होकर उत्पीड़ित कर उन्हें जान से मार दिया । यह समाचार मिलते ही उनके पुत्र परशुराम दुखी हुए और अनीति के विरुद्ध आक्रोश का अभाव देख रुष्ट भी । इसे उन्होंने व्यक्तिगत हानि न मान समष्टिगत समस्या माना । वे शासक के अनीति-अनौचित्य पूर्ण व्यवहार तथा प्रज्ञा के अज्ञान रूपी अंधकार को मिटाने के लिए कृत संकल्प हुए और कठोर तपश्चर्या पूर्वक महाकाल की आराधना में रत हुए ।

लोक-मंगल के लिए माँगने आये साधक को महाकाल ने 'परशु' अस्त्र दिया जिससे वे उन मस्तिष्कों का उच्छेदन कर सके जो पाप और अन्याय से, अविवेक और अज्ञान से ग्रसित होकर अपना व संसार का विनाश कर रहे थे ।

सभी अनाचारियों के सिर परशुराम ने काट डाले इसका अलंकारिक विवेचन यह है कि उन्होंने उनके मस्तिष्कों को आमूल-चूल परिवर्तित कर दिया । अनाचारी को सदाचारी बना दिया । 'परशु' अर्थात् प्रबल प्रचार, समर्थ ज्ञान-यज्ञ । प्रभावी लोक शिक्षण जनमानस के परिवर्तन के लिए जरूरी भी था । सिर काटने का सही अर्थ है-विचार बदल देना । महाकाल ने परशुराम को सफलता का आशीर्वाद भी दिया और सहयोग का प्रचण्ड प्रतीक परशु भी । उनकी रचनात्मक और संघर्षात्मक शक्तियाँ निर्धारित दिशा में लगीं तो लोक मानस पर उसका प्रभाव पड़ा ही ।

सत्साहस अपनाने की गरिमा तो सदा ही रही है और रहेगी, पर इस दिशा में बढ़ने, सोचने वालों में से अत्यधिक भाग्यवान वे हैं जो किसी महान् अवसर के सामने आते ही उसे हाथ से न जाने देने की तत्परता बरत सके । महान् व्यक्ति भी सदा नहीं जन्मते । जन्मते हैं तो उनके साथ जुड़कर स्वल्प पराक्रम से असीम यश पाने का सुअवसर हर किसी को कहाँ मिलता है ? इसे दैवी वरदान या पूर्वसंचित पुण्यों का प्रतिफल ही कहना चाहिए कि महानता उभरे और उसके साथ सघनता स्थापित करने का साहस जग पड़े ।

प्रस्तुत समय जिसमें असंख्यों व्यक्ति सत्प्रवृत्ति संवर्धन हेतु अपने-अपने भव बंधन शिथिल कर अज्ञान, अभाव, अनीति के निवारण हेतु जुट पड़े हैं, ऐसा ही है जिसमें उनके त्याग, बलिदान का प्रतिफल उन्हें परम पुनीत पुण्य एवं श्रेय-सौभाग्य के रूप में तथा अवतार के लीला-सन्दोह में अपनी भूमिका के कारण अग्रदूतों के रूप में उन्हें प्राप्त हो रहा है और होता रहेगा ।

व्रतिनो नवनिर्माणस्वनिर्माणस्य चाभवन् ।
युगदेवाङ्घ्रिषु श्रद्धाञ्जलीःसङ्कल्पजा ददुः ॥ २८॥
पञ्चमुख्यग्निवेद्यास्ते पुरोऽदु र्देवदक्षिणाम् ।
आत्मनिर्मितयेऽगृह्णन् साधनासेवयोस्तथा ॥ २९॥
स्वाध्यायस्य व्रतं सर्वे संयमस्यापि तद्दृढम् ।
परिवारं स्वं स्वमेवाथ पञ्चशीलप्रवृत्तिभिः ॥ ३०॥
अभ्यस्तं कर्तु मेवैते निश्चयं मुदिता व्यधुः ।
इत्थमात्मविनिर्माणं परिवारविनिर्मितिः ॥ ३१॥
शृंखलाबद्धतो जाते व्यरमन्नो क्षणं क्वचित् ।
तेन संस्कारयुक्ता च देवमानवनिर्मितः ॥ ३२॥

टीका-उन (प्रज्ञापुत्रों) ने आत्म निर्माण और नव निर्माण के लिए व्रत ग्रहण किये और संकल्पों की श्रद्धांजलियाँ युगदेवता के चरणों पर अर्पित कीं । पंचमुखी अग्निवेदिका के सन्मुख उनने देव दक्षिणा समर्पित की और आत्म-निर्माण के लिए साधना, स्वाध्याय, संयम, सेवा के दृढ़ व्रत लिए और अपने-अपने परिवारों को पंचशील की सत्प्रवृत्तियों से अभ्यस्त करने का प्रसन्नता से निश्चय किया । इस प्रकार आत्म निर्माण और परिवार निर्माण की शृंखला चल पड़ी जो क्षण भर भी नहीं रुकी और उससे देव मानवों का निर्माण चल पड़ा ॥ २८-३२॥

व्याख्या-विश्वनिर्माण व युगाव्तरीय परिवर्तन की प्रक्रिया आत्म क्षेत्र से आरम्भ होती है । आत्म निर्माण कर सकने वाले पुरुषार्थी ही नवसृजन हेतु व्रतशील हो पाते हैं । भावावेश में कूद पड़ने वाले सामयिक श्रेय भले ही पा लें, स्वयं को धन्य नहीं बना पाते ।

हमेशा महामानव अपने तथा अपने परिवार में सत्प्रवृत्तियों का समावेश करके ही अपनी अग्रगामी भूमिका सार्थक करते आये हैं । बिना त्याग किए, कुसंस्कारिता से पीछा छुड़ाये आत्म निर्माण सम्भव नहीं और इस साधना के बिना देव मानव बनना सम्भव नहीं । पंच मुखी अग्नि सतत् यही प्रेरणा देती चली आयी है । व्यक्ति वही अभिनन्दनीय है जो सद्गुणों को अपने अन्दर समाविष्ट करने के लिए कड़ा संघर्ष करता है और व्रतशील जीवन जीने के लिए कृत संकल्प होता है । अग्नि के समक्ष ली गयी ऐसी प्रतिज्ञा को ही देव दक्षिणा नाम दिया गया है ।

पंचमुखी यज्ञाग्नि व उसकी प्रेरणा

यज्ञाग्नि को वेदों में पुरोहित, मार्गदर्शक कहा गया है । इस याज्ञिकरत्न राशि से सम्पन्न व्यक्ति ही देवमानव बनते हैं । इस कथन की सच्चाई असंख्यों महामानवों द्वारा अपनाई गयी जीवन नीति और उसकी परिणति को देखकर सहज ही जानी जा सकती है । पंचमुखी अग्नि की शिक्षाएँ, प्रेरणाएँ भी इसी प्रकार की हैं ।

पंचमुखी यज्ञाग्नि की कई परोक्ष शिक्षाएँ हैं, जैसे-(१) अग्नि जब जक जीवित है तब तक गरम और प्रकाशवान बना रहता है । अग्नि पूजकों को सक्रिय एवं प्रकाशवान बनकर रहना चाहिए, (२) अग्नि के निकट जो भी जाता है वह उसी के तत्सम बन जाता है । हमें चन्दनवृक्ष की तरह सम्पर्क में आने वाले को भी ऊँचा उठाने का प्रयत्न करना चाहिए, (३) अग्नि का मुख कभी नीचा नहीं होता । दबाव पड़ने पर भी ऊँचा ही बना रहता है । अग्नि पुरोहित के इस उदाहरण, उपदेश का आह्वान करके हमें भी अपने व्यक्तित्व को निकृष्ट नहीं बनने देना चाहिए, (४) अग्नि को जो भी प्राप्त होता है उसे अपने लिए संग्रह नहीं करता वरन् तत्काल विश्व वातावरण में वितरित कर देता है । हमें संग्रही नहीं उदार, परमार्थरत होना चाहिए, (५) यज्ञावशिष्ट भस्म है । जो बताती है कि जीवन का समापन भस्म अवशेष में रह जाता है । अस्तु न तो वैभव का गर्व करना चाहिए, न लोभ, मोह से ग्रस्त होना चाहिए और न मरण का विस्मरण करना चाहिए । जो इतना कर सकेगा उसके जीवन की सार्थकता में संदेह नहीं रह जाएगा ।

देव बलि, देव दक्षिणा

स्वामी रामतीर्थ से एक व्यक्ति ने पूछा-'क्या संसार की विपत्तियाँ टालने और स्वर्गीय परिस्थितियों के अवतरण का कोई उपाय है ?'

'है, अवश्य है !' स्वामीजी बोले-'बलिदान से विपत्ति टलती है-यह कहावत आज भी उतनी ही सच्ची है जितनी प्राचीन पुण्य काल में । ऐसा यज्ञ हमें इसी संसार में स्वर्ग दिला सकता है जिसमें देवताओं की तृप्ति के लिए किये गये यज्ञ में विद्वेष, ईर्ष्या, क्रोध और कृपणता का बलिदान दिया जाये ।'

युगधर्म के अनुकूल देव-दक्षिणाऐं

सत्प्रवृत्ति संवर्धन की देवदक्षिणायें कुमारिल भट्ट ने संस्कृति के पुनरुद्धार व वैदिक मान्यताओं के प्रचार-प्रसार के रूप में, स्वामी विवेकानन्द ने विश्वधर्म व मानवधर्म के विस्तार के रूप में, आद्यशंकराचार्य ने जागृति केन्द्रों की स्थापना व अध्यात्म क्षेत्र में छाई मूढ़ मान्यताओं, विवेकहीन प्रचलनों के शुद्धिकरण के रूप में युगधर्म की आवश्यकतानुसार प्रस्तुत कीं ।

स्वयं अपने जीवन में परिवर्तन लाने के अतिरिक्त ऐसे नवरत्न अपने परिवार को भी उस साँचे में ढालते हैं और पारिवारिक रूपी पंचशीलों को अपना कर अन्यों के लिए अनुकरणीय उदाहरण बनते हैं ।

निर्माण परिवार का व समर्पण समाज को

मदालसा ने अपने चार बच्चों को सुयोग्य बनाया, उन्हें समाज को समर्पित किया । तदुपरान्त ही वे संन्यास धर्म में प्रविष्ट हुईं ।

ज्ञानेश्वर के पिता ने गुरु की आज्ञानुसार संन्यास धर्म से गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया, पारिवारिक सुसंस्कारिता का संवर्धन कर चार संतानों को जन्म दिया ।

धर्म संस्कृति को ऊँचा उठाने वाली इन चार उच्चस्तरीय आत्माओं को समाज को सौंपकर वे फिर संन्यास धर्म में प्रविष्ट हुए ।

मनु संन्यास लेने की जल्दी में थे । उन्हें पहले अपना व परिवार का निर्माण कर सुसंतति उत्पन्न कर फिर मोक्ष प्राप्ति की साधना करने का आदेश मिला ।

ऐसी व्रतशीलता और नवसृजन के संकल्पों से समाज में सत्प्रवृत्ति रूपी प्रकाश फैलता है और दुष्प्रवृत्तियों का अंधकार स्वत: मिटता चला जाता है ।

जाता, प्रखरता तेषां सत्प्रवृत्युदयं व्यधात् ।
दुष्प्रवृत्तिक्रमो भग्नस्तासां शेषत्व हेतवे ॥ ३३॥
कश्चिन्नवसरो भूय आगमिष्यति निश्चितम् ।
अगृह्णन् युगस्त्रष्टार औदार्यमंशमर्पितुम् ॥ ३४॥
समयं दातुमेवापि संचिता शक्तिरद्भुता ।
दुर्गावतरणं यातु सामर्थ्यमद्भुतं ददौ ॥ ३५॥
इमां शक्तिं समाश्रित्य दूरीभूतं महत्तम: ।
देवतत्वान्यलं प्रापुर्बलमासुर्यमत्यगात् ॥ ३६॥

टीका-उन (प्रज्ञा पुत्रों) की प्रखरता से सत्प्रवृत्तियाँ बढ़ती चली गईं और अब उन दुष्प्रवृत्तियों के शेष रहने का कोई अवसर नहीं आयेगा । युग सृजेताओं ने समयदान, अंशदान की उदारता अपनाई और उस अद्भुत सामर्थ्य को जन्म दिया, जिस शक्ति के सहारे अन्धकार मिटा । देवतत्वों को बल मिला और असुरता निरस्त होती चली गई ॥ ३३-३६ ॥

व्याख्या-प्रज्ञावतार जन-जन में यह चेतना जगा रहा है कि उन्हें अपने जीवन क्रम में आदर्शवादिता को अधिकाधिक मात्रा में धारण करना होगा । उच्चस्तरीय भाव संवेदनाऐं मूर्छित अन्त:करण में नहीं जन्म लेतीं । प्रज्ञावतार की प्रेरणा व प्रभाव से लोग अपने भीतर नई उमंगे उठती अनुभव कर रहे हैं और मस्तिष्क में उत्कृष्टता के प्रति रुचि उत्पन्न हो रही है । युग परिवर्तन के बीजांकुर प्रखर प्राणवान सुसंस्कारी जाग्रत आत्माओं में सत्प्रवृत्तियों के उफन पड़ने व अवरोध बनी दुष्प्रवृत्तियों के समूल नष्ट होने के रूप में फूट रहे हैं । ऐसे सेनापतियों के तत्पर होने पर ही सैनिक युद्ध मोर्चे की ओर बढ़ते हैं । ऐसों की

उदारता औरों के लिए प्रेरणा का प्रकाश पुंज बन जाती है ।

प्रवृत्ति बदलते ही सब कुछ बदल जाता है । यदि आंतरिक प्रवृत्ति नहीं बदली तो बहिरंग कभी भी नहीं बदल सकता । मूल प्रवृत्ति उभर कर आयेगी ही ।

किसी जंगल में एक तांत्रिक रहता था । एक दिन एक चूहा उधर दौड़ा आया । तांत्रिक को समझते देर न लगी कि वह डर रहा है । उसने चूहे को बिल्ली बना दिया । पर अब बिल्ली, कुत्तों के भय से बाहर न निकलती । तांत्रिक ने इसे भी समझा और उसे कुत्ता बना दिया । पर तेन्दुये का डर अभी भी उसे बना रहा । झोपड़ी से दूर न जाकर वहीं दुबका पड़ा रहा । तांत्रिक ने एक और अवसर दिया और उसे चीता बना दिया । दैवयोग से एक बहेलियों की टुकड़ी उस दिन वन में चीते पकड़ रही थी । डरकर बेचारा उसी झोंपड़ी में छुप रहा । तांत्रिक के मन में अब एक विचार आया । अपना कमण्डल उठाया, जल लेकर उस चीते पर फेंका । इस बार फिर अपने चूहे के रूप में आ गया और बिल में घुस गया ।

जब तक अपनी वृत्ति नहीं बदलती किसी की सहायता से बाह्य रूप बदलने से समस्या का हल नहीं मिलता ।

जब अंदर का अपना आपा बदल जाता है तो बाह्य वेश भले ही कुछ भी हो हमेशा सत्प्रयोजनों में ही रुचि रहती है, दूसरों को ऊँचा उठाने के ही सतत प्रयास चलते हैं ।

सुप्रभातमिदं प्रज्ञा युगस्याभून्महामुने ।
जागृतात्मां शदानं तदृषिरक्तमिवाऽभवत् ॥ ३७॥
समर्थं संस्कृतेर्नव्य सीतायाः जन्मनः कृते ।
सत्प्रवृत्तीरसंख्येया इदं सामर्थ्यमासृजन् ॥ ३८॥
पोषयामास ताः सर्वा वर्षा इव सुमङ्गलाः ।
प्रक्रियैषात्मनिर्माण युगनिर्माण संयुता ॥ ३९॥
विख्यातिमगमद्देवदक्षिणा नामतो भुवि ।
प्रस्तुतं वह्निसाक्षित्वं श्रद्धाञ्जलय एतिकाः ॥ ४०॥
दातृभ्यः सौभागस्यासन् श्रेयसां कारणानि च ।
गरिम्णो मानवस्याभूत् पुनर्जीवनकस्य तु ॥ ४१॥
निमित्तं कारणं धन्यं पीयूष परिपोषणम् ।
प्रक्रियैषा दधौ रूपं युगशक्तेः सुशोभना ॥ ४२॥
परिवर्तनकस्याभून्निमित्तिं कारणं त्वियम् ।
वर्तमाने चलत्येतद् भविष्यदुज्ज्वलं मतम् ॥ ४३॥

टीका-महामुने ! यह प्रज्ञायुग का सुप्रभात सिद्ध हुआ । जागृत आत्माओं का अंशदान ऋषि-रक्त की तरह संस्कृति की अभिनव सीता को जन्म देने में समर्थ हुआ । इस सामर्थ्य ने अगणित सत्प्रवृत्तियों को सृजा और उन्हें परिपोषण प्रदान किया जो मांगलिक वर्षा के समान सिद्ध हुई । यह आत्म निर्माण और युग निर्माण की समन्वित प्रक्रिया देव-दक्षिणा के नाम से पृथ्वी पर प्रसिद्ध हुई । अग्नि की साक्षी प्रस्तुत की गई । ये श्रद्धांजलियाँ दाताओं के लिए श्रेय-सौभाग्य की कारण बनीं और मानवी गरिमा के पुनर्जीवन का निमित्त कारण बनीं जो धन्य एवं अमृत पोषण सिद्ध हुआ । इस प्रक्रिया ने युग शक्ति का रूप धारण किया और परिवर्तन का निमित्त कारण बनी । वर्तमान में यही सब चल रहा है । उज्ज्वल भविष्य सुनिश्चित है ॥ ३७-४३ ॥

व्याख्या-प्रज्ञायुग में जागृतात्माओं ने वही प्रक्रिया अपनायी है जो संघशक्ति उपार्जित करने के लिए असुरता निवारण हेतु ऋषियों द्वारा रक्त अंश रूप में एकत्र कर सीता जन्म की भूमिका तथा रावण संहार हेतु भगवान राम के अवतरण का मूल प्रयोजन बनी थी । यह उदारमना देववृत्ति जब जब उभर कर

आती है उसके सत्परिणाम अपार होते हैं । निष्ठावानों का श्रम सीकर ही शक्ति प्रदाता होता है । विभूतिवानों के पास देने के लिए प्रतिभा, कौशल, साधन सब कुछ हैं पर महत्ता तभी है जब देने की प्रवृत्ति अन्दर से उभरे । बूँद-बूँद से मिलकर समुद्र बनता है । आज महाकाल हर जागृतात्मा की परख-निष्ठा की कसौटी इसी को मानते हैं-किसने अपने को कितना उदार बनाया व सत्प्रवृत्तियों हेतु कितना समर्पण किया ।

युग चेतना ने जागृत आत्माओं से एक ही माँग की है-नवसृजन के लिए समयदान । भगवान ने समय-समय पर अपने प्राण प्रिय भक्तों से विविध प्रकार की याचनाएँ की हैं । इसलिए नहीं कि वे दरिद्र, अपंग या असमर्थ हैं वरन् इसलिए कि भक्तों को इसी बहाने अपनी प्रसुप्त उत्कृष्टता को प्रखर बनाने का अवसर मिल सके । याचना और अनुदान का परीक्षाक्रम न चलता तो भक्त परम्परा में मात्र पाखण्डी ही भर गये होते और सच्चे-झूँठे की परख ही सम्भव न रहती ।

सुदामा को बगल में दबी चावल की पोटली भगवान को देनी पड़ी थी । कर्ण ने मुँह में लगे सोने के दाँत उखाड़ कर दिये थे । शबरी को अपने बेरों की टोकरी खाली करनी पड़ी थी । गोपियों का दधि-मक्खन छिनता रहा । दरिद्र विदुर की धर्मपत्नी घर में कुछ और न होने पर भगवान को बथुए का शाक ही खिलाती रही । जिनके पास अर्थ साधन नहीं थे, उन केवट, वानर जैसों ने अपना श्रम समर्पित किया था । इस प्रसंग में गिलहरी जैसे क्षुद्र प्राणी भी पीछे नहीं रहे ।

भेड़ अपना ऊन दूसरों को देती और आदरपूर्वक पाली जाती है । आज काटने के उपरान्त उसे प्रकृति के नये अनुदान मिलते हैं और क्षति पूर्ति के अतिरिक्त यश, गौरव एवं स्नेह-सहयोग भी मिलता है । यों इस प्रकार का अनुदान लोक परम्परा में मूर्खता ही कहा जायगा । आज तो उन रीछों की ही प्रशंसा होती है जो अपने बाल किसी को छूने तक नहीं देते और जो मिले उस पर हमला करने के लिए आमादा रहते हैं । बुद्धिमानी से पर्यवेक्षण करना होगा कि भेड़ और रीछ द्वारा अपनाई गई भिन्न-भिन्न नीतियों को अपनाकर किसे क्या मिला ? रीछ बदनाम तो है ही, उसे स्नेह सहयोग कौन देगा ? इतना ही नहीं प्रकृति ने उसके बाल बढ़ाए भी नहीं ? जितने आरम्भ में थे, उतने ही अन्त तक बने रहे । जब कि भेड़ बार-बार अनुदान पाती और अपने को, दूसरों को कृत-कृत्य करती रही । इसमें समर्थता को नहीं दूरदर्शी सद्भावना को ही श्रेय मिलता देखा जा सकता है ।

भावनात्मक कृपणता के अतिरिक्त और कोई कारण नहीं है जिसके कारण युग देवता की समयदान, अंशदान की माँग के बदले सर्वथा इन्कार करना पड़े । मोह ग्रस्त अर्जुन की यही स्थिति थी । वह महाभारत की कष्टकर प्रक्रिया में सम्मिलित होने से कतरा रहा था और उस इन्कारी का औचित्य सिद्ध करने के लिए चित्र-विचित्र तर्क उपस्थित कर रहा था । भगवान ने वस्तुस्थिति को ताड़ा और कहा-

"क्लैब्यं मा स्म गमः पार्थ नैतत्वय्युपपद्यते । क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप ॥"

-गीता २/३

ऐसे अवसरों पर बरती गयी कृपणता व्यक्ति के लिए कितनी हानिकारक सिद्ध होती है इसको स्पष्ट करते हुए कवीन्द्र रवीन्द्र जी ने एक काव्यकथा लिखी ।

एक ही दाना सोने का बना सका

कवीन्द्र ने लिखा-"मैंने द्वार-द्वार से माँगकर गेहूँ के दानों से अपनी झोली भर ली । अपनी उपलब्धि पर फूला हुआ घर की ओर चला । तभी एक निरीह वृद्ध आया और उसने मेरे आगे हाथ पसार दिए । मैंने सोचा, अपनी मेहनत से एकत्र किया अनाज इसे क्यों दूँ ? फिर भी बेमन से एक दाना उसके हाथ पर पटक मैं आगे बढ़ गया.....। घर आकर झोली पलटी तो उसमें एक बड़ा दाना सोने का था.....। मैंने अपना सिर धुना, कृपणता को कोसा.....हाय ! दूसरों की उदारता से प्राप्त दानों को देने में मैं अनुदार क्यों बना ? यदि उदार बन पाता तो मेरी झोली सोने से भरी होती ।" देवदक्षिणा का अर्थ ही है कि व्यक्ति अपने अन्दर की वृत्ति को मोड़ दे, देवत्व से जोड़ दे । बलि ने जब स्वेच्छापूर्वक उदारता दिखाई तो भगवान वामन द्वारा की गयी परीक्षा के उपरान्त संचय और उपभोग की पशुप्रवृत्ति से समाज को छुटकारा मिला । राज्य तो खोया पर सौभाग्य कम नहीं मिला । सत्यवादी हरिश्चन्द्र ने विश्वामित्र को राजपाट सौंपकर खोया नहीं, पाया अधिक ।

यत्रार्जुन इवास्त्येव कर्मवीरस्तथा च सः ।
सूत्रसञ्चालकोऽप्यत्र भगवानिव भासते ॥ ४४॥
तत्रासाफल्यहेतु र्न कश्चिदस्ति मनागपि ।
प्रसङ्गेऽस्मिन् महालाभस्तैर्नरः प्राप्यते भृशम् ॥ ४५॥
भगवतः सहगा ये तु भूत्वा तेषां सुमङ्गले ।
युगपर्ययविधौ युक्ता भावकास्तु निरन्तरम् ॥ ४६॥

टीका-जहाँ अर्जुन जैसे कर्मवीर और भगवान जैसे सूत्र संचालक हों वहाँ असफलता का कोई कारण नहीं । इस प्रसंग में सबसे अधिक लाभ उन्हें मिलना है जो भगवान के सहचर बनकर उनकी मंगलमय युग परिवर्तन प्रक्रिया कार्यान्वित करने में भावनापूर्वक निरन्तर जुटे हुए हैं ॥ ४४-४६ ॥

व्याख्या-अवतार की योजना व सूत्र संचालन इतना सुनियोजित होता है कि उसमें कहीं किसी प्रकार का असमंजस-असफल होने का ऊहापोह मन में नहीं होना चाहिए । भगवान-महाकाल के साथ साझेदारी जिस-जिस की है वह युगान्तरीय परिवर्तनों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाकर अपने जीवन को सार्थक बना सका है । तथ्य यही है कि महानता रूपी अवसर सामने होने पर उससे लाभ लेने एवं प्रभु के सृष्टि के नव सृजन कार्य में सहयोगी बनने में व्यक्ति कितना साहस व उदारता दिखाता है ।

वस्तुतः महानता आग के समान है, उसके सम्पर्क में जो भी आता है, गरिमायुक्त एवं तद्रूप होता चला जाता है । पृथ्वी को वैभव सूर्य के अनुदान से मिला है । यदि सूर्य का तापमान मात्र तीस डिग्री घट जाय तो समूची धरती चालीस फुट बर्फ से ढक जायेगी । इसी प्रकार तीस डिग्री तापमान बढ़ जाय तो यहाँ भी बुध ग्रह जैसी भयानक गर्मी तपेगी और वृक्ष-वनस्पतियों से लेकर जल, थल और नभचर प्राणियों में से किसी का भी जीवित रह सकना सम्भव नहीं होगा । इसे पृथ्वी का सौभाग्य ही कहना चाहिए कि वह एक उपयुक्त स्तर के स्नेह सूत्र में सूर्य के साथ बँधी और आदान-प्रदान का उपयोगी सिलसिला चल पड़ा । मछलियाँ जलराशि के सहयोग बिना अपने बलबूते किस प्रकार जीवित रह सकती हैं ? उनकी संरचना अति महत्वपूर्ण होते हुए भी यह सम्भव नहीं कि अपने पैरों पर खड़ी रह सकें और जलराशि की उपेक्षा करके अपनी सार्थकता सिद्ध कर सकें ।

महानता के साथ सम्पर्क साधना, उसके सहयोग का सुयोग पा लेना भी कई बार अप्रत्याशित सौभाग्य बनकर सामने आता है । यों वैसे अवसर सदा सर्वदा हर किसी के लिए उपलब्ध नहीं रहते ।

रामचरित्र के साथ जुड़ जाने पर कितने ही सामान्य स्तर के प्राणियों ने सामान्य क्रिया-कलापों के सहारे असामान्य श्रेय पाया । इस तथ्य को सरलतापूर्वक समझा जा सकता है । बन्दर स्वभावतः इधर-उधर लकड़ी-पत्थर फेंकते रहते हैं, समुद्र पर पुल बनाने में प्रायः इतनी ही कूद-फाँद उन्हें करनी पड़ी होगी, पर उसे सुयोग ही कहना चाहिए कि उतनी छोटी-सी उदार श्रमशीलता को ऐतिहासिक बना दिया और कथा-वाचक उसकी भावभरी चर्चा करते-करते अघाते नहीं । ऐसे आदर्शवादी सहयोगों की सफलता में कर्त्ताओं का पुरुषार्थ ही नहीं-दैवी सहायता भी काम करती है और श्रेय उन अग्रगामी साहसियों के पल्ले बँध जाता है । नल-नील ने समुद्र पर पुल बनाया और पत्थर पानी पर तैरने लगे । इस प्रकार के घटनाक्रम सामान्य स्थिति में देखे नहीं जाते । दैवी प्रयोजनों में दैवी सहायता की असाधारण मात्रा उपलब्ध होती है ।

कृष्ण चरित्र पर दृष्टिपात करने से भी यह तथ्य असाधारण रूप से उभरकर आगे आता है । गोपियों का छाछ पिलाना, थोड़ी सी हँसी ठिठोली कर देना, ग्वाल-बालों का लाठी सहारा जैसे कृत्य ऐसे नहीं हैं जिन्हें दैनिक जीवन में सर्वत्र घटित होते रहने वाले सामान्य उपक्रमों से भिन्न समझा जा सके । इतने पर भी वे सहयोग पुराण-उपाख्यानों में बहुत बार दुहराये, सराहे जाते रहते हैं अनेक योद्धा लड़ते और हारते-जीतते रहते हैं, पर अर्जुन, भीम जैसों को जो श्रेय मिला उनकी

गरिमा असामान्य हो गई । अर्जुन, भीम वे ही थे जिन्हें वनवास के समय पेट भरने के लिए और जान बचाने के लिए बहरूपिए बनकर दिन गुजारने पड़े थे । द्रौपदी को निर्वसन होते आँखों से देखने वाले पाण्डव यदि वस्तुतः महाभारत जीत सकने जैसी समर्थता के धनी रहे होते तो न तो दुर्योधन, दुःशासन वैसी धृष्टता करते और न पाण्डव ही उसे सहन कर पाते । कहना न होगा कि पाण्डवों की विजयश्री में उनकी वह बुद्धिमत्ता ही मूर्धन्य मानी जायेगी जिसमें उनने कृष्ण को अपना और अपने को कृष्ण का बनाकर भगवान से घोड़े हँकवाने जैसे छोटे काम कराने को विवश कर दिया था । यदि वे वैसा न कर पाते और अपने बलबूते जीवन गुजारते तो स्थिति सर्वथा भिन्न होती और यायावरों की तरह जैसे-तैसे जिन्दगी व्यतीत करते ।

बुद्ध के साथ जुड़ने का साहस न कर पाते तो हर्षवर्धन, अशोक, आनन्द, राहुल, कुमारजीव, संघमित्रा, अम्बपाली आदि की जीवनचर्या कितनी नगण्य रह गई होती-इसका अनुमान लगा सकना किसी के लिए भी कठिन नहीं होना चाहिए । गाँधी के साथ यदि विनोबा, राजगोपालाचार्य, नेहरू, पटेल, राजेन्द्रबाबू आदि न घुले होते, अपना पृथक्-पृथक् वर्चस्व बनाकर चले होते तो वह स्थिति बन नहीं पाती जो बन सकी । नेहरू और लालबहादुर शास्त्री की घनिष्टता प्रसिद्ध है । यदि उस सघनता को ताक पर रख दें और अपने-अपने बलबूते उठने बैठने की बात सोचें तो फिर परिणाम भी कुछ दूसरे ही स्तर के होने की बात सामने आ खड़ी होगी ।

चाणक्य के साथ चन्द्रगुप्त, समर्थ के साथ शिवाजी, परमहंस के साथ विवेकानन्द की सघनता दोनों पक्षों के लिए कितनी सन्तोषजनक परिणाम प्रस्तुत कर सकी-इसे कौन नहीं जानता ।

दिनं नहि सुदूरं तत् यत्र कालविपर्ययः ।
चिन्तनं स्याच्चरित्रं च नराणां परिवर्तितम् ॥ ४७॥
उत्कृष्टतासुसंस्कारैः संस्कृतास्ते नरा ध्रुवम् ।
विमुखाश्च निकृष्टत्वात् स्वार्थसंकीर्णता ग्लपेत् ॥ ४८॥
वर्धिष्यन्तेऽङ्गसावश्यं सहसा सत्प्रवृत्तयः ।
उदारसहयोगेन हर्षोल्लासोदयो भवेत् ॥ ४९॥
आगामिदिवसेष्वेवं नापराधा न विग्रहाः ।
द्रक्ष्यन्ते, सीमितेष्वेव साधनेषु प्रसन्नताः ॥ ५०॥
तेष्वसीमसुखस्याथ शान्तेश्चापि महामुने ।
उपलब्धेर्भविष्यन्ति दृश्यान्यक्षिचराण्यलम् ॥ ५१॥
वैषम्यस्यविनाशः स्यादेकतोत्पत्तिरेव च ।
समस्ताः मानवाः स्थास्यन्त्येकराष्ट्रव्रता इव ॥ ५२॥
एकां भाषां वदिष्यन्ति विश्वधर्मं तथा च ते ।
संस्कृतिं मानवीयां च स्वीकरिष्यन्ति प्रेमतः ॥ ५३॥
द्रक्ष्यन्ते मानवाः देवरूपिणो जगतीतले ।
कोणे कोणे सुखस्याथ शान्तेः स्वर्ग्या वृतिर्भवेत् ॥ ५४॥
प्रज्ञायुगो भूतकालाच्छ्रेष्ठः सत्ययुगादपि ।
ज्ञास्यते श्रेय आधास्यन् व्रजिष्यति वरिष्ठताम् ॥ ५५॥

टीका-वह दिन दूर नहीं जब समय बदला होगा । मनुष्यों के चिन्तन, चरित्र में भारी हेर-फेर उत्पन्न होगा । वे निकृष्टता से विमुख होकर उत्कृष्टता के ढांचे में ढलेंगे । संकीर्ण स्वार्थपरता घटेगी तो सत्प्रवृत्तियाँ अनायास ही बढ़ती चली जायेंगी । उदार सहयोग बढ़ने पर सर्वत्र हर्ष उल्लास छाता ही है । अगले दिनों न कहीं अपराध दृष्टिगोचर होंगे न विग्रह, सीमित साधनों में प्रसन्नता होगी तथा उन्हीं

में असीम सुख-शान्ति उपलब्ध करने के स्वर्गीय दृश्य सर्वत्र दृष्टिगोचर होने लगेंगे । विषमता मिटेगी और एकता उत्पन्न होगी । समस्त मनुष्य एक राष्ट्र बनाकर रहेंगे, एक भाषा बोलेंगे । विश्व धर्म और मानवी संस्कृति को सभी प्रेमपूर्वक स्वीकार करेंगे । मनुष्य देवता जैसे दीखने लगेंगे और धरती के कोने-कोने में सुख-शांति का स्वर्गीय वातावरण बन जायेगा । प्रज्ञायुग को भूतकाल के सतयुग से भी अधिक श्रेष्ठ समझा जायेगा और इसे ही वरिष्ठता का श्रेय प्राप्त होगा ॥ ४७-५५ ॥

व्याख्या-प्रज्ञायुग के भावी स्वरूप पर त्रिकालज्ञ ऋषि अपना पूर्व कथन स्पष्ट करते हुए उसे श्रेष्ठता, आदर्शों से भरा युग बताते हैं । आज की घुमड़ती हुई विभीषिकाओं की घटाएँ तथा उन्हीं के साथ चल रही सृजन की गतिविधियों को दृष्टिगत रख अन्यान्य दृष्टा, मनीषियों, अतीन्द्रिय चेतना सम्पन्न व्यक्तियों ने भी इसी प्रकार के मन्तव्य प्रकट किये हैं । यह समय विनाश का नहीं, नव निर्माण का है । बीज अंकुर रूप में जन्म ले चुका है, प्रज्ञावतार का आवेश असंख्यों विश्ववासियों को अपनी प्रेरणा से प्रेरित कर रहा है, उसे देखकर ही भविष्य के प्रति आशा बँधने लगती तथा उल्लास की उमंगे उठने लगती हैं । यह इस बार का ही नहीं, हर बार का प्रसंग है कि संव्याप्त भ्रष्टता, निकृष्टता निवारण हेतु अवतार प्रक्रिया ने सृजन की प्रक्रिया को अपने हाथों सम्पन्न किया है । वर्तमान में भी जो भावनात्मक प्रवाह चल रहा है उसका उद्देश्य एक ही है, हजारों वर्षों की कलंक कालिमा को धोकर मानवता के अतीत कालीन उज्ज्वल गौरव की पुनः स्थापना करना ।

अवतार परम्परा : सृजन प्रक्रिया जराजीर्ण समाज व्यवस्था की समयानुसार मरम्मत होती रही है । सुधारकों का आवागमन बना रहता है । मार्गदर्शक, देवदूत, संत, ऋषि, मुनि समय-समय पर आते रहे हैं एवं तात्कालिक आवश्यकताओं के अनुरूप परिस्थितियों को सुधारने व नवीन सृजन में अपने-अपने ढंग से प्रयत्न करते रहे हैं ।

अहंकार, प्रपंच, स्वार्थ और वासना के प्रतिनिधि रावण से संघर्ष हेतु, अविवेक, अनाचार को मिटाने स्वयं भगवान ने राम के रूप में जन्म लिया । राम-सीता का विवाह गृहस्थोपभोग के लिए नहीं, किसी प्रयोजन के लिए, एक अपूर्णता को पूर्णता में परिवर्तित कर समय की महती आवश्यकता को पूरी करने के लिए हुआ । वनवास हुआ, सीता हरी गयीं व असुर रावण के पास पहुँच गयीं । सीता हरण न होता तो अनाचार रूपी रावण का अंत न हो पाता । हर अवतार ने जन-सहयोग जुटाकर जागृत आत्माओं-आराम का जीवन नहीं, अधर्म से लड़ने व धर्म की प्रतिष्ठापना हेतु उत्सर्ग की अभिलाषा रखने वाले रीछ-वानरों की मदद से युद्ध लड़ा और मायावी रावण के आतंकवाद को समाप्त कर दिया ? सोने की लंका जलकर समाप्त हो गई और रामराज्य की स्थापना हुई । नवयुग आया व स्वर्गोपम परिस्थितियाँ विनिर्मित हुईं ।

भगवान कृष्ण ने राजगद्दी से हटाये गये पाण्डवों के प्रति अनीति, दुराचार के प्रतीक कौरव दल को परास्त कर परीक्षित राज्य की स्थापना की जो नीति, न्याय व आदर्शों से भरा युग था ।

भगवान बुद्ध ने धर्म के नाम पर व्याप्त कुरीतियों, अनाचार से मोर्चा लिया और विवेक, सत्य, अहिंसा का पाठ पढ़ाया । नर संहार करने वाला अशोक जैसा चक्रवर्ती राजा उनका अनुचर बना और उसने न केवल भारत वरन् सारे विश्व में बौद्ध धर्म की मान्यताओं का प्रचार-प्रसार कर धर्म राज्य की स्थापना की ।

अगले दिनों युग संधि के मध्य क्या कुछ घटित होने वाला है इस संदर्भ में संसार भर के दिव्यदर्शियों का प्रायः एक मत है । वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं-(१) प्रस्तुत २० वर्ष की अवधि मनुष्य जाति के लिए असाधारण कठिनाइयों से भरी रहेगी । (२) इन्हीं दिनों उज्ज्वल भविष्य की रचनात्मक प्रवृत्तियाँ बढ़ेंगी । ऐसे महामानव उभरेंगे जो वर्तमान परिस्थितियों को उलटने का पराक्रम कर सकें । (३) इस अवधि में भारत की भूमिका महान् होगी । वह अपने आध्यात्मिक पुनरुत्थान और संसार के नव निर्माण में प्रवृत्त होगा और सफल रहेगा । यह तीनों संभावनाएँ किस प्रकार चरितार्थ होती हैं, इसे अपनी पीढ़ी के लोग इन्हीं आँखों से देख सकेंगे ।

उज्ज्वल भविष्य की सम्भावना और भारत की महान् आध्यात्मिक भूमिका के सम्बन्ध में भी दिव्यदर्शियों की उतनी ही प्रगाढ़ मान्यता है जितनी कि विपत्ति की सम्भावनाओं के सम्बन्ध में । विभिन्न समय पर तत्ववेत्ता,

दृष्टाओं ने जो अपने मन्तव्य व्यक्त किए हैं, उनका सार संक्षेप इस प्रकार है-'वर्तमान परिस्थितियों में अगले दिनों भारी हेर-फेर होना अवश्यम्भावी है । संसार का वर्तमान ढर्रा अगले दिनों चल नहीं सकेगा । उसका स्थान नई मानवतावादी सभ्यता ग्रहण करेगी । भावी संसार का स्वरूप आज से सर्वथा भिन्न होगा । आने वाले बीस वर्ष मनुष्य जाति के भाग्य का ऐसा स्वरूप निर्धारित कर देंगे जिसे बदलने की आवश्यकता न पड़ेगी । पैसे का वर्तमान उपार्जन, संग्रह एवं उपभोग का वर्तमान स्वरूप बना रहने पर आये दिन संघर्ष होते रहेंगे । इसलिए विनाश रोकना हो तो पैसे के सम्बन्ध में व्यक्ति का दृष्टिकोण और शासन का निर्धारण आदि से अन्त तक निरस्त करना होगा ।'

परिवर्तन का भावी निर्धारण 'वसुधैव कुटुम्बकम्' के आधार पर होगा और उसका तत्वदर्शन एवं व्यवहार भारत की पुरातन संस्कृति को खोजकर निकालना होगा । अध्यात्मवादी दृष्टिकोण अपनाने पर ही मनुष्य जाति वर्तमान संकटों से उबरेगी ।

मूर्धन्य विचारकों द्वारा प्रस्तुत किए गये उपरोक्त प्रतिपादनों से उसी निष्कर्ष पर पहुँचना पड़ता है जिसे अदृश्य जगत् से सम्बद्ध ऋषिकल्प देवात्माओं ने अपनी अन्तः चेतना में एक दैवी प्रेरणा से जाना है । वे स्पष्ट देखते हैं कि युग बदलने के वे सभी कारण मौजूद हैं जिनमें भगवान अवतार लेते और अनुपयुक्त के अनाचारों को उलट कर उसके स्थान पर औचित्य की नीति निष्ठा पुनः प्रतिष्ठापित करते हैं । मानसून उठते देखकर जल्दी ही वर्षा होने की परिकल्पना हर समझदार कर सकता है । इन दिनों के अवांछनीय प्रचलनों के फलस्वरूप उत्पन्न असन्तुलन से अन्तरिक्ष में विक्षोभ उबल रहा है । युगान्तरीय चेतना तूफानी परिवर्तन साथ लेकर आ रही है । दूसरी ओर अंधकार को चुनौती देने वाला प्रभात भी इसी उषाकाल में अपने आगमन की जानकारी दे रहा है ।

वैशम्पायन संवादः विष्णुनारदयोस्तु यः ।
ततः प्रज्ञापुराणस्य विस्तरस्य तथैव च ॥ ५६ ॥
प्रज्ञाभियानकस्यापि विश्वगो विस्तरस्तु यः ।
परिचयस्तस्य संक्षिप्तो बोधितोऽयं मयाऽधुना ॥ ५७ ॥
दिव्यदृष्ट्या स्वरूपं च भविष्यत्कालिकं पुनः ।
स्पष्टमेव महाभाग करामलकवद् ध्रुवम् ॥ ५८ ॥
प्रज्ञावतारलीलेयं प्रखरा प्रोज्ज्वला मता ।
निरस्ताः पूर्णतो यत्र भयानकविभीषिकाः ॥ ५९ ॥
स्वर्गावतरणं भूमौ यदास्ते परिवर्तनम् ।
तुलनस्यैतत्तु द्रक्ष्यन्ति ये ते स्युरथ विस्मिताः ॥ ६० ॥
प्रज्ञायुगः सर्वश्रेष्ठो भविष्यति युगो भुवि ।
स्थापका भुवि ये तस्य श्लाघ्याः प्रज्ञासुतास्तु ते ॥ ६१ ॥
तेषां भागीरथायाः स भूमिकायास्तु वर्णनम् ।
उत्साहवर्धकं वंश्याः करिष्यन्ति युगे युगे ॥ ६२ ॥
श्रोतारो युगस्त्रष्टाणां श्लाघयन्तस्तु भाग्यकम् ।
हन्त तत्राभविष्यामावाम भूरिभाग्यकाः ॥ ६३ ॥

टीका-हे वैशम्पायन ! विष्णु नारद संवाद से लेकर प्रज्ञापुराण के विस्तार और प्रज्ञा अभियान के विश्वव्यापी विस्तार का संक्षिप्त परिचय मैंने कराया है । हे महाभाग ! दिव्य दृष्टि से भविष्य का स्वरूप भी हाथ में रखे आँवले की तरह स्पष्ट है । पिछले सभी अवतारों की तुलना में प्रज्ञावतार की लीला कहीं अधिक प्रखर प्रोज्ज्वल मानी जायेगी । ऐसी, जिसमें भयानक विभीषिकाओं को निरस्त कर दिया गया है । उस स्थान पर स्वर्ग के धरती पर उतारने जैसे परिवर्तन पर जो भी तुलनात्मक दृष्टि डालेंगे, वे आश्चर्यचकित हुए बिना न रहेंगे । प्रज्ञायुग सर्वश्रेष्ठ युग होगा । उसे धरती पर उतारने वाले प्रज्ञापुत्र

श्लाघ्य हैं । उनकी भगीरथ जैसी भूमिका का उत्साहवर्धक वर्णन अगली पीढ़ियों के लोग युगों-युगों तक करते रहेंगे । सुनने वाले इन युग सृजेताओं के भाग्य की सराहना करते हुए सोचेंगे, काश ! हम उन दिनों रहे और कार्यरत बने होते तो कितने भाग्यवान् कहलाते ॥ ५६-६३॥

व्याख्या-मध्यकाल का इतिहास सबके सामने है । जिस प्रकार वर्तमान युग की गतिविधियाँ चल रही हैं और चारों ओर आस्था संकट के बादल घुमड़ते दिखाई देते हैं, यह भी स्पष्ट परिलक्षित होता है । परिस्थितियाँ ऐसी विकट हैं कि बिना ध्वंस के नवसृजन अब सम्भव नहीं । प्रातः वेला में सूर्योदय के पूर्व अंधतमिस्रा और गहन हो जाती है । ऊषा की लालिमा छाते ही अंधकार मिटने लगता है व प्रातः का संकेत देते पक्षी चहचहाने लगते हैं । यही अवसर अवतार के प्रकटीकरण का है । प्रबुद्ध आत्माएँ अपने अन्दर इतना प्रकाश धारण किये रहती हैं कि उपयुक्त अवसर को पहचाने और रीछ-वानर, ग्वालों, भिक्षुओं की तरह अवतार के सहयोगी बने, दैवी निर्देशों के अनुरूप अपनी गतिविधियाँ मोड़ दें । गीताकार कृष्ण अर्जुन को महाभारत में गाण्डीव उठाने के लिए ललकारते हैं । स्वयं पाँचजन्य बजाकर युद्ध घोषणा करते हैं । यह एक ऐतिहासिक प्रसंग नहीं वरन् हर आत्मवादी को अनिवार्य रूप से अपनाने के लिए प्रस्तुत ईश्वरीय मार्गदर्शन है । जो इस महाभारत में मोहग्रस्त हो पीछे रह जाते हैं, वे समय बीत जाने पर पछताते हैं व सोचते हैं कि श्रेय-सौभाग्य का समय समीप होते हुए भी हम क्यों नहीं इस अवसर का सदुपयोग कर पाये ?

स्वतन्त्रता संग्राम में जिन्होंने भावभरी भूमिका निभाई, वे पेंशन पाने, शासन में उच्चपद पाने के श्रेयाधिकारी बने थे । वह समय निकल जाने के उपरान्त कोई उस सौभाग्य को पाना चाहे तो यही कहना पड़ेगा कि समय निकल गया । उनींदे लोग उन दिनों असमंजस की स्थिति में पड़े रहने पर मात्र पश्चाताप ही कर सकते हैं । गाँधी की डाँडी यात्रा एवं धरसना के नमक सत्याग्रह का स्मरण सदा ही किया जाता रहेगा । बाद में तो कितनों ने ही नमक बनाया और कारागार भुगता था ।

यह विचित्र लीला सन्दोह हर अवतार के साथ देखने में आया है कि उनके रहते कोई उन्हें पहचान नहीं पाता । अवतार की सृजन प्रक्रिया प्रज्ञाचक्षुओं से ही देखी जा सकती है, चर्म चक्षुओं से नहीं । निवेदिता ने विवेकानन्द को पहचाना व पटेल, नेहरू ने गाँधी को । आनन्द, अशोक, हर्षवर्धन ने बुद्ध के विचार क्रांति अभियान को पहचाना और समय रहते उसके सहयोगी बने । बाद में जब वे आकर चले गये तो अवसर चूकने वाले ऐसे असंख्यों थे जो उन दिनों भी उनके समकालीन थे पर स्वयं को धन्य न बना पाए ।

इन दिनों महाकाल ने आग्रहपूर्वक प्राणवानों को सहयोग देने के लिए बुलाया है । वस्तुतः यह श्रेयाधिकारी बनने का सौभाग्य संदेश भर है । भगवान के काम, समय के उपक्रम एवं दिव्यशक्तियाँ अपनी अदृश्य क्षमता के आधार पर स्वयं ही सम्पन्न कर लेती हैं । रीछ, वानर रूठ मटककर बैठ जाते तो भी सीता वापिसी और लंका की दुर्गति निश्चित थी । ऐसे अवसरों का सबसे बड़ा लाभ वे अग्रगामी उठाते हैं जो संकीर्ण स्वार्थपरता को छोड़कर समय की माँग पूरी करने के लिए बिना समय गँवाये अग्रिम मोर्चे पर जा खड़े होते हैं । युग-सन्धि की प्रस्तुत प्रभातलीला को ठीक ऐसा ही मुहूर्त समझा जाना चाहिए, जिसमें साहसी, सदाशयी छोटे-छोटे कदम बढ़ाने पर भी अत्यधिक श्रेय संचित कर सकने वाले दूरदर्शियों में गिने जायेंगे ।

मार्कण्डेय उवाच-

तावती तात ! श्रोताव्या कथा यस्यां तु चिन्तनम् ।
मननं सम्भवेच्चापि समाप्तव्यः प्रसङ्गकः ॥ ६४॥
सन्ध्यावन्दनहेतोश्च गच्छामो वयमद्य तु ।
भविष्यत्यवसरश्चेज्ज्ञानचर्चा भविष्यति ॥ ६५॥

टीका-मार्कण्डेय जी ने वैशम्पायन से कहा-"तात ! कथा उतनी ही सुननी चाहिए, जिस पर

त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे ॥ ९ ॥
प्रातर्नमामि मनसा वचसा समूर्ध्ना पादारविन्दयुगलं परमस्य पुंसः ।
नारायणस्य नरकार्णवतारणस्य पारायणप्रवणविप्रपरायणस्य ॥ १० ॥
प्रातर्भजामि मनसो वचसामगम्यं वाचो विभान्ति निखिला यदनुग्रहेण ।
यन्नेतिनेतिवचनैर्निगमा अवोचस्तं देवदेवमजमच्युतमाहुरग्र्यम् ॥ ११ ॥
भयानां भयं भीषणं भीषणानां गतिः प्राणिनां पावनं पावनानाम् ।
महोच्चैः पदानां नियन्तृत्वमेकं परेषां परं रक्षणं रक्षणानाम् ॥ १२ ॥
नमः पुरस्तादथ पृष्ठस्तते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व ।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः ॥ १३ ॥
वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च ।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते ॥ १४ ॥
एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥ १५ ॥
त्वं वायुरग्निरवनिर्विंयदम्बुमात्राः प्राणेन्द्रियाणि हृदयं चिदनुग्रहश्च ।
सर्वं त्वमेव सगुणो विगुणश्च भूमन् नान्यत् त्वदस्त्यपि मनो वचसा निरुक्तम् ॥ १६ ॥
अणोरणीयान् महतो महीयान् आत्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः ।
तमक्रतुं पश्यन्ति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥ १७ ॥
नमस्ते नमस्ते विभो ! विश्वमूर्ते ! नमस्ते नमस्ते चिदानन्दमूर्ते ! ।
नमस्ते नमस्ते तपोयोगगम्य नमस्ते नमस्ते श्रुतिज्ञानगम्य ॥ १८ ॥
अजं शाश्वतं कारणं कारणानां शिवं केवलं भासकं भासकानाम् ।
तुरीयं तमः पारमाद्यन्तहीनं प्रपद्ये परं पावनं द्वैतहीनम् ॥ १९ ॥
सत्यव्रतं सत्यपरं त्रिसत्यं सत्यस्य योनिं निहितं च सत्ये ।
सत्यस्य सत्यमृतसत्यनेत्रं सत्यात्मकं त्वां शरणं प्रपन्नाः ॥ २० ॥
वयं त्वां स्मरामो वयं त्वां भजामो वयं त्वां जगत् साक्षिरूपं नमामः ।
सदेकं निधानं निरालम्बमीशं भवाम्भोधितं शरण्यं व्रजामः ॥ २१ ॥

गुरु वन्दना

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुः गुरुरेव महेश्वरः । गुरुरेव परब्रह्म तस्मै श्री गुरवे नमः ॥ १ ॥
अखण्डमण्डलाकारं व्याप्तं येन चराचरम् । तत्पदं दर्शितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ॥ २ ॥
अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया । चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्री गुरवे नमः ॥ ३ ॥
वन्दे बोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम् । यमाश्रितो हि वक्रोऽपि चन्द्रः सर्वत्र वन्द्यते ॥ ४ ॥
अखण्डानन्दबोधाय शिष्यसन्तापहारिणे । सच्चिदानन्दरूपाय तस्मै श्री गुरवे नमः ॥ ५ ॥
ब्रह्मानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्वमस्यादिलक्ष्यम् ।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वसाक्षिभूतं भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तन्नमामि ॥ ६ ॥

युगदेव-स्तवन

अहो तां गायत्रीमखिलजगदानन्द निलयामुपास्य ब्रह्मासावसृजदमलां सृष्टिमधिकाम् ।
मता या वेदानामपि निखिलविश्वस्य जननी सुशान्त्यै शान्तां तां जपत मनुजा ! देवजननीम् ॥ १॥

समस्त जगत् के आनन्द की आनन्दभूत जिस गायत्री की उपासना करके ब्रह्माजी ने सृष्टि रची । जिसे वेदमाता, देवमाता व विश्व माता कहा जाता है । हे मनुष्यो ! अपार शांति के लिए शांत-स्वरूप उस गायत्री को भजो, उसका जप करो ॥ १॥

त्रयोलोका यस्याश्चरण वरणास्तेऽपि च समे, त्रयो देवास्तिस्त्रः प्रथितविभवा देव्य इति सा ।
त्रिवेणी व्याख्याताऽक्षरगण इहाख्यातिमभजच्चतुर्विंशत्याद्यु ऋषित्रिदशदिव्यावतरणाः ॥ २॥

जिसके तीन चरणों को तीन लोक, तीन देव, तीन वैभव शाली देवी-त्रिवेणी कहते हैं । जिसके चौबीस अक्षर अवतारों, देवताओं, ऋषियों के रूप में प्रख्यात हुए ॥ २॥

सुदैव्याः संस्कृत्या इहनिगदिता मूलमखिलं, बुधाः प्राहुः यांचा मृतममरवृक्षं परमणिम् ।
शिखासूत्रे यां वै दधुरमृतचिह्नं जपत तां, युगप्रज्ञोन्मेषप्रबलकरुणां सिद्धिजननीम् ॥ ३॥

जो देव संस्कृति की मूल है । जिसे पारस, कल्पवृक्ष और अमृत कहा जाता है, जिसे शिखा-सूत्र के रूप में धारण किया जाता है । जो अमृत तत्वदायी चिह्न है-ऐसी युग परिवर्तन का उन्मेष करने में अत्यन्त करुणामयी सिद्धि-दात्री गायत्री को जपो ॥ ३॥

अहो आद्यां शक्तिं कलियुगकलाविस्मृततनुमुपेक्षाक्षीणां तामऋतनिधिकां बुद्धिविभवाम् ।
महाप्राज्ञो ह्येनां पुनरुदधरद् देवसदृश ऋतां प्रज्ञां तुभ्यं युगपुरुष ! नः सन्तु नतयः ॥ ४॥

उस आद्यशक्ति को काल-प्रवंचना से विस्मृत रूप वाली, उपेक्षित हुई ऋतम्भरा-प्रज्ञा को जिसने पुनरुद्धार किया, उस महाप्राज्ञ युग पुरुष को देव संस्कृति का, उसके कोटि-कोटि अनुचरों का कोटि-कोटि नमन वन्दन ॥ ४॥

सदा भास्वान् भूत्वा तपति गगने यज्ञ इह यो, भृशं पर्जन्योऽयं यमनुसततं वर्षति रसम् ।
य ओतः प्रोतश्च प्रबलतमतत्प्राणमरुता तदेतद् देवत्वं श्वसिति कृपया यस्य हि चितेः ॥ ५॥

जो यज्ञ सूर्य के रूप में तपता है । जिसके प्रताप से पर्जन्य बरसते हैं । जो प्राण-ऊर्जा से ओत-प्रोत है । जिसकी चेतना से देवत्व जीवित है ॥ ५॥

यदङ्के देवानां गण उदयमासाद्य लुठति, भृशं पोषं प्राप्य प्रखरतरतां यानि सततम् ।
निधिर्ऋद्धेः सिद्धेरपि च कथिता यत्र वपुषि, तदोजस्तेजस्त्वे वसत इह वर्चोऽभिलषति ॥ ६॥

देवगण जिससे, जिसकी गोद में जन्मते, पलते, प्रखर होते और समर्पण करते हैं । जो ऋद्धि-सिद्धियों का भण्डार है । जिसमें ओजस्, तेजस् और वर्चस् के सभी तत्व विद्यमान हैं ॥ ६॥

तिरस्कारं यातो विकृतिमभजद् यः कलिबलादुपेक्षां संप्राप्तोऽप्यहह निखिलारोग्यसदनम् ।
अहो विष्णुं यागं पुनरुदधरद् यो बुधवर ! प्रणामास्तुभ्यं हे युगपुरुष ! नः कोटिश इमे ॥ ७॥

ऐसे कलि-विडम्बना से उपेक्षित, तिरस्कृत, विकृत हुए, आरोग्य के उत्पत्ति स्थल विष्णु रूप यज्ञ का जिसने पुनरुद्धार किया, उस महाप्राज्ञ युग पुरुष को, देव संस्कृति का, उसके अनुचरों का कोटि-कोटि नमन-वन्दन ॥ ७॥

अहो विश्वस्तानामिव हि हृदयं यस्य सरसं, तदास्ते भक्तानामिव, गहनमाचिन्तनमपि ।
सदा ब्रह्मज्ञानामिव च चरितं तद्ऋषिसम, प्रमाणास्तुभ्यं हे युग-पुरुष ! न कोटिश इमे ॥ ८॥

जिसका हृदय विश्वासी भक्त जैसा-सरस, जिसका गहन चिन्तन ब्रह्मवेत्ताओं जैसा, जिसका चरित्र ऋषियों जैसा, जो महाप्राज्ञ है, ऐसे युग-पुरुष को हम करोड़ों भक्तों का प्रणाम ॥ ८॥

उपास्ते य ईशं ह्यविरतमहो जीवनविधौ सदासक्ते लोकाधिक सुखसमाराधनविधौ ।
सदादर्शादर्शो भुवि विदित सत्सौख्य विभवः, प्रणामास्तुभ्यं हे युग-पुरुष ! नः कोटिश इमे ॥ ९॥

जो ईश्वर उपासना-जीवन साधना और लोक को सुखी करने की आराधना में संलग्न-आदर्शों के लिए समर्पित स्वयं आदर्श (दर्पण) के समान हैं, उस महाप्राज्ञ युग-पुरुष का-देव संस्कृति और उसके अनुचरों द्वारा कोटि-कोटि नमन-वन्दन ॥ ९॥

य उत्सेहे पातोन्मुखमनुजसत्संस्कृतिमहो, निरोद्धुं नाशस्य प्रबलमतगर्तादनलसः ।
दधीचेर्व्यासस्य परशुध श्रृङ्गिप्रथितयोर्दधौरूपं यस्त्वां युगनर ! नताः कोटिश इमे ॥ १०॥

जिसने पतनोन्मुख मानवी-संस्कृति को महाविनाश के गर्त से बचाने का आलस्य त्यागकर एकाकी साहस किया । जिसने दधीचि, व्यास, परशुराम, शृंगी, पिप्पलाद की भूमिका निभाई-हे युग पुरुष आपको कोटि-कोटि हम अनुचरों का प्रणाम ॥ १०॥

सुरर्षिं यो वाजिश्रवसमपि कार्यादनुगत,
ऋषिं विश्वामित्रं मुनिवर वशिष्ठं सगरजम् ।
ज्वलन् दीपान् स्नेहोद्भरितहृदयोऽज्वालयदसौ,
महावर्चः ! सन्तु युगपुरुष ! तुभ्यं प्रणतयः ॥ ११॥

जिसने नारद, वाजिश्रवा, ऋषि-विश्वामित्र, मुनिवर वशिष्ठ व सगरवंशज भगीरथ की भूमिका एकाकी निभाई । जिसने स्वयं ज्वलन्त होकर-स्नेहयुक्त होकर-अगणित दीप जलाये-उस साहस के धनी, ब्रह्मवर्चस् से ओत-प्रोत महाप्राज्ञ युगपुरुष को देव संस्कृति का-उसके कोटि-कोटि अनुचरों का कोटि-कोटि नमन-वन्दन ॥ ११॥

-पं० चन्द्रभूषणमिश्रेण विरचितम्

मुद्रक : युग निर्माण योजना प्रेस, मथुरा